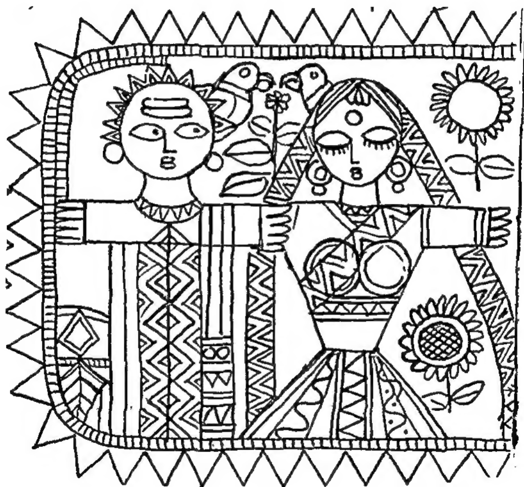
श्रीनरेश मेहता



लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन,
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

●

●

प्रथम संस्करण
दीपावली, १९७९ ई०

●

सुपरफाइन प्रिंटर्स,
१-सी, बाई का बाग, इलाहाबाद-३
द्वारा मुद्रित

मूल्य : ५०.००



पीड़ित मानवता के नाम

भूमिका

हमारी बीसवीं शती ने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन किया है, फलतः व्यक्ति का निजी और समाज का सामाजिक जीवन एक ऐसी दुरभि, विषमता और शून्यता में खड़ा हो गया है कि जिसे न तो स्वीकारते ही बनता है और न उससे विमुखते ही। आधुनिकता के नाम पर स्वत्व के बिखराव की सीमा यह आ गयी है कि वह न केवल अजनबीपन ही अनुभव कर रहा है बल्कि एकाकीपन के आदिम-भय की आधुनिक मानसिकता से ग्रस्त है। आज की राजनीति और राज्य, व्यक्ति और समाज की अस्मिता, स्वत्व और मूल्य सबका अपहरण करके सम्पूर्ण वर्चस्व को ही समाप्त कर देने पर तुले हैं। सारी मानवता एक ऐसे अन्धे मुहाने पर पहुँच चुकी है कि इसके बाद या तो व्यक्ति की आत्महत्या हो या पूरे समाज का सर्वनाश हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐसा होगा ही, क्योंकि मनुष्य की ही नहीं, सृष्टि की भी अपनी सत्ता, अस्मिता और संकल्प हैं।

'उत्तरकथा' के इस प्रथम-खण्ड में व्यक्ति और समाज के बिखराव की जो रलयता सन् '३० तक थी, वही वर्णित हुई है। गति तो द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद तथा हमारे सन्दर्भ में स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद आयी है, अतः यह प्रथम खण्ड, द्वितीय-खण्ड की भूमिका जैसा ही है।

किसी भी उपन्यास की भूमिका में इससे अधिक कहना उचित नहीं। हाँ, 'यह पथ बन्धु था' का जैसा स्वागत हुआ था उसके लिए मैं सबका आभारी हूँ। उस उपन्यास की पहचान बनाने में बन्धुवर श्री नेमिचन्द्र जैन ने जो सदाशयता दिखलायी थी उसके

प्रति विनम्र हो हुआ जा सकता है। इसी प्रकार डा० इन्द्रनाथ मदान, डा० रामदरस मिश्र आदि विद्वानों ने जो रेखांकन किया वह अविस्मरणीय है। डा० सत्यप्रकाश मिश्र ने उस पर जो समीक्षा पुस्तक लिखी वह आज भी अप्रतिम है।

वैसे मैं नहीं कह सकता कि यह उपन्यास कितना-कुछ लोगों की अपेक्षाओं की पूर्ति करेगा एवं तुष्टि भी।

इति नमस्कारान्ते।

दीपावली '७६
९९ ए, लूकरगंज, इलाहाबाद

प्रकरण-क्रम



॥ उत्तरकथा ॥

(प्रथम खण्ड)

॥ परिणय-प्रकरण ॥

गर्मियों की एक सन्ध्या।

साँझ पड़े ज्येष्ठ की लू-आँधियों के थपेड़े कुछ कम हुए हैं। दिन भर के तमतमाये आकाश में अब जाकर दो-चार तोते या कौवे उड़ते-बोलते दिखायी देने लगे हैं। सारा वातावरण कैसा भाप भरी पतीली सा था। उपरले आकाश में सारस-मिथुन, डूबी-डूबी सी आवाज करते अपनी लम्बी यात्राओं पर जाते देख कर शारदीया धूप का बिल्लौरीपन और गुनगुनापन याद आने लगता है। अवश्य ही किन्हीं अक्षांशों पर शारदीया धूप का नीबुई पीलापन खिला होगा। पाखियों को उड़ानें भरते देखकर कैसा विश्वसनीय सा लगता है कि नहीं, लू और उसका अहंकार ही सब कुछ नहीं है बल्कि आकाश अभी भी अपराजित नील है और जिसमें यात्राएँ सम्भव हैं अन्यथा दोपहर में क्या ऐसा विश्वास कहीं था? उस समय तो सब अण्डे की सफेद झिल्ली से मँढ़ा-मँढ़ा सा लग रहा था। वातावरण में साँय-साँयपन था परन्तु पेड़ तक साँस नहीं ले रहे थे। अब जाकर पश्चिमी क्षितिज पर अरीठ सुलगने की तैयारी हो रही थी। निश्चय ही अरीठ का ऐसा सुलगना असहनीय लग रहा था पर एक प्राकृतिक कर्तव्य था, जो कि सम्पन्न हो रहा था। गर्मियों के सूर्यास्त में कैसी ताँबे की सी शक्त निरभ्र चमक होती है—लाल सुर्ख !! मांत्रिक-नेत्रों वाली, जैसे कंडियों की आग हो, जिसका देखना नहीं हो पाता है बल्कि आपमें वह उतरती ही चली जाती है।

दिन-दोपहर में पठारी नंगी पहाड़ियों की जलती चट्टानों को छूती हवाएँ लपट बनी सपाटे मारती रही हैं जैसे घोड़े पर दौड़ते पीर के सफेद कपड़े हों, परन्तु इस समय हवा में उतनी गरमी नहीं रह गयी थी, फिर भी दिन भर की लू-आँधी के कारण भूरे और थके आकाश को देखकर गरमी का आभास अभी भी था। गहन दर्द के बीत जाने के बाद भी जिस प्रकार उस दर्द की गमक शेष रह जाती सी लगती है लगभग उसी

प्रकार गरमी का आभास पेडों के पत्तों को छूने पर हो रहा था। चट्टानें तो अभी भी चिल्ला-चिल्लाकर गरमी की शिकायत कर रही थीं; परन्तु धरती में विनम्र ठण्डापन आ चला था। सुदूर के क्षितिज में अभी भी बगूले देखे जा सकते थे। आकाश की पारदर्शी भीनी, नीली पीठिका में आवर्तित होते बगूले, धूल के खम्भों की भांति कैसे मोटे-मोटे खड़े होते और जब क्षीण होते हुए अपनी कीलि पर घूमते ये खम्भे ऊपर उठ कर विलीन होते, तब उस विराट सुनसान में कैसा भय लगने लगता। पुराणों में इन धूल-खम्भों को जो धूर्णावर्त का व्यक्तित्व दिया गया है, वह कितना सार्थक लगता है। इक्की-दुक्की खजूर के या धाप के अतिरिक्त कोसों तक न कोई गांव, न देहात। सब कुछ जुआर के पीले-पीले सूखे राडों सा जलहीन। सुदूर तक भूरी, छोटी पहाड़ियों का या तो वृक्षहीन क्रम होता या फिर कँकरीली, धूल भरी धरती का गरवटों और पगडंडियों भरा उदास विस्तार कितना फीका-फीका सा फैला लगता। भूले-भटके यदि कोई पगडण्डी दिख भी जाती तो वह भी जल्दी ही भूमि के पठारीपन में मालवी नद्दी सी ओझल हो जाती। खजूर और बबूलों के बीच से जाती एकान्त गरवट किसी नगण्य अकेले दुःख की भांति लगती। यद्यपि उस प्रशान्त नितान्त निर्जनता में वह गरवट आश्वसित ही करती लगती।

कैसा ही पथ क्यों न हो, उसका सम्बन्ध अनिवार्यतः मानव के साथ होता ही है। पथ, इस पृथ्वी पर मानव का पर्याय है। प्रत्येक पथ से मानव की गंध आती है। राजपथ हो या वनपथ, उसकी परिणति मानव तक ले जाने में ही होती है। अब यह बात अलग है कि हमारे पहुँचने तक वह मानव तब तक इतिहास में जा चुका हो। प्रत्येक पथ, मानवीय नदी है। पगडण्डी अपनी विनम्रता में भी उतनी ही विश्वसनीय होगी जितना कि कोई अहंकारी राजमार्ग होता होगा। धरती पर यही तो एक मानवीय विश्वास पीछे छूटा रहता है। हम चले जाते हैं पर हमारा विश्वास और पुरुषार्थ न जाने किन-किन वनपथों, अरण्यों में पीछे छूटे रह कर ही जीवित रहता है। ये पथ, साधारण जनों के भाषाहीन शिलालेख हैं। इसीलिए व्यक्ति नहीं बल्कि उसके विश्वास और पुरुषार्थ के प्रति नमित, विनम्र होना चाहिए।

कृष्णा-माटी के मालवी खेतों में मकई-जुआर के सूखे-पीले डंठल, कीलों-खूटों से गड़े, खड़े थे। बबूलों की स्लेटी रंग की उदासी इस निर्जनता में छितरी पड़ी थी। जब कभी कोई वृक्षपात किसी चट्टानी पहाड़ी पर अकेली चढ़ी हुई होती तो उस पहाड़ की चट्टानता, कठोरता तथा प्रागैतिहासिकता कितनी लिखी लगती। जिजीविषा की इस अदम्यता पर हठात विश्वास करना कितना कठिन लगता है। इसी प्रकार बड़ी नदियों के भूरे कांठों की अर्जित दरारों में जब कभी कोई वृक्षकुल की बान्धवता सहसा नीचे उतर गयी होती तो चारों ओर की घोर वीरानता में बारम्बार यही प्रश्न मन में उठता कि क्या अदम्यता को ऐसा संकट मोल लेना ही होता है? क्या बिना पृथ्वी के अन्तर में समाये ऊर्ध्व में जाना नहीं होता? क्या बिना संकट के आह्वान के कुछ भी सार्थक की प्राप्ति सम्भव नहीं? शायद संकट की समरसता का ही नाम प्रकृति है। नदी नीचे उतर कर,

तो मेघ ऊपर चढ कर संकट की यह सामरस्य-यात्रा ही तो अहोरात्र सम्पन्न कर रहे होते हैं। हठीली भेड़ों की भाँति करौंदों की छिटकी छोटी गुल्मता का उस बीहड़ पठारीपन में क्या प्रयोजन हो सकता था, कहना कठिन है। अधिकांश नदी-नाले चिरे पेट की भाँति मृत एवं जलहीन थे। इन सूखे पड़े जलपथों की चट्टानें एवं कंकड दिन भर तपकर अब ठण्डाने की तैयारी कर रहे थे। जलहीन तपे वर्तन सी कगारें थीं। उन्मुक्त जंगली गेंदे को लगता है कि कैसी ही लू-आँधी की कोई चिन्ता कभी नहीं रही, फलतः पीली घासों के लम्बे सिलसिले के साथ सदावहार वना फूला हुआ चला गया था। गेंदे के साथ न केवल सियालकाँटे के छोटे पीले फूल तथा धतूरे के सफेद फूल ही दे रहे थे वल्कि नागफनी और थूहर भी उतने ही उदार भाव से फैली हुई थी।

चैत्र के बाद वैसे भी कचनार और पलाश उदास हो जाते हैं। अमलतास की पीलिमा न जाने कब की उड़ गयी होती हैं। कहीं-कहीं अवश्य ही सेमल के फूल भर रहे होते। क्रूर-कठोर मौसम और कमनीय वानस्पतिकता को साथ देखकर मन में कितनी उलझन होती, परन्तु सेमल के ये अपवादी फूल कितने निश्चिन्त भाव से दिगन्त यात्राओं पर निकले होते। वातावरण में खिरनी, करौंदा तथा आम की केरियाँ वोलने लगी थी। जब दोपहर की अपनी स्वयं की तेज गन्ध होती है तब भले ही इन मौसमी फलों की गन्ध दव जाती हो परन्तु तीसरा प्रहर लगते न लगते आम गमकने लगता। हाँ, केवड़ा प्राय. सवेरे के समय जितना मुखर होता है उतना अन्य वेलाओं में नहीं हो पाता। असल मे उसकी गन्ध में एक विशेष कमनीयता होती है जिसे ग्रहण करने के लिए हवा का पूर्ण निष्कलुष होना आवश्यक होता है। प्रत्येक कमनीयता अपनी अभिव्यक्ति के लिए सामने वाले से एक विशेष प्रकार की अकलंकता, तन्मयता तथा एकनिष्ठता की अपेक्षा रखती है।

नदी के कँकरीले पेटे को चीरती चली जाती गरवट पर एक दमनी (छोटी बैलगाड़ी) तथा एक घुड़सवार इस सारी प्रशस्त पठारी जड़ता में गतिवान लग रहे थे। आदत के कारण बैलों ने एक बार जल की आशा में अपनी थूँथें नदी पर झुकायीं अवश्य पर गरम पत्थर सूँघकर झटके से थूँथें हटा ली। कंकरों पर दमनी के पहिये चिकारते हुए फिसल-फिसल पड रहे थे, अतः बैलों को खीचने में काफी कठिनाई हो रही थी। उनकी गर्दनें धरती में हल के फल सी खिची पड़ रही थी। बैलों को नदी में जल की आशा रही होगी तभी तो नदी में धँसने के पूर्व उतार पर कैसे हुमस कर वे उतरे थे पर अब वोझ को पत्थरों के वीच से खुर जमा-जमा कर घसीट रहे थे। गाड़ीवान यह समझ तो गया था अतः वह उनकी पूँछें उमेठे जा रहा था तथा पैरों से ठुमका देता जा रहा था। गर्मियों की शामें प्रायः हवाहीन हुआ करती हैं। विशेपकर उतरते ज्येष्ठ की यह हवाहीनता ही आपाढ़ के मेघों का मार्ग प्रशस्त करती है। पश्चिम ओर के अरब-

सागर से आने वाले मानसून की प्रतीक्षा किसे नही होती ? छोटी चिड़ियों से लेकर बरात के हाथियो तक को मेघराजा की प्रतीक्षा होती है। और जब आषाढ़ का नक्षत्र आकाश में लगता है तब एक-एक फुनगी किस उत्साह से क्षितिज में उठते-घिरते मेघों को गुहारती होती है। परन्तु तब कौन किसकी सुनता है ? कोयल-कौवों की आपसी झड़प देखने की भी किसी को फुरसत नही होती क्योंकि उस समय समस्त जड़ और चेतन मेघो की ओर उठी हुई ग्रीवा बने होते है।

घुडसवार, वर है तथा दमनी में छह वरयात्री है। वर का लाल 'बागा-वस्त्तर' तथा लाल मखमली कामदार जयपुरी जूतियाँ धूल में सन जाने के कारण लगभग बदरंग हो गये है। वर की कमर में खुँसी कटार की छोटी सी पीली म्यान अवश्य ही स्पष्ट दिख रही है। कमर में बंधे जरी किनारे के गुलाबी रेशमी उपवस्त्र के झालरदार फुंदे हवा में उड़ रहे थे। हलदी रंगे मुख तथा काजल अँजी आँखों वाले वर के किशोर मुख पर दिन भर के तपन की ताम्रता, एक विशेष झाँई दे रही थी। दिन भर की पठारी यात्रा के कारण दमनी के बैलों से अधिक थका तो घोड़ा लग रहा था। जीन के दोनो ओर के रंगीन फुन्दे हवा में फुदके पड रहे थे। रास्ते की धूल-धक्कड़ और लू-लपट से बचने के लिए दमनी के यात्रियो ने अपने नाक-कान सारंगपुरी दुपट्टों से बाँध रखे थे। इस प्रकार ढाटे बँधे देख उन्हें डाकू समझा जा सकता था परन्तु उनकी गोल पगडियों से स्पष्ट था कि ये न तो इन्दौरी पगडियाँ बाँधे महाजन ही है और न ही देहाती पगड़ी वाले किसान-कुर्मी। ब्राह्मणो की यह विशिष्ट पगड़ी थी। फिर, भाल पर लगे लम्बे लाल वैष्णवी तिलक तथा भस्म के त्रिपुण्ड्र से स्पष्ट था कि ये लोग ब्राह्मण थे।

यात्रियों में पाँच वरयात्री है तथा छठा नाई है जिसने कि 'ग्यास' (पेट्रोमेक्स) पकड़ रखा था। गाड़ीवान ने बन्दूक जिस प्रकार कधे से लटका रखी थी उससे स्पष्ट था कि वह राजपूत था। दिन भर की इस लू-आँधी वाली यात्रा से सभी ऊबे हुए लग रहे थे। उनके लाल-पीले मलमल के कुरतो के नीचे पसीने से भीगी बनियानें साफ दिख रही थी। फीके, भूरे बया के घोंसले, खुरासानी इमलियों की भाँति डालों पर लटके हुए जंगल के सन्नाटे की गलघंटियों की भाँति लग रहे थे। बारों मास गलघटियों के सुनसान संगीत के साथ असंख्य वनपाखी या अनेक अकेली फाख्ताएँ वन को वाणी देते हुए उस आरण्यकता को न केवल और भी अकेला तथा नितान्त कर देती है—बल्कि सन्नाटा इतना कस उठा लगता है कि एक भी अतिरिक्त स्वर होने पर झनझनाकर वह सन्नाटा सदा के लिए ऐसा टूट जा सकता है कि उपरान्त और सब कुछ हो सकता है केवल वह सन्नाटा ही सम्भव नहीं। सन्नाटे की यह विशेषता होती है कि वह भी योगियों की ही भाँति एकान्तचारी होता है। एकान्त, जिस प्रकार अबाध होता है उसी प्रकार एकान्त-चारी भी। केवल उसी को अपनी सत्ता एवं प्रभुता समुद्र की भाँति हिल्लोलती होती है। ऐसा एकान्त, बाहर नहीं अन्तर में विराजा होता है। ऐसे एकान्त के साक्षात के लिए व्यक्ति का निष्णात होना आवश्यक होता है। वीणा अपना संगीत—केवल वादक को ही सौंपती है।

बरात को गोधूली के पूर्व ही वधू के 'ग्रावाह-द्वार' लगना है। गोरज के लग्न है। ग्रौर ग्रब गाँव रह ही कितना गया है? वो ऽऽ नदी पेले पार का गाम-गोयरे वाला केवड़ा-स्वामी का वन दिखायी दे रहा है। पीपल पर हनुमान जी की लाल झन्डी जो दिखलायी दे रही है न, वही तो गाँव है।

—मर्रे, मर्रे, डोबा !! डोबा !!

ग्रौर गाडीवान की इस टिटकार पर झाग डालते दमनी के बैल पैर के ठुमके ग्रौर ग्रार चुभाये जाने पर शेष यात्रा पर पुनः दौड़ने का उपक्रम करने लगते हैं। घोड़े को भी *गाँव की गन्ध ग्राने लगी थी तभी तो* वह हिनहिनाया। *गाँव की* नदी का उतार ग्रा गया था। खाल जैसी नदी में नाम मात्र को ही जल था। दमनी भर्रा कर नदी के पेटे में धँस गयी। बालू ने किचाकिचाकर पहियों को थाम लिया तथा जल की स्फटिकता ने बैलों की थूँथों को।

किसी सुदूर अतीत में हमारी इस पृथ्वी एव सृष्टि की संरचना में आमूल एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए जिसके कारण भौगोलिक, वानस्पतिक एव जैविक सामरस्य में बदलाव आया। कुछ वर्षों पूर्व तक प्रकृति के इस परिवर्तन की साक्षी केवल भारतीय श्रुतियाँ, स्मृतियाँ एवं पुराणकथाएँ ही थी लेकिन इन स्रोतों के बारे में पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की सहमति न होने के कारण इन्हें बड़े सहज भाव से कपोल-कल्पित कह दिया जाता रहा; परन्तु आज के भूगर्भशास्त्रियों को प्रकृति की संरचना के बारे में जो वैज्ञानिक प्रमाण क्रमशः प्राप्त हुए और होते जा रहे हैं उनसे भी भारतीय पुराणकथाओं में वर्णित घटनाओं और प्रकृति के ताण्डव-नृत्य की अकाट्यता सिद्ध होती है। इन प्राकृतिक घटनाओं एवं जैविक विकास-क्रम के सन्दर्भ में भारतीय अवतारवाद का सिद्धान्त तथा धर्म-ग्रन्थ प्रमाण माने जाने चाहिए। ये धर्म-स्रोत श्रुति हैं या स्मृति, इस बारे में मत-भेद सम्भव हैं परन्तु इनकी प्रामाणिकता के बारे में अब मतभेद सम्भव नही। वैसे भी चिन्तन, मनन और ज्ञान की उपलब्धियों के क्षेत्र में विज्ञान अभी मुश्किल से किशोर ही है, लेकिन प्रमाण की जिस प्रकार की आग्रहता एवं सत्य के लिए जिस निर्भय तटस्थता के साथ उसने सभी धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध जाकर जो अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ अर्जित की हैं उनके कारण वह आज के पदार्थिक उत्पादन वाले युग में हमारी चेतना का प्रमुख प्रवक्ता हो गया है। इस कारण हम उतना ही सत्य स्वीकारते हैं जहाँ तक विज्ञान की गति एव प्रगति है। विज्ञान के वर्तमान स्वरूप के पूर्व का ज्ञानार्जन परीकथाएँ हैं—यह मानना युग-प्रथा रही है। लेकिन लोग सामान्यतः नही जानते कि स्वय आइन्सटीन जैसे वैज्ञानिक-महर्षि की दृष्टि में धर्म के सत्य और विज्ञान के सत्य में गुणात्मक कोई अन्तर नही रहा है। इस प्रकार की एकांगी मान्यताएँ एवं आग्रह, ज्ञान के निचले स्तर पर ही हुआ करते हैं। परन्तु न ज्ञान, न विज्ञान और न धर्म किसी भी क्षेत्र में निचले

प्रामाणिकता पर भी यथार्थपरक प्रकाश पड़ेगा। जैविकता और ज्ञान के काल का प्रतिमान ईसा या बाइबिल में वर्णित समय को मानना निरी हास्यास्पदता है। इसीलिए विज्ञान की प्रगति की प्रतीक्षा शायद सबसे अधिक वेदों को ही है।

यह कल्पना की जा सकती है कि आज की यमुना-नर्मदा के बीच का भूमि-भाग विन्ध्या के प्रलयकारी तप्त लावा में झुलस गया होगा। आज के गंगा-यमुना के मैदान में उन दिनों 'सिन्धु ब्रह्म-महासागर' नामक महासमुद्र लहराता था। लावा में झुलसी इस भूमि के उत्तर में उपरोक्त महासागर था तो दक्षिण में उन दिनों भी नर्मदा और ताप्ती के विकट जल-प्रवाह थे, फलतः दोनों ओर जलों से घिरे होने के कारण लावा का प्रकोप उत्तर-दक्षिण के स्थान पर पूर्व-पश्चिम की ओर फैला। बंग-सागर से लेकर अरब-सागर तक की भूमि इस लावा-दहन में भस्मीभूत हो गयी, साथ ही पठारों-चट्टानों से भर उठी। साथ ही उत्तर के 'सिन्धु-ब्रह्म-महासागर' के भूगोल में भी आमूल परिवर्तन हुआ फलतः वह महासागर पीछे हटने लगा। इसी के फलस्वरूप आज के राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा की भूमियों का जन्म हुआ। विन्ध्या का दहन, हिमालय का जन्म तथा 'सिन्धु-ब्रह्म-महासागर' के सूखने आदि की प्राकृतिक घटनाओं में कोई पारस्परिक सम्बन्ध था या नहीं अथवा ये सारी घटनाएँ प्रति-पूरकरूप में घटीं या विभिन्न कालों में सम्पन्न हुईं आदि के बारे में अभी कुछ भी अन्तिम रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु इतना निश्चित है कि काश्मीर की भूमि और उसके आसपास का प्रदेश तथा विन्ध्या एवं दक्षिण भारत की भूमियाँ ही अपेक्षाकृत प्राचीन भूमियाँ हैं।

कालान्तर में लावा-दहन वाला प्रदेश कहीं पर खनिज सम्पन्न हो गया तो कहीं पर निपट चट्टानें ही चट्टानें, बहते पाषाणी-प्रपातों सी योजनों तक भर उठीं। देश की यह मेखलाभूमि, गौर से कृष्णवर्णा हुई अथवा पाण्डुखौरा से श्यामा-माटी बनी, कहना कठिन है। क्योंकि इस दहन के पूर्व के न इतिहास, न संस्कृति, न रंग, न वर्ण किसी का भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। अगस्त्य मुनि का यहाँ से होकर जाना भी यही सिद्ध करता है कि यह भूमि उसी महान वेद-वृक्ष की प्रशाखा-भूमि थी। उस भीषण लावा ने राजस्थान की ओर के समुद्र को आज के अरब-सागर तक खदेड़ दिया। लेकिन राजस्थान की ओर समुद्र जिस प्रकार पीछे हटा उसमें तथा उत्तर-प्रदेश एवम पूर्व की ओर 'सिन्धु-ब्रह्म-सागर' जिस प्रकार पीछे हटा उसमें मौलिक अन्तर था। अतः लगता है कि विन्ध्या के लावा का जोर राजस्थान की ही ओर था फलतः अरावली की चट्टानी प्रखरता का तथा यहाँ के समुद्र के पूरी तरह सूखने का कारण भी यही था। इधर उत्तर में हिमालय के अभ्युदय ने पूर्व की भूमि को थोड़ी ऊँचाई देकर रेगिस्तान होने से बचा लिया। जो हो, समुद्र अपना बालू वाला पेटा पीछे छोड़ गया। समुद्र की इस 'रणछोड़ता' की स्मृति साँभर-झील के रूप में आज भी विद्यमान है। नवजन्मे हिमालय ने गंगा-यमुना की दिशा को बदल दिया। यदि इस मैदान की नदियों की दिशा न बदली होती तो सारे उत्तर-प्रदेश तथा पूर्व के विशाल क्षेत्र में राजस्थान की ही भाँति नमकीन झीलें होतीं। अतः स्पष्ट है कि विन्ध्या-दहन की समाप्ति एवं हिमालय के उद्भव में सम्भव है कुछ काल-

किसी का भी तो कोई प्रमाण या प्रामाणिक चिह्न उपलब्ध अभी नहीं हो सका है, फलतः दहन-पूर्व और दहन-पश्च के बीच जीवन की एकतानता को स्थापित नहीं किया जा सकता। हाँ, हिमालययुगीन आरण्यकता के प्रादुर्भाव के कारण इसकी नयी देह पर पुनः वटवृक्षों की ऋषीय गम्भीरता, पीपलों का वासुदेवत्व, बौने बबूलों की वानस्पतिकता, कृपण लखरावो की संकोची कौटुम्बिकता, पीली घासों वाले कुछ चरागाह, विभिन्न-वर्णी कमल, झीलें तथा कम पानी वाली नदियाँ, नाले दिखलायी देने लगे। ऊँट की कूबड़ों की भाँति यहाँ-वहाँ पहाड़ियों-डूँगरियों को उठाये यह पठार, कालान्तर में मालव कहलाया। अरब-सागर तथा भड़ौंच की खाड़ी से उठने वाले मानसून और सपाटे मारती हवाएँ इस पर उन्मुक्त विचरने लगे। एक अर्थ में यह सेतुदेश भाग्यवान रहा कि यहाँ का समशीतोष्ण ऋतुचक्र इसके भावी विकास में अनुकूल सिद्ध हुआ। जिन दिनों लू और शीत में गंगा-यमुना के विशाल मैदान तथा राजस्थान का रेतीला प्रसार झुलसते-काँपते होते उन दिनों यहाँ के समशीतोष्ण तापमान में इसका पठार-गेहुँओं, दालों, बाजरा, मकई, जुआर तथा कपास की फसलों में उत्सव बना रहता है। ज्येष्ठ-वैशाख में भी सूर्यास्त के बाद ठण्डी हवाएँ इसके प्रसन्न, धुले आकाश में कृपापाखियों की भाँति संतरित होने लगती हैं। पूरी गर्मियों भर चैत्र की चाँदनी सी अकलंक आभा इसके आकाशों में टटके फूलों सी टपकती होती है। चौमासे में धाराधर बरसते मेघ, लावा झुलसी मालवी श्यामामाटी की पठारीयता को अनरुके सप्ताहों तक अभिषिक्त कर रहे होते हैं। मेघजलों को पीकर श्यामा ऐसी खिल उठती है जैसे कि वह कृष्णा, सूर्यमुखी हो। प्रत्येक गाँव के अपने-अपने नाले जो कि ग्रामदेवता की परिक्रमा कर खल-खल करते ऐसे जल भरे मगन हो जाते हैं कि उतरने का नाम ही नहीं लेते। फलतः लोगों के रास्ते दिनों तक डूबे रहते। गाड़ियों, पालकियों, घोड़ों, मुनियों-साधुओं की यात्राएँ थमी रह जाती हैं। इतने पर भी मालवी किशोर-कण्ठ दुहराते ही होते—

— पानी बाबा आओ रे
 ककड़ी-भुट्टा लाओ रे!!
— मेघ राजा पानी दे
 इन्दर राजा पानी दे!!

साट इंच वर्षा, एक सौ चार डिग्री गर्मी तथा सियाला ऐसा सुहावना कि ऊनी बगलबन्डी तथा हिरावल में ही माघ की कटघाव रातें तक कट जाएँ। लेकिन कठोर मिश्रित यह कमनीयता केवल यहाँ की भूमि में ही नहीं बल्कि यहाँ के साधारण-जन में भी स्पष्ट देखी जा सकती है।

इसका कारण इसकी इतिहास-यात्रा में स्पष्ट मिल जाएगा। प्रत्येक शताब्दी में दो-एक बार अकाल, संक्रामक रोगों-शोकों की ऐसी काली पैशाचिका छायाएँ घिरती कि

मालवी श्यामा-धरती, विधवा के केशों की भांति हो जाती। अकाल के क्रूर नख धरती की देह को चींथ जाते और काली माटी की श्यामा-माँ, त्रैलोक्य नापते वामन के विराट चरण की बिवाई वाली पगथली जैसी लगने लगती। धरती के इस चिरे हृदय में जाने क्या-क्या समा जाता। दम तोडते अनाथ ढोर-ढंगर वातावरण की इस विवशता, पैशाचिकता को और भी मूर्त कर जाते। इसके अतिरिक्त हैजा, कालाजार, लालबुखार, प्लेग आदि सामूहिक रोगों से गाँव के गाँव, मोहल्ले के मोहल्ले परिवार के परिवार ऐसे नष्ट हो जाते कि कंधा देने वाला न मिलता। गाँवों-खेड़ों में, पुरवों-बस्तियों में दीपक जलाने वाला तक न मिलता। लावा में झुलसी इस पठारी धरती की प्यास, गर्मियों में इतनी बढ़ जाती कि न केवल नदियाँ-नाले ही सूख जाते बल्कि कुंए-कुंडियाँ तथा बावडियों का पानी या तो सूख जाता या फिर इतने नीचे चला जाता कि एक घड़ा खींचने में ही पानी-वालियों का दम फूलने लगता। कुएं की जगत से दो-दो सौ, तीन-तीन सौ हाथ नीचे के पानी का आभास भी न मिल पाता। घड़ों के डूबने की आवाज तो ऊपर तक नहीं हो आती पर नेज (रस्सी) हिलाने पर भी पानीवालियों को पता ही नहीं चल पाता कि घड़ा डूबा कि नहीं। गर्मी की तेज दोपहरी में किरकिराते रेहट की आवाज, पानी के होने का विश्वास अवश्य दिलाती।

प्रकृति की इस कठोरता के साथ-साथ मानवीय इतिहास की काली-आंधियाँ भी कम नहीं उठीं। हूण, मंगोल, शक, चंगेज, सैयद, पठान, मुगल, मरहठे किसने इस मालव को नहीं लूटा? दक्षिण आते-जाते दिल्ली सम्राटों की सेनाओं, सेनापतियों तथा सूबेदारों ने मालवी फसलों, सभ्यता एवं संस्कृति को ऐसा क्षत-विक्षत किया कि उसका नैसर्गिक स्वरूप एवं विकास सदा के लिए विनष्ट तथा कुंठित हो गया। मुसलमानों की दीर्घ एवं दुर्दान्त लूट के बाद इस सेनुदेश को अगत्या १६वीं शती के मध्य तथा अन्तिम चरण में देशवाओं के भगोड़े सरदारों, राजस्थान के निष्कासित ठाकुरों ने इतना लूटा-बाँटा कि गाँवों के अगवाड़े-पिछवाड़े तक बँट गये। सड़के बँट गयी। फलतः प्राचीन उन्नत इतिहास की परम्परा होते हुए भी यह प्रदेश, शेष भारत से पिछड़ा रहा। रेलों ने भारतीय जन-जीवन को गति दी। रेलें इसकी सीमाओं को छूती हुई सम्पूर्ण देश में दौड़ती रहीं पर मालवा गरवट पर ही चलता रहा। एकाध रेल इसकी अनुन्नत सीमा में भी आयी अवश्य परन्तु उससे इसका मध्ययुगीन दारिद्र्य दूर नहीं हुआ। दो-एक नगरों की मिलों की चिमनियों ने इसके पिछड़े आकाशों में औद्योगिकता का धुंआ छोडा लेकिन मालव-आत्मा तथा जन-जीवन पर रजवाडों, सामन्तो-ठाकुरों, मरहठे सरदारों-श्रीमन्तों की ही पकड़ बनी रही।

कल तक का मालवा कालिदास और विक्रम, भोज और बाणभट्ट का वंशज न होकर निरक्षर ब्राह्मणों, टुटपुंजिये महाजनों, दकियानूस तथा विलासी ठाकुरों तथा यायावर गूजर-बंजारों एवं वनवासी भील-भिलालों का ही आत्मज अधिक था। न यहाँ सरस्वती ही शेष रह गयी थी और न ही लक्ष्मी। इस भूमि की दुर्गा तो मध्ययुग में ही तिरोहित हो चुकी थी। मालव, अकाल एवं अज्ञानता का प्रतीक बन चुका था। अवन्तिका-

क्षेत्र की राजधानी उज्जयिनी कभी उदयनिका रही हो पर प्राकृत-काल ने उसे उज्जैन कर दिया। पर अपभ्रंश युग में जब प्राकृत भी सहज नही रही तब उज्जैन, 'उज्जण' कहलाने लगा। ज्योतिप के विराट अर्थ को वहन करने वाला महाकाल संज्ञा का विशाल मन्दिर भी मालवी जन एवं इतिहास की ही भाँति—ध्वस्त, समय-खण्डित एवं संस्कृतिहीन हो गया।

अतः लावा, प्रकृति एवं क्रूर इतिहास के दहन एवं दमन में मालव की आत्मा, देह तथा जीवन एवं श्यामामाटी—आकण्ठ दग्धा !! स्वत्व-स्वाहा !!

अन्तिम सूर्यास्त हो रहा था, बरात गाँव के बाहर के "केवड़ा-स्वामी" उपवन में पहुँची। गाड़ीवान ने न जाने क्या सोचकर बरात के आगमन की सूचना अपनी बन्दूक दाग कर दी। बन्दूक की इस हठात की आवाज से पेड़ों पर बसेरा लेते पक्षियों में एक हलका सा भूचाल आ गया। चहचहाहट जो, लगभग शांत हुई लग रही थी, वह चारों ओर फिर छितर गयी। सुदूर में मोर भी चौंक उठे थे तथा उनकी डाकती सी आवाज बड़ी देर तक सुनायी देती रही। लगा कि एकाध मोर इस हड़बड़ाहट में आम से उड़कर कटहल पर जा बैठा है। परन्तु इस प्रकार सहसा बन्दूक दाग दिये जाने पर गाँवों में प्रायः जैसी प्रतिक्रिया होती है, वैसी नहीं हुई। वहाँ के सन्नाटे वाली शान्ति में बन्दूक की आवाज उठी अवश्य पर हलकी सुदूर वाली प्रतिध्वनि के साथ जल्द ही विलीन भी हो गयी। ऐसे समय प्रायः गाँवों के बाहर, चबूतरों पर, सेरियों में, पेड़ों के तले, खपरैलों के नीचे अर्थात अपनी-अपनी तरह से लोगों की, स्त्रियों की, बच्चों की अच्छी खासी भीड़ जमा हो जाया करती है। किसी भी गाँव के लिए बन्दूक की आवाज महत्वपूर्ण घटना से कम नहीं हुआ करती पर इस समय स्वागत करनेवालों में केवल एक ही व्यक्ति वहाँ पर मौजूद था। उस व्यक्ति ने जैसे ही बन्दूक की आवाज के तुरन्त बाद दमनी तथा घोड़े पर वर को देखा तो वह खड़ा हो गया। वह अब तक बड़े ही उदास भाव से नीम की एक उभरी जड़ पर तने से पीठ सटाये बैठा था। केवड़ा-स्वामी के पेड़ों की सघनता के कारण यहाँ अपेक्षाकृत ठण्डा था, यद्यपि सुदूर में चलते बगूलों को वह बड़ी देर से देख रहा था। एकवस्त्र में था। वह एकवस्त्र भी कोरी धोती थी, जिसे उसने आधे पहन रखा था तथा शेष से अपने कंधे ढँके था। उसके बाल जिस ढंग से सूखे थे तथा आँखें जिस प्रकार से सूजी हुई थी उससे स्पष्ट था कि या तो वह खूब रोता रहा है अथवा अनेक रातों का रतजगा किये है। रतजगा की हुई आँखें, स्वभावतः फैल आती हैं, पर होती असम्पृक्त ही हैं। जैसे ही केवड़ा-स्वामी के मन्दिर के सामने

वरात रुकी तो वह व्यक्ति भी बढ़कर मन्दिर की सीढ़ियों के नीचे पहुँच, हाथ जोड़ खड़ा हो गया। दमनी से उतरते लोगों को सम्बोधन करते हुए वह बोला,

— उज्जैन के शुक्ल जी के यहाँ की वरात है न यह ?

वरातियों में जो सबसे अधिक सम्पन्न लग रहे थे, बोले,

— हाँ, है तो; आचार्य जी कहाँ हैं ?

अभी सम्भवतः शुक्ल जी महाराज और कुछ कहने जा ही रहे थे कि उस व्यक्ति ने प्रश्न का उत्तर न देकर अपनी ही बात कही,

— पीछे पड़साल में यथासम्भव सब प्रबन्ध है।

और यह कहते हुए वह व्यक्ति मंदिर के चबूतरे के नीचे ही परिक्रमावत घूमता हुआ वरात को पीछे पडसाल में ले जाने के लिए आगे बढा।

सम्पन्न व्यक्ति, वर के पिता पण्डित महादेव शुक्ल थे। यदि अन्य कोई अवसर होता और इस प्रकार का स्वागत-सत्कार हुआ होता तो वरात दरवाजे से ही लौट जाती, पर इस समय वह क्रोधित न हो सके। हाँ, असन्तुष्ट अवश्य लग रहे थे। क्रोधित वह इसलिए नहीं हो पा रहे थे कि इस समय पूरे मालवा में हैजे का प्रकोप, विशेषकर गाँवों-देहातों में जितना व्यापा हुआ था फलस्वरूप घर-घर में आग लगी हुई थी। पण्डित महादेव शुक्ल अपने पुत्र त्र्यम्बक शुक्ल का विवाह ऐसी अवस्था में टालना चाहते थे बल्कि कहना चाहिए कि अपनी ओर से तो वह टालने का निश्चय ही कर बैठे थे परन्तु उनकी एक नहीं चलने पायी ; दूसरे, पण्डित श्री रमण आचार्य ने "बारेसी" की पगत में पूरी ज्ञाति के सामने जब अपनी पगडी उनके चरणों में रख दी तथा गले का दुपट्टा हाथों में थामे, भरी आँखें लिये उनके निर्णय की प्रतीक्षा करते रहे तब भला पण्डित महादेव शुक्ल क्या कहते ? नहीं ?? तब पूरी ज्ञाति शुक्ल जी के नाम पर न थूकती ? इन्हीं पण्डित श्रीरमण आचार्य के पितामह पण्डित नवनीत लाल आचार्य कभी उज्जैन के 'मगरमुँहा' में रहते थे। म्युनीसीपैल्टी की जो लैम्प ऐन दत्तात्रय-मन्दिर के सामने है न, वही हवेली इन्हीं आचार्यों की थी। आज वह गिर गयी है पर कभी यहीं पर एक साथ दो-दो सौ यजमान टिका करते थे। लेकिन कैसा दुर्देव आया कि रातोंरात उन्हें ग्वालियर-राज्य से निष्कासित होना पड़ा। सरकार ने पाई-पाई जब्त कर ली और बेचारे पण्डित नवनीत लाल आचार्य को होल्कर-राज्य के इस कस्बे में शरण लेनी पडी। इस कस्बे में उनकी ननिहाल थी। नाना ने अपने इस संत्रस्त नाती को देवपूजा वाली माफी की अपनी जमीन दे दी। तब से यह आचार्य-परिवार इस कस्बे में एक प्रकार से निष्कासन का जीवन काट रहा था। आचार्य-परिवार का दुर्भाग्य यह रहा कि तीन पीढ़ियों के बाद भी कभी अपनी नागरिकता को नहीं भुला पाया। फलतः ग्रामीण जीवन तथा स्थानीय लोगों के साथ आचार-व्यवहार में यह परिवार आज तक एकरस न हो सका।

गत वर्ष अपने एक-कुटुम्बी के विवाह में पण्डित श्रीरमण आचार्य उज्जैन गये थे। घर से चलते समय अपनी पत्नी ने उनके खड़िया (वह बड़ा सा थैला जो कि घोड़े की पीठ पर यात्रा के सामान के लिए लादा जाता है) में सामान सहेजते हुए दसियों बार याद कराया था कि दुर्गा अब उतनी 'नानी' नहीं रह गयी है जितनी कि वह समझते हैं। लड़की मेघ होती है। उसे अपने ही घर बरसना चाहिए, यह शास्त्रों का वचन है। इस बार जा रहे हो, दूर-पास के सभी सगे-सम्बन्धी एकत्र होंगे। दुर्गा के लिए कोई न कोई अन्तिम प्रबन्ध करके ही लौटना, समझे ?

—सुन लिया भाई। तुम तो पीछे ही पड़ जाती हो।

— पीछे न पड़ूँ तो किसी घाट ठिकाना ही न लगे। तुम्हें क्या, सवेरे से गये तो मन्दिर में जाकर हिमाद्रि कर ली, पाठ कर लिया और बिल्वपत्र चढ़ा दिये—हो गया तुम्हारा तो आधा दिन पूरा। शाम को चबूतरे पर टहल-टहल कर महिम्न-पाठ पूरे गाँव को सुनाते रहे—मुसीबत तो मेरी जान को है न कि चार जनों की ऊँची-नीची बातें मुझे सुननी पड़ती हैं।

— अरे तो कोई ठीक-ठिकाने का सम्बन्ध आये तब न कुछ किया-धरा जाए ?

— हाँ-हाँ, ऐसी पदमिनी ही तो पैदा की है जो फौज-फाटा लेकर कोई तुम्हारे दुआर आएगा। वो ऽऽ बेचारे पंड्याखेड़ी वाले गामोठ महाराज के बहनोई घर आकर लड़की माँग गये पर तुम्हारे कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। मैं पूछती हूँ क्या बुराई थी उनमें ?

— मैं पूछता हूँ, उनमें अच्छाई क्या थी ? काला अक्षर भैंस बराबर और चढ़ दौड़े एक भले-आदमी के घर पर........ब्राह्मण हैं ये ! ! हुँम् ! ! किरसानी करते हैं और अपने को ब्राह्मण लगाते हैं।

खैनी मली जा चुकी थी, उसे एक हथेली से दूसरी पर लाने—ले जाने का कार्यक्रम बड़ी ही वितृष्णा से आचार्य जी करने लगे।

— तो किसने तुम्हारा हाथ पकड़ा है ? ले आओ न कासीजी से कोई वेदपाठी। मैं भी तो देखूँ कि तुम कैसा जमाई लाते हो ?....हुँम् ! ! अपनी लड़की को तो जैसे चारों वेद पढ़ा रखे हैं न ? अपने लच्छन तो देखेंगे नहीं और जमाने भर की राई-रत्ती, तोला-माशा देखते फिरेंगे।

खैनी फटकारी जा चुकी थी। मुँह में रखते हुए आचार्य जी बोले,

— हमारे बच्चों में किस बात की कमी है ? हम पुरोहित हैं, कोई उन गामोठ महाराज की भाँति पोथी-पत्रा देखकर ब्याह-शादी नहीं लगवाते फिरते हैं। कर्म-काण्ड करते हैं, किसानी नहीं, समझीं ?

— अरे किसान न हों तो सारा करम-काण्ड आले पर धरा रह जाए। खाने के ओ तोड़े पड़ें कि बम्बई तक गेहूँ का एक दाना देखने को न मिले।

— क्यों नहीं, क्यों नहीं। किसान की बेटी किसान का पक्ष न लेगी तो क्या पुरोहितों का लेगी ?

— हाँ मैं किसान की बेटी हूँ, तो ?? देख ली तुम्हारे घर की पुरोहिती। नानाजी की माफी की जमीन न मिली होती तो इस कथा-भागवत से मूँछो पर लगाने को चावल तो क्या बाजरे के भी दर्शन न हुए होते।

— ग्राखिरकार स्त्री हो न इसीलिए ब्रह्तेज को क्या समझ सकती हो ?

— अरे रहने दो, बहुत देखा तुम्हारा ब्रह्मतेज। घर-घर जाकर "आज एकादशी है" "आज पूरनमासी है," करके माँग-माँग करके लाते हैं और ब्रह्तेज-ब्रह्मतेज लगाये हैं। कभी रहे होंगे ब्रह्मतेज वाले पुरखे, आज तो सब भीख माँगते हैं।

पण्डित श्रीरमण आचार्य को ताव तो ऐसा आया कि बस ; लेकिन इतना ही बोले,

— इसीलिए शास्त्रो में स्त्री को शूद्र माना है।

— जाओ, जाओ, अब अपने शास्त्रों की गत मुझसे न बनवाओ। बहुत हुआ; अपना काम-धन्धा देखो और जाने की तैयारी करो। ज्यादा पंचायत ठीक नहीं।

— अच्छा, अच्छा, ज्यादा बकवास न किया करो. . ...वो ऽऽ मेरा ग्वाला रख दिया न ?

— ग्वाला, सोला-मुकुटा, खड़ाऊँ, चश्मा सब रख दिया है। कहो तो घोड़ा भी बाहर चबूतरे पर खड़ा कर आऊँ।

— मेरी अंडी रखी कि नही ?

— अंडी ?? गर्मियो में अंडी क्या होगी ?

— फिर वही !! अरे सगे-सम्बन्धियों के ब्याह में जाना है। दुर्गा के लिए पता नहीं किस-किस के यहाँ कैसे-कैसे जाना पड़े। कायदे की पोशाक तो होनी ही चाहिए।

— नही जी, गर्मियो में अंडी जो भी देखेगा, हँसेगा। लोग सोचेंगे कि आचार्य जी महाराज के पास जो जमा-जथा थी वह सब उठा लाये। कायदे की पोशाक के लिए सारंगपुरी जरी-किनारवाले दो दुपट्टे रख दिये हैं........हाँ, खोकर मत आना.... और सुनो,शुक्ल जी महाराज से बातें करने के पहले नँनदोई जी से सलाह कर लेना। लेकिन लड़का हर-हालत में अपनी आँखों से अवश्य देख लेना। नाम तो याद है न उसका—त्र्यम्बक !!

— भाई, ये लोग बहुत ऐंठू है।

— कौन लड़के वाला ऐसा है जो न ऐंठा हो ? और भाई, शुक्ल जी लोगों का ऐंठना वाजिब भी है। सुना काफी कमाई है। धार-देवास के राजा जिसके जजमान हों, भला वह नही ऐंठेगा तो क्या तुम ऐंठोगे ? अब तो कातिक-चौक में लकड़ी की हवेली भी बन गयी है।

— तुम तो इस देहात में बैठे-बैठे उज्जैन के लोगो के पेट का हिलता पानी तक देख लेती हो।

— महाराज ! क्यों न देखूँ ? लड़की की माँ जो हूँ। तुम्हारी तरह लड़कों का पिता नही कि पंचांग खोलकर दूर-दूर के नक्षत्रों, ग्रहों की चालों का तो पता लगाया ज रहा है और अपने आस-पास क्या हो रहा है उसकी कुछ खबर ही न हो।....मेरी बातें ध्यान से तुम सुन रहे हो या हमेशा की तरह यूँ ही हाँ-हूँ कर रहे हो ? इस

कान से सुना और उस से चलता किया ?
— क्या गंगाजी में खड़े होकर कहूँ तभी विश्वास आएगा ?....लेकिन, मान लो देन-लेन की बात चल पड़ी तो........??
— देन-लेन !! कैसा देन-लेन ? क्या दुजवर के ब्याह में भी देन-लेन होता है ?
— क्या कहा ? अवश्य क्या दुजवर है ? मुझे तो पता ही नहीं था....तब तो भाई मैं दुर्गा का ब्याह वहाँ कभी नहीं करूँगा।
— क्यों नहीं करोगे ?
— तुम्हारी आँखें तो फूट गयी हैं। तुम तो किसी तरह लड़की का बोझ हटाने पर लगी हो।
— हाँ, और क्या ! ! सौतेली माँ हूँ न उसकी ?—मुझे तो अपनी लड़की काटती है न ?
— जरूर काटती होगी तभी तो दुजवर से ब्याहने चली हो।
— दुजवर से क्या होता है जी ? अभी लड़के की उमर ही कितनी है ? अट्ठारह बरस का लड़का दुजवर कहलाएगा ?
— ठीक है भाई ! तुम सब सोच-समझ लो। बाद में फिर कुछ न कहना।
— हाँ, हाँ, तुमसे कहने के पहले मैंने सब ठोक बजाकर देख-सुन लिया है, समझे ! तभी बात मुँह से निकाली है, तुम्हारी तरह नहीं कि जीभ उठायी और जो जी में आया बक दिया।
— अच्छा, अब झगड़ो नहीं सबेरे-सबेरे। दिन भर यात्रा करनी है।
— झगड़ने को सींग तुम्हारे खुजलाते हैं और दोष मुझे देते हो।
और उठते हुए पण्डित श्रीरमण आचार्य बोले,
— अच्छा भाई, जहाँ सींग समाएँ वहीं चला।
इस बात से पति-पत्नी दोनों ही सहज हो जाये। पत्नी टोकते हुए बोली,
— हाँ सुनो, मातर रख दी है, कालीसिंध पहुँचकर कुछ खा-पी लेना। थोड़ा घोड़ा भी सुस्ता लेगा, यह नहीं कि वह बेचारा....
आचार्य जी झल्ला उठे,
— अरे अब चुप करो अपना यह रिकार्ड। मार दुनिया भर की सिच्छा देने चली हो। मैं तो जैसे अनाड़ी हूँ न ?
— अनाड़ी में भी कुछ अक्किल होती है।
— फिर तुमने पंचायत शुरू की न ? मैं कहता हूँ भगवती ! भगवान के लिए अब चुप करो। जो मैं कह रहा हूँ जरा उसे भी ध्यान से सुन लो। अपने लड़कों से कह देना कि पूजन-पाठ में किसी प्रकार की ढिलाई न हो और अपने आमों की भी खोज-खबर लेते रहें। यह नहीं कि आँधी-पानी में गिरे आम सारा गाँव ले जाए और ये नवाबजादे हरमुनियम पर जयजयवंती ही अलापते रह जाएँ।
— तुम उज्जैन ही तो जा रहे हो कोई चारों धाम की यात्रा पर तो जा नहीं रहे हो।
— औरतों की समझ में कभी कोई बात आ ही नहीं सकती। अरे, जाना अपने हाथ में

होता है पता नही कब लौटना हो ।

— अच्छा, अच्छा, तुम यहाँ की कोई चिन्ता न करो । तुम तो जाकर दुर्गा का सम्बन्ध पक्का करो ।

— अच्छा तो यही होगा कि तुम भी मेरे ही साथ चलो ; तभी तुम्हे विश्वास आएगा ।

— जरूर चली चलती । यदि यहाँ कोई देखरेख करनेवाला पीछे होता तो इतने बड़े काम का बोझ अकेले तुम पर कभी नहीं छोड़ती............और हाँ, जब तक बात पक्की न हो जाए तब तक भगवान के लिए उसका ढिंढोरा न पीटने बैठ जाना ।

और अत्यन्त वितृष्णा के साथ पण्डित श्रीरमण आचार्य ने घोड़े की रास थामी । अपनी पत्नी से बहस करके वह गत-चालीस वर्षों में कभी भी न जीत सके होंगे । भगवती दुर्गा-माँ का स्मरण करते हुए घोड़े को घर से बाहर लाये । पौ फट चली थी । सवेरे-सवेरे की हवा बड़ी सुखद चल रही थी । हवा में बड़ी ही वानस्पतिकता थी । उज्जैन तक दिन भर की यात्रा थी । दिन भर में बीस कोस की मजल (मंजिल) कभी बाँये हाथ का काम रही हो परन्तु अब बढ़ती आयु के कारण पीठ और कमर दर्द करने लगते हैं । इस बढ़ती आयु के साथ पत्नी का दबाव भी बढ़ता हुआ अनुभव होता है । पहले यही गोदावरी कैसी भीगी बिल्ली बनी रहती थी पर, क्रमशः हाथ के चीनी-पंखे की तरह खुलती ही चली गयी । प्रायः क्रोध तो उन्हें ऐसा आता रहा है कि गोदावरी पर हाथ छोड़ बैठें पर तीन-तीन लड़के और एक सयानी लड़की क्या कहेंगे, यही सोचकर वह मसोस कर रह गये हैं । और यह नही कि किसी ढंग की बात पर बहस करे, नही; जब देखो तब बेबात की बात पर जाने कहाँ-कहाँ की, कैसी-कैसी बातें लेकर सुनाने लग जाएगी । अब यही लो कि इस समय चलते-चलते यह आखिरी बात कहने की क्या आवश्यकता थी कि जब तक बात पक्की न हो जाए ढिंढोरा पीटने न लग जाना ? क्या मैं बात का ढिंढोरा पीटता रहता हूँ ? मुझे ढिंढोरची समझती हो न !—अरे, यह नही कहती कि मैं लोगो की भाँति छल-छंदी नहीं हूँ । लोग ही इतने पाजी होते हैं कि पहले तो आपसे खोद-खोद कर पूछेंगे और यदि आपने कुछ बता दिया तो सारे गाँव में जब तक उसे गा न लेंगे तब तक उन्हें चैन न मिलेगा । सामने के केवड़ा-स्वामी के जंगल के ऊपर लाली फूट आयी थी । ठण्डी हवा में छोटी झाड़ियाँ तक प्रसन्न लग रही थी । अभी दो-तीन घण्टे तक तो हवा की ठण्डक बनी रहेगी तब तक दो-तीन कोस की मजल भी पूरी हो जाएगी । यात्रा का ध्यान आते ही पण्डित श्रीरमण आचार्य चबूतरे पर से फलांग कर घोड़े की पीठ पर चढ गये । एक बार पीछे फिर कर देखा तो बाहर के बड़े फाटक के पास दुबकी खड़ी गोदावरी की साड़ी का लाल पल्लू भर दिखा लेकिन परिपार्श्व के अँधेरे में वह प्रियामुख स्पष्ट न देख सके ।

सवेरे के समय ताल से हाथ-मुंह धोकर लौटते नन्दू पटेल ने जब पण्डित श्रीरमण आचार्य को घोड़े-पगड़ी से लैस कहीं जाते देखा तो समझा किसी जजमानी पर महाराज जा रहे होंगे। टोकना उचित नहीं समझा। पर वह भी अपनी आदत से मजबूर था, टोक ही दिया कि क्या बड़नगरवाले बड़े ठाकुर साब के यहाँ चल दिये ? तब भला पण्डित श्रीरमण आचार्य क्या कहते ? बताना ही पडा कि नही भाई, सगोत्रियो के ब्याह में उज्जैन जा रहे हैं और फिर दुर्गा भी अब सयानी हुई उसका भी तो प्रबन्ध करना ही है। सुना एक लडका है वहाँ, बात तय हो गयी तो वाक्यदान भी कर आएँगे। —कहने को तो वह यह सब कह गये पर रास्ते भर तब कितना पछतावा बना रहा कि घर से चलते समय ही पत्नी ने टोका था कि अभी इस बारे में किसी से न चर्चा करना''''और अब यह दुष्ट नन्दू पटेल गाँव भर में जब तक इस बात को गा नही लेगा तब तक हाथ का लोटा नीचे नही रखेगा। और दोपहर तक तो अवश्य ही गोदावरी को अपने पति की यह बात मालूम हो जाएगी। गोदावरी ने हजार बार कहा होगा कि क्या मजाल जो तुम्हारे पेट में जरा सी भी बात पच जाए। बात न हुई गोया डकार हुई। सदा ऐसा हुआ है कि काम बनने के पूर्व ही बात फैल जाती रही है फलत' पण्डित श्रीरमण आचार्य के बनते काम बिगड जाते रहे हैं। पर जब आज तक उनकी इस आदत में परिवर्तन या सुधार नही हो पाया तब भला इस समय दु'ख करने से क्या होगा ? गरवट के रास्ते घोड़ा चला जा रहा था। धरती के ऊँचे-नीचे विस्तार में केवल वही चल रहे थे। जगल में धूप खूब फैल आयी थी। अमराइयो पर मँडराते तोतों और पाखियों की ओर उन्होंने अपना ध्यान लगाना चाहा ताकि वह यह भूल सकें कि उन्होंने आज का दिन भी भूल से ही प्रारम्भ किया है।

वैसे पण्डित श्रीरमण आचार्य न तो इतने व्यावहारिक ही कभी थे और न ही इतने बुद्धिमान, पर कभी-कभार भूल से कुछ समझदारी के काम भी उनसे हो जाते रहे हैं। दुर्गा का सम्बन्ध भी उन्ही क्वचित समझदारियों में से एक था। पत्नी गोदावरी की बात मानकर पण्डित महादेव शुक्ल से स्वयं बाते न कर अपने बहनोई पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी पर यह भार सौंपकर उन्होंने जीवन की परम बुद्धिमानी का परिचय दिया था। वैसे भी त्रिपाठी जी स्वयं शुक्ल जी के भी नाते में कुछ लगते थे तथा जाति के पंचों में से थे। पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी उन लोगों में से थे जो केवल दुनियाँ ही देखे नही होते वरन स्वय उस दुनियाँ को भी अपना कुछ चमत्कार दिखाये होते हैं। खूवात में आज चालीस वर्षो से खजान्ची थे। न जाने कितनी चलन के तथा तौल के रुपये गिनकर निकाल चुके थे। पत्थर पर या अँगूठे से उछालकर तो खरा-खोटा कोई अनाडी या अंधा भी बता सकता था पर अँधेरे में सिक्का छूकर खरा-खोटा बता देने वाले त्रिपाठी जी इसीलिए पण्डित कम, मुशी आदमी ज्यादा थे। जिस बात में कहिए पख निकाल दें।

रियासत के "गंगा-जमुनी" खजाने का जैसा हिसाब चाहिए वैसा वह अपनी अंगुलियों की पोरो पर गिना सकने वाले महाशय थे। भला उनसे पण्डित महादेव शुक्ल कितनी देर पेंच लड़ाते ? माना कि राजा—महाराजाओ तक शुक्ल जी की पूछ थी पर इससे क्या ? त्रिपाठी जी ने अभी मन्त्र शुरू ही किया कि विचारे शुक्ल जी महाराज को स्वाहा कहना ही पड़ा। अब यह बात दूसरी है कि सीधे-सीधे नही कहा। और जब सीधे-सीधे कोई नही कहता तब भला जाति के एक सिरमौर व्यक्ति से ऐसी आशा भी नही करनी चाहिए। दोनों पक्षों की शोभा भी इसी में है।

— महाराज ! त्र्यम्बक के लिए कहाँ से दूसरी बहू लाओगे ? उज्जैन के बाहर से तो वैसे भी लड़की मिलने से रही। बाहर वाले अपनी कन्या कुएँ में फेंक देना पसन्द करेंगे पर उज्जैन में नही ब्याहेंगे। उज्जैन गयी लड़की कभी वापस अपने मायके गयी है आज तक ? और सच्ची बात तो यह है श्रीमान ! कि त्र्यम्बक के वास्ते दूसरी लड़की यहां मिलेगी, यह असम्भव है""सारी उज्जैन जानती है कि वह क्यों और कैसे नही रही।""मै आपकी पगड़ी नही उछाल रहा हूँ महाराज ! पर दुनियाँ जानती है कि उज्जैन के ब्राह्मण वैसे ही प्रसिद्ध है और फिर उनमें पंडे !!""शिव, शिव, साक्षात ब्रह्मराक्षस ही समझो""यह अपमान की बात नही है शुक्ल जी ! घर की बात है इसलिए कह भी रहा हूँ अन्यथा त्र्यम्बक के लिए कोई कुलीन ह्न खोज लाएँ तो यह जनेऊ शिप्राजी में बहाकर हरिद्वार जाकर न सन्यास ले लूँ तो वैकुण्ठ नन्दन त्रिपाठी नाम नही ""अरे आप स्वयं ही सोचें कि पण्डित श्रीरमण आचार्य अपनी कन्या का सम्बन्ध लेकर आपके द्वार आये है, तो इसे छप्पर फाड़कर लक्ष्मी का आना न कहेंगे तो और क्या कहेंगे ? फिर दुजवर को आज के जमाने में पूछता कौन है साहब ? गली-गली में जितने कहो उतने दुजवर गिना दूं। अरे, हमने तो आपस की बात समझ कर इनको रोका है वर्ना वो रतलाम वाले वासुदेवजी पड्या अपने लड़के के लिए दो दिन से चक्कर लगा रहे है""और हाँ श्रीमान ! एक बात और पक्की समझिएगा कि यदि दान-दायजे का नाम भी लिया तो भरी सभा में वो पोलपट्टी खुलेगी कि खुली भली। किरकिरी करवानी हो तो ही दान-दायजे का नाम लीजिएगा। त्र्यम्बक के ससुर, पण्डित रामशंकर तिवारी ने तो दसियो बार कहलवाया कि वह पंचायत करवाने जा रहे हैं और अपनी कन्या का बदला वह शुक्ल जी की थुक्का-फजीहती से लेंगे।""सो महाराज ! सारी ऊँच-नीच अब आपके सामने हैं, कहिए तो बात पक्की करवा दी जाए। आचार्य जी एकाध दिन से ज्यादा रुकेंगे नहीं। अब आप जाने और आपका काम जाने। और पण्डित जी ! यदि अकेले लड़के को ऐसा ही ठलुआ रखने की सोची हो तो बात दीगर है, लेकिन तब हमारी भी बात याद रखिएगा कि आज न सही तो कल, कुंवर साब अगर कोठो पर न जाएँ तो नाम बदल देना समझे श्रीमान ! सिक्के और आदमी का चलन देखा जाता है। चलन का सिक्का न हो तो राजाओ को भी भारी पड़ता है तब हम और आप क्या है ?

— लेकिन खजांची साब ! आप खुद सोचिए कि एक ही एक लड़का और बिना दान-दायजे के भला कैसे····?

त्रिपाठी जी अपनी पेवशी (पान-सुपाडी रखने की थैली) खोलकर पान लगा रहे थे। बडे जोर से हँसे और बोले,

— वोऽऽ तिवारी जी के घर का आया सब क्या हुआ ?

— अब आप तो पहली वाली का ही चरखा काते आ रहे हैं।

शुक्ल जी को पान देकर अपने भी पान जमाया और तम्बाकू खा चुके तो बोले,

— श्रीमान ! जब चरखा है तो वह तो कातना ही पड़ेगा। मैं ही नहीं कोई भी यह बात तो पूछेगा। और न विश्वास हो तो धरमशाला में पंचायत हो जाए। फिर तिवारी जी यों ही चुप बैठे रहेंगे ? दूसरे ब्याह की सुनकर आपके समधी पण्डित रामशंकर तिवारी और उनके दोनों आवारा लड़के वो महाभारत मचाएँगे कि छठ्ठी का दूध याद आ जाएगा। क्या पञ्च आपसे नहीं पूछेंगे कि ऐसी हट्टी-कट्टी बहू एक ही बरस में बिना कोई बीमारी हुए कैसे मर गयी ?

— वाह, साब वाह, आप तो गजब का अन्धेर करते हैं। सारी दुनियाँ जानती है कि वह मुँहधेरे दत्तात्रय-अखाडे की कुडी से खारा पानी लेने गयी थी और पैर फिसल गया।

पण्डित बैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी ने पैंतरा बदला। पास में रखे पीकदान में थूककर बोले,

— पुलिस में इस वारदात की खबर तुरन्त की गयी थी ? लाश का पोस्ट-मारटम होने दिया गया था ? पंचनामे पर गवाही में कोई बाहरी आदमी भी था ?.. .. महाराज ! जन्मकुण्डली न खुलवाइए। उज्जैनी ब्राह्मणों के ये हथकंडे कौन नहीं जानता ?........तभी तो कहता हूँ कि शुक्ल जी ! घर आयी लक्ष्मी को ठुकराना महान मूर्खता होगी। ऐसी सुशील सुकन्या आपको इस जन्म में दुबारा मिलने से रो रही... .. .और हाँ, अगर आप यह सोचते हों कि मुझे ऐसा क्या मीठा है, तो........

— अरे राम–राम !! आप भी कैसी बात करते हैं महाराज ! आप तो हमारे भले की ही कह रहे हैं।

नाथ दिये गये साँड़ की भाँति पण्डित महादेव शुक्ल फुँफकार कर रह गये पर पण्डित बैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी की बात काट सकना उनके बूते के बाहर था। तरह दे जाने में ही कल्याण समझा, बोले,

— खजान्ची साब ! त्रयम्बक की माँ को तो आप जानते ही हैं उससे भी पूछना ही पड़ेगा........वैसे आप आश्वस्त रहें। आपके कहने के बाहर नहीं हूँ, बस जरा घर में... ....

और पण्डित महादेव शुक्ल ने उठते हुए अपना दुपट्टा कंधे पर ठीक किया तथा अपनी विद्यासागरी की ओर बढ़े।

— हाँ, हाँ महाराज ! घर में अवश्य चर्चा करें। मेरा मतलब यह थोडे ही था,

लेकिन........अच्छा होता कि नागेश्वरजी के लडके के ब्याह् की आज "वारेसी" (जाति-भोज) है, ऐसे शुभ अवसर पर यदि वाक्यदान हो जाता तो आचार्य जी महाराज का तीरथ नहाना सार्थक हो जाता। ज्ञाति के सारे बड़े-छोटों की उपस्थिति में शुभकार्य सम्पन्न हो तो सब की शोभा है। शोभापूर्वक काम करना सोचिए महाराज! काम तो आगे-पीछे होना ही है। मौके से हो तो क्या बात है, बस इतना ही।

— यह तो ठीक है पर घर में भी सलाह कर लूँ।

— अरे नहीं साहब! चाहें तो पास-पड़ोस में भी ऐसे मामलों में सलाह ले लें पर यह न भूलिएगा कि रतलामवाले वासुदेव जी पड्या चक्कर लगा रहे हैं और आचार्य जी तो कल ही से 'आशीर्वाद' के लिए कुंकुम लगा श्रीफल दुपट्टे में बाँधे घूम रहे हैं।

पण्डित महादेव शुक्ल ने जिस प्रकार छड़ी उठा प्रणाम किया उससे त्रिपाठी जी को लग गया कि अब यह शुभकार्य सम्पन्न होकर रहेगा। त्रिपाठी जी अपनी खिड़की से शुक्ल जी का मलमल का अँगरखा, गोल पगड़ी, चौड़े लाल पाट की धोती तथा विद्यासागरी देखते अपनी चोटी में गाँठ देते रहे।

वारेसी के लिए धर्मशाला में जाति के सारे लोग एकत्र होते जा रहे थे। स्वयं वर के पिता पण्डित नागेश्वर उपाध्याय दो-तीन बार हाथ जोडकर लोगों से विनंति कर चुके थे कि सोले-मुकुटे पहनें, क्योंकि पत्रावली लग चुकी है। तभी पंडित श्रीरमण आचार्य ने पूरी जाति के सामने अपनी पगडी पण्डित महादेव शुक्ल के चरणों में रख दी और बोले,

— महाराज! हूँ दुर्गा नाम्नी स्वकन्या एवं कुंकुम आपनी सेवामा चिरंजीव त्र्यम्बक शुक्ल हेतु अर्पित करूँ छूँ।

और दोनों हाथों में दुपट्टा थामे आचार्य जी, शुक्ल जी के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। शुक्ल जी के पैरों के पास कुंकुमित श्रीफल, पान तथा सुपारी रखे थे। एक क्षण को अस्वीकार कर जाने को मन हुआ किन्तु त्रिपाठी जी ने सारी योजना इस प्रकार योजित की थी कि उनके लिए यह वाक्दान स्वीकारने के अतिरिक्त कोई गति नहीं थी। बोले,

— अरे महाराज! आप तो नवनीतलाल जी महाराज के वंशज ठहरे। आपसे सम्बन्ध स्थापित हो तो यह हमारे लिए गौरव की ही बात होगी।........बस श्रीमान! हमारी शर्त कुल इतनी ही है कि ब्याह जरा ठीक-ठिकाने का हो।। द्वार पर गये लोगों का आतिथ्य-सत्कार भी यथायोग्य हो, और क्या!! गोविन्द-माधव और महाकाल महाराज की कृपा से दो-चार राजाओं के यहाँ उठना-बैठना है, बस उन लोगों में हमारी नाक नीची न हो, बाकी तो त्र्यम्बक आप ही का है।

अभी पण्डित श्रीरमण आचार्य कुछ कहें इसके पूर्व ही त्रिपाठी जी ने बड़े जोर से कहा ताकि पूरी जाति के लोग सुन लें।

— *श्रीमान ! आचार्य जी के द्वार पर वैसे तो कोई कमी रहेगी नहीं लेकिन यदि कुछ* रह जाए तो अब्दालपुरा वाला इस दास का घर तो आपकी सेवा में मौजूद ही है। कहिएगा तो आपके यजमानों को पूरे फौज-फाटे के साथ मोतीचूर और घेवर की रसोई अब्दालपुरे की धर्मशाला में दे दी जाएगी। आप चिन्ता क्यों करते हैं ? अरे महाकाल का नाम लेकर सम्बन्ध स्वीकारें महाराज! और ब्याह की तैयारी करने दें।

तभी कोने में बैठे मुखिया पण्डित गोपीवल्लभ त्रिवेदी बोले,

— *ठीक ही तो कहते हैं त्रिपाठी जी, अरे महादेव ! अब विलम्ब केहि कारण कीजे* राम बुलाये राज पद दीजे-बोल गोविन्द माधव की जय !! मोर-मुकुटवंशी वाले की जय !! जय महाकाल !! हर हर महादेव !!

और त्र्यम्वक शुक्ल को बुलाकर आचार्यजी ने तिलक किया तथा ग्यारह रुपये से 'आशीर्वाद' दिया। जो लोग इस कार्य में मंत्रपाठ कर रहे थे उन्हें छोड़कर बाकी के लोग असम्पृक्त बने विभिन्न वर्णी सोले-मुकुटे पहनने में व्यस्त रहे। और जब 'नमः पार्वती पते हर हर महादेव' हुआ तथा लोगों ने जीमना आरम्भ किया तो पण्डित श्रीरमण आचार्य को लगा कि जैसे आज की 'वारेसी' दुर्गा के ब्याह की ही हो। उनकी आँखें भर आयीं। भरे मन से उन्होंने भी अंजलि के जल से ब्रह्मार्पण किया—'ॐ भूपते स्वाहा !! ॐ भुवनपते स्वाहा !! ॐ भूतानामपतये स्वाहा !!—बुदबुदाकर, ग्रास छोड़े। आचमन कर गोविन्द-माधव का स्मरण करते हुए जीमना आरम्भ किया।

स्त्री आइसबर्ग होती है। स्त्री का नब्बे प्रतिशत प्रच्छन्न रहता है। यदि श्रीमती गोदावरी देवी ने भी पण्डित श्रीरमण आचार्य को विवाह की तैयारी में एक लम्बी सूची थमा दी तो पति महोदय को आश्चर्य क्यों होना चाहिए था? जिस दान-दहेज के लिए पण्डित बैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी ने पण्डित महादेव शुक्ल से इतनी हुज्जत की थी—तो वह केवल इसीलिए न की गयी थी कि श्रीमती गोदावरी ऐसा चाहती थीं और अब वही पत्नी दान-दहेज के नाम पर वर्तनों, कपड़ों और गहनो की इतनी लम्बी तालिका लिये सामने बैठी थी जैसे कि बड़े रावले की लडकी का दान-दहेज हो। पांच तोले की ठुस्सी। चार तोले की गलसरी। तीन तोले का मंगलसूत्र। लाकिट छह तोले का। हाथो में गोखरू, चूड़ियाँ और कंगन दस तोले के होंगे। कानों में झुमके, बुन्दे और बालियाँ। नाक के लिए हीरे की कील और सच्चे मोतियों की बड़ी न सही तो उत्तम-मध्यम नथ तो चाहिए ही।

— तुम्हारा तो दिमाग खराब हो गया है।
— क्यों? इसमें दिमाग खराब होने की क्या बात है जी?
— जब दान-दहेज न देने की बात पर तो यह हाल है तो पता नही देने का करार होता तो तुम खेत-खलिहान-मकान सब बिकवा देती।
— लड़की के ब्याह में लोगों के बिक ही जाते हैं। मैं कोई दुनियाँ से न्यारा तो कुछ कर नही रही हूँ?
— अरे देवी! मैं कहता हूँ कभी जोडकर देखा है कि यह सब कितना सोना हुआ? और पता है सोने का क्या भाव हो गया है अब?
— तुमसे ज्यादा मुझे राई-रत्ती का पता है, समझे?

— इस भरोसे मत रहना कि सोना अब भी पन्द्रह का होगा।
— हाँ, हाँ, मुझे सब पता है। हो जाए बीस, नहीं तीस का। पर दुर्गा को इतना सोना तो चढेगा ही।
— तो फिर तुम ही पगडी पहन लो और करो सारा प्रबन्ध। मुझमे इतनी ताब नहीं, समझी ?
— यदि तुम चूड़ियाँ पहनने को तैयार हो जाओ तो देखो मैं कैसे सारा प्रबन्ध करती हूँ। मैं कहती हूँ यदि इस तरह घबराने लगोगे तो कैसे यह गाडी पार लगेगी ? जब द्वार पर जात-परजात के दस जने आएँगे तब तुम क्या करोगे ?
— मैं कहता हूँ तुम इन उज्जैन के लोगों को नहीं जानतीं। लडकी को सोने से भी लाद दोगी तब भी इन चाण्डालों का पेट नही भरेगा, समझी ? पडे और स्मशान के कुत्ते कितने निर्मम होते हैं तुम्हें पता नही है। पण्डित रामशंकर तिवारी ने अपनी बेटी को क्या नहीं दिया था ? पर पता है, सुकलाइन ने बहू को एक ही बरस में चलता किया और सारी रकम डकार गये।
— लेकिन पण्डित जी महाराज ! आपको भी पता है कि समधी तिवारी जी भी कैसे चमार निकले ? सारे गहनों पर सोने का पानी था। यह तो न्याव की बात है कि तुमने धोखा दिया तो फिर धोखा खाओ भी।
— तुम तो अभी से अपने भावी समधी का पक्ष लेने लगीं।
— पच्छ की इसमें क्या बात है ? मुझे वह सुकलाइन कौन सोने के पलने में बिठा देंगी ?
— न सही सुकलाइन तो सुकुल जी तो बैठा ही सकते हैं।
— ऐसी गंदी बात कहते तुम्हें जरा भी लज्जा नहो आयी अपने पुरसारथ पर ? मुझे ऐसे झूले-पलनो में बैठने का सोख होता तो पण्डित जी ! तुम्हारा और तुम्हारे बाल-बच्चों का बम्बई तक पता न चलता। बडे आये मुझे कोसने वाले। जाने दो मुझे क्या। तुम्हारी ही लड़की है। न दो एक छदाम भी। लोग तुम्हारे ही मांजने (इज्जत) पर थूकेंगे। तुम्हारी और तुम्हारे घर की मान-मरजाद के लिए खटूं भी और तुम लोगों की ही चार बातें भी सुनूं, है न ? ऐसी उल्लू समझ रखा है तुम लोगों ने ?
— तुम तो मजाक भी नहीं समझती।
— चलो, चलो; बड़े आये मजाक करने वाले। पहले कभी भी मजाक किया है जो आज ही करने चले हो ? आदमी के मन में जो मैल होता है वह इसी तरह न निकलता है ? अब इस बुढौती में मुझे दूसरे की गोद में बैठालने की बात मजाक है ?

पत्नी जिस प्रकार से बिफर उठी थी उसमें तरह दे जाना ही श्रेयस था। पण्डित श्रीरमण आचार्य ने किया भी वही। फाल्गुन का सवेरा ही था। मन्दिर से अभी लौटे ही थे कि यह काण्ड हो गया, अतः सोचा कि खलिहान तक हो लिया जाए। दोपहर नहीं तो रात तक तो अवश्य ही पत्नी का मिजाज ठीक हो ही जाएगा। पूरा गियाला

(शीतकाल) तो आज-कल करते-करते बीत ही गया। अब व्याह की तैयारी कर ही डालनी चाहिए मुश्किल से अढ़ाई महीने ही तो रह गये हैं।

रात जब खाना-पीना हो चुका और सब सो गये तब भी पण्डित श्रीरमण आचार्य की आँखों में नींद नहीं थी। पत्नी ने जो तीस-चालीस तोले सोने का हिसाब बताया था वही करीब हजार रुपये का होता था। उसके बाद कपड़े-लत्ते, बर्तन-भांड़े, बरात का आगत-स्वागत, रसोई-पानी, आये-गयों के लिए लेन-देन, नौकरों-चाकरों का हिस्सा तथा इसके अलावा बीसों खर्चे और होंगे अर्थात् चार-पांच हजार रुपये तो चाहिए ही।.... लेकिन इतना रुपया आये कहाँ से ?

ओसारे में फाल्गुनी चाँदनी आ रही थी। सामने के ओसारे में बँधी गाय नींद में से कुछ खा रही थी। उसकी गलघंटी रह-रह कर बज उठती थी। तीनों लड़के घर के बाहर मैदान में सोये हुए थे। दुर्गा और पत्नी श्रीमती गोदावरी उसी ओसारे में किनारे सो रही थीं। पण्डित श्रीरमण आचार्य चाहने लगे कि किसी प्रकार वह पत्नी को जगा पाते और बातें कर पाते। तभी उन्हें ध्यान आया कि पता नहीं किसी ने गाय के कुंडे में पानी भरा भी कि नहीं ? और वह उठे। और कोई दिन होता तो वह अपनी चट्टियों की आवाज नहीं होने देते पर आज चट्टियों की आवाज रात के सन्नाटे में काफी तेज सुनायी पड़ रही थी। वैसे श्रीमती गोदावरी भी सोयी नहीं थीं। सवेरे जो चर्चा अधूरी रह गयी थी उसे वह भी पूरा करना चाहती थीं ताकि सारा प्रबन्ध यथाशीघ्र हो सके। अभी गहने-आभूषण बनने हैं। कपड़े-लत्ते भी उज्जैन-इन्दौर जाकर लाने होंगे। ऊपर का सारा काम है ही और यह सब 'इन्हीं' को तो करना है। इस तरह मान-अवमानना चलेगी तो काम कैसे-क्या होगा ? दूसरा कौन बैठा है जो यह दौड़-भाग करेगा ? लड़कों का हाल तो सामने था ही। बड़ा शिवशंकर तो एकदम देहाती था। किसी बात की समझ ही नहीं। खलिहान में क्या और कितना रखा है इसका कुछ पता ही नहीं। बस, एक काम वह महाशय किसी प्रकार कर सकते थे कि पिता की अनुपस्थिति में मन्दिर में जाकर चार बिल्वपत्र चढ़ा दिये, अभिषेक-पात्र में यदि पानी भरा भी तो ऐसा कि छलक कर आधा ही रह जाए। और यदि किसी ने कुछ कह दिया तो फिर मुँह तक धोती तान कर तीन दिन उठने का नाम ही नहीं। रुपये में कितने पैसे और एक पैसे में कितनी पाइयाँ होती हैं, इस सबसे पण्डित शिवशंकर आचार्य को कोई सरोकार नहीं। मँझले सुपुत्र पण्डित जटाशंकर आचार्य अभी दो बरस हुए जाने कहाँ और किससे कबाड़ कर एक हारमोनियम ले आये हैं। दिन भर मैदान में नीम नीचे दरी का टुकड़ा डाल कर हरमोनियम टुनटुनाता रहता है। जब माता-पिता ने देखा कि यह जटा गाने-बजाने से बाज नहीं आएगा तो अगत्या हार कर गत वर्ष माता जी की जात्रा (मेला) में से उसे राधेश्याम की रामायण लाकर दे दी है, ताकि वह गाकर कथा कहना ही सीख

जाए। अच्छा ही है, अब लोग गायक कथावाचक हो चाहते हैं। परन्तु लगता है कि जटा महाशय का इसमें भी मन नहीं लगता है। प्रायः तो चूड़ी के बाजे (ग्रामाफोन) की नकल में गाने गाता रहता है अन्यथा जाने किन-किन नौटंकियों की वाही-तवाही ऊँचे-ऊँचे सुरों में गाना अच्छा लगता है। तीसरे सुपुत्र पण्डित रामनारायण आचार्य तो इन दोनों भाइयों से भी गये बीते हैं। पिता से अधिक माँ के लाड़-प्यार ने उसे बचपन ही से आवारा बना दिया है। दूसरों की अमराइयों से आम चुराना, बावड़ियों में नहाते फिरना; ताश, धोती के खूंट में बाँधकर दिन-दिन भर गायब रहना यह उनकी दिनचर्या थी। पण्डित श्रीरमण आचार्य ने अपने पुत्रों को लीक पर लाने के लिए आरम्भ में बहुत बक-झक की, मारा-पीटा भी परन्तु अन्त में हार कर सब कुछ "हरि-इच्छा" पर छोड़कर वितृष्ण हो गये। बस, दुर्गा ही उनकी ऐसी थी जिसे सब कुछ आता था। पूरी गृहस्थी सम्हाले थी इसीलिए श्रीमती गोदावरी को बोझ नहीं लगता था। पर कन्या अगत्या होती कन्या ही है। पराये धन पर कोई कब तक 'लक्ष्मीनारायण' कर सकता है? पति को गाय वाले ओसारे की तरफ जाते देखकर पत्नी बोलीं,

—क्या बात है जी?

—अरे तुम अभी सोयी नहीं?

—तुम्हीं कौन सो गये थे?

—नहीं, मैं तो सोने ही जा रहा था लेकिन मुझे लगा कि कृष्णा पानी-वानी चाहती है और शायद किसी ने उसके कुंडे में पानी नहीं भरा है।

—अरे वाह, मैंने खुद दो बाल्टियाँ उसमें डाली हैं।

—अच्छा !!

और पण्डित श्रीरमण आचार्य ओसारे की नेवती के नीचे खड़े होकर कृष्णा को देखने लगे। गाय ने मालिक को देखा तो सिर हिला दिया। गलघंटी जोरों पर टुनटुना उठी।

—क्या है कृष्णा?

और वह कृष्णा की पीठ तथा गला सहलाने लगे। कृष्णा तन्मय होकर हाथ का फेरा जाना—भोगती रही। सम्भवतः स्वयं पण्डित श्रीरमण आचार्य भी इस पशुप्रियता में खो गये थे।

—अच्छा, अब आ जाओ। आधी रात हो गयी।

पत्नी का आदेश सुनकर आचार्य जी अपने बिस्तरे पर लौटे। पत्नी ने यही सुअवसर समझा और उठी। पति को ताँबे का लोटा थमाते हुए बोलीं,

—तुम रुपये-पैसों की बिलकुल चिन्ता मत करो।

पण्डित श्रीरमण आचार्य वैष्णवी ढंग से पानी गटका रहे थे। पानी पी चुके तो तकिये का सहारा लेते बोले,

—मेरा तो यही विचार था कि इतना ही किया जाए जितना आवश्यक हो। बात भी रहे और शोभा भी बनी रहे। वैसे लड़की जाती कहाँ है? पहले, शुक्ल जी के घर का सारा हालचाल दो-चार बरस में देख लो तब धीरे-धीरे दुर्गा को देती

रहना । चाहो तो दुर्गा को थोड़ा सहेज-सचेत देना ।
श्रीमती गोदावरी ने समझ लिया कि अब इस समय सारी बातों की जिद करना ठीक नहीं होगा । और कोई बात नहीं दो-चार चीजें आगे-पीछे ही दे दी जाएँगी । इनकी भी बात रह जाएगी ।

फाल्गुनी मदमाती चाँदनी निरभ्र नीलाकाश से झर रही थी, हवा में काफी ठण्डक थी । पति-पत्नी थोड़ी देर तक बतियाते रहे कि क्या-क्या कपड़े होंगे । खाने-पीने में कैसे क्या होगा । बैंड-बाजा; आगत-स्वागत का प्रबन्ध किस प्रकार किया जाना है । और जिस समय पण्डित श्रीरमण आचार्य की नींद लगी तब शुक्रोदय होने वाला था । चाँदनी भी आँगन से ओसारे तथा ओसारे से भी सरक कर गोबर लिपी दीवार चढ़ चुकी थी ।

लगते ज्येष्ठ के ही लगन थे । ब्याह में अब तीन दिनों की ही देरी थी । पूरे बैशाख भर उज्जैन-इन्दौर दौड़ते रहे तब जाकर सारा सामान जुट सका । अभी छोटे-मोटे काम तो बाकी ही थे । जटाशंकर को बाजे वालों और गैस के लिए बड़नगर भेजा था । परसों का गया वह आज अभी तक नहीं लौटा था । आज सवेरे ही घोड़ी और उसके जेवरों के लिए शिवशंकर को सब कुछ समझा-बुझाकर तथा एक चिट्ठी देकर रुनीजा के ठाकुर साहब के यहाँ भेजा है । देखें वह महाशय बरात के आने के पूर्व तक लौटते हैं कि नहीं । लौंडे क्या हैं, जान की आफत है ।
पण्डित श्रीरमण आचार्य अपने ओसारे में खड़े आँगन में भट्टियाँ खुदवा रहे थे । लू इतनी तेज थी कि सिर पर का गलना (गमछा) बार-बार गीला करने पर भी देखते-देखते सूख जाता था । उन्हें जटाशंकर के न लौटने के कारण विशेष उलझन इसलिए हो रही थी कि पता नहीं उस भले आदमी ने कुछ किया-धरा भी कि नहीं । अरे भाई, यदि कोई प्रबन्ध बड़नगर में नहीं हो सका है तो वापस आ जाना चाहिए । अब मान लो किसी दूसरे को इसके लिए उज्जैन ही भेजना पड़े तो वह कब भेजा जाएगा ? दो ही दिन तो बीच में रह गये हैं । अभी कितना सारा काम पड़ा है । अब ये भट्टियाँ खुदवाने का काम जटा या शिव नहीं करा सकता था ? मैं यहाँ सवेरे से खड़ा हुआ हूँ । आप तो यहाँ टँग गये न ? दूसरा कुछ नहीं कर सकते । इस फिजूल के काम में जब आप खुद लग गये तो बाकी का काम ? पता नहीं ये लौंडे साले जाने किस मिट्टी के बने हैं । जहाँ भेजो वहीं के हो जाते हैं । अपने सामने किसी की नहीं चलने देंगे........ और हाँ, इसका भी क्या भरोसा कि यह महाशय बड़नगर ही गये हों । बीच रास्ते में ही गम्मत-तमाशे में कहीं न रुक गये हों । पूरे पचास रुपये टेंट में बाँधकर ले गये हैं । दो-चार, यार-दोस्त मिल गये होंगे और भाँग-बूटी, नाच-गान में न उड़ा दिया हो तो नाम पलट देना । और अब सोच रहे होंगे कि क्या मुँह लेकर लौटें ? मैं इन सालों की

रग-रग पहचानता हूँ पर यह दुर्गा की जिजी किसी की सुनती ही नहीं। मैंने कहा था कि न हो तो जटा के साथ हरखराम, रामभरोसे, नन्दू पटेल किसी को भी कर दो, पर नहीं। और अब लौटकर बच्चू सिट्टे सरीखा मुँह बनाकर खड़े हो जाएँगे। और पूछोगे तो ऐसी वेपर की उड़ाएँगे कि चम्बल के किनारे गूजरों-बन्जारों ने घेर लिया.... अरे बेटा, जितनी मर्जी हो उड़ा लो मजे अभी समझे !! मैं बैठा हूँ तो सब चल भी रहा है लेकिन बाद में भीख न माँगना पड़े तो कहना........जब देखो तब हाय, हाय........ मरें साले........कहाँ तक मैं ही खटता रहूँ........।

पसीने से तरबतर पण्डित श्रीरमण आचार्य मन ही मन अपने लड़कों पर जल-भुन रहे थे पर साथ ही इष्टदेव से विनती भी करते जा रहे थे कि जटा और शिव सकुशल लौट आएँ। किसी प्रकार दुर्गा के ब्याह की यह घाटी पार हो जाती तो—हे ठाकुर जी महाराज ! गंगा नहाते। अब की बार अवश्य ही बदरीनाथ की यात्रा कर आएँगे। उनकी चिन्ता स्वाभाविक थी क्योंकि चारों ओर से जो समाचार आ रहे थे उनसे वह बहुत त्रस्त थे। इन्दौर से रतलाम तक के क्षेत्र में हैजा फैल रहा था। वैसे तो प्रत्येक वर्ष एक न एक बीमारी, रोग-शोक गर्मियों-सर्दियों में लगे ही रहते हैं लेकिन अबकी बार तो सुनते हैं कि गाँव-के गाँव सफाचट हो रहे हैं। हैजे की बात सोचते ही उन्हे कँपकँपी छूटने लगी। हाथ का पंखा जोर-जोर से चलने लगा। उन्हे सदा ताड़ या खजूर का पंखा ही प्रिय है। हल्का होता है तथा हवा भी खूब देता है पर श्रीमती गोदावरी को कौन समझाए ? ब्याह के लिए कामदार झालरवाले पंखों की व्यवस्था वह दो बरस पूर्व से ही करती आ रही हैं।........ब्याह के ये शेष तीन दिन ब्रह्मा के तीन दिन की भाँति लगने लगे। पण्डित श्रीरमण आचार्य को जाने कैसी अव्यक्त घबराहट होने लगी। लू में अँवा बने औसारे में वह अपनी खड़ाऊँ बजाते चक्कर लगाने लगे। बारम्बार यही घिरता कि जटा अभी तक क्यों नहीं लौटा ? लड़का ही है। मान लो बाजार में कुछ सड़ा-गला खा-पी लिया और........और तभी पत्नी औसारे की ओर से आती दिखी। आते ही पूछा,

— जटा अभी नहीं आया न ?

— अजीब नालायक है तुम्हारा यह लड़का। पता नहीं गैस और बाजेवालों का भी कुछ प्रबन्ध किया कि नहीं। जाने कहाँ कुँवर साहब गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। ये भट्टियाँ तो शाम तक हो जाएँगी। रात ही को मिठाई वगैरा बनेगी और बिना गैस के कैसे क्या होगा ?

— तुम तो बात के पीछे पड़ जाते हो, अरे, आते-आते न कोई आएगा ? बड़नगर कोई यहाँ है ? अपनी नहीं कहते कि चार-चार बार इन्दौर-उज्जैन की दौड़ लगायी तब जाकर काम बना। सुनार के घर जब तीन दिन धरना देके बैठे रहे तब उसने बना के दिया। आजकल ब्याह-सादी के दिन हैं ये दर्जी, सुनार, बाजेवाले नाक पर मक्खी नहीं बैठने देते हैं। दस जगह दौड़ो तब जाकर कहीं एक राजी होता है। तुम तो रकाब से नीचे पैर नहीं धरना चाहते हो और जीभ हिलाकर सारा काम

पूरा करवाना भी चाहते हो........कुछ काम नहीं तो बैठे-बैठे लड़कों को ही कोस रहे हैं।

— हाँ, हाँ, मेरा तो माथा खराब हो गया है जो यों ही........

— अच्छा अब लड़ो नहीं भाई, मैं तो यह पूछने आयी थी कि यहाँ क्या कर रहे हो ?

— यहाँ रामजनी का नाच हो रहा है न, वही देख रहा हूँ।

— तुम तो इत्ती जल्दी नाराज हो जाते हो कि बस। यह, एक भट्टी तो बन ही गयी है, दूसरी भी बन जाएगी। तुम जरा चलकर मैदा, बेसन आदि देख लेते।

— उसमें क्या देखना ? जित्ता लिखवाया था उत्ता दे दो।

— नहीं भाई, पीछे तुम कहने लगोगे कि यह चीज कम पड़ी, वह रह गया और ढिमाका नहीं हुआ। चार जनों के बीच में किचकिच मुझे पसन्द नहीं। लोग कहेंगे कि आचार्य जी तो बड़े खुले दिल के हैं पर यह देवी जी ही सूम है। मावा, मेवा, वरक आदि मैं सब निकाले देती हूँ। तुम एक बार देख लो, बस।

— क्या तुम भी। अरे यह भी कोई वेद पढ़ना है क्या ?........हाँ सुनो, भट्टियों पर छाँह करवा दी जाए तो कैसा रहेगा ? दोपहर में हलवाइयों को आराम रहेगा।

— ठीक है, पिछवाड़े टट्टर पड़े हैं, मँगवा लो, लेकिन तुम चलकर सामान देख लो।

और तभी चौकीदार भगवान सिंह दौड़ता हुआ आया तथा सूचना दी कि मन्दिर के चबूतरे पर कै करता जटाशंकर पड़ा है। क्या ?? और पण्डित श्रीरमण आचार्य तथा श्रीमती गोदावरी देवी की आँखें फटी की फटी रह गयी। यह क्या हुआ भगवान ??.... और जब कै-दस्त से लस्त जटा को लेकर पण्डित श्रीरमण आचार्य आदमियों के साथ ओसारे में पहुँचे उस समय आँगन, ओसारे, सहन, रास्ते कहीं पर भी तिल धरने को जगह नहीं थी। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि जटा को क्या और कैसे हो गया ? लू तो नहीं लग गयी ? लेकिन लू में तो ऐसा नहीं होता, तब ?? कहीं यह.... कहीं क्या ? लोग हैजे का नाम लेना तो दूर उसके बारे में सोचने तक से घबराते थे। नन्दू पटेल दौड़कर अपने घर से जुआर के पूंखड़े के भुने हुए दाने ले आया ताकि इसके पानी से रोगी को कुछ ठण्डक मिले। भीमाशंकर पुजारी, जो थोड़ी-बहुत वैदकी भी करते थे—काढ़ा ले आये। किसी ने आम के पने की राय दी। कोई कुछ कहे इसके पूर्व ही विधवा सेठानी-माँ अपने घर से आम का पना बनाकर ले आयी। लेकिन जटा की गिरती हालत सम्हल नहीं पा रही थी। जब वैद्य जी ने निदान कर दिया कि जटा को हैंजा ही हुआ है तो चारों ओर भय छा गया। लोग मारे डर के भाग खड़े हुए। सब को अपने प्राणों की चिन्ता थी। हैंजा !!....बाप रे बाप !!....और लोग जबड़ों और दाँतों को भींचे घरों की ओर भागे।

तेज प्रवाह को जिस प्रकार हठात रोक दिया जाए तो वह कैसे कुण्डली मार कर अपने ही भीतर-भीतर बहने लगता है तथा लौट-लौटकर फैलने लगता है, बस, लगभग यही मनःस्थिति पण्डित श्रीरमण आचार्य और श्रीमती गोदावरी देवी की हो रही थी। ब्याह का सारा काम जिस वेग एवं उत्साह से सम्पन्न हो रहा था वह जटा

की आकस्मिक बीमारी से सहसा रुक गया। इस प्रकार रोक दिये जाने पर एक झटका या आघात स्वाभाविक है। इस प्रकार के आघात साघातिक तक हो जाया करते हैं। दूसरी भट्टी अभी अधूरी ही बनी थी। मैदा, बेसन, घी, जस का तस परातों में धरा था। मण्डप, पण्डित तथा घोड़े का प्रबन्ध शिवशंकर पर था और आधी रात होने आयी थी लेकिन अभी वह नहीं लौटा था। अज्ञात में जो चिन्ता थी वह जटा के इस प्रकार लौटने के बाद तो और भी आशंकित कर रही थी। अन्यथा रूनीजा है ही कितनी दूर? आठ कोस का आना-जाना भी कोई आना-जाना है? दूसरा कोई समय होता तो पण्डित श्रीरमण आचार्य इसी बात पर घण्टों झल्लाते और पत्नी पर गुस्सा निकालते। तभी जटा की हल्की कराह सुनायी दी। ओसारे में अब गर्मी नहीं थी। आधी रात के बाद तो ओसारे में भी हल्की ठण्डक हो जाती है। जटा ओसारे में ही लिटाया गया था। पीछे दीवार पर अकेली चिमनी जल रही थी जिसका प्रकाश तो उतना नहीं था जितना कि आभास था। कल तक इस कस्बे में सदा के ज्येष्ठ मास की सी ही शांत, प्रलम्ब रातें हुई हैं पर आज की रात अनेक अर्थों में भिन्न थी। इस बीच तीन और घरों से भी हैजे के समाचार मिल चुके थे। रग्घू कुर्मी, सीताराम नाई और मेवा ढोली हैजे के कारण चल बसे थे। रोज तो कस्बा इस समय तक खर्राटे लेने लगता है पर आज वातावरण में मनुष्य के शब्द गुंजरित थे। मनुष्य के ऐसे शब्द, जो प्रलाप और रुदन के साथ मिलकर वातावरण को बींध देते हैं। यह मानवीय शब्दों की ही क्षमता होती है कि वातावरण उसके कारण पवित्र, नादमय और हाहाकारमय हो सकता है। पण्डित श्रीरमण आचार्य को अपने ओसारे में बैठे-बैठे ही सुनायी दे रहा था—कि अँधेरे के वक्षस्थल को मानवीय विवशता कैसे बधनखों की भाँति बकोट रही थी। यदि सब कुछ यथावत रहता तो यही मानवीय कण्ठ इस समय कैसे मंगलगान कर रहा होता। पण्डित श्रीरमण आचार्य भीतर ही भीतर हवा में पड़ गये दीपक की भाँति काँप रहे थे। सब के मना करने पर भी श्रीमती गोदावरी देवी जटा का सिर अपनी गोदी में लिये हुई बैठी पखा झल रही थीं। वैसे उनके मुख पर दृढ़ता ही लग रही थी परन्तु उनकी आँखों में आग की ऐसी लपक थी जो किसी गहन भीरुता की आँखों में ही होती है। ओसारे के एक खम्भे से पीठ टिकाये रामनारायण अपने में खोया हुआ बैठा था। दुर्गा को पिछवाड़े के सहन में ही रहने का आदेश था अतः वह बिचारी बड़े डरे भाव से ओसारे के दरवाजे से सिर टिकाये फटी आँखों से सब कुछ देख रही थी। जटा की कराह सुनकर पण्डित श्रीरमण आचार्य ने पत्नी से पूछा,

— जटा कराहा क्या?

— नहीं तो और कौन कराहेगा?

— नहीं, कराह तो हम सब रहे हैं पर सुनायी उसी की पड़ रही है........हे भगवान !! और पण्डित श्रीरमण आचार्य लगभग रूँआसे हो गये। धोती आँखों से लगा ली।

— मैं कहती हूँ धीरज से काम लो, घबराने से क्या होगा? होनी को कोई नहीं टाल सकता। बेटी से पहले बेटा जाना चाहता है....।

— यह तुम क्या कह रही हो ?
— मैं वही कह रही हूँ जो घटने जा रहा है। क्या भगवान की लीला है कि बेटी इस तरह जाना चाहती है और बेटा दूसरी तरह जाना चाहता है.......जैसी ठाकुरजी की मर्जी....वैसे तो तुम बड़े ज्ञान की बातें करते हो, लेकिन........

तभी जटाशंकर ने अपनी आँखें खोलीं। उन आँखों के द्वारा जैसे सम्बन्ध नहीं देखा जा रहा था बल्कि जिस निरानन्द भाव से दृश्य, पेड़, नदी आदि देखे जाते हैं उसी प्रकार जटा की आँखों ने भी माता-पिता को देखा। उन आँखों में कोई सम्बोधन-दृष्टि नहीं थी।

— जटा! क्या चाहिए बेटा !.. .तबीयत कैसी है ?

माँ की आवाज सुनकर जटा की आँखें कुछ काँपी अवश्य, पर उनमें सम्बन्धत्व नहीं था। जल से बाहर निकालकर रख दिये जाने पर मछली जैसे थरथराती है लगभग वैसे ही जटा की आँखें भी थरथरायी लेकिन लगा कि जैसे माँ का बोलना फूंक था जिसने दिये के अन्तिम प्रकाश को हठात बुझा दिया और जटा का सिर माँ की गोद में लुढ़क गया।

सारे गाँव में आग लगी हुई थी। दोपहर तक पचास मृत्युएँ हो चुकी थीं। लाशें ढोने वालों के कन्धे दुखने लगे थे, परन्तु विवशता थी। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के कारण प्रकृति के जंगलों को वृक्षहीन करके मैदान बनाता है तो क्या कुछ इसी प्रकार की महाकाल की आवश्यकताओं के कारण मानवीय-जंगल भी तो नहीं काटा जाता ? कितना कठिन है इस निर्मम तथ्य के बारे में वस्तुपरक होना। मनुष्य सारा न्याय, सत्य मानवीय पक्ष से ही स्वीकारना चाहता है क्योंकि उसे अहं है कि वही भगवान की श्रेष्ठ रचना है। लेकिन मृत्यु के समक्ष खड़े होते पर क्या यह मानवीय दर्प, प्रज्ञा व्यर्थ नहीं है ? जन्म, भोग और मृत्यु—यह जीवमात्र की जीवन-यात्रा है, तब कौन श्रेष्ठ है और कौन इतर ? भ्रम की स्थितियों में जैसी सामाजिक एकता पशुओं में आ जाती है वैसी ही मनुष्यों में भी आ जाती है। रोज जरा-जरा सी बातों पर कट-मरने वाले पड़ोसी इस प्रकार के विकराल दैवी प्रकोपों पर एक हो जाते हैं। क्या यह दैवी करुणा है या आत्म-भय ? गाँव में इसी प्रकार का आत्मभय फैला हुआ था। जलाने के लिए लकड़ी की समस्या हो रही थी। कुछ लोग आस-पास के पेड़ काटने पर जुटे हुए थे। कोई घर या परिवार ऐसा नहीं बचा था जहाँ किसी न किसी की मृत्यु न हुई हो, बल्कि अनेक घर और परिवार तो ऐसे हो गये थे जहाँ रोनेवाला एक नहीं रह गया था तब भला श्राद्ध-पिण्ड की बात ही क्या। फाटक, खुले दरवाजे हवा से भड़भड़ाते रहते पर कोई उन्हें बन्द करने वाला तक नहीं रह गया था। प्रायः देखा गया है कि इस प्रकार के सांघातिक दैवी प्रकोपों के बारे में पशु-पक्षियों को सहज ही पूर्वाभास हो जाता है और वे अपने-अपने ढंग से उस बारे में प्रतिक्रिया करते हैं। हाँ, पालतू पशु कुत्ता काफी सीमा तक मनुष्य का साथ देता है पर मनुष्य या उसके परिवेश के आसपास मँडराने वाले अनेक पशु-पक्षी

स्थानान्तरण कर जाते हैं। मृत्यु के आगामी सन्नाटे का यह पूर्वाभास होता है जिसे हम प्रायः नहीं देख पाते या समझ पाते हैं। इस सार्वजनिक विभीषिका में कौन-किसको सान्त्वना देता, और क्या ? सबकी पलकों में आँसू थे। उनके पीछे जाने का प्रश्न ही नही था। मरनेवालों का दुःख अन्तर में तथा लाशें ढोने का असह्य भार कधो पर लिये चलते-फिरते जो बच गये थे, वे यही सोच रहे थे कि पता नही अब किसकी बारी है। लेकिन दूसरों की अपेक्षा आचार्य-परिवार की साँसत दुहरी थी। दो दिन बाद ही दुर्गा की बरात आने वाली है........तब क्या होगा ? अभी जटा के नाम का दीपक तथा हँडिया पीपल पर टाँग कर पण्डित श्रीरमण आचार्य लौटे ही थे कि बाहर चबूतरे पर रामनारायण कटे बकरे की भाँति तड़प रहा था। जैसे ही पुत्र की यह हालत देखी तो पण्डित श्रीरमण आचार्य तो कटे पेड की भाँति भरहराकर टूट गिरे। लोगों ने दौड़कर उन्हें सम्हाला। उनकी स्थिति तो ऐसी हो गयी थी कि जैसे किसी ने उन्हें मन्त्रपाशित कर दिया हो। सहन की सीमा, रेखा केवल शरीर की ही नही हुआ करती। चेतन इन्द्रियाँ भी एक सीमा के बाद या तो प्रतिक्रिया करना बन्द कर देती हैं अथवा जड़ हो जाती हैं। इस प्रकार के प्रहार प्रायः सांघातिक हो जाया करते हैं। पण्डित श्रीरमण आचार्य सोचने की स्थिति में ही नहीं थे। आँगन में बनी, अधबनी भट्टियाँ, दीवार से टिकी खड़ी ताँबे की परातें, दाल-चावल के बड़े चरवे, बड़ी-बडी कढाइयाँ अनाथ बनी फैली थी। परिवार में किसी को चीजें सहेजने-समेटने की सुध ही नही थी। दो-चार पड़ोसियों ने यदि घी-तेल, बेसन समेट कर न रख दिया होता तो उसे कोई पशु वैसे ही खा गया होता। रामनारायण को बचाने के लिए जो भी प्रयत्न सम्भव थे, किये गये, परन्तु वह भी आधी रात होते तक चल बसा। पण्डित श्रीरमण आचार्य की जो शारीरिक तथा मानसिक स्थिति थी उसके कारण अर्थी तैयार करने वालों के सामने यह प्रश्न था कि रामनारायण का अग्नि-संस्कार कौन करेगा ? शिवशंकर अभी लौटा नही था। गाँव में इनकी जाति का ही जब कोई दूसरा घर न था तब भला कुटुम्बीजन का क्या प्रश्न ? प्राय' इस प्रकार की स्थितियों में शवदाह आधिकारिक व्यक्ति के आने तक रोक दिया जाता है पर ऐसा सामान्य परिस्थिति में ही होता है। असामान्य तथा वह भी इस प्रकार के प्रकोपों में शव को थोड़ी देर भी घर में नही रखा जा सकता। लोग असमंजस में थे, पर क्या करते ? केवल यही गति लग रही थी कि "आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति" —और अर्थी उठी—"रामनाम सत्य है ! !"

आठ कोस की यात्रा करके शिवशंकर धड़कते दिल के साथ घर की ओर लौटा। जेवरों से लकदक करती ठाकुर साहब की घोडी पाकर शिवशंकर परम प्रसन्न था। अपनी सफलता पर उसे गर्व था। घर पहुँच कर जब वह सबको बताएगा कि किस प्रकार उसने घोड़ी प्राप्त की, तब लोगों को मानना पड़ेगा कि शिवशंकर इतना बुद्धू नही जितना

कि उसे समझा जाता है। माना कि वह पूजा करने के अतिरिक्त अन्य किसी दूसरी बात में न तो टाँग ही अड़ाता है और न ही किसी प्रकार की जिज्ञासा ही रखता है, परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वह बातों को नही समझता अथवा उत्तरदायित्व का निर्वाह नही कर सकता। जटा, लाख तेज हो या रामनारायण कितना ही साहसी क्यों न हो पर वह भी किसी से कम नहीं। ठाकुर साहब से घोड़ी ला सकना इतना आसान नही था। देखा नहीं कितने और लोग भी इसी घोड़ी के लिए आये हुए थे पर ठाकुर साहब ने कुछ देख-सुन कर ही तो उसे घोडी दी। यह घरवाले तो सदा उसे एक प्रकार से निकम्मा ही समझते हैं। समझा करें, इससे क्या ? यदि फसल को दूर से नही पहचान सकता तो इससे क्या ? लेकिन क्या मजाल जो एक पूला घास या आधा सेर अनाज भी आसामी या कोई दूसरा इधर-उधर कर सके। वह दूसरों की भाँति न चीखता है, न चिल्लाता है तो क्या वह बुद्धू है ?

रास्ते में एक बावडी पर रुककर उसने थोडा सा सत्तू खाया, बस; बाकी तो वह पूरे रास्ते घोडी को हवा की तरह दौडाता लाया था। स्वयं उसे भी चिन्ता थी कि उसे देर हो गयी थी, अत. घरवाले उसके बारे में चिन्तित हो रहे होंगे। वह पिता की आदत जानता था कि वह छोटी सी बात पर कैसे नाराज होने लगते हैं, और जब नाराज होते हैं तब जोर-जोर से बिगड़ने लगते हैं और बिचारी जिजी को डाट-फटकार पड़ती है। रास्ते में जब तक उसे डाक का हरकारा नहीं मिला था तब तक वह घर पहुँचने के लिए मात्र व्यग्र था पर जब हरकारे ने बताया कि उसके गाँव में बडी जोरों का हैजा फैला हुआ है इसलिए वह मारे भय के गाँव के भीतर गया ही नहीं, और गाँव की जो दो-एक चिट्ठियाँ थी वह बाहर ही किसी को थमाकर चला आया है, तो उसे भी चिन्ता हुई। जब गाँव के पेड दिखने लगे तो अनायास ही उसकी धडकन बढ़ गयी। बडा ही श्लथ भाव आ गया। उसे हठात घबडाहट सी होने लगी। वह इसका कारण नही समझ पाया पर वह चिन्तित हो उठा। एकदम ठण्डे पसीने से लथपथ शिवशंकर घोडी से उतरा और उसने चबूतरे में लगे लोहे के कडे से घोडी को बाँधा। अभी वह बाँध चुका ही था कि घर के भीतरी दरवाजे में आँगन की ओर से आती एक अर्थी दिखी तथा "राम नाम सत्य है" सुना। अर्थी ? किसकी अर्थी ?? क्या""क्या किसी की मृत्यु""लेकिन कौन ?? और वह घबरा उठा। यात्रा के पसीने के साथ घबराहट का पसीना मिलकर उसे भिगोये दे रहे थे। अभी वह सोचे-समझे इसके पूर्व ही किसी नारी के आर्तस्वर में रामनारायण का नाम सुना। अर्थी बडे फाटक से बाहर आ रही थी। साथ में मुश्किल से दो-चार लोग थे। अँधेरा हो चला था अतः सहसा किसी को पहचान सकना कठिन था। लेकिन बाहर अभी भी खास अँधेरा नही था इसलिए चबूतरे पर खडे शिवशकर को पहचान सकना भीतरवालों के लिए सहज था। साथ ही कड़े में बँधी घोड़ी के हाँफने-तथा उसके जेवरों की चाँदी के बजने की भी आवाज स्पष्ट थी। पण्डित श्रीरमण आचार्य को दो लोग थामे हुए थे। माता-पिता दोनों ने पहचान लिया। जिजी को स्त्रियाँ पकड़े हुए थी। जैसे ही दुर्गा ने अपने बड़े भाई को हठात देखा तो वह चीत्कार उठी,

— दादा !!

शिवशंकर को दुर्गा की यह चीत्कार, लोहे के गरम तमाचे सी लगी। वह केवल जड़ीभूत ही हो सका। स्त्रियों का क्रन्दन और चीत्कारें गरम-गरम लू के झपेटों सी उसे झुलसाने लगीं। शिवशंकर, छू देने पर गाय-बैल जिस प्रकार अपनी त्वचा सिहराने लगते हैं, उसी प्रकार की सिहरन अनुभव करने लगा। उसे लगा कि ज्वर के कारण वह काँप रहा है। उसकी अवचेतना इस निर्मम, कठोर वास्तविकता के पार न जाने किस लोक में उसे किये हुए थी लेकिन तभी पिता का विकट रोदन सुनायी दिया। संसार में सबसे वीभत्स दृश्य या अश्रव्य स्थिति कोई होती है तो वह है, पुरुष का विवश रोदन। पुरुष के रोदन से अधिक असुखकर कोई घटना नहीं हो सकती। ऐसा रोदन किसी के भी स्वत्व को वैसे ही चीर जा सकता है जैसे कि सागौन के विशाल पेड़ को बड़ी आरी बीच से खड़े-खड़े तराश देती है। बिजली का प्रहार वृक्ष को झुलसाता भर है परन्तु आरी सीधे, खड़े से तराशती है। ऐसे तराशे जाने में रेशा-रेशा, पोर-पोर रेता जाता है, किसी भी प्रकार की करुणा, दया या रूरियायत नहीं बरती जाती।

सेठ हीरालाल ने बढ़कर शिवशंकर के कान में कहा,

— भैया ! धीरज से काम लेना, समझे !! पण्डित जी महाराज को तो देख ही रहे हो। अब तुम्ही सब कुछ हो। जटा तो सबेरे हो चला गया और अब यह रामशरन भी····।

शिवशंकर किसी भी प्रकार की बात सुनकर सोच-समझ सकने की स्थिति में नहीं था। अपने होने की चेतना भले ही अन्तश्चेतना में रही हो पर घोषित रूप से वह उसी रूप में था जैसे कि वृक्ष होते हैं या इसी प्रकार से जैसे कि अन्य चीजें होती हैं। व्यक्ति का जब विचार करना किसी कारण रुक जाए तो वह वस्तुवत ही तो हो जाता है। शिवशंकर ने एक बात सुनी। लेकिन इस प्रकार की बातों को जैसे सुना जाता है या सुनना चाहिए, क्या उसी प्रकार उसने इसे सुना ? प्रत्येक सुनने के बाद एक प्रतिक्रिया होती है। मानसिक या शारीरिक, लेकिन होती है। जबकि शिवशंकर हवाहीनता में निस्तब्ध खड़े पेड़ की भाँति ही मौन था। बिना कुछ समझे-बूझे वह भी अर्थी तथा अन्य लोगों के साथ हो लिया। ऐसा करने के पीछे कोई तार्किक परिणति नहीं थी। यह वैसा ही था कि जैसे हवा आयी और पेड़ को हिला गयी। ऐसे हिलने के साथ पेड़ के वृक्षत्व का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। दिन भर ज्येष्ठ तपा था फिर भी हवा में मृदुलता थी। गाँव, गाँव में आनेवाली गरवट, नदी के पार का विस्तृत मैदान, नदी पर बना एकमात्र शिवाला तथा उसका घाट सब रोज की ही भाँति था। क्यों हमें किसी दिन ये ही चीजें प्रसन्न लगती हैं और किसी दिन ये ही चीजें कितनी उदास, भयंकर आदि जाने क्या-क्या लगती हैं। क्या वस्तुओं का अपना कोई स्थायी या स्वतंत्र स्वत्व नहीं होता ? सब कुछ, पूरी सृष्टि की सार्थकता या असारता मानवीय सन्दर्भों से ही परिचालित क्यों है ? क्यों नहीं फूल की निरपेक्ष गंध या स्वरूप हमें बाध्य करता है कि हम उसकी सुगंध या सौन्दर्य के प्रति अपने स्वत्व या मनःस्थिति से ऊपर उठकर यथायोग्य नमित या

प्रशंसित हों ? मानव की रचना से, शेष सृष्टि की स्थिति क्या द्वितीय श्रेणी की है ? अँधेरा, सपूर्ण कृष्ण कभी नही होता। अँधेरे की कृष्णता में तारो का प्रकाश घुला हुआ होता है। अँधेरा, कृष्ण-सूर्य का प्रकाश है। चारों ओर की कृष्णता में थोडी दूर के पेडों के डूबे-डूबे आकार दिख रहे थे। केवडा-स्वामी सुदूर में डूबा हुआ था। सप्तमी या अष्टमी की तिथि रही होगी। चन्द्रमा के आगमन-अनुष्ठान में अभी देरी थी। अभी पूर्व के क्षतिज में उस अनुष्ठान का श्रीगणेश भी नही था पर यह विश्वास कि चन्द्रमा निकलेगा, काल्पनिक चांदनी तथा उसके प्रसरित स्वरूप के होने के लिए काफी था। आज दिन भर काफी चिताएँ सुलगती रही थी। इस समय भी दो-चार जल रही थी। हवा में वानस्पतिकता की अपेक्षा हल्की चिरांयध भी थी। निश्चय ही वह भयासन्नता की स्थिति ही थी। यदि आग का कोई शब्द होता तो कहा जा सकता था कि काफी शब्द थे जो कि शोर कहला सकते थे पर कठिनाई यह है कि आग की वाणी प्रकाश होती है, ध्वनि नही। एक ऐसा निर्मम सन्नाटा था जिसमें पेड़, मैदान, नदी, घाट, गाँव में जाने वाला रास्ता सब डूबे हुए थे। यदि कभी कोई मानवीय हताश क्रन्दन इस सन्नाटे को चीर कर उभरता तो वह ऐसा ही लगता कि जैसे चिता में लेटे शव ने करवट लेते हुए कराहा हो। सुदूर के अंधकार में यहाँ-वहाँ सियारों की हुँआ-हुँआ से गाँव के चारों ओर लिपटे भय की परिधि ही बढ़ती, उसके कारण किसी मुक्ति का अनुभव नही होता। केवल आकाश कृष्ण-निर्मल था। एक सीमा तक वह असम्पृक्त भी कहा जा सकता था। ज्येष्ठमना भाव से आकाश अपनी गहराइयों में आक्षितिज महाकालरूप में फैला हुआ था। कभी-कभी ऐसा भ्रम होने लगता कि महाकाल, चिताओं के अग्निचरण रखता हुआ पृथ्वी पर विचरण करने को उद्यत है। महाकाल का एक रूप सदाशिव है; जब वह प्रकाश बनकर फूलों में, नदियों में, वनस्पतियों में रंग, गंध, गुण बनकर प्रवहमान होता है। एक रूप वह भी है जब वह कालीरूप में, चण्डीरूप में घर-घर द्वार-द्वार, नगर-नगर अपने प्यासे खप्पर की प्यास—रक्त, केवल रक्त से बुझाता है। आकाश की कृष्णता में, तारों के आकार में वही कालपुरुष शयन कर रहा होता है। विष्णु शेषशायी है; महाकाल, कालशायी है। इस महानियम या प्रभु-अनुष्ठान में जब समय की भी कोई स्थिति नही तब हम, हमारी यह सृष्टि, इसकी वानस्पतिकता क्या है ? क्या इनके होने की भी कोई प्रतीति, हमारे अतिरिक्त किसी को होती भी है ?

जिस समय हाथ में अग्नि लेकर शिवशंकर, रामनारायण की चिता की परिक्रमा करने लगा उस समय उसे लगा कि वह मृत्यु और जीवन के बीच अग्निवृत्त खींच रहा है। प्रत्येक दो सम्बन्धों के बीच अग्नि ही साक्षी-रूप होती है। जब भी उसकी अवहेलना की जाती है वह सम्बन्ध भस्म हो जाता है। जन्म ग्रहण करने के पूर्व जठराग्नि में से होकर आना पड़ता है और मृत्यु में प्रवेश करने के पूर्व श्मशान की अग्नि से होकर जाना होता है। हम अपने भीतर की अग्नि से परिचालित रहते है। आरात्रिक सूर्य और सविता को सहन करते है। केवल अग्नि ही तो सब कुछ है। अन्तर केवल यह है कि जिस अग्नि को हम वहन कर पाते है उसे जीवन की संज्ञा दे दी गयी है और जिसे वहन कर सकने

की क्षमता नही होती है, वह मृत्यु है। जीवन को यज्ञ माना गया है तथा आयु को समिधा। हमारे कर्म इस अनुष्ठान में "स्वाहा" कहते है। प्रत्येक यज्ञ की पूर्णाहुति होती ही है। जिस दिन आयु का अंतिम दिन, पूर्णाहुति में स्वाहा हो जाता है उसी दिन नैष्कर्मता का बोध होना चाहिए, न कि उस पर प्रलाप करना चाहिए।

शिवशकर तो चिता ठण्डी करके ही लौटा पर पण्डित श्रीरमण आचार्य को बहुत तेज ज्वर था, अतः चिता सुलगने पर उन्हें घर ले आया गया। उसे घर कैसे कहा जा सकता था? कल तक उस घर में उत्सवता दौड-दौड कर उसे सजा रही थी। उत्सव की गध कमरो, दालानो, आँगनों में फैली हुई थी। लोग ही लोग, वस्त्र ही वस्त्र, अलंकार ही अलंकार, नाना सुगध फैली हुई थी, परन्तु एक ही दिन में वह उत्सवता न जाने कहाँ कपूर ही गयी थी। लिपे-पुते घर की दीवारों तक में दुःख अपनी पराकाष्ठा के साथ उँकेरा लग रहा था। तो क्या सुख से अधिक गहरी अभिव्यक्ति दुःख की होती है? उस घर में बडा ही अनाथ-भाव आ गया था। व्यक्ति तक भीगी दीवारों की भाँति लग रहे थे। जरा से कुरेदे जाने पर भरभराकर गिर सकते थे। सुख में इतनी क्षमता नही होती परन्तु दुःख में यह शक्ति होती है कि वह एक ही दिन में व्यक्ति की जडों तक को हिला सकता है। घर में किसी को होश ही नही था अतः पण्डित श्रीरमण आचार्य ज्वर में रात भर तड़पते पड़े रहे और किसी को विशेष चिन्ता नहीं हुई। अपना ही दुःख ओठों में थामे रहने में श्रीमती गोदावरी का सम्पूर्ण स्वत्व लगा हुआ था। कल बरात आनी है, क्या होगा? विपरीत ही नही एकदम भिन्न परिस्थिति में खिच उठी पड रही थी। यदि उन्हें कोई बोटी-बोटी भी काटता तो सम्भव था इतनी पीडा न होती पर इस समय तो सब कुछ अभिव्यक्ति से परे ही नही, सोचने से भी परे था। एक हाथ खौलते जल में तथा दूसरा बर्फीले जल में एक साथ किसी के हो तो जो मनोदशा हो सकती है, वही श्रीमती गोदावरी की थी। सवेरे भी जब पण्डित श्रीरमण आचार्य का ज्वर नही उतरा तो लोगों को चिन्ता हुई क्योंकि साथ ही सन्निपात भी था। श्रीमती गोदावरी देवी के लिए तो यह परीक्षा की ही घड़ी थी। दुःख, दुःख की पराकाष्ठा तथा इसके कारण सहज आर्तनाद—सब कुछ उनमें भी घटित हो रहा था। पहली बार सन्तानों की मृत्यु से लगा कि जैसे उन्हें अपने ही दूध के जलने की दुर्गन्ध आ रही है। सारी पीड़ा उनमें थी पर वह उसे दांत भीचकर रोके हुए थी। अपनी जिजीविषा ही के कारण वह पागल होने से बची हुई थी, अन्यथा जो उनके अन्तर में मॅथ रहा था वह उनके सहन को बारम्बार ठेल कर बाहर अभिव्यक्त होने के लिए अकुला रहा था। केवल उनकी आंखों में थोडा-बहुत जो कुछ रहा हो वह अलग, अन्यथा तो उनका कण्ठ और हाथ, रोज की ही भाँति थे। एक क्षण को भी उन्होने अपने को अवकाश की स्थिति में डाला ही नही। स्पष्ट था कि अवकाश मिलते ही उनके अन्तर का सब कुछ बाहर आ जाएगा। पत्नी ने जब काढा पिलाने के लिए पति का सिर ऊपर उठाया तो वह पत्थर की भाँति तप रहा था। पण्डित श्रीरमण आचार्य बड़बडा रहे थे,

— हो गया, सब हो गया।

श्रीमती गोदावरी देवी समझ तो ले गया कि उन्हें सन्निपात हो गया है, फिर भी बोली,
— क्या हो गया ? ....लो उठो, काढ़ा पी लो। सब ठीक होगा।

पण्डित श्रीरमण आचार्य न जाने किस लोक में थे। पत्नी की आवाज सुनकर जैसे उन्हें चेत हुआ। आँखें खोली तो लगा कि जैसे जल की अनेक पर्तों के पार सुदूर में प्रियामुख शैवाल की भाँति डूबता, तिरता लहरा रहा है। वह उस प्रियामुख तक संतरित कर जाना चाहते रहे पर जैसे कोई मछली आभास देकर और गहरे जल में, या सुदूर में जलों के पार खो जाती है ठीक वैसे ही वह प्रियामुख लग रहा था। सम्पूर्ण स्वत्व से वह सारे जलों को ठेल कर उस प्रियामुख को प्राप्त करना चाहते रहे। कौंध-कौंध जाने वाले प्रकाश की भाँति वह मुख, जो उनके सम्पूर्ण जीवन में, सुख-दुःख में फैला रसा-बसा है कि वह उसकी गंध, स्पर्श सब कुछ को अहोरात्र अपने में वहन करते रहे हैं—उसी मुख को, मुख के उस प्रियात्व को वह चेतना से गहना चाहते हैं। आँखें पूरी खुल जाती है.... सामने प्रिया ही तो खड़ी है। अभी तक उनका अवचेतन प्रियाहीन भाव से दुःखकातर था पर प्रिया को सामने देखकर कैसा सनाथभाव, कैसा विश्वास आया कि जैसे कितने दिनों की मेघाच्छन्नता के बाद वर्षा-धुली धूप की वैष्णवता के दर्शन हुए हों। लेकिन तभी जीवन की कठोर, निर्मम वास्तविकता भी स्मरण हो आयी। जटा, रामनारायण... और कातरता पहले तो ओठों पर थरथरायी तत्पश्चात आँखें धाराधर बरसने लगी। सब कुछ अभिव्यक्ति तथा वाणी के परे था।

— छिः-छिः, पुरुष होकर यह तुम क्या कर रहे हो ? रोने से कैसे काम चलेगा ? क्या केवल हमी पर विपदा आयी है ? बेचारे रामदास सुनार के घर के पाँचों पराणी नही रहे। चलो, देखो, तो सारा गाँव कैसा खाली हो गया है। भगवान की दया मे अभी हमारा शिवशंकर है। चिन्ता क्या करते हो ? और किस बात की चिन्ता ? . कल का प्रबन्ध नही करना है क्या ? जल्दी से ठीक हो जाओ। कल समधी द्वार पर आएँगे और.. .!
— अब कैसा ब्याह दुर्गा की जिजी !
— कैसा ब्याह क्या ? दुर्गा का ब्याह, और क्या ?
— सूतक वाले घर में शुभ-कार्य ?
— अच्छा-बुरा तो सब लगा ही रहता है। ब्याह होगा और कल ही होगा और वह भी तुम्हीं करोगे।
— क्या तुम्हें कुछ भी....?
— तो क्या तुम मात्र इसी चिन्ता में थे ? हे भगवान मुझसे पूछ लिया होता। मैं माँ होकर भी जटा और रामनारायण को नही रो रही हूँ क्योंकि जिन-जिन बातो के लिए रोना है पहले वे हो लें, तब सबको एक साथ ही बैठकर रो लिया जाएगा। जाने वालो को पहले भेज दिया जाए ; और परसों से तो पूरी जिन्दगी रोना ही है। तब आज से रोयो या परसो से रोओ कोई अन्तर नही होने का। जब हमारी इच्छा के विरुद्ध लोग जाना ही चाह रहे हैं, तो फिर जाएँ। हम अभी इसलिए नही जा रहे हैं

क्योंकि एक ऐसा भी व्यक्ति है जिसे हम भेजने वाले हैं। उसका जाना हम पर निर्भर करता है। क्या उसे ऐसे ही भेजोगे ?

और श्रीमती गोदावरी को लगा कि अब यदि वह एक शब्द भी और बोली तो ऐसी रो पड़ेंगी कि, बस। अंतः पति के ओठों से कटोरा सटा दिया।

— नही पिया जा रहा है दुर्गा की जिजी !

— कोई बात नहीं, धीरे-धीरे पियो।

— जब सारा गाँव श्मशान हो गया है तब भला ऐसे में दुर्गा का ब्याह कैसा लगेगा दुर्गा की जिजी ?

— यदि ठाकुर जी की यही इच्छा है तो उसमें हम-तुम क्या कर सकते हैं ? यदि दुर्गा के भाग्य में श्मशान ही लिखा है तो कोई कैसे टाल सकता है ? पार्वती का शिवजी से जिस प्रकार विवाह हुआ तो क्या उनके माता-पिता को अच्छा लगा था ?

— तुम बडी निर्मम हो दुर्गा की जिजी ! नही, नही, पता नही कौन से मेरे पाप मेरी सन्तानों को ले डूबे। मेरी बेटी जिस हाहाकार में ब्याही जा रही है मैं उसे कैसे सहन कर सकूंगा ?.. .....मैं पापी हूँ दुर्गा की जिजी !. ..कैसा हतभागा हूँ....हो गया, सब स्वाहा हो गया....सर्वनाश ! !

और पण्डित श्रीरमण आचार्य को मूर्च्छा आ गयी।

पड़साल में बरात ठहरवा कर वह व्यक्ति चलने को उद्यत हुआ तो पण्डित महादेव शुक्ल ने पूछा,

— श्रीमान ! आपने हमारी बात का उत्तर नही दिया कि आचार्य जी कहाँ है ?

— उनकी तबीयत खराब है। आपकी सेवा के लिए मैं उपस्थित हूँ, आज्ञा करें।

— आप....?

— मुझे शिवशंकर आचार्य कहते है।

— अच्छा, तो आप ही आचार्य जी के बड़े चिरंजीव है।

— जी।....एक निवेदन करना था आपसे।

— हाँ, हाँ कहिए।

— हमारे गाँव में तीन-चार दिनों से हैजे का भयंकर प्रकोप है।

— क्या यहाँ भी ?

— आप लोगों का जैसा आतिथ्य-सत्कार पिताजी करना चाहते थे वैसा आयोजन करने का भी प्रबन्ध न हो सका इसके लिए हम क्षमा-प्रार्थी है।

और शिवशंकर ने सिर झुका लिया। पण्डित महादेव शुक्ल को ताव तो बहुत आया पर इस हैजे के कारण स्वयं वह भी तो पूरी बरात कहाँ लाये थे ? क्या उनके एकमात्र पुत्र के ब्याह में गिनती के पाँच जने ही आते ? दसियों हाथी, पचासों ऊँट, घोड़े,

बैण्डबाजा, गाड़ियाँ, दमनियाँ, रामजनियाँ, पचीसों वर्दी धारी....क्या-क्या नहीं होना इस समय ? पण्डित श्रीरमण आचार्य से पूरी जाति के सामने यही तो कौल हुआ था कि बरातियों के आगत-स्वागत में कोई कमी न हो, बस। दो-चार राजे-रजवाड़े दस-पाँच रामजनियाँ. ..इस गाँव के लोग भी क्या याद करते कि कभी कोई बरात आयी थी। पूरे एक सप्ताह जब बरात रुकती और जब दमियों मन घीसी गलानी पड़ती तब आचार्य जी को मालूम पड़ता कि लड़की का ब्याह करना क्या होता है ....पर सारी योजना पर पानी ही फिर गया। बरात के यात्री लोग भी जमा हो गये थे।

— तो क्या आचार्य जी को भी....?

— जी नहीं, उन्हें तो हैजा नहीं हुआ है पर आज तीन दिन से बिस्तर पर ही हैं।

— तो अब क्या चाहते हैं महाराज ?

पण्डित महादेव शुक्ल ने किंचित रुष्टता से पूछा।

— विशेष कुछ नहीं। मैं शर्बत आदि का प्रबन्ध करता हूँ तब तक आप स्वस्थ हो लें। गोरज के ही लग्न हैं।

शिवशंकर से हैजे की बात सुनकर पण्डित महादेव शुक्ल काफी घबरा उठे थे, बोले,

— देखिए, अब हम इस गाँव का अन्न-जल भी नहीं ग्रहण कर सकते। आप यथाशीघ्र लग्न और सप्तपदी दोनों का ही प्रबन्ध करवा दें ताकि हम तत्काल लौट सकें। क्यों जीजा जी ! ठीक है न ? यहाँ रुकना तो अब सम्भव नहीं।

पण्डित महादेव शुक्ल के जीजा नारायणजी पण्ड्या तम्बाकू बना चुके थे। ओठों में दबाते हुए बोले,

— और हो ही क्या सकता है ?... लेकिन वाह साहब ! त्र्यम्बक के विवाह जैसा विवाह तो हम पूरी जिनगी में नहीं देखे।

— अब जीजा जी ! क्या बताऊँ। मैंने तो त्र्यम्बक की माँ को लाख समझाया था कि सियाले (शीतकाल) में लगन निकलते हैं तभी कर लेना....पर, बस फँस ही गये.... यह तो ब्याह न हुआ गोया चोरी हुई।

तभी त्र्यम्बक के मामा पण्डित गोवर्द्धननाथ व्यास बोले,

— अरे अब फिजूल की बातों को चर्चा करने से लाभ ? इस प्रकार के दैवी प्रकोप में मनुष्य का क्या बस ? भवितव्य किसी के हाथ में होता है ? अब तो जल्दी से ब्याह करिए और चल पड़िए। सोचने-विचारने का समय नहीं है। और अच्छा तो यह होगा कि आवश्यक रसम यहाँ हो जाए बाकी का स्वाग उज्जैन में हो जाएगा। आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति।

शिवशंकर अभी तक न तमस्तक खड़ा था उससे व्यासजी बोले,

— देखिए श्रीमान ! आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें।

— क्यों न चिन्ता करें ? हमारी नाक ही कटी जा रही है इस तरह तो।

पण्डित महादेव शुक्ल की इस बात पर पण्ड्या जी ने कहा,

—लेकिन महादेव ! नाक बचाना ज्यादा जरूरी है कि प्राण ? बिलकुल फिजूल की बात है यह। जाइए शिवशंकर जी। लग्न की तैयारी करिए, हम लोग बस आ ही रहे हैं।

इस पर पण्डित महादेव शुक्ल ने शिवशंकर से पूछा,

— वर क्या पैदल ही जाएगा ?

— नहीं महाराज। घोड़ी का प्रबंध है।

— बाजेवाले कहाँ हैं ?

— मैंने निवेदन किया न कि पूरा गाँव ही लगभग खाली हो गया है।

— तो आप सीधे-सीधे कहिए न कि हम लोग आपकी बहन को ब्याहने नहीं हरण करने आये हैं....सुन लीजिए, इस प्रकार तो यह ब्याह नहीं होगा।

पण्डित महादेव शुक्ल की बात सुनकर न केवल शिवशंकर बल्कि बराती भी चौंके। शुक्ल जी का यह निर्णय गम्भीर भी हो सकता था लेकिन तभी शिवशंकर, पण्डित गोवर्धन नाथ व्यास को एक तरफ ले गया और सारी वस्तुस्थिति बता दी। प्रबंध सब चीज का है। विश्वास न हो तो चलकर देख लें। कपड़े-लत्ते, गहने-बर्तन, खाने-पीने का सारा सामान मौजूद है लेकिन जब रसोइयों का ही पता नहीं तो कैसे-कुछ बन सकता था ? उस पर जटाशंकर और रामनारायण की मृत्यु। पिता, मृत्युशैया पर पड़े हैं। आप कितनी महती कृपा कर हमारे द्वार पधारे, भला आपका अपमान या तिरस्कार या उपेक्षा करने का भाव क्या किसी भी जन्म में हम कर सकते हैं ? हमारी विवशता है, अवहेलना नहीं। श्मशान हुए गाँव में बाजे बजाकर बरयात्रा निकालना क्या शोभा देगा ? और बाजेवाले कहाँ हैं ? अब वस्तुस्थिति यह है, जैसी आज्ञा करें।

व्यास जी ने लौटकर शुक्ल जी को एक ओर ले जाकर समझाया-बुझाया तो वह कुछ पिघले, पर अभी असमंजस में थे कि तभी शिवशंकर ने सबके सामने, दूर ही से दण्डवत प्रणाम करते हुए क्षमा याचना की।

ब्याह क्या होना था दुर्गा को बस सौंपना था, सो वह हो गया। सामने के मैदान में यथासम्भव वेदी, मण्डप बना दिया गया था, बिना कुछ खाये-पीये बरात द्वार पर लगी। साथ लाये दो-एक अनार भी बरातियों के द्वारा छोड़े गये। नाई ने घोड़े की रास थामी। राजपूत गाड़ीवान ने दो-तीन बार बन्दूक भी दागी। खाली पड़े गाँव में बन्दूक की आवाज जैसे भटक कर लौट आयी। वातावरण में इतनी स्तब्धता थी कि बरात के गैस की सूँ-सूँ की आवाज तक स्पष्ट सुनायी पड़ रही थी। गैस के प्रकाश में बरातियों की छायाएँ लम्बी, छोटी होती हुई कभी धूल भरे रास्ते पर तो कभी खाली पड़े मकानों की गोबरी दीवारों पर चढ़ती-उतरती बड़ी अजीब हो रही थीं। दो-एक कुत्ते अवश्य ही इस हठात आयोजन को आश्चर्य से देखने के लिए चबूतरों पर खड़े देख

रहे थे। और कोई अवसर होता तो वह अवश्य ही भौंकते पर वे भी दुःखी और थके लग रहे थे। जो दो-चार लोग गांव में बच गये थे वे इतने घोर दुःख के बावजूद आचार्य-परिवार के चबूतरे के सामने बड़े ही कातर भाव से आकर खड़े हो गये थे। उन्हें देख कर वास्तविक के मनुष्य नहीं वरन उनका भ्रम जैसा लग रहा था। ये लोग मात्र यही सोचकर मौजूद थे कि गांव की लड़की का ब्याह है, क्या किया जाए। उपस्थित तो होना ही था। अब जैसा भी गांव था, वह था। दिन भर इसी ग्रामपथ से अर्थियां गयी। धूल पर आने-जाने वाले लोगों के पदचिन्ह थे। अब इसी ग्रामपथ और उसकी धूल पर बरयात्रा के टटके चिन्ह उभर आये थे। उपस्थित ग्रामीणों ने अपने-अपने को जबड़ों से कस रखा था अन्यथा भीतर का सब कुछ उलीच पड़ना चाहता रहा। गत तीन दिना में लोगों को अपनी इन्ही आँखों से अपने प्रियजनों को तड़पते, दम तोड़ते और अग्नि में स्वाहा होते देखना पड़ा है। कैसा ही विश्वास का वटवृक्ष आपके अन्तर में क्यों न हो, वह इस प्रकार की आंधियों में न केवल शाखा-प्रशाखाओं से बल्कि अपने समस्त जड़-मूल से न केवल हिल उठता है बल्कि अनेक बार उखड़ जाता है। कितनी मिट्टी उसके उखड़ने के साथ भीतर से बाहर छितर पड़ती है। विश्वास नहीं होता कि इतनी गहरी जड़ें भी कैसे अपनी पकड़ खो देती है। लेकिन वास्तविकता यही होती है। लगभग ऐसे ही उपस्थित ग्रामवासी अपने-अपने भीतर वटवृक्ष के उखड़ेपन को अनुभव करते निरीह से खड़े थे।

बरात के आगमन की खबर लेकर श्रीमती गोदावरी भागी-भागी पति के पास पहुँची। पंडित श्रीरमण आचार्य आँखें बन्द किये लेटे हुए थे।

— सुनते हो, दुर्गा की बरात आ गयी।

समुद्र के जल को सम्बोधित करते हुए या उसे थपथपाते हुए भी यदि कुछ कहा जाए तो क्या उसके भीतर के जीव-जन्तु, सेवार-काई उस सम्बोधन को सुन पाते है? जल की वह थपथपाहट कितने नीचे तक जा ही पाती होगी? लेकिन पुरुष, दो पुरुष पानी की गहराई के नीचे सतरित होने वाली मछली को क्या वह सुनायी दे सकती है? लगभग ऐसा ही हुआ जब गोदावरी ने पति को सूचना दी। पंडित श्रीरमण आचार्य भी अवचेतना के गहरे जल में क्षीण से संतरित थे। उन तक पत्नी की आवाज भाषाबद्ध रूप में तो नहीं पर मात्र ध्वनि रूप में ही पहुँची। लगा कि जैसे कोई डुब-डुब कर रहा है। वह बोले,

— कौन?

— सुना? दुर्गा की बरात आ गयी।

पंडित श्रीरमण आचार्य ने इस बार स्पष्ट सुना। वह काफी ऊपर के जल तक आ गये थे। अपनी पलकें उसी प्रकार होले से खोली जिस प्रकार ठाकुर जी के दर्शनों के समय क्रमशः पर्दा हटाया जाता है।

— आ गयी?

— हाँ। कैसी तबीयत है तुम्हारी?

— ठाकुर जी महाराज! मेरी लाज रख लो तुमने....दुर्गा की जिजी!

— क्या है ?....तकिया ऊँचा कर दूँ ? टिक कर बैठोगे ?

— अब कैसा बैठना दुर्गा की जिजी ! कितनी देर से तो अपने को रोके था कि दुर्गा की बरात आ जाए तो मैं चलूँ....अच्छा....तो तुम सब सम्हालना अब....मैं चला दुर्गा की जिजी !....नारायण ! नारायण !! नारायण !!!

और पण्डित श्रीरमण आचार्य की आँखें अपना टूटा-फूटा देखना भी समेट कर सन्ध्या-लोक सी डूब गयी। सहसा श्रीमती गोदावरी देवी को कुछ समझ में नहीं आया। परन्तु समझ में आते ही वह चीखकर पति पर झुकी और नाडी टटोलने लगी। आत्मा को हंस होते क्या देर लगती है ? देह को शव होते देर थोडे ही लगती है। है और था में न कभी कोई भेद था और न है। श्रीमती गोदावरी देवी का मन एक क्षण तो धाड़ें मार कर रोने को हुआ लेकिन द्वार पर बरात लग चुकी थी। अभी किसी को कानोंकान किसी बात की कोई खबर नहीं थी। केवल अपने पर संयम रखने के अतिरिक्त उनके सामने कोई मार्ग नहीं था।

और आध घंटे के भीतर ही किसी प्रकार लग्न, सप्तपदी सब कुछ सम्पन्न करवा दिया गया। मंगलगान, श्लोकों और "सावधान" की किसे चिन्ता थी ? सुदूर अंधकार में एकाध किसी चिता की लपट या लालिमा हल्के से कौंधो पड रही थी जबकि मण्डप में हवन की ज्वाला उद्दीप्त थी। अनेक अग्नि को वरण करके 'उस प्रकार' गये थे और एक अग्नि को साक्षी देकर 'इस प्रकार' जा रहा था। जाते समय क्या अग्नि का होना अनिवार्यता है ? शायद जाने के लिए ही नहीं बल्कि सृष्टि से सम्बन्धित सभी कुछ के लिए अग्नि आधार-भूत तत्व है। जीवन भी एक प्रकार की अग्नि ही है। सब कुछ अग्निरूप है। ब्याह के बाद पण्डित महादेव शुक्ल ने आचार्य जी से मिलने की इच्छा व्यक्त की,

— शिवशंकर जी ! आपके पिताजी से भी जरा मिल लें।

— महाराज। हमें बड़ा खेद है कि वह भी....

— क्या कहा ?

— अपनी कन्या के लिए आपको द्वार आया सुनकर वह शान्तिपूर्वक इस लोक से विदा हुए हैं।

और पिता की मृत्यु सुनकर दुर्गा जो अब तक जड़ बनी हुई थी ऐसी धाड मार कर रोयी कि सब आसन्न हो उठे। गत तीन दिनों से वह बराबर रोती ही तो रही है। लेकिन इस बार का रोना तो सब को उनके जड़-मूल से हिला गया। दरवाजे की आड में खड़े रहकर श्रीमती गोदावरी देवी दान-दहेज की एक-एक चीज तेजी से निकाले दे रही थी। उनमें इस समय किसी भी प्रकार की सम्पृक्तता नहीं थी। करुणा मिश्रित ऐसा वैराग्य उनके मुख पर लिखा था जो किसी परम साध्वी के मुख पर ही सम्भव है। दुःख और सुख से परे वस्तुवत उनका व्यवहार था।

— शिवशंकर जी ! अपनी माताजी से कहें कि अभी तो घर सम्हालें। इन चीजों की इस समय कोई आवश्यकता नहीं।

तभी भीतर से श्रीमती गोदावरी देवी की आवाज आयी,

— शिवशंकर ! कह दो कि हमारी भूल-चूक तो इतनी स्पष्ट है कि हम सात जन्म तक भी क्षमा माँगें तब भी कम है । इनके जैसे श्रीमान लोगों की हम कुछ भी सेवा न कर सके, परन्तु बेटा ! निवेदन कर दो कि अब हम लोगों की स्थिति ही क्या है ? पर इतना निवेदन है, प्रार्थना है कि हमारी नाराजी इस अनाथ लड़की पर न निकाली जाए । अब तो पिता और ससुर इसके लिए आप ही हैं । हम पहले ही क्या थे महाराज ! पर भगवान ने जैसी कठिन परीक्षा हमारी ली....

और श्रीमती गोदावरी देवी का रोना पहली बार फूटा । पत्थर या तो तिडकता नही है पर जब तिडकता है तो वह दरारों तक ही नही रह जाता । उसके टुकड़े-टुकड़े उड जाते है । सम्पूर्ण खण्डित स्व के झाडफानूस को वह किसी प्रकार समेटे हुए भ्रम दिये हुए थी कि नही, वह अभी तक साबूत है, कुछ नही बिगडा है, लेकिन जरा सा धक्का लगते ही वह झनझनाकर खण्ड-खण्ड हो बिखर उठा है । श्रीमती गोदावरी देवी अनेक धाराओं, उपधाराओं में प्रवाहित सरिता हो चुकी थी । विशेषकर जब समुद्र निकट आ जाता है तब नदी का जल लाख चाहने पर भी एक धारा तक सीमित नही रह पाता । जलत्व, सहस्रमुखी होकर ही विलीन होने लगता है ।

दुर्गा अपनी माँ की ओर ललक कर बढी, परन्तु दीपक की लौ को हथेली देते हुए की तरह श्रीमती गोदावरी वरजते बोली,

— ना बेटी ! अब तू हमारे पाप-ताप में शामिल नही । शुक्ल-कुल की लक्ष्मी को आचार्य-कुल ने जो मलिन कर रखा था उस देवी को अब और म्लान नही होना है । जा बेटी ! जितनी जल्दी हो इस घर की देहरी से, इस गाँव के कॉकड (ग्राम-सीमा) से दूर चली जा । जा बेटी !... तू साक्षात लक्ष्मीरूपा बने, सौभाग्यवती रहे, पुत्र-पौत्रों से तेरा घर भरा रहे....जा बेटी । जा. ..अब तेरा यहाँ कोई काम नही....तू सब की दुलारी हो, तू कुल-पुण्या बने....बस, अब तू जा बेटी !....!!

सब धाराधर रो रहे थे । स्वयं पण्डित महादेव शुक्ल फफक-फफक कर रो रहे थे । दुपट्टे का खूँट उनके मुँह में ठुँसा हुआ था । वह निर्वाक थे ।

बरात लौटी जा रही थी । कलेजे पर पत्थर रखकर श्रीमती गोदावरी देवी दुर्गा का जाना देख रही थीं । गत तीन दिनों में दो-दो पुत्र इसी दरवाजे से गये और अब इस समय बेटी जा रही थी । ग्रामपथ था ही कितना कि बरात देर तक दिखलायी देती ? मोड़ आते ही बरात, बरात का गैस सब कुछ छुप गया । खाल तक गैस का प्रकाश दिखा था लेकिन अब तो वह भी अंधकार में डूब गया था । सामने के मैदान पर आधी रात का सन्नाटा और अंधकार कैसे हठात घिर आये थे । लगा कि जैसे सारा

दृश्य अपने पूरे अंधकार के साथ शीशे के मर्तबान में उतार दिया गया हो और सब जम गया हो। और पहली बार श्रीमती गोदावरी देवी ने बेटी के लिए चीखा,

— दुर्गा ! ओ बेटी ! यह क्या हो गया ??

सहसा कोई कटार किसी शीशे को निर्मम होकर तराशती हुई क्षणान्त में आरपार गुजर जाए, ठीक ऐसा ही शिवशंकर को लगा। श्रीमती गोदावरी पगला उठी थी।

— जिजी ! जिजी ! यह क्या करती हो ? चलो, घर में चलो....अभी तो बाबा को पहुँचाना है ।

श्रीमती गोदावरी देवी का सिर खुल आया था। दुःख की पराकाष्ठा अन्दर ही अन्दर सहते हुए उनके मुख पर एक प्रकार की विकरालता आ गयी थी, उस पर उनके सारे बाल खुल आये थे। शिवशंकर अपनी माँ के इस विकराल स्वरूप को देखकर काँप उठा परन्तु साहस करके माँ को सहारा देकर वह भीतर ले चला जहाँ कि पिता का शव पड़ा हुआ था।

॥ वधूत्व-प्रकरण ॥

दत्त अखाड़े के सामने सेठ अम्बालाल का जो बगीचा बडनगर-सडक पर है, बरात उसमें आकर रुकी। यही उचित समझा गया कि पहले किसी को भेज कर घर सूचना कर दी जाए ताकि बरात का यथोचित आगत-स्वागत हो सके। वैसे तो उज्जैन में अब हैजे का प्रकोप कम हो चला था पर अभी भी कुछ मुहल्लों में रोग तेजी पर था। पण्डित महादेव शुक्ल ने तो चाहा कि यथाशीघ्र घर पहुँच जाया जाए और शांति से सब हो-हुआ जाए लेकिन त्र्यम्बक के मामा पण्डित गोवर्धननाथ व्यास ने यही उचित समझा कि वर-वधू को हठात घर ले जाना ठीक नही होगा। पहले वस्तुस्थिति का पता लगा लिया जाएगा यही तय हुआ और इस काम के लिए व्यास जी ही उचित व्यक्ति थे। घंटे भर बाद जब वह लौटे तो ज्ञात हुआ कि पटनी-बाजार, मगरमुंहा, कार्तिक-चौक, सिंहपुरी की तरफ स्थिति कल से ठीक ही है, पर बिना किसी आयोजन-अनुष्ठान के एकदम निरुत्सवी ढंग से ही बरात को घर ले जाना उचित होगा। व्यास जी वर-वधू के लिए पालकी साथ ही लिवा लाये थे। घोडा, गाडी तथा सामान के लिए पण्डित नारायण जी पड्या को पीछे छोड दिया गया। बरात के लोग पालकी के साथ पैदल ही चले। क्षिप्रा-पुल के बाँयी ओर काफी चिताएँ जल रही थी। पुल पर आते-जाते लोग बोखलाये से, प्रमत्त तथा भयभीत दिखलायी दे रहे थे। उनकी आँखों में मृत्यु की सांघातिक छाया डोलती सी लग रही थी। ऐसा नही कि भीड़ नही थी पर लोग शब्दहीन थे। पता नही क्यो भय के कारण वाणी मूक हो जाती है। लोगों के पास अभिव्यक्तिपूर्ण आँखे थी पर वे भी फैली-फटी सी लग रही थी, जिनके नकली होने का सन्देह हो सकता था। ओठो पर जडता की ऐसी पपडी जमी थी कि यदि कोई उसे तोड़ने की चेष्टा करता और तोड देता तो वे सब निश्चय ही हठात इतनी जोरों पर चीख उठते कि जैसे उनसे बोलने के लिए नहीं कहा गया बल्कि उन्हे तेज चाकू से चीर दिया गया हो। उनके चेहरों से लग रहा था कि वे किसी भी असम्भव को सुनने-सहने के लिए वैसे ही तैयार है जैसे कि वस्तुएँ हुआ करती है। उनकी आँखों से स्पष्ट था कि अब उनके पास किसी भी अवसर के लिए

अश्रु शेष नही रह गये थे। उनके चलने, फिरने, देखने तथा मौन-भाव की मुद्राओं के होते हुए भी यह प्रश्न किया जा सकता था कि क्या ये स्वतः ही हैं अथवा अपना भी अभिनय कर रहे हैं। अनेक बार वास्तविकता से अधिक यथार्थ, उसका अभिनय हुआ करता है। हम एक बार अपूर्णता से आचारण कर भी ले जाएँ लेकिन अभिनय को तो सर्वांग सम्पूर्ण होना ही होता हैं। इसीलिए यह कलात्मक सम्पूर्णता ही उस अभिनय को अपूर्ण भी बनाती हैं। जीवन कभी भी पूर्ण नहीं होता।''''पास से निकलने वाले प्रत्येक के वस्त्र के प्रति भी ये लोग वैसे ही अपरिग्रही हो जाते कि जैसे वह व्यक्ति अपने पल्लू में हैंजे के कीटाणु लिये हुए हैं और यदि इससे छू गये तो अभी हम कै-उल्टी करते हुए यहीं मृत्यु-लाभ कर उठेंगे। मृत्यु का भय, विशेषकर मृत्यु जब इस प्रकार सार्वजनिक प्रकोप बनकर आती हैं तब यह मनुष्य को मूलतः आत्मनिष्ठ, स्वार्थी, अविश्वासी, अमानवीय न जाने क्या-क्या बनाती है। कितना क्वचित होता है कि मनुष्य ऐसे अवसरों पर सहज करुणावान हो उठे। कितना आसान है आत्मनिष्ठ होना, जबकि सबसे दुष्कर है दूसरे के लिए उत्सर्गित होना। दैनंदिन जीवन में ही हम देखते हैं कि छोटी बात में भी हम आत्म-तुच्छता से ग्रसित हुए रहते हैं। किसी दूसरे के लिए विचार ही नही करना चाहते। तब भला जीवन-मरण का जब प्रश्न हो तब यदि व्यक्ति या समूह, आत्मनिष्ठ दिखलायी दे तो उसे एकदम अनैसर्गिक कैसे कहा जा सकता है ? अनैसर्गिक तो है अन-आत्मनिष्ठ होना। इसलिए जब कोई इसे करता है तो वह अवतारवत हो जाता है। वैसे अवतारी व्यक्ति कुछ भी ऐसा नहीं करते या कहते जिसे हम आप नही जानते होते है, पर अन्तर मात्र यही होता है कि वे उस उत्सर्गिता का आचरण कर रहे होते है। हम ऐसे महत आचरण के प्रति अपना मात्र यही कर्तव्य समझते है कि ऐसे को आदर्श कह कर छुट्टी पा जाएँ और अपने को यथार्थ कह कर मुक्त कर लें।

क्षिप्रा में काफी कम जल था। घाटो की नीव के पत्थर तक कुरूपता दिखलाते उभर आये थे। पुल के बाँध के कारण दाहिनी ओर तो थोडा-बहुत पानी था भी पर बाँयी ओर दो-चार पतली धाराओ के कारण चट्टानों के बीच से पानी रेंगता सा लग रहा था। चट्टानों के पार अनेक चिताएँ जल रही थी। जलती चिताओं ने इधर की क्षिप्रा की जलहीनता को किसी सीमा तक भयावह बना रखा था। इस मानवीय हाहाकार से किसी सीमा तक कोई असम्पृक्त लग रहे थे तो वे कुत्ते थे, जो घाटों पर, पुल के दोनों किनारों पर मौन भाव से बैठे हुए थे। कुत्तों की आँखों में क्या था, नही कहा जा सकता था पर वे भिनभिनाती मक्खियो से अवश्य ही परेशान थे। अभी सवेरे के दस बज रहे होंगे। धूप में, सम्प्रति हल्की कमनीयता थी परन्तु कुछ ही देर में लू का आभास शुरू हो जाएगा। वैसे पत्थरो और धूल में इतनी गरमी आ चली थी कि नागरिक-पैरों को चलने में असुविधा हो सकती थी। सिर पर गमछा-तौलिया डाले बराती किसी प्रकार घर पहुँचने की जल्दी में थे। वैसे पास का रास्ता तो सिंहपुरी होकर ही पड़ता था परन्तु गली-कूचो से न जाकर बाजार से होकर जाना ही उचित समझा गया। मुहल्ले अधिक सुनसान थे। गर्मियो के कारण लोग जिस प्रकार घरो में दुबके रहते हैं उसमें और इस

समय जिस प्रकार की निर्जनता थी उसमें, कोई भी कह सकता था कि ऐसी निर्जनता केवल भय के कारण ही सम्भव है। निर्जनता भी कई प्रकार की होती है। प्रत्येक वातावरण में भय की छाप होती है जिसे औसतन की चेतना ही पकड़ पाती है तथा उसी के अनुरूप ही हमारा मन कार्य करने लगता है। इस भांति ही इसी मर्म का इन्द्रियगत आधार पर संचित न कर मन पर हमारे मस्तिष्क निर्णय में इसे सहज ही ग्रहण करने की क्षमता होती है। यह छठी इन्द्रिय है। औसतन में यह छठी इन्द्रिय-शक्ति अपने-अपने ढंग से काम करती है। चूंकि मनुष्य, अन्य प्राणियों से अधिक शक्ति-सम्पन्न होता है इसलिए उसका विश्लेषण तथा उसके आधार पर रूप से अधिक रूप में वह भी अनुमान प्रतिक्रिया कर सकता है अथवा उसका पूर्वाभास पा जाता है। बन्द द्वार भले ही पार गौर देखते हो किन्तु कभी किसी दिन पाकरो बड़ी बन्द द्वार भले ही पार देता है कि आज का बन्द द्वार कल के बन्द द्वार से भिन्न है। बन्द द्वार भले ही सदा अवश्य ही खोल दे। आज हमारा ध्यान ऐसे संकेत पर नहीं जा पाता है पर ऐसा संकेत होता है। लेकिन यदि इस प्रकार के संकेत को हम समझ सकें तो समझेंगे कि जैसे, जिस कारण से तथा जिस ढंग से आज यह द्वार पटाक से बन्द किया गया था, वह पटाकना अभी तक द्वार से चिपकी हुई है और आप जिस समय वहां पहुंचे तब वह पटाकना प्रतिध्वनि रूप से क्षीणतम प्रत्यक्ष कभी-कभी शेष हुई है। चूंकि हम अपने अवचेतन मन की भाषा समझने के आदी नहीं होते और हमारा चेतन-मन इतना हावी होता है कि हम प्रायः इस सबकी उपेक्षा करते रहते हैं। सो, लगभग ऐसा ही मुहल्ले के बन्द दरवाजों, खिड़कियों को देखकर लग रहा था। लोग गर्मियों के कारण अपने घर, दरवाज़े अवश्य ही बन्द रखते हैं पर यह कुछ दूसरी ही प्रकार का होता है। इस भेद को केवल समझा जा सकता है, अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। गलियों, मेहियों के ऊँचे-ऊँचे रास्ते, पुरानी हवेलियों के टूटे-फूटे फाटक, प्राचीन दीवारों पर उगी पीली घास, बाहरी दीवारों पर के रंगीन भित्तिचित्र, छतों की मुंडेरों के कंगूरे और उनके झरोखे—घरों के छोटे-छोटे लट्टुओं की वन्दनवार, नालियों का बहता पानी, कूड़ेदान, उदास दरवाज़े और, फेंके की जूठी पत्तलें, छुरी-चाकू की धार तेज करने वाला पहिया, भड़भूंजे के मोटे की कड़ाई.. .सब, इस सब पर निर्जनता, भयावह निर्जनता ऐसी व्याप्त थी कि पालकी के पर्दे को हटाकर दुबारा देखने का साहस त्र्यम्बक को नहीं हुआ। रात भर तथा रास्ते भर दुर्गा की मांगों की मधुता कम नहीं हुई थी। धुंधुआती लकड़ी की भांति अपने ही में सुलगी हुई थी। इस समय पालकी का एकान्त देखकर दो-एक बार त्र्यम्बक ने साहस किया कि वह दुर्गा से कुछ पूछे पर वह स्वयं भी अपने अन्तस में दुर्गा तथा उदास ही था। कल जिस प्रकार विवाह हुआ, दुर्गा के घर का जो हाहाकार था इस सबके कारण वह अपने को दुर्गा के निकट अनुभव करने लगा था।

— दुर्गा!

यह उसका प्रथम सम्बोधन था और सम्भवतः दुर्गा ने भी इस सम्बोधन की ममता, नैकट्य को यथावत ही लिया। आज पहली बार अपना नाम और वह भी इस प्रकार

किसी अन्य से सुनकर उसे अपने में वैसी ही थरथराहट हुई जैसी कि गाय को छू देने पर उसकी त्वचा में होती है। दुर्गा के जल पर जैसे सम्बोधन की हथेली हौले से रख दी गयी हो। वह अपने समस्त में बज उठी। वह जिस बँधे रूप में बैठी थी, बैठी रही। इतना और अवश्य हुआ कि उसकी पाथरी साधुता उसकी हड्डियों तक में दौड़ गयी और वह भीगी लता, हवा में पड़ जाने पर की भाँति प्रकम्पित हुई। कहारों के चलने के कारण दोनों ही ऐसे हिल रहे थे कि जैसे वे वृक्ष हों और उनको जड़मूल से उखाड़ा जा रहा है।

— दुर्गा!

इस बार त्र्यम्बक ने न केवल सम्बोधित ही किया वरन कमल-पत्र की तरह फैली हथेली उसके कंधे पर भी रख दी, फलतः दुर्गा प्रथम बार कन्या से नारी बनी। कौन सा स्पर्श कन्या को नारी बनाता है इसे स्त्री-देह ही समझती है। त्र्यम्बक को उत्तर की प्रतीक्षा थी पर वह यह भी नहीं जानता था कि नारी के पास कोई अतिरिक्त अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती, क्योंकि वह तो स्वयं ही अभिव्यक्ति है। पति के स्पर्श से अब वह लता की भाँति नहीं, बेंत की तरह काँप उठी। त्र्यम्बक ने साहस करके उसके घूँघट में हाथ डाला तो उसे लगा कि उसने जैसे किसी झरने के गोमुख में हाथ डाल दिया हो। दो-चार बूँदें उसकी उल्टी हथेली पर चू पड़ीं।

— रोओ नहीं दुर्गा!....मैं जानता हूँ। तुम जिस मनःस्थिति में हो उसे मैं समझ रहा हूँ। विश्वास करो आज के बाद से त्र्यम्बक तुम्हारे निकट है... मैं तुम्हें ऐसे नहीं बल्कि हँसते देखना चाहता हूँ....वैसे इतनी विकट परीक्षा के बाद हँसना किसी के लिए भी दुष्कर है परन्तु देखो, तुम्हारे गाँव वाला हाहाकार यहाँ भी घर-घर में फैला हुआ है....रोओ नहीं दुर्गा! रोने से क्या होगा?

गोपाल-मन्दिर का चौक आ चुका था, त्र्यम्बक बोला,

— यह देखो गोपाल-मन्दिर आ गया। नाम सुना है न इसका?

दुर्गा ने केवल झुके सिर को स्वीकृति में हिला दिया।

— अब तो घर आ ही गया। कितने अजीब ढंग से तुम ससुराल पहली बार ब्याहता होकर आ रही हो, है न?'....दुर्गा! एक बात कहना चाहता था कि तुम किसी बात से बिलकुल भी मत घबराना। उज्जैन, यहाँ के लोग, पण्डे, स्त्रियाँ इन सबके बारे में न जाने कितनी झूठी-सच्ची बातें तुमने सुन रखी होंगी, आगे भी सुनोगी....पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम निःसंकोच मन से त्र्यम्बक पर निर्भर रह सकती हो।

और आवेश में त्र्यम्बक ने दुर्गा का हाथ थाम लिया। त्र्यम्बक को लगा कि उसने अपने हाथ में कोई हाथ नहीं, वरन् थरथराती कोई मछली थाम ली हो। और पालकी मगर-मुँहे की गली में मुड़ी। पटनी-बाजार वीरान पड़ा था। रोज की बैठने वाली एक भी मालन तक नहीं थी। सारी दुकानें बन्द थीं। गली में हलवाइयों की, धोती-... वालों की दूकानों के पटरों पर खड़े कुछ बच्चे और लोगबाग भय तथा ...

जो के घर की लौटी बरात देख रहे थे। दाहिने मुड़कर गणपति मन्दिर के आगे वाली बड़ी सी हवेली पण्डित महादेव शुक्ल की हवेली थी।

न कहीं मण्डप, न शहनाई के स्वर। गली में ठण्डा दिन फैला था। सिर चढ़े सूर्य की रश्मी कभी पन्द्रह-बीस मिनिट के लिए चिंदी के रूप में गली में आ जाती है अन्यथा अँधेरा दिन फैला रहता है। इस समय वैसा ही ठण्डा-अँधेरा दिनालोक था। लकड़ी की चौखट में सिंदूर रंजित गणपति की मूर्ति तथा 'श्रीगणेशायनमः' लिखे द्वार पर केवल आम के पत्तों की वन्दनवार थी, जिसके नीचे रास्ता रोककर जल भरी कलसी सिर पर लिए एक बहन खड़ी थी। बड़े से फाटक में अवश्य ही कुछ स्त्रियाँ सजी-बनी सी गीत गाती खड़ी थी। गीत गाती वे स्त्रियाँ मांगलिक से अधिक कारुणिक लग रही थी। लग रहा था कि सभी को जल्दी थी, अतः वधू को जल्दी से पालकी से उतारा। बहन ने भी अपने नेग के लिए विशेष आग्रह नहीं किया, अन्यथा प्रायः तो नथ या कंगन पर बात जाती है। वर-वधू के पल्लू ठीक से पुनः बाँध दिये गये तथा वधू को लेकर वर अपने कुटुम्बियों के सामने ऐसे खड़ा हो गया जैसे किसी युग में जब हरण करके वधू लाने की प्रथा थी और वर तब अपने द्वार पर पहुँचता रहा होगा, लगभग वही मुद्रा प्रत्येक वर की अवचेतना में आज भी रहती है। वधू के पैरों की कुंकुम-छाप में आगन, सहन, कमरे आलोकित होते चले गये और जब कंकण छोड़े गये तब दुर्गा ने आचार्यत्व का अन्तिम रूप से परित्याग कर शुक्लत्व ग्रहण किया।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल के मन में यह इच्छा रह ही गयी कि उनके एकमात्र पुत्र त्र्यम्बक का विवाह, भले ही दूसरा, जिस वैभव-संपन्नता, टीमटाम से होना चाहिए था, नहीं हुआ। हैजे के दैवी-प्रकोप के कारण पति-पत्नी दोनों के मन में एक बार तो अवश्य आया कि न हो तो यह विवाह आगामी पौष-माघ तक टाल दिया जाए। पहले तो पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी ने यही आपत्ति की कि पौष-माघ में जो लगन निकलेगा वह शुद्ध नहीं होगा। पूजन-शांति करवानी पड़ेगी, दूसरे पता नहीं आचार्य जी तब तक रुकना चाहेंगे भी कि नहीं। खजान्ची साहब ने बात कुछ इस प्रकार कही कि पण्डित महादेव शुक्ल और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने तब यही उचित समझा कि न हो तो घर ही के चार-छह लोग चले जाएँ और ब्याह लाएँ।

वैसे इस बार श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को न केवल पूरी आशा थी वरन पूरी तैयारी भी थी कि विवाह की उत्सवता पूरे एक माह तक होगी। बरात में कम से कम पचास गाड़ियाँ-दमनियाँ जाएँगी। दस-पाँच हाथी रहेंगे। आस-पास के आठ-दस राजा-महराजा न सही तो ठाकुर—मालगुजार लोग तो आएँगे ही। त्र्यम्बक एक माह पहले से बाने बैठेगा। आज इस सेठ के यहाँ तो कल उस जजमान के यहाँ; परसों हरसिद्धिवाली बुआ के यहाँ तो नरसों कातिक-चौकवाली मासी के यहाँ बाना झेला जाएगा। नगरसेठ

झालानी जा की जेवरों से लदी घोड़ी पर रोज रंग-विरंगे मलमल के कुरते पहनकर जब उनका त्र्यम्बक उज्जैन की सड़कों पर महीने भर तक दूल्हा बना निकलेगा तो क्या लोग पूछेंगे नही कि यह कौन है भाई ? लोग बरसों तक याद रखेंगे कि पण्डित महादेव शुक्ल के लड़के का भी कोई ब्याह हुआ था। पर.......यह भी कोई ब्याह हुआ कि वर को न हल्दी चढ़ी, न मण्डप लगा, न देवास महाराज का अंग्रेजी-बैण्ड आया न पुलिस-लाइन का मशक-बाजा ही बजा, न जयपुर की नाचनेवालियाँ ही आयी। एक दिन भी तो ढोलनों के नाचते घाघरे आँगन में न दिखे। किसी दिन भी तो बाजे-गाजे के साथ चार जनी मिलकर जाति में, पास-पड़ोस में तेडा (बुलावा) देने नहीं गयी, नहीं तो जेठ-बैशाख में तेड़े देने वालियों के पाँव जलने लगते हैं, लेकिन शायद ही कोई अपने पाँव में टाट के जूते पहनती हैं। तभी तो उसके बाद जब चाँदनी रात में चार जनी मिलकर बनड़ा (विवाह-गीत) गाती हैं तो कैसे दूर-दूर तक उसकी लहर सुनायी पड़ती है। दो मन बताशे भी बनवाये कि रोज ओख भर-भर कर गाने आयी स्त्रियों को दिये जाएँगे। दिन में इन्हें ही घोल-घोलकर शर्बत दिया जाएगा पर कहीं कुछ भी तो नही हुआ और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लगा कि उनका मातृत्व वृथा गया।

मनुष्य के जीवन में ये ही दो-चार अवसर तो होते ही है जब कुछ काज-कर्या-वर (कार्य-व्यापार) आदि होते है अन्यथा जीवन भर कमाते ही रहते हैं। इन्ही अवसरो पर तो धराऊ गहनों को नया किया जाता है। ठुस्सी अब कोई नही पहनता क्योंकि लाकेट का चलन हो गया है और वह भी कटक का जालीवाला काम होना चाहिए। सुनार दरवाजे आकर बैठा है। उसे बताया जा रहा है कि देखो, पान के आकार के दाने माला में होने चाहिए। सुनार को डिजाइन दिखाने के लिए कहाँ-कहाँ से अंगूठियाँ, नथ, बालियाँ, मँगवाकर दिखलवायीं जा रही है। बजाज का आदमी गट्ठर लिये चला आ रहा है। बनारसी और रेशमी सड़ियाँ तो जैसी इन्दौर में मिलती है वैसी इस उज्जैन में क्या खाकर मिलेंगी। हाँ, वर के लिए रोज बदलने के लिए केलीको की धोतियाँ अवश्य ले लो। कुँवासियों (ब्याह में आने वाली बहन-बेटियों) को देन-लेन के लिए वायल, एकलाई, केले की रेशमी साड़ियाँ तो चाहिए ही। नाइन, पानीवाली, मालिन, मेहतरानी आदि के लिए छापेवाली धोतियाँ क्या नही चाहिए ? अरे, आपानी-लट्ठा ले लो और छीपे (हिन्दू रंगरेज) से रँगवा लो। हाँ भाई, बहू के लिए तो कम से कम छह साड़ियाँ तो होनी ही चाहिए। बनारसी-बंगलौरी के अलावा रोज के पहनने-ओढ़ने के लिए भी तो मिल की अच्छी धोतियाँ चाहिए। वर को जो नाई उबटन लगाएगा, नहलाएगा तो क्या वह उतरी धोती वापस कर देगा ? अरे, ये ही दो-चार अवसर तो होते हैं जब लोग अपना नेग-हिस्सा पाते है। वैसे तो आपसे कुछ माँगते नही हैं। बरस में जिस चीज का जितना करार होता है उतना ही तो वह पाते है। अब ब्याह में भी न पाएँ ? ऐसे ही अवसरों पर तो आदमी अपनी अर्जित सम्पन्नता, सामाजिकता का सार्वजनिक करता है। यज्ञोपवीत, विवाह, मुण्डन श्राद्ध, क्रियाकर्म आदि ऐसे ही प्रकरण जब लोग आपकी थाह पाते हैं कि कितने पुरुस पानी में आप है ? नहीं तो २

बासमती चावल खाये तो क्या और जुआर की रोटी तथा अफीम की भाजी खायी तो क्या ? क्या लोग देखने आते हैं कि आपके घर में आज मालपुआ बना है या खिचडी ? अरे, जब चार जने आपके दुआर आएँ और तब यदि बाहरी बैठक तक बासमती की गंध जाए, केसर और इलायची गमके तब न लोग जानेंगे कि किसके घर आये हैं। घर में रोज आप पचा (गमछा) पहने घूमते हैं या दुशाला ओढ़े रहते हैं, लोगो को इससे क्या लेना-देना ? लेकिन जब आप "बारेसी-बरात" में सारंगपुरी कंधे पर डालकर जाएँ तब न लोग आपको समझेंगे और जब इन सार्वजनिक प्रकरणों में से, वह भी विवाह जैसा प्रमुख प्रकरण, यो ही हाथ, से निकल जाए तो दुःख होना स्वाभाविक है और फिर कौन दस-पाँच लडके-वाले हैं ही कि चलो भाई, बडके के ब्याह में न सही तो मँझले का तो अभी है। और नही तो छुटके का तो कही गया नही। अब चाहे बड़का समझो तो, और छुटका समझो तो, ले-देकर यही त्र्यम्बक था। लोग लड़को के ब्याह की कोर-कसर लडकी के ब्याह में निकाले लेते हैं। दस-पाँच दिन पहले से चार सगे-सम्बन्धी रतलाम-इन्दौर से आ रहे हैं। और देखते-देखते घर मे तिल धरने की भी जगह नही है। घरातियो के अलावा तब बराती भी आ जाते हैं। कोई कुछ पूछ रहा है, कोई कुछ माँग रहा है। जनवासे में यह नही गया, वह नही पहुँचा। धरमशाला में रसोई के लिए फलाँ चीज कम पड गयी है। कोई किसी की नही सुन रहा है और ऐसे में जब चार जनी आपको घूर कर या दूर से ही देखकर पूछे या आपस ही में बतियाएँ तो कैसा सन्तोष होता है न ?... 'इत्ते बडे दाने की माणिकमाला कहाँ बनवायी मासी ?' "सच्ची में केसर ! बाजूबन्द हो तो ऐसे। बम्बई फैसन के हैं न ? बडी हवेली वाली सेठानी के भी तो बिलकुल ऐसे ही हैं।" "क्यो भाभी ! कित्ते तोले का लाकिट है यह ?" "अरी गजरा ! देखा तूने सुकलाइन-माँ—के पाँव में सोने का कडा ! !—नही तो क्या तो तुम पहनोगी ? शुक्लजी को देवास महाराज ने अपने हाथो पाँव में सोने का कडा पहराया था, समझी ?" "देखा अजोध्या ! असली गोटा इसे कैवे है। सूरत के असली गोटे का नाम ही नाम सुना होगा तूने, यह देख, कैसा चमके है।" "क्यों बहना, असली गोटा जला के देखा जाता है क्या ?" "सुनती हो कमला ! तारा की बात कि यह असली बनारसी नही है। अरी, यह पटनी-बाजार के खेमराज बजाज की दूकान की नही है लाडो ! यह इन्दौर से आयी है और पूरे दो सौ की है, समझी ?" "बिचारी ने सदा केले की ही पहनी है, यह क्या जाने बनारसी क्या और बगलोरी क्या।" "क्यो रमा ! रंग तो बस बगलोरी में देख लो। एक से एक चटख। कैसी तोतापरी है न यह ?" "देख वो गंगा ! इसे कहे हैं ढाके की मलमल। चार वर्त पहन लो फिर भी... हाय राम ! ! " "तभी तो कहूँ कि इस मरी उज्जैन राँड में ऐसे झुमके बनाने वाला कौन आ गया है। झुमके क्या हैं, घण्टी है घण्टी ! ! बरेली के बाजार में झुमका गिरा री" "इन छोरियो को तो दिन भर ही-ही—मसखरी सूझे है—चलो हटो यहाँ से, क्या भीड मचा रखी है तुम लोगों ने।"....और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल मन मसोसकर रह गयी कि कितने उत्साह से एक-एक गहना, कपड़ा-लत्ता सहेज कर रखा था...

"गणपति-पूजन" के दिन कत्थई बंगलोरी के साथ सच्चे मोतियोंवाली नथ ही पहनेंगी, बिलकुल गणगौर लगेंगी। "ग्रहशान्ति" के दिन "सातग" में बैठने के लिए किशमिशी बनारसी और बोलियाँ पहनेंगी। जब पहले दिन जाति में तेडा (बुलावा) देने जाएँगी तब सारंगपुरी पहनेंगी, तभी पाँव में लच्छे और तोडे होंगे। हाथों में गोखरू और नाक में नथ। लोगों को लगे तो कि शुक्लाइन ऐसे ठाठ से तेड़ने आयी थीं। लेकिन जब सप्तपदी के दिन "चँवरी" में हवन के लिए "इनके" साथ बैठेंगी तब जयपुरी लाल चुनरी ही ठीक रहेगी। "इनके" रेशमी दुपट्टे में गाँठ जो बाँधनी पड़ती है और रेशमी साडी की गाँठ ठीक नहीं बँधती, बार-बार खुल जाती है और छोटी-बडी सारी स्त्रियाँ ताने मारती है, अच्छा नहीं लगता।
त्र्यम्बक के पहले ब्याह में एक तो 'सासूमाँ' स्वयं मरणासन्न हो रही थी दूसरे 'सासूमाँ' के रहते वह अपने मन का कुछ भी तो नहीं कर सकती थी। दूसरे, वह ब्याह शहर का शहर में ही होना था इसलिए भी 'सासूमाँ' ने कुछ भी दिखावा नहीं होने दिया। फलतः जैसे दूसरे ब्राह्मणों के ब्याह होते हैं वैसा ही वह भी हुआ। लेकिन जब त्र्यम्बक के दूसरे विवाह की बात आयी तो श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने काफी तैयारी की। पर हाय रे दुर्दैव, कि हैजे का ऐसा दैवी-प्रकोप पूरे मालवा में हुआ कि हुआ भला। आज तक इस घर में सब कुछ जमा ही तो होता रहा। 'सासूमाँ' की कृपा से श्रीमती कृष्णादेवी को इकलाई से अधिक कुछ पहनने-ओढने को नहीं मिला होगा अतः अपने शासनकाल में वह चाहती रही कि लोग देखें कि पण्डित महादेव शुक्ल भी कुछ नहीं, बल्कि बहुत कुछ हैं। पण्डे हैं तो क्या हुआ? राजा-महाराजा हमारे जजमान हैं। दुशालोंवाला बकसा खोल दें तो पूरा पटनी-बाजार पट जाए....पर मन की मन ही में रह गयी। सोचा था कि लोग कहें कि ऐसा ब्याह तो, न भूतो, न भविष्यति....पर यह त्र्यम्बक है ही ऐसा। कैसा? ? हुँम, हतभागा और क्या ?? कुल में एकमात्र होते हुए भी जिसके दो-दो ब्याह हों और वो भी ऐसे कि इससे अच्छे तो किसी गामोठ के घर के ब्याह होंगे। लेकिन उन्हें लगा कि वह व्यर्थ ही अपने एकमात्र पुत्र को कोस रही हैं। वास्तव में तो ये जो दो-दो "देवियाँ" आयीं वे ही नक्षत्री हैं। पहली तो खैर अब रही नहीं पर यह जो दूसरी आयी है, पूरी सीतलामाता का अवतार लगती है। आते ही कैसा चण्डीरूप, दिखलाया। पिता और भाइयों को खाकर आयी है। भगवान जाने अब किसे खाएगी। वाह, माता-पिता ने भी कैसा सार्थक नाम रखा है—दुर्गा !! जय हो भगवती !!—यथा नाम तथा गुणा। लगता है आचार्य जी ने जाते-जाते अपनी यह बला हमलोगों के सिर पर डाल दी। ठीक है, तो फिर मैं भी देखूँगी इन महारानी जी का सारा रूप। बड़ी आयी है—दुर्गा !!

ब्याह को पन्द्रह दिन हो चुके थे। प्रथा के अनुसार तो तीन-चार दिन बाद ही बहू को लिवाने किसी को आ जाना चाहिए था पर ये लोग जानते थे कि अब

वहाँ है ही कौन, जो आएगा। शिवशंकर को पिता और भाइयों के क्रियाकर्म से ही फुर्सत नही हुई होगी। दूसरे पता नही वहाँ हैंजे की अब क्या स्थिति है। शहरों में तो अब प्रकोप ठण्डा पड गया था तो अवश्य ही गाँवो में भी अब सब ठीक ही होगा। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लगा कि यह क्या बात हुई? माना कि तुम्हारे घर पर विपत्ति आयी, तो भाई, हम क्या करें? और यह विपत्ति तो सब पर आयी। किसी पर कम, किसी पर ज्यादा। ऐसा तो होता ही रहता है। तो क्या इसके कारण संसार के कारियावर रुक जाते है? और क्या तुमने अपनी बहिन का ब्याह रोक दिया? जब ब्याह किया तो उसे विदा नही करवाओगे? और यदि बहू पहली बार विदा होकर नही गयी तो लोग क्या कहेंगे? और किसे कहेंगे, क्या तुम्हें?....नही भाई, ब्याह के बाद लडकी की विदा तो होनी ही चाहिए। कभी ऐसा हुआ है कि ब्याह के बाद लडकी ससुराल ही में रह जाए? होता होगा भाई, तुम्हारे गाँव-देहात में, हमारी इस उज्जैन में तो किसी ने भी न ऐसा चलन देखा होगा और न सुना ही होगा। लोग क्या कहने से चूकेंगे कि शुक्ल जी को अपने लडके के लिए कहीं बहू मिल नही रही थी तभी तो ऐसे हैंजे में पाँच जनो के साथ पहुँच गये और हाथ पकडकर ले आये। यदि यह बात नहीं तो फिर क्यों नही विदा कराने कोई आया? और....और लडकी के फूफा खजाची साहब तो यही है, वही विदा कराके ले जाएँ। हमसे क्या?

और वह पति के पास पहुँची।

सवेरे का समय था। पण्डित महादेव शुक्ल बाहर जाने के लिए पगड़ी-दुपट्टा सम्हाल रहे थे। पत्नी को देखा तो लगा कि वह कुछ कहने आयी है, बोले,

— क्या बात है?

— कहीं जा रहे हो क्या?

— तुमको क्या दिख रहा है?

— तभी तो पूछा।

— तो इसमें क्या पूछना?. .अच्छा, बोलो, क्या बात है?

— तुम्हे तो किसी बात की चिन्ता ही नही।

— क्यो क्या हुआ? बहू के बारे में कुछ कहना है क्या?

— कोई एक बात हो तो बताऊँ।

— तो फिर ठीक है, फुर्सत से बैठकर ही बताना।

— तुम तो जब देखो तब घोड़े पर सवार रहते हो। दुनिया भर की चिन्ता मेरे ही सिर पर।

— तो फिर तुम्हारी ये सारी परेशानियाँ कौन पड़ोसी आकर दूर कर जाते है?

— अच्छा भाई, जहाँ तुम्हे जाना है, जाओ, चिढो नही। मेरी अकेली की गृहस्थी है न, मैं ही भुगतूँगी।

— ऐसे क्या बात हो गयी सवेरे-सवेरे?

— तुम तो ब्याह क्या कर आये मानो कोटा-बूँदी जीत कर ले आये। अरे, सगे-सम्बन्धी

क्या सोच रहे होंगे, कभी यह भी सोचा है ?

— किस बारे में ?

— कि तुम्हारी बहू को लिवाने न उसका भाई आया और न कोई....

— तुम भी त्र्यम्बक की जिजी ! हद करती हो। बिचारे शिवशंकर को अपनी ही चिन्ता होगी और तुम्हें अपनी बहू की बिदा की पड़ी है।

— चिन्ता का मतलब यह तो नही कि सारे करियावर हों ही नही। ब्याह के बाद बहू ससुराल में इत्ते दिन रहते सुना है कभी ?....और ब्याह तो कर दिया। सूतक का घर था तब भी ब्याह कर दिया, तब यह नही सोचा कि बिदा का क्या होगा ?

— बहुत सी बातें असाधारण स्थिति में नही होती हैं। बिदा करवाना कोई इत्ती बडी बात नही।....अरे, तुम्हारे समधी नही रहे, बहू के दो-दो भाई मर गये और हमारे यहाँ से उनकी त्रयोदशा पर कोई नही गया। कित्ती बुरी बात है। बिचारी समधिन और शिवशकर न जाने क्या सोच रहे होंगे।

— बडा समधिन का ख्याल आ रहा है। ऐसा ही है तो ले आओ न उन्हे भी यहाँ।

— तुम्हारा तो दिमाग खराब है। न मौका देखो, न आदमी। कब क्या किससे कहना है, कभी तुम्हे इसकी चिन्ता नही। इसीलिए बिचारी जिजी हमेशा परेशान रही।

— देखो जी, सासूमाँ ने जितना मुझे सताया वैसा तो किसी सास ने आज तक किसी बहू को नही सताया होगा। तुम्हारे लिये मक्खन रही होंगी, मेरे लिये तो वह लोहे के चने थी।

— अच्छा भाई, सवेरे-सवेरे झगड़ो नही। जिजी बुरी थी, बस !! अब तो प्रसन्न हो।

— ऐसी-वैसी बातें तुम करो और दोष मुझे लगाओ, है न ? जाने दो मुझे क्या पडी। चार लोग तुम पर थूकेंगे, मुझ पर तो नहीं न ?

— अच्छा यह बताओ तुम क्या चाहती हो अब ?

— मैंने तो रीत की बात बता दी। अब जैसा चाहो करो, मुझसे कुछ न पूछना।

और पत्नी चलने को उद्यत हुई तो वह चौकी पर बैठते हुए बोले,

— तुम क्या चाहती हो कि बहू को विदा कराने उसके भाई आएँ ?

— मेरी बात छोडो, तुम्हे कैसा लगता है, लोगों को कैसा लगेगा ?

— ठीक है, तब शिवशकर जी को लिख दिया जाए कि आकर लिवा जाएँ।

— मेरा मतलब यह नहीं कि शिवशकर जी ही आएँ। अरे खजान्ची साहब तो बहू के फूफा है, वही विदा करा ले जाएँ। उस दिन भरी "बारेसी" में कहा न था कि जो कुछ कोर-कसर रह जाए तो वह तो है ही। तो फिर नही क्यों नहीं अपनी भतीजी को विदा करा ले जाते ?....और सोचो, पता नही बहू के घर में अभी क्या स्थिति है और वहाँ ऐसी दशा में बहू को भेजा भी कैसे जा सकता है ?

— तो फिर ठीक है, मैं खजान्ची साहब से बात करता हूँ।....आज कितने सारे काम हैं और तुम्हारी बातों में देरी हो गयी ,

और कोने में रखी अपनी छड़ी उठाकर वह बाहर निकले।

शुक्ल-परिवार में पहले ही कितने व्यक्ति थे ? गिनती के तीन प्राणी—शुक्ल, शुकलाइन और त्र्यम्बक। हाँ, जिन दिनों शुक्लजी की माँ जीवित थी तब चार प्राणी अवश्य थे। भला इत्ती सी गृहस्थी में काम ही कितना ? उस पर उज्जैनी ब्राह्मणों, विशेषकर पण्डो के घर का रोज का नियम था कि दोपहर के बाद ही रसोई-पानी के लिए चूल्हा जलाया जाए। रोज एक न एक यजमानी या जाति का कोई न कोई भोज होता ही था और जिस दिन दोपहर बाद घर ही पर राँधना होता, वह दिन बड़ा ही अपशकुनी माना जाता था। अतः गृहस्थी में कोई काम ही नहीं रहता। बच्चों के दूध-चाय का जो कुछ करना-धरना हुआ उसके बाद स्त्रियों के पास, विशेषकर सासों के पास कोई काम-धन्धा न होता। पुरुष-वर्ग ट्रेन और मोटरो पर यजमान की खोज में निकल जाते। बहुएँ झाड़ू-बुहारू, बर्तन, कपड़ों की सफाई तथा शेष समय बीनना-चूटना या बच्चों की देख-रेख में लगी रहती। सासें या तो छोटा-मोटा सीना, पिरोना लेकर अथवा समई की बत्तियों के लिए रुई लेकर या तो अपने ही ओटेले (चबूतरे) पर बैठ जाती या फिर पड़ौस में काकियों-मामियो की क्या कोई कमी होती ? और जहाँ चार जनियाँ मिली नही कि अपनी बहुओं की निन्दा तथा बेटियों पर उनके ससुराल में होने वाले कष्टों की भागवत खुल जाती। कुटुम्ब और मुहल्लों की सास-बहुओ की नीतियों की रूपरेखा भी यहीं तैयार हो जाती। पतियों पर तरस खाया जाता, पुत्रों को कोसा जाता और यह पंचायत तभी समाप्त होती जब घर में या तो कोई काण्ड हो गया होता या फिर कोई बच्चा बुलाने आता। श्रीमती कृष्णादेवी इस अर्थ में भाग्यवान थीं कि परिवार बड़ा नहीं था अतः जब तक वह बहू रही तब तक सिवाय सास की ज्यादतियों के और कोई कष्ट नही था। बच्चे ज्यादा हुए ही नहीं अन्यथा प्रायः आठ-दस बच्चे तो साधारण बात थी। एकमात्र त्र्यम्बक ही था इसलिए बच्चों का रोग-शोक जन्म-मरण, नारी-देह का संताप भी उन्हें नही हुआ। ऐसी स्थिति में तथा ऐसे मनसायनहीन घर में सास चाहने पर भी कितना परेशान करतीं ? साँसत तो उस घर में या स्थिति में होती है कि जब आठ-दस देवर-ननदें हो, दो-चार जिठानियाँ-देवरानियाँ हों उस पर स्वयं आपके चार-आठ बच्चे हों और पूरा घर सहेजने-समेटने के लिए फँसा पड़ा हो। आप रसोई का अबूट्या (भोजन बनाने के लिए रेशमी वस्त्र) पहने हुए खाना बना रही है और आपका छोटा बच्चा, जिसे आप सोता ही छोड़कर आयी थीं और अब वह जाग गया हो। उसे दूध पिलाना है। वह रोये ही जा रहा है। जेठानियों-देवरानियों को अपने ही धंधों से फुर्सत नही तब भला उस बच्चे को कौन सम्हाले ? वैसे किसी दूसरे के बच्चे को आप कह भी देती कि जाओ जरा इसे घुमा ले आओ पर वह तो भूखा है। अब आप निर्णय नही कर पाती है कि क्या किया जाए ? चौके से निकलकर कपड़े बदल कर बच्चे को दूध पिलाने का मतलब यह हुआ कि दुबारा चौके में जाने के लिए फिर नहाया जाए और यदि इस बीच चूल्हे पर सीझती शाक-भाजी जल गयी, तो ? और बच्चा है कि रोये ही चला जा रहा है। वह बारम्बार चौके

में घूमने के लिए प्रयत्न करता है। बाहर बैठक से तीन-चार बार तकादा भी आ चुका है कि ससुरजी और जेठजी को बाहर जाना है, रसोई अभी तक क्यों नहीं तैयार हुई? सास को अपने भण्डार-गृह की चीजें या तो सम्हालने से फुर्सत नहीं होती अथवा ससुर के साथ बैठकर घर की राजनीति लडाने से अवकाश नहीं मिलता। ऐसी या इस जैसी गृहस्थी की दैनंदिन दुरावस्थाओं से श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को थोडा-बहुत तभी गुजरना पडा होगा जब त्र्यम्बक छोटा रहा होगा पर वह सब अन्य घरों की यातनाओं के सामने नगण्य थी। सास किस बलबूते पर अपनी बहू को सताती? अपनी लडकियाँ होतीं तथा तीन-चार और बहुएँ होतीं तब न बात बनती। तीन आदमियों की गृहस्थी को रोज-रोज फैलाया ही कितना जा सकता था? बडियों में फफूँद न लग जाए इसलिए सास ने उन्हें धूप दिखाने के लिए कहा तो श्रीमती कृष्णादेवी ने साथ में पापड भी चटाइयों पर फैला दिये। सास ने कलरन की एक वन्दनवार बनाने के लिए कहा तो बहू ने साथ-साथ में मगजी लगाने का भी काम कर दिया। सास के सिर की जूएँ ही नहीं निकालीं बल्कि अपनी तरफ से घी डालकर चोटी-पट्टी भी कर दी। श्रीमती कृष्णादेवी ने जीवन के इस तर्क को स्वीकार लिया था कि वह काम से कभी नहीं टूटेंगी। एक डिब्बा दाल फटकी-चाली तो क्या और मन भर दाल फटकी-चाली तो क्या? जब वर्ष में एक बार ही चावलों को साफ करके चूने और नीम की पत्तियों के साथ कोठियों में भरा जाना है तब दो दिन के बजाय यदि चार दिन काम के मारे कमर दर्द करती है, तो क्या हुआ? अरे जब मीठा पानी दत्त के अखाडे या नदी-दरवज्जे से खींचकर लाना है तो फिर उसका रोना क्या कि आज बडी ठण्ड है या सवेरे से पानी बरस रहा है, कैसे जाएँ? क्या ऐसा कहने-सुनने से घर के लोग बिना मीठे पानी के रह जाएँगे? जब जाना ही है तो सवेरे चार बजे दूसरी बहुएँ बेवडा तथा नेज (रस्सी) लिये जा रही होती हैं तब अपना भी पानी क्यों नहीं जाकर ले आया जाए? रोज की किच-किच से लाभ? बच्चे जाग जाएँ और तब पानी लेने जाया जाए तब किचायध होना स्वाभाविक है। लेकिन यह सुखद स्थिति केवल श्रीमती कृष्णादेवी के साथ ही थी क्योंकि परिवार था ही कितना। ऐसी तो कोई सांसत नहीं थी कि पूरा घर आदमियों से भरा हो और आप ही का कोई बच्चा चौके के बाहर रो-रोकर जान दिये जा रहा हो और आप घूँघट में सिर नीचा किये रोटियाँ बेलते-सेकते जा रहे हैं। आपके पास घूँघट में सिवाय सिसकने के और कोई चारा नहीं। ऐसे समय जब ससुर खाना खा रहे हों तो सास दिखाने के लिए बच्चे को ले लेंगी परन्तु बच्चा इतने रो लेने के बाद तथा अपनी माँ दिख रही हो तो क्यों दादी के पास रहना चाहेगा? और तब सास को कहने को हो जाता है कि क्या बताऊँ, कित्ती बार कहा होगा कि भाई, बच्चे का सबसे पहले ध्यान रखना चाहिए। यह घर-गृहस्थी तो चलती ही रहती है। अरे घर में क्या और बहुएँ नहीं हैं? काम के पीछे बच्चों का यह रोना-धोना देखा नहीं जाता। लेकिन ऊपर-नीचे कहीं किसी दूसरी का अता-पता भी है? और अगर मान लो बच्चे की जिद के कारण ससुर के भी कहने से आप बच्चे को लेने चौके से बाहर आ गयी और सास को रोटियाँ सेकनी पड गयी, तब उस दिन प्रलय ही

समझो। चार साँसें मिलकर वह हाय-तोबा मचा देती हैं कि बहू के कान के कीड़े भड़ जाएँ। कैसा कलयुग आ गया कि अब बेटे-बहुओं का भी सुख नहीं रहा। जवानी में तो सब किया-धरा ही और जब बुढ़ापा आ गया तब भी सब करो-धरो। कैसी धमधूसर बहुएँ आयी हैं कि जो एक ही काम करना चाहेंगी, या तो बच्चे रखेंगी या फिर खाना बनाएँगी। अब सास को गरज हो तो ऐसी बहू से काम ले। वैसे श्रीमती कृष्णादेवी की सास को प्रत्येक महीने में तीन दिन के लिए अपनी बहू से घोर शिकायत रहती थी जब वह अलग बैठ जाती थी। राम-राम करके ये तीन दिन बीतते थे। यजमानी में प्रायः एक झंझट होती है। चूंकि ये ब्राह्मण किसी अन्य के हाथ का बनाया नही खाते फलतः इन्हें अपने लिए तथा उन यजमानों के लिए भी रांधना करना पडता था। और किस दिन कितने यजमान आ जाएँगे इसका कोई भरोसा नही रहता इसलिए उन तीन दिनों में यदि अधिक यजमान आ गये तो श्रीमती कृष्णादेवी की सास को उन तीन दिनों में में गर्भाधान से लेकर प्रसव तक की यातना हो जाती थी।

श्रीमती कृष्णादेवी की सांसत भले ही उतनी न हुई हो पर चैन तो सास की मृत्यु के बाद ही मिला। सास ने अन्तिम क्षण तक अपना सासूत्व नही छोड़ा। कभी भी बहू को मनमानी नही करने दी। वह तो कहिए पण्डित महादेव शुक्ल के पिता की मृत्यु बहुत पूर्व हो चुकी थी तथा पण्डित महादेव शुक्ल की सामाजिक स्थिति जाति में बहुत अच्छी थी, तीसरे माँ और पत्नी के झगडे में वह सदा चुप ही रहे। फलतः सास की यातना देने की सभावनाएँ कार्य रूप में कभी परिणत नही हो सकी। सास की यह इच्छा रह ही गयी कि उनके पुत्र का एक और विवाह होता। मुहल्ले के सभी को आशा थी कि पण्डित महादेव शुक्ल का एक न एक दिन अवश्य ही दूसरा विवाह भी होगा। त्र्यम्बक का जन्म विवाह के पाँच-छह वर्ष बाद हुआ था। उन दिनो मुहल्ले तथा कुटुम्ब में प्रत्येक को इस "शुभ-समाचार" का अन्देशा रहता था कि किसी भी दिन पण्डित महादेव शुक्ल की पत्नी या तो कुएँ में छलांग लगा लेगी या घासलेट झारकर आग लगा लेगी या फिर सिहस्थ में खो जाएगी। लेकिन जब ऐसी कोई दुर्घटना नहीं घटी तो अन्य सासो के सामने श्रीमती कृष्णादेवी की सास को काफी नीचा देखना पडा। त्र्यम्बक के बाद जब बच्चों के मामले में वह जैसे एकदम चुप्पी साध गयी तब दो-चार वर्षों तक सास ने बहू की नीद हराम कर दी थी। श्रीमती कृष्णादेवी के लिए आत्महत्या की स्थिति लगभग सास ने प्रस्तुत कर दी थी। परन्तु पण्डित महादेव शुक्ल ने अपने माँ को एक बार ऐसा बरजा कि फिर उनकी माँ ने कभी उस ओर मुंह नही किया। श्रीमती कृष्णादेवी की सास भी वर्ना उन सासो में थी, जो वह की उल्टी हथेली पर अपनी चारपाई के पाये रखवाकर बैठने में विश्वास करती थी लेकिन जब अपना ही दूध पानी निकल जाए तो परायी लडकी को कब तक कोसा जाए? अतः माँ ने अपने पुत्र को कभी क्षमा नही किया। माँ का यह विश्वास था कि बहू ने उनके एकमात्र पुत्र को वशीकरण-मंत्र के द्वारा भेडा बना रखा है वर्ना क्या मजाल थी कि बहू, सास के पहले सोती। जबकि बहू ने बरसो से रात में सास के पैर दबाना या इनमें तैल लगाना नहीं किया होगा। अन्तिम

वर्षों में तो पुत्र और वहू ने कभी यह देखने की भी आवश्यकता नही समझी कि बुढ़िया अपने नीचे के कमरे में सो रही है या जाग रही है। उस बडे से भुतहे घर में नीचे की बैठक के पास वाले कमरे में सास पडी रहती और ऊपर पुत्र और बहू, सास के शब्दों में 'ममीसाँझ' से ही 'शयनागार' में चले जाते। फिर भी पण्डित महादेव शुक्ल ने अपनी पत्नी को इतना बढावा कभी नही दिया कि वह उनकी माँ की उपेक्षा या तिरस्कार कर सके फलतः मरने के दिन तक माँ, सास ही बनी रही।

बहुओं के संसार में श्रीमती कृष्णादेवी अपने समय में न केवल सफल बल्कि किसी सीमा तक दबंग बहू ही मानी जाती रही : अत. जब वह सास बनी तब वह भला सफल और दबंग सास कैसे नही बनती ? त्र्यम्बक की पहली बहू के समय ही उनके अन्तर में बैठी सास प्रगटित हुई। यदि पहली बहू के घर वालों ने नकली जेवर चढाकर उन्हे न ठगा होता तो संभव था कि पहली बहू दो-चार वर्ष अधिक जीवित रहती। जिस दिन श्रीमती कृष्णादेवी को बहू के घर वालो की यह जालसाजी पता चली उसी दिन ही उन्होने तय कर लिया कि इसका प्रतिशोध त्र्यम्बक के दूसरे विवाह से ही संभव है। वह चाहती तो बहू के लिए सौत ला सकती थी पर वह अपने पति तथा पुत्र के प्रति आश्वस्त नही थी कि ये लोग ऐसा करने देंगे। साथ ही राम शकर तिवारी काफी हो-हल्ला मचा सकने वाले व्यक्ति थे। अतः उन्होंने दूसरा ही मार्ग चुना। यह दूसरा मार्ग अनेक प्रकारो से इस जाति में आजमूदा रास्ता था जिससे श्रीमती कृष्णादेवी कुछ तो भिज्ञ थी ही तथा कुछ और जान-बूझ लिया गया था। अतः एक दिन तीन बजे रात ही, चार बजे तो कई घरो की स्त्रियाँ पानी भरने के लिए निकल पडती हैं, बहू को साथ लेकर दत्त के अखाडे चलीं। वह दिन श्रीमती कृष्णादेवी कभी नही भूल सकतीं। गली-मुहल्ले कैसे वीरान थे। कुत्ते तक हलवाइयों की भट्ठियों में दुबके पड़े थे। माघ का कठघाव सवेरा था। ठण्डा कचीर वायरा वह रहा था। वह फलाफेन के अंगे (एक प्रकार की जैकेट) में भी काफी ठिठुर रही थी। कंधे पर रखी नेज, कधे को जैसे काटे दे रही थी। पानी का एक घडा कमर पर था तथा दूसरा, उसी हाथ की अँगुलियों में पकड़े थीं। धातु का ठण्डापन अँगुलियों में चुभा पड़ रहा था। उन्होंने देखा कि उनकी वहू इस समय पानी लेने जाने से काफी डरी हुई थी।

— सासू माँ! आज कुछ जल्दी हम निकले हैं क्या ?

श्रीमती कृष्णादेवी ने पता नही सप्तर्षि या शुक्र या किस सुदूर तारे को देखने के लिए ऊपर आकाश में देखा, पर कहा यही,

— नहीं वहू! दस-पाँच मिनट देर-सवेर भले ही हो।

पर वास्तविकता थी कि रोज सवेरे चार वजे जितना प्रकाश आकाश में, ऊँची-ऊँची इमारतो पर होता है तथा खाली पड़ी सडको पर दिखने लगता है, वैसा नही था। हाँ, म्यूनिसीपल्टी की लालटेनें अधिकतर तो बुझ चुकी थीं या बुझने-बुझने को हो रही थी। गलियों में सवेरे का प्रकाश न होने के कारण तथा लालटेनें बुझ जाने के कारण अँधेरा था। जब दोनो सास-वहू शिप्राजी पहुँची तब बहू को थोड़ी निश्चिन्तता लगी। यद्यपि

यहाँ ठण्ढ काफी बढ़ गयी थी पर खुलापन था। नदी पर धुंध थी इस कारण दिख नही रहा था, पर दो-चार साधू या निष्ठावान नहा रहे थे इसका अनुमान लग पा रहा था। उन लोगो के जोर-जोर से स्तोत्रपाठ करने से वातावरण सजीव लग रहा था। जब दोनों दत्त-अखाडे की कुण्डी पर पहुँची तब बहू को स्पष्ट हो गया कि आज दस-पाँच मिनिट नही कम से कम एक घण्टे पहले वे लोग आयी है।
सास अपने घड़े भर चुकी थीं। बहू भी अपना एक घड़ा भर चुकी थी और दूसरो को कुएँ में डाल चुकी थी। घडे के भरे जाने की "डुबडुब" की आवाज आ रही थी। बहू रस्सी पर झुकी कुएँ में घड़े के लिए झुकी हुई थी कि श्रीमती कृष्णा देवी ने विद्युत गति से बहू को धक्का दिया, और सब कुछ क्षणान्त में घटित हो गया। चूँकि सब कुछ अब तक योजनानुकूल ही हुआ था अत. वह योजनानुकूल चिल्लायी भी। उनके चिल्लाते ही अखाड़े के कुछ साधू दौडे आये। और फिर उसके बाद बडी कठिनाई से किसी को नीचे उतार कर शव को रस्सी में बाँधा गया और ऊपर निकाला गया। पुलिस आयी। पंचनामा हुआ। श्रीमती कृष्णादेवी की व्यथा लोगों से देखी नही जा रही थी। लेकिन भावी को कौन टाल सका है? चार सासो ने भी मिलकर यही परामर्श दिया कि भावी को स्वीकारने में ही गति है। वे सब मन ही मन इस 'होनहार सास' के प्रति एकान्त में विनत भी हुईं। श्रीमती कृष्णादेवी के मुकाबले इनकी सास की अयोग्यताओं पर भी स्त्रियो ने महीनो चर्चाएँ की। जिस गम्भीरता के साथ श्रीमती कृष्णादेवी ने यह सब किया उसके कारण उनकी धाक लोगो पर और भी जम गयी।

दुर्गा को अगत्या उसके फूफा पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी विदा कराके ले गये। गत एक मास में इतने अधिक एवं तेजी से परिवर्तन हुए थे कि दुर्गा अपने को सहेज नही पा रही थी। वैसे ही दुर्गा भीरु प्रकृति की थी और अब, जब पिता तथा दो भाइयों की मृत्यु हो गयी तथा ससुराल का जो रग-ढंग देखा उसके कारण एक प्रकार से उसकी वाचा ही चली गयी थी। बुआ-माँ ने बहुत कुछ पूछा कि सास कैसी है पर क्या कहती ? उसे तो घर और गाँव बारम्बार स्मरण हो आते। स्मरण मात्र से वह जडमूल तक काँप उठती। उस दिन वह तो पालकी में बैठकर चली आयी, पीछे से तब क्या हुआ होगा ? जब वह पालकी में—बैठ रही थी तब उसे जिजी का 'दुर्गा' पुकारना तथा वह रोदन न केवल रास्ते भर ही सालता रहा बल्कि उसे लगा कि जिजी तब से अहोरात्र उसे रोती पुकारती है। वह क्या करे ? और कैसे करे ? लडकी इतनी विवश क्यों होती है ? सब कुछ को केशों की भाँति झटकार कर क्यों नहीं खडा हुआ जा सकता ? और वह इस अवशता पर प्रायः रोती रही है। पति ने भी एकान्त में उससे अनेक बार शपथ दिलाकर भी उसके दुःख को जानना चाहा है पर नारी के दुःख को कौन से शब्द वहन या व्यक्त कर पाये हैं ? प्रत्येक पुरुष अधिक से अधिक तैराक ही हो होता है कि अनेक प्रयासो के बाद कैसी ही गहराई तक कुछ देर के लिए हो आता है, पर नारी तो स्वयं जल और उसकी वह अनथाही गहराई होती है। इस मूलभूत अन्तर को उसका पति कैसे समझ सकता था ? वह किसी को क्या बताए कि उसे क्या सालता है ? माँ पर क्या बीत रही होगी। उन्होंने कैसे इतने वज्राघात एक साथ सहे होंगे। घर से कोई भी तो खबर नहीं आयी। पता नही बिचारे बडदा पर जाने क्या बीती होगी। जो कुछ घटित हुआ था वह अकल्पनीय था। उसे अपने ब्याह के दिनों की एक-एक तैयारी याद है। कोई भी लडकी भला इन दिनों को कैसे भूल सकती है ? घर का एक-एक जाला साफ किया गया था। छत के डोडों में खुँसी पुरानी तलवारें, कपड़ों में लिपटो कैसी जंग खायी हो गयी थी।

दीवारों पर चित्र बनाने के लिए उज्जैन से चित्रकार बुलवाया गया था। कृष्णा गाय और बैलों के लिए कैसी तोडेदार व पीतल की नयी जंजीरें आयी थी। कृष्णा तो नयी गलघंटी पाकर कितनी प्रसन्नमना लगती थी। दान-दहेज के लिए माँ-बाबा ने एक-एक वर्तन, कपडे-लत्ते एकत्र किये थे। कितने उत्साह से बाबा इन्दौर जाकर नयी फैशन के जेवर बनवाकर लाये थे। वह तो इस सारी तैयारी की मात्र टुकुर-टुकुर ही ताकती रही थी। उसे अज्ञात में ही लगता कि उसकी देह के वृक्ष में न जाने कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे प्रशाखाएँ फूटने के कारण फूला-फूलापन लगता। अंग पिराते, पर मन न जाने किस लोक में होता। स्वयं ही लगता कि वह शिवली (हरसिंगार) के गाछ सी लदी, फूल-फूली अपने आँगन में बैठी हुई न जाने कहाँ-कहाँ सतरित हो रही है, याभित है। पहले कैसी ही हवा चलती तो भी उसे कुछ नही होता था। लेकिन अब, जब वह नहाकर नदी से निकलती है और उसके गालो पर से जब बूँदें फिसलती तो कैसी ठण्डी रेख सी खिचने लगती। पूरी देह, श्यामा गाय की भाँति भुरभुराने लगती। गत एक-दो वर्षों में ऐसा लगने लगा था कि वह वर्षा-फुहार को खूब अपनी देह के माध्यम से अन्तर तक भोगे। ऐसे भीगते हुए लगता कि उसका जड़-मूल तक सिंचा पड रहा है। पहले कभी ऐसी पिपासा नही अनुभव हुई लेकिन अब तो एक-एक बूँद के लिए यह अतृप्ति उसे अपने स्व के पोर-पोर में अनुभव होती। वृक्ष कितने प्राकृतिक ढंग से सपूर्ण स्वत्व के साथ भीगते हैं तभी तो पल्लवित और कुसुमित भी होते हैं। बिना अपनी वनस्पति को ऐसे उदार सौपे पल्लवन संभव भी कैसे है? श्राद्धपक्ष के दिनो में जब दुईपाटी (गुलमेंहदी) के नानावर्णी फूलो से आँगन अलिपत हो जाता है तो अपनी ही देह में कैसी फूलो की चटखार सुनायी पड़ती है। धूप के घूपाधाहीपन में कैसे पिघले सोने की महीन कम्पध्रता आ जाती है। सारा वातावरण बोलता सा लगता है कि पूजा आ रही है। घरों से चूने और तेल की मेंहक आने लगती है। तब कैसे मनोयोग से दीवालो पर गोवर से साँझी बनायी जाती। कोट, किला, नगर, फौजफाटा बनाये जाते। पालकी में बैठे शिवगौरी कैसे खिल आते। गौरी ने शिवजी को प्राप्त करने के लिए अपर्णात्व तक प्राप्त किया था। कैसा कठोर व्रत रहा होगा कि पत्ते तक नही खाये''''क्या "ईसर जी" की प्राप्ति में प्रत्येक गौरी को अपर्णा होना ही होता है? तारा-व्रत करना होता है? नवरात्री के "जवारे" (यवांकुर) जब नदी में, जलाशय में प्रवाहित करने जाते तथा साँझी भी बहायी जाती तब कैसी अनिर्वचनीय स्वप्नाविष्टता घेरती थी। आकाशदीप, नदी में दीपदान, मिट्टी के कलशों मे रखे दीप और सखियों के साथ गाते गीतों का समवेत स्वर''' नदी पेले पार तक सुनायी पड़ता। दशहरे-दिवाली के बीच की चाँदनी रातें, देह पर ओढ़कर सो जाने को मन करता। सब कितना निर्दोष, अकलुष लगता। केवड़े की गंध कैसी नाक में बस जाती। ऐसे ही एक-एक दिन बेर खाते, इमलियों की खटास दाँतो में लिये बीत गया और एक दिन अपनी यही देह, दीप सी मन्द-मन्द सुलगी सी लगने लगी। देह, केवड़े के भुट्टे सी गमक उठी। अब चोटी नही बल्कि बालों का 'अमोटा' (काम चलाऊ जूड़ा) बनाकर, गोवर से घर-आँगन तथा दीवालें लीपना भी फूल चुनने की ही भाँति लगने लगा। चूने

से मांडने मांडते कब साँझ पड़ जाती, पता ही नहीं चलता। लगता कि मन, तोते की भाँति ग्रापके पास से उड़कर पास के पेड़ पर बैठकर चीखे जा रहा है। छत की ओर खम्भों की लकड़ियों का तेल पानी किया'''घर कैसा नहायी गाय की भाँति निकल आता है। नवरात्री, अष्टमी की पूजा, दशहरे के मैदान से लाया गया सोना, लक्ष्मीपूजा, दिवाली, गोवर्धन-पूजा, अन्नकूट, भैयादूज'''उत्साह'''उत्साह !! अब केवल आँगन की शिवली में ही फूल नहीं फूटे हैं जिजी ! तुम्हारी शिवली भी शिवजी पर चढाये जाने के लिए प्रस्फुटित है। ढेर सारे सिन्दूरी डंठल के सफेद फूल शिवशृंगार बनने को केवल आँगन में ही नहीं आकुल भर रहे हैं। प्रत्येक कन्या, गौरी है। शिवली और कोई नहीं, वह घर की वही कन्या है जो कल तक दुहिता बनी गाय के दुहने के समय बछिया की रस्सी थामे रहती थी बाबा ! शिवली को शिव की प्रतीक्षा है। "साँझी" में बनाये जाने वाली पालकी अब कब द्वार पर आएगी ? गौरी को "ईसरजी" को सौंप दो जिजी !' " और दुर्गा अपने ही ब्याह की गंध को घर-आँगन में देखने-सुनने लगी। बेसन हल्दी से नाइन रोज नहलाने लगी। कंडे, थापते हाथ और श्यामा कलाइयाँ कैसी कचंनवर्णा निकल आयी। न जाने कितना सारा रूप था जो देह में छिपा बैठा था और नाइन ने कैसे उसे इसी देह में उजला दिया था। नाइन की मालिश के बाद दुर्गा का मन रोज करता कि वह सूँती देह से सारा आकाश संतरित कर आए। फूल, यदि पक्षी होता और वह मछलियो की भाँति आकाश के जल को तैर जाता तो वह दुर्गा होता। कृष्णा गाय के गले की झूल को सहलाते हुए उसे लगता कि वह सगीत की वन्दनवार पर हाथ फेरे जा रही है। न केवल कृष्णा ही तन्मय है बल्कि दुर्गा भी तो है। कुम्हड़े की लता के पीले-सफेद फूल कैसे झिझकते हुए वह पिछवाड़े के आँगन में दीवाल से सटे आधी धूप कुचलते हुए कानो में, जूड़े में खोस लेती। उन फूलों की वानस्पतिक गंध उसे न जाने किस लोक में ले जाती है। सूखती कंडियों पर फुदकती गौरेयाएँ कैसे निःशब्द बुलबुलो की भाँति उसके भीतर भी हलचल कर रही होती है। जिजी ने उसे अपने गले की हुस्मी पहना दी है। लगता कि वह भी नयी जंजीर पहने कृष्णा गाय ही है। देह को वहाँ पिछवाड़े की बेर की झँझरी छाया में छोड़कर मन, हीरामन तोते की भाँति न जाने किस द्वीप की ओर चला गया होता। अहाते की दीवाल पर पूँछ उठाकर भागती गिलहरी कैसी उन्मुक्त लगती। विवाह !! इस शब्द मात्र से उसे अज्ञात में ही लगता कि वह निर्वसन हो उठी है और वह तब और अधिक सकुच उठती। अनजाने ही उसकी चाल में कैसा सधापन आ गया था जैसे वह बताशों पर चल रही है। आँगन में भट्टियाँ खुदवाते खड़े बाबा उसे कितने अच्छे लगते थे। जिजी कभी इस दालान में, तो कभी उस कोठरी में चीजें रख रही हैं, सहेज रही है। जिजी की देह में न जाने कितना और कैसा उत्साह आ गया था। तीनों भाई चीजें एकत्र करने में कितने व्यस्त थे। जब कभी सामने पड़ जाते तो उनकी हँसी कितनी प्रसन्न जल की भाँति होती....और वह दोपहर '''जब मँझले दादा को भीतर आँगन में लाया गया था। उस समय उसकी सहेली उसके हाथों में मेंहदी रच रही थी और तब एक हल्ला हुआ था। गीली मेंहदी लिये वह भी उसी आँगन

को ओर भागी गयी थी पर कैसे उसे तब उधर नही जाने दिया गया था। जाने क्या-क्या और कैसी-कैसी शंका-कुशंकाएँ उस बीच उसके मन में उठी थीं। बारम्बार उसका अन्तर मुँह के रास्ते बाहर निकल आना चाहता रहा और जब सुना कि मँझले दादा···· तब तो वह ऐसी रोयी कि····परन्तु अभी एक रोना पूरा हुआ ही नही कि छोटे दादा···· सब कुछ कितनी तेजी से घट रहा था जैसे ये सब खलिहान में रखे धान थे जिसे हवा के थपेड़े उड़ाये दे रहे थे। दुर्गा को लगा कि उसका विवाह मण्डप किसी श्मशान में लगा है। क्या विवाह ऐसा होता है ? उसके विवाह की ऐसी कल्पना क्या कभी किसी ने की थी ? क्या वह भी उस घर में चौथी लाश की अर्थी को भाँति नही निकली ? रात के जिस सन्नाटे में उसकी विदा हुई तथा जिजी जिस प्रकार चीखकर रोयी थीं तो क्या वह बेटी की विदा के लिए था अथवा जैसे कि बेटी की अर्थी के लिए माँ रोती है, की तरह नही था ? रास्ते भर वह कैसे घुटे-घुटे रोती रही। रास्ते की निस्तब्धता में वह कैसे चाहती रही कि संभव हो तो वह उल्टे पैरों लौट कर अपनी माँ से, बड़दा से, कृष्णा गाय से, घर की दीवालों से लिपट कर एक बार ऐसे खुलकर रोये ताकि उसे कुछ हल्कापन लगे। ऐसे घुटे-घुटे तो वह जीवन भर रोती रहे तब भी भारीपन ही रहेगा। बरात के सारे लोग कैसे रास्ते भर औंधाते रहे थे। पर उसकी आँखों में किंचित भी नींद नही थी। बारम्बार घर मँडराता। उसने कितना चाहा था कि वह अन्तिम बार घर छोड़ने के पूर्व पिता के चरणस्पर्श कर सके लेकिन उसे ऐसा नही करने दिया गया था। कसाई के हाथो जब गाय बेची जाती होगी तब भी वह ऐसी नहीं रँभाती होगी क्योंकि बिचारी उस गाय को क्या पता कि उसका क्रय करने वाला कौन है ?

अब भला अपने इस क्षत-विक्षत मन की व्यथा को किससे कहे और कैसे कहे ? ससुराल के बारे में अभी वह क्या कहे ? बुरी है, यह तो सारा जगत जानता है लेकिन उसके सन्दर्भ में कितना बुरी है यह कह सकना अभी उसके लिए कठिन है। जहाँ तक दुर्व्यवहार का प्रश्न है तो दुर्गा उस बारे में इसलिए नही सोचती क्योकि वह सासों के व्यवहारों के बारे मे इतना कुछ पहले ही से सुनती रही है कि उसे अपनी सास के कटु बोलो या आचरण के प्रति कोई आश्चर्य नही हुआ। सुना है कि अपनी पहली बहू को कुएँ में धक्का देकर मार डाला। संभव है ऐसा हुआ हो पर दुर्गा को लगता है कि जैसे इस बारे में उसे न कुछ सोचना ही है और न कुछ कहना ही है। लगता है कि उसने अपनी गृहस्थी का प्रारम्भ हताशा से ही किया है। लेकिन इससे अधिक अच्छे रूप से वह कर भी नही सकती थी। किसी सीमा तक वह विदेहवत ही थी। विवाह के तीन-चार दिन बाद वापस अपने गाँव लौटने को उसकी कितनी तीव्र अभिलाषा थी लेकिन वह क्या नही जानती कि बड़दा उसे सूतक में लिवाने कैसे आ सकते है ? साथ ही वह सास द्वारा इस बारे में दिये जाने वाले तानो पर भी रुष्ट नही होती। उसे जाने क्यों अपना विवाह,

विवाह नही लगा वरन सौंप देना जैसा लगा। उसने यह स्वीकार लिया कि कल और आज के बीच कोई या किसी प्रकार का भी सेतु नहीं है। अब कभी गाँव जाना संभव न होगा। सच तो यह है कि जाकर होगा भी क्या? सब कुछ भस्म हो चुका है। पिता की छत्रछाया, भाइयों का स्नेह''''सब, सब कुछ चिता में स्वाहा हो चुका है। बिचारी जिजी अपने टी को सम्हाले रहे तो ही गनीमत है। बेटी का बोझ यों ही कम नही होता उस पर दुःखी बेटी का बोझ तो कैसे ही माता-पिता की कमर तोड़ सकता है और किस-लिए? अब वह परायी हो चुकी है। उसकी देह और मन के रोग-शोक से माँ और भाई को क्या लेना-देना? अब उसका पति है, सास है, ससुर है'''अब जब लौटने के लिए कोई मार्ग नहीं तब इस बारे में किसी से भी चर्चा करने से क्या लाभ? चाहे वह बुआ-माँ ही हों, क्या कर सकती है? अच्छा या बुरा जब उसे ही भोगना है तब उसके बारे में क्या कहा-सुना जाए? वैसे उसे बुआ-माँ के घर आकर अच्छा ही लगा।

बुआ माँ के दो लड़के और एक लड़की थी। बड़ा लड़का यशोदानन्दन, रतलाम रेलवे स्टेशन पर तार-बाबू था तथा छोटा लड़का शिवनन्दन देवास में ओवरसीयर था। लड़की वसुन्धरा भोपाल के धर्मशास्त्रियों के परिवार में ब्याही गयी थी। तीनों—दुर्गा से बड़े थे। वसुन्धरा गत दो मास से यहीं नैहर ही में थी। दुर्गा से कोई दो बरस बड़ी होगी। उसका ब्याह पाँच वर्ष पूर्व हुआ था पर अभी तक कोई संतान नहीं हुई थी। पण्डित बैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी और पत्नी श्रीमती श्यामादेवी त्रिपाठी अपनी बेटी के इस वन्ध्यापन से काफी चिंतित थे। इस बार जब से वसुन्धरा आयी है तब से उन्हें घोर दुश्चिन्ता व्याप्त है। वसुन्धरा ने अपनी माँ को सम्भवतः अपनी सास का यह निश्चय बता दिया है कि यदि उसका यह बन्ध्यापन दूर नही होता तो वह इस वर्ष की प्रतीक्षा के बाद अपने पुत्र का दूसरा विवाह कर देंगी। पण्डित बैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी वसुन्धरा को लेकर दुःखी थे। उज्जैन के सारे हकीम-वैद्य-डाक्टर सभी तो छान मारे थे। सिविल-अस्पताल के बड़े डाक्टर पुरुषोत्तम जोशी तो उनके ममेरे भाई ही थे। वैद्यराज सावरकर-जी ने कौन-कौन सी भस्म और पपंटी शहद में चाटने को नही दी पर कोई लाभ नही हुआ। हकीम सैयद भाई ने गुग्गल में रखकर क्या-क्या नही खिलाया होगा पर वसुन्धरा पर उन सबका कोई लाभ नहीं हुआ। त्रिपाठी दम्पति को इस बात की आशंका थी कि *यदि वसुन्धरा को अब सन्तान नहीं होती तो वसुन्धरा के देखते-देखते सौत ले आयी* जाएगी और तब''''?

वैसे वसुन्धरा और दुर्गा में भगिनीत्व का सम्बन्ध था, पर परिचय लगभग नहीं जैसा था। वसुन्धरा अपने ननिहाल दो-एक बार से अधिक नही गयी थी, अतः वास्तविक का परिचय इन दोनों में पहली बार हो हुआ था। दिन वैसे तो काफी गरम हो गये थे पर चैत्र रात्रियाँ बिल्कुल चमेली के फूलों की भाँति टटकी पड़ती थीं। बुआ माँ का यह घर

अब्दालपुरे के अच्छे-पक्के मकानों में गिना जाता था। इस मुहल्ले में अधिकतर उनकी जाति के ही लोगों के घर थे। ब्राह्मणों और पण्डों की सम्पन्न स्थिति नहीं थी, फलतः अधिकांश के कच्चे घर थे। मगलनाथ की ऊँची कगार पर बसा यह मुहल्ला भैरोगढ के रास्ते पर था। त्रिपाठी जी का मकान लगभग अन्त में था। जाति की धर्मशाला जिस चौराहे पर थी उससे बाँये हाथ वाले रास्ते के सिरे पर मुसलमानों की जो कब्रगाह है उसके पहले त्रिपाठी जी का यह पक्का दुमंजिला मकान था। दाहिने हाथ कब्रगाह का सिलसिला भैरोगढ के रास्ते तक चला गया था। दिन-दोपहर में भूरे पठारों पर पगडंडियाँ रस्सियों सी कसी दिखती। मकान के पिछवाड़े मंगलनाथ की कगार के वृद्ध पीपल, वटवृक्ष, इमलियाँ सघन छतनार ताने खड़े थे। चैत्र रात्रि में जब मालवी धायरा उन्मुक्त विचरता होता तो वृक्ष, उस संचरण की स्वीकृति सम्पूर्ण हिलते हुए देते। बिल्लौरी चाँदनी झर रही होती तो मगलनाथ की लम्बी, निर्जन कगार कैसे संन्यासी के संयमित अन्तस की भाँति शांत दिखायी देती। सामने के कब्रगाह पर टूटी-फूटी मजारों के बीच बिचरती चाँदनी कफन की चिंदियों सी लगती। एक ही चाँदनी एक ही समय में घर के अगवाड़े तथा पिछवाड़े दो विपरीत प्रभाव उत्पन्न कर रही होती। मकान के ऊपर आगे और पीछे टिन की दो खुली छतें थीं। पिछवाड़े की छत स्त्रियों के लिए गर्मियों में सोने के लिए थी। वसुन्धरा और दुर्गा दोनो इस समय छत पर बिस्तरों पर लेटी हुई बातें कर रही थी। श्रीमती श्यामादेवी त्रिपाठी नीचे घर के काम-काज में लगी हुई थी।

— दुर्गा ! आज बाबा बता रहे थे कि शिवशंकर दादा की चिट्ठी आयी है कि वह परसों मामी के साथ आ रहे हैं।

— हाँ।

और हवा के झोंके में आयी मेंहदी की गंध उसकी नाक में बसने लगी। तभी दुर्गा को लगा कि उसने वसुन्धरा दीदी की बात का जिस प्रकार जवाब दिया है वह शोभनीय नही था। वह बोली,

— वसु दीदी। लगता है इस साल गर्मी बहुत पड़ेगी।

— हाँ, और क्या, माघ-पूस में मावठा भी तो ठीक से नही हुआ। जाडों में पानी ठीक से न गिरे तो गर्मी तो भभकेगी ही।

तभी बलाका का एक दल आकाश में उड़ता हुआ निकला। उत्तर की ओर जाता यह दल हठात दिखा और लगभग वैसे ही खो भी गया। दुर्गा ने सहज ही निश्वास ली पर वसुन्धरा को लगा दुर्गा का यह निश्वास छोडना सहज नही था, पूछा;

— दुर्गा ! क्या बात है ?

— कुछ भी तो नही।

— कुछ कैसे नही ! ऐसे उसांस क्यों ले रही हो ?

वास्तविकता सभवत यही थी कि यदि दुर्गा के मन में कुछ था भी तो पूर्णरूप से अस्पष्ट था पर जब वसुन्धरा ने पूछने का आग्रह किया तो उसे भी लगा कि सच ही वह दु:खी है; बोली,

— क्यों वसु दीदी ! जीजा जी कैसे हैं ?

— थोड़े लम्बे हैं, बस ।

दोनों मुस्करा पड़ी । क्या यही जानने के लिए दुर्गा ने पूछा था ?

— नहीं, मेरा मतलब कि जीजा जी'''।

— क्या ? जीजाजी क्या ? पूछो न, क्या पूछना चाहती हो ? क्या तुम यह पूछना चाहती हो कि वह तुम्हारी दीदी को प्यार करते हैं कि नहीं'''दुर्गा ! पुरुष कभी निस्वार्थ प्यार नहीं करता । किसी स्त्री को जब वह प्यार करता है तो उसे पत्नी बनाना चाहता है । जब वह स्त्री पत्नी बन जाती है तब उसे अपनी सन्तानों की माता बनाना चाहता है । यदि उसकी इस योजना में किसी भी स्तर पर कोई स्त्री खरी नहीं उतरती तो वह उसके किसी काम की नहीं ।'''अब भी समझी कि नहीं ?

— सुनती हूँ कि तुम्हारे'''

— हाँ, ठीक सुनती हो कि यदि तुम्हारी वसु दीदी सन्तान को जन्म नहीं दे सकती तो तुम्हारे जीजा जी के लिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं ।

— तुम तो वसु दीदी ! यह सब इतने और ऐसे ढंग से कह-सुन रही हो कि जैसे कथा-भागवत की कोई कथा सुना रही हो ।

— क्या करूँ दुर्गा ! मनुष्य सब कुछ सहन तो कर सकता है, परन्तु सब कुछ कह नहीं सकता । मैं जानती हूँ कि'''मैं'''।

— क्या जानती हो तुम वसु दीदी ! बताओ न ?

— क्या बताऊँ दुर्गा ! ब्याह के एक बरस बाद से ही सास, ननँद जेठानी, देवरानी, किस-किस के कैसे-कैसे बोल-कुबोल नहीं सुनने पड़ रहे हैं' 'मैं कैसे किसी को बताऊँ या समझाऊँ कि मैं बन्ध्या नहीं हूँ दुर्गा !'' 'मैं बन्ध्या नहीं हूँ'''?

और दुर्गा ने देखा कि वसुन्धरा फूट पड़ी । दुर्गा कुछ हतप्रभ अवश्य हुई । उठकर दीदी बिस्तरे पर आ गयी । चाँदनी अब छत पर भी फैल आयी थी । दूर में हारमोनियम पर किसी के गायन का स्वर छितरा हुआ था । छिटकी चाँदनी में सुबुकती वसुन्धरा जलवती नदी लग रही थी । वसुन्धरा का जूड़ा खुल आया था । हथेलियों में मुँह छुपा तकिये में वह गड़ी-गड़ी रो रही थी । दुर्गा को पहली बार लगा कि वसु दीदी का उससे न केवल रंग साफ ही था बल्कि वह गोरी भी थी । पीठ पर हाथ फेरते हुए वह बोली,

— मुझे क्या पता था कि तुम इस बात पर रो दोगी ।

शायद मन की यह व्यथा वसुन्धरा अपनी माँ तक से नहीं कह सकती थी । घर में या परिवार में दूसरा कोई या नहीं जिसे वह यह सब, भले ही संकेत में, कह सकती थी । यह कितना बड़ा लाछन था जो वह अपने पति पर लगा रही थी । कैसे वह भीतर ही भीतर वर्षों से घुटती रही है । यदि जीवन भर भी घुटते रहना पड़ता तब भी सभवत घुटती रहती पर इधर उसकी सास ने उसके पति के दूसरे विवाह की जब घोषणा करनी शुरू कर दी थी तथा सारा दोष बहू के मत्थे मँढने लगी थी, तब से वह इस एक कटु सत्य को किसी के सामने कहकर हलकी होना चाहती थी । संयोग से इस बीच दुर्गा

आयी। दोनों निकट हुई और दुर्गा के जरा से छूते ही वह पके फल सी टपक पड़ी। जैसे इसी हवा की ही तो उसे प्रतीक्षा थी। दुर्गा कुछ समझी और बहुत कुछ नहीं भी समझी। फिर भी वह अपनी वसु-दीदी के दुःख में दुःखी अवश्य हुई।

चैत्र की ठण्डी हवा चल रही थी। पीपल कैसा नहाया हुआ शब्दित हो रहा था। पीपल जब बोलता होता है तब लगता है न कि कोई नहा रहा है? वायव्य-दिशा में मकर-राशि का तारापुंज चमक रहा था। छत पर सीढ़ियों पर को लालटेन का प्रकाश आ रहा था तथा पैरों की आहट सुनायी पड़ रही थी।

— उठो वसु-दीदी! बुआ-माँ आ रही हैं।

वसुन्धरा ने अपने को प्रकृतिस्थ किया। आते ही श्रीमती श्यामादेवी बोलीं,

— अरी तुम लोग अभी सोयी नहीं? मैं तो समझी कि तुम लोग सो गयीं।

— समीसाँझ से कोई सोता है बुआ-माँ?

— लो सुनो इस दुर्गा की बात। दस बज रहे हैं और अभी इसकी समीसाँझ ही चल रही है।

— क्यों वसु दीदी! गर्मियों में दस होता ही क्या है?

वसुन्धरा केवल मुसकराती बैठी रही। माँ को लगा कि किसी बात पर पुत्री दुःखी है, अतः बोलीं,

— तो तुम दोनों क्या पुसपुस-पुसपुस करती रहो?

— कुछ नहीं बुआ-माँ! वसु दीदी से पूछती रही कि भोपाल सुन्दर है या उज्जैन।

श्रीमती श्यामादेवी ने दुर्गा की बात पर अत्यन्त गहरी निश्वास ली जैसे कोई फोड़ा अनजाने में दुर्गा ने दुखा दिया हो परन्तु श्रीमती श्यामादेवी बोली कुछ नहीं। वह उठी और लालटेन बुझाकर पानी पीने लगी। लालटेन के आ जाने से चाँदनी रात में जो एक अवास्तविकता आ गयी थी वह अब दूर हो गयी। बल्कि ऐसा लगा कि लालटेन का केवल प्रकाश ही नहीं था बल्कि उसका हल्का शब्द भी था जो कि उसके बुझ जाने से सब शान्त लगने लगा। चाँदनी स्वतः ही आयी। श्रीमती श्यामादेवी अपने बिस्तरे पर बैठते हुए बोली,

— परसों भाभी और शिवशंकर आ रहे हैं। संयम से काम लेना बेटा! उन्हें धैर्य बँधाने की चेष्टा करना समझी!—वसु! सो गयी क्या?

— नहीं तो, क्या बात है जिजी?

— यशोदा ने खबर करायी है कि वसु चाहे तो कुछ दिनों के लिए रतलाम चली आये।

वसुन्धरा का मुसकराना किसी ने देखा नहीं पर वह खिन्न स्वर में बोली,

— अभी तो मुझे कहीं नहीं जाना जिजी!

— नहीं, अभी को कौन कहता है।

— तुम भी चाहती हो जिजी! कि मैं चली जाऊँ?

— यह तो मैंने नहीं कहा। एक बात थी, सो बतायी।

— नहीं, अगर तुम चाहती हो तो मैं भोपाल भी जा सकती हूँ।

और वह फिर रो पडी। श्रीमती श्यामादेवी की समझ में नही आया कि वसुन्धरा क्यों रो दी। उन्होंने दुर्गा से पूछा,

— क्यो दुर्गा ! सच बताना तुम लोग क्या बाते कर रही थी ?

— कुछ खास तो नही बुआ-माँ।

— यह वसु तो पगली हैं। रोते-रोते अपनी जान दे देगी पर अपने मन की बात नहीं बताएगी।

वसुन्धरा अपनी माँ को कुछ क्षण तो देखती रही उपरान्त हठात बोली,

— जिजी ! सब कुछ कहा नही जा सकता" तुम लोग मेरी किस बात का इलाज करवा रहे हो ?····मैं वन्ध्या नही हूँ जिजी ! मैं वन्ध्या नही हूँ !!

और अपनी बात को अधूरी छोडकर तेजी से वसुन्धरा उठी और जीने से नीचे चली गयी। उसके उठने और चलने से छत पर टिन की आवाज हुई थी। जीने पर निश्चिन्त-भाव से जो अँधेरा प्रशस्त था उसे कुचलते हुए जब वसुन्धरा गयी तो बिचारा अँधेरा भी अपने कुचले जाने की व्यथा से थोडी देर तक कराहता लगा। श्रीमती श्यामादेवी और दुर्गा दोनों की समझ में नही आया कि वसुन्धरा दुःखी या कातर होकर गयी है अथवा आक्रोश या विवशतावश गयी है। शायद कब्रगाह की ओर से सियारो की हुआँ-हुआँ आ रही थी। श्रीमती श्यामादेवी के सामने कुछ भी स्पष्ट न हो सका। वसुन्धरा जो कुछ अभी कह गयी उसका तात्पर्य क्या हो सकता था ? क्या वह कहना चाहती है कि वह वन्ध्या नहीं है वरन उसका पति स्वय ही····स्वयं ही क्या ?? और उन्हे इतनी देर बाद बात की गम्भीरता का अनुभव हुआ और लगा कि जैसे वसुन्धरा ने जो गरम-गरम सलाख छुलायी थी उसका दाह अब उन्हें झुलसा रहा था। बिस्तर जलता तवा हो गया था। अस्पष्ट मन·स्थिति में वह उठी और आगे की छत पर लेटे अपने पति पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी के पास पहुँची।

दुर्गा फिर अकेली पीछे छूट गयी। अपनी व्यथा, वसुन्धरा की विवशता, ये दोनो बाते मिलकर उसे और गहरे में कचोट गयी। वसुन्धरा अभी भी नीचे थी। दुर्गा को लगा कि उसे नीचे जाकर वसुन्धरा की सहायता करनी चाहिए और वह भी नीचे जाने के लिए उठी। उसे लगा कि वह चांदनी को बीचोबीच काटती हुई जा रही है। उसके अन्दर की सारी मूक भाषा टीन के पत्तरो पर उसके पैरो की राह बज रहे हैं।

एक मास में किसी के बाह्य परिवेश में इतना अन्तर आ सकता है यह दुर्गा को नहीं मालूम था। जैसे ही उसने अपनी जिजी और बड़दा को देखा तो उसे लगा कि यदि जिजी, बड़दा के बिना दिखलायी देतीं तो दुर्गा को पहचानने में किंचित कठिनाई होती। कई बार बाल पके होने पर भी उनकी सफेदी हमें लगती नहीं है, आज के देखने के पूर्व तक अपनी माँ के पके केश भी सफेद नहीं लगे पर आज बालों की सफेदी कटार की भाँति धार वाली लगी। बाल ही आयु को सबसे अधिक वहन एवं व्यक्त करते हैं। गर्मियों की दोपहर में कटे खेत के ऊपर चलते बगूलों में धरती जैसी झुलसी लगती है, बस, वैसी ही माँ लगी। यदि किसी अन्य का मुख वैसा ही होता तो दुर्गा को यह अवश्य ही भयावह लगता लेकिन उस मुख में फिर भी कहीं जलत्व था, वैसा ही जैसा कि प्रत्येक धरती के अन्तस में जल होता है। कितनी ही गहराई पर यह जल क्यों न हो, होता वह अवश्य ही है। बिना जल के धरती की कल्पना ही संभव नहीं। तभी तो धरती, आद्यन्त धरती ही होती है। श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य स्वयं नहीं समझ पा रही थीं कि जब पुत्री से साक्षात होगा तब वह कैसे अपने को रोक सकेंगी? दुर्गा की विदा के बाद से वह प्रायः रोती रही हैं पर न जाने क्यों वह खुलकर नहीं रो सकी थीं, संभवतः इसका कारण शिवशंकर था। श्रीमती गोदावरी देवी को भय था कि यदि वह कमजोर पड़ जाएँगी तो पुत्र किसके आधार पर अपने को सहेज सकेगा? प्रायः स्त्री अपना जीना भूल कर सम्बन्ध ही जीती है। अभी शिवशंकर ने दुनियाँ देखी ही कितनी थी? भाइयों में वह बड़ा अवश्य था पर अभी आयु थी ही कितनी? पच्चीस वर्ष की आयु भी कुछ होती है? और वह भी गाँवों की आयु! खेत, खलिहान, पूजा, हाट-बाजार, बस यही तो गाँवों का जीवन होता है। उस पर शिवशंकर निश्छल बहुत था। अभी दुनियादारी के प्रपंच वह जानता ही क्या है। कल तक पिता के वटवृक्ष की सघन छाया सिर पर

थी इसलिए किसी भी प्रकार की तपन का अनुभव हुआ नही पर सहसा यह छाया उठ गयी और ऐसी उठी कि दो-दो भाइयों की भी परिपार्श्वता उठ गयी इसलिए दिन एकदम चढ आया । जीवन जब भी तपता है, ज्येष्ठ से कम नही होता । धूप अपनी सारी दोपहरता के साथ तपने लगी । ऐसी तपन में यदि माँ ने भी साहस छोड दिया तो लडका कितना बेहाल हो जाएगा फलतः श्रीमती गोदावरी देवी फिर अन्दर ही अन्दर घुटते रहने के लिए बाध्य थी । माता पुत्र दोनों एक दूसरे को देखते रह जाते पर, अबोले ही रहते । कोई भी दो क्यों न हों, के बीच भाषा नही बल्कि भाव ही प्रमुख होते हैं । पिता और भाइयो के उत्तर कार्य सम्पादन के सिलसिले में अनेक ऐसे अवसर आये जब दोनों ही फूट-फूट कर रो सकते थे पर दोनों ने एक दूसरे को कमजोर होने से रोका । यद्यपि दोनों ही अपने-अपने एकान्त में मुँह में कपडा ठूँसकर जी भर कर रोये होंगे पर एक दूसरे के सामन असम्पृक्त ही बने रहे होंगे । हाँ, स्वतः होने पर तो अपनी भावनाएँ भी देह जैसी ही अपनी होती है ।

जिस समय ताँगा रुका दुर्गा, चबूतरे पर खडी थी । सवेरे का कोई आठ बजा था । सडक तथा सेरियों में गर्मियो की धूप खूब प्रशस्त हो आयी थी । जब से वह उज्जैन आयी थी कभी उसने खुलकर उज्जैन के दिन, धूप, मकान, लोग, आवाजें, पक्षी कुछ भी तो ठीक से नही देखे-सुने थे । बाहर का देखने सुनने के लिए अन्तर की निश्चिन्तता आवश्यक होती है । जब से वह बुआ के यहाँ आयी तब से समय-कुसमय यहाँ-वहाँ खडे रहकर वह न जाने क्या-क्या देखती-सुनती रहती है । एक ताँगा, उसे सडक पर दूर ही से आता दिखा अवश्य जिसमें कोई स्त्री-पुरुष बैठे हैं । पर उसे किंचित भी शंका नही हुई कि ताँगे में जिजी और बडदा होंगे । वह तो घोड़े के गले और सीने पर बँधा रेशमी गुलाबी दुकूल देखती रही थी । बहुत हुआ तो उसका ध्यान ताँगे की छत में लगे रेशमी फुन्दी के उड़तेपन पर गया होगा । ताँगें की घटियो की झनझनाहट से लग रहा था कि पूरी सडक का सूनापन खिलखिला पड़ रहा है । ताँगेवाले की बालदार काली टोपी अवश्य ही स्पष्ट थी । टोपी पर ध्यान जाते ही उसे लगा कि ये सवारियाँ कौन हैं ? और ब्याह के बाद पहली बार उसने जिजी और बड़दा को देखा । वह हठात किंकर्तव्य विमूढ़ हो आयी । देखना, पहचानना और समझना तीनों एक साथ नही हुआ । एकसूत्रित होने में कुछ क्षण लगे । वस्तुस्थिति को समझने के उपरान्त उसने देखा कि बड़दा के घुटे सिर में हलके बाल आ चले थे । पहली बार बड़दा उसे काफी बड़े से लगे । बल्कि ऐसा बडप्पन जिसमें आत्मीयता कम हो जाती है । शायद इस बड़प्पन का एक प्रमुख कारण जो दुर्गा को लगा वह यह कि उन्होने अपने कुरते पर दुपट्टा डाल रखा था । उनके चमकते माथे पर त्रिपुण्ड स्पष्ट था । जिजी ने बिना किनार की सादी-सफेद मलमल की साडी पहन रखी थी तथा सफेद ही चोली भी थी । बिना किनार की सादी-सफेद भूषा उसे सदा

गर्मियों के लम्बे उदास दिन सी ही लगती है। जिजी उसे ज्येष्ठ-वैशाख की मालवी नदियों सी ही कृशकाय लगी। जिजी के मुख पर इतने अधिक भाव थे कि वह उस सूत्र को नही पकड़ पा रही थी, जो कि माँ होता है। क्या यह उसकी माँ का मुख है? क्या माँ का मुख गर्मियो में भुनसे बबूल सा होता है? दुर्गा इस मुख को गत अठारह वर्षों से देखती आ रही है। जब वह बच्ची थी तब माँ का स्तन मुँह में लिये टुकुर-टुकुर ताकती रहती थी। कितना मीठा होता था माँ का दूध। जब कभी सिर धोने के लिए काली मिट्टी गलायी जाती और जब वह फूल कर सिलेटी रंग की हो जाती थी तब उसे खाना कितना स्वाद देता था और सब यही जिजी-मुख उस मिट्टी खाने पर कैसे मारता था। चक्की चलाते, दही बिलोते, कंडे पाथते किस-किस रूप में कैसे-कैसे इस जिजी-मुख की स्मृति दुर्गा के अन्तस में सुरक्षित थी। माँ की कितनी ही स्मृतियाँ उसे प्रपात-जल सी आद्यन्त भिगोये हुए है। यही वह मुख है जिससे रामायण-महाभारत, कुल-परिवार तथा स्वयं उसकी अपनी कष्ट-गाथा सुनी है। जाड़ो की रातो में चटाइयों पर बिस्तर बिछाकर गोदड़ों-लिहाफो में घुस कर भाइयो के साथ वे सब माँ के बचपन की कष्ट-गाथा कितने तन्मय होकर सुनते थे। ननिहाल का गाँव, नाना, नानी की ढेर सी बातें ही बातें जैसे बेर के पेड में खूब बेर ही बेर है।""कितनी सारी बातें दुर्गा अपनी स्मृति में संजाये हुए है। कितनी रात हो गयी होती। पश्चिम की ओर की दीवाल में जो गवाक्ष है उसमें से जाड़ों की चाँदनी, ठण्डी हवा बरसात में झींगुरों का झन्नाना सब आते। उसमें से झाँकने पर दूर तक कैसी ठण्डी चाँदनी में सारा दृश्य भीगा-गीला लगता और मन चने के खेतों पर से चिड़ियों सा दूर उड जाने को करता। हवा में नाक कितनी ठण्डा जाती। जिजी सिगड़ी (मिट्टी की खुली अँगीठी) में दूध के टापू (बाटियाँ) बनाती होतीं। जिजी सुनाती होती कि गाँवो में धाड़े (डाके) पड़ते तो कैसे उनकी माँ तलवार पास में रखकर सोती थी। सारे बच्चे दूध में सने आटे की बाटियाँ खाते हुए अपनी माँ, नानी की कथाओं में डूबे होते। दीवाल पर केसर के लम्बे तिलक सी चिमनी की लौ का मन्द मीठा प्रकाश लिखा होता। आँगन के पार गाय-बैलो की गलघंटियाँ कभी-कभी टुनटुना जाती। कथा का प्रवाह जब टूटता तो यही जिजी-मुख ऐसा ही लगता जैसे कोई भित्तीचित्र धुँधला पड़ गया हो। कैसे तब वह उस मुख की वास्तविकता या यथार्थता को पकड़ना चाहती होती और बातें भीतरे बालों सी उलझ-उलझ पड़ती। दोपहर में नदी या खाल पर कपड़े धोते जिजी कैसी धूप में खड़े केवड़े सी लगती। माँ की गन्ध किसी सम्बन्ध में नहीं होती। मीलो लम्बे रास्ते की निर्जनता के बाद जब कोई छोटी नदी मिल जाती है तो कैसी ही दुःसह यात्रा कितनी आश्वसितपूर्ण होती है। इसी प्रकार कथा सुनते-सुनते अपनी कथा-वचक माँ को बीच-बीच में अनुभव करना वैसा ही लगता। माँ ने अपनी कथा ऐसी सटीकता से सुनायी है कि दुर्गा उस सब को वैसे ही दुहरा सकती थी जैसे सब कुछ उसी के साथ घटित हुआ है""क्या, यह उसकी अपनी उसी जिजी का मुख है? क्या एक ही व्यक्ति में अनेक व्यक्ति नही हुआ करते? बल्कि ऐसे भी, कि हमें वर्षों बाद भी यह लगे कि इस व्यक्ति को हम नही जानते। बड़दा ने हाथ के सहारे से जिजी को ताँगे से उतरने

में सहायता दी। वैसे भी जिजी कोई विशेष अलंकार नही पहनती रही थी। परन्तु पहली बार समस्त अलंकारो से हीन, मात्र भूषा में जिजी को देखा तो स्वत: ही काफी उलझन हुई। किसी का न पहनना एक बात हैं परन्तु न पहने देखना दूसरी बात हैं। अपने ही रक्त के प्रति गुरुत्वाकर्षण होता है। एक ही रक्त जब विभाजित हो जाता है तब वे आपस में प्रतिआकर्षित होते हैं। माँ जब ओटला (चबूतरा) चढ रही थी तब दुर्गा को वैसी ही हुमस हुई जैसे शाम को जगल से लौटी अपनी माँ को देखकर बछडे को हुमस होती है। बछडा तो स्पष्टत: खूँटे से बँधा होता और दिखता है, परन्तु दुर्गा क्यों नही ऐसे हुमस पायी ? बछड़ा कैसे माँ के स्तनो में ठूँसा मारना चाहता है और चाहता है कि माँ उसे न केवल सहन ही करे बल्कि उसे चाटे भी। अपने ही रक्त के प्रति यह आकर्षण कितना मार्मिक होता है। माँ ने जिस प्रकार दुर्गा की ओर देखा, उससे लगा कि जैसे वह प्रवाहित नदी थी और दुर्गा पोखर में घिरा छोटा जल थी। माँ ने उसे जिस प्रकार अपने अक में समेटा वह ठीक वैसा ही था जब कोई छोटा जल, बडे जल में मिलने पहुँचता है। बड़ा जल अपने विशाल जलत्व को इतना मसृण कर लेता है कि छोटे जल को यह बोध ही नहीं हो पाता कि वह सदा के लिए विलीन हो रहा है,। बस, घेर-घेर लेता है। जिजी में दुर्गा भी वैसी ही तदाकार हुई जैसे महाप्रकाश में दीप का नन्हा प्रकाश तिरोहित होता है। कब तक वह तदाकार रही या रहती, नहीं कहा जा सकता था, परन्तु बुआ-माँ ने दोनो को पृथक किया। यह उनकी चेष्टा ही थी क्योकि क्या दो जलो को या दो प्रकाश को पृथक किया जा सकता है ? बेटी, माँ के लिए रो रही थी अथवा माँ, बेटी के लिए रो रही थी, कहना कठिन था। सम्भव है, दोनो किन्हीं औरों के लिए क्रन्दित हो। कितनी बड़ी मानवीय विवशता होती है जब यह होता है। विचार, विचारो की स्मृति मन में घिरती है और कैसा श्रावण झिरझिराने लगता है। प्रत्येक रध्र अपना-अपना जल लेकर कैसा प्रस्तुत लगता है और हमारा मन उसमें बह उठता है।

दो-तीन दिन तक तो श्रीमती गोदावरी देवी की समझ में यही नही आया कि बेटी से क्या पूछें, और क्या कहें ? लगता था कि वाचा ही नही है। जो कुछ है वे आँखें ही हैं और आँखें, केवल बरसना जानती है, और अश्रु, अधिक से अधिक मन्न हो सकता है, समस्त भाषा तो नही ही। दुर्गा को भी आश्चर्य बना रहा कि क्या यह जिजी है ? जिजी का जो चित्र उसके मन में था वह कर्मरत स्त्री का चित्र था। लेकिन इस बीच जिजी बिलकुल बदली लग रही थी। कभी इतनी विवश वह पहले नही दिखी। जिजी से बाते करना तो दूर उनकी ओर देखना भी कठिन लग रहा था। सामना होते ही वह अश्रु-पूरित लगती। दुर्गा समझती है कि जिजी पर कितना कुछ गुजरा है तभी तो वह ऐसी हो गयी है। वह उन असाधारण स्त्रियों में थी जो कैसे ही सकट में कभी विचलित नही होती है परन्तु कोई भी क्या सदा असाधारण बना रह सकता है ? तीन दिनो के बाद श्रीमती गोदावरी देवी में स्वत: विवेक के आसार दिखे। जैसे अनेक दिनों की मेघाच्छन्नता के बाद आकाश का नीलापन किसी कोने में दिखलायी देने लगे।

चौथे दिन दुर्गा रात में छत पर बिस्तरे कर रही थी तभी सीढियों पर पदचाप सुनायी दी।

वह समझी वसु-दीदी होगी। आज बुआ-माँ के घर के सारे लोग धर्मशाला में किसी जाति-भोज के लिए गये थे। श्रीमती श्यामा देवी ने चाहा तो था कि दुर्गा और श्रीमती गोदावरी देवी भी चलें पर दोनों नही गयी। माँ का सामना दुर्गा नही करना चाहती थी क्योंकि वह अपने से ही सामना करना होता, अत: वह बडी देर तक अकेली ही छत पर टहलती रही। उपरान्त उसने सोचा कि वह बिस्तरे ही लगा दे, कुछ काम हल्का ही होगा। अत: जब सीढ़ियों पर पदचाप सुनायी दी तो उसने पीठ किये ही कहा,

— बडी जल्दी लौट आयीं वसु-दीदी!

श्रीमती गोदावरी देवी चुपचाप आकर खडी हो गयी। जब दुर्गा को अपनी बात का कोई उत्तर नहीं मिला तो वह झटके से मुड़ी। जिजी को हठात इस प्रकार सामने खडा देखा तो वह चौंकी। चतुर्दशी की चाँदनी थी। पूरी चाँदनी छिटकी हुई थी। बिस्तरों की सफेद चादरें खूब निखर आयी थी। दुर्गा को सहसा कुछ समझ में नही आया कि वह जिजी से ऐसे में क्या कहे? कुछ क्षण के जैसे दोनो ही एक-दूसरे को टोह रही थी परन्तु तब श्रीमती गोदावरी देवी स्वयं ही बोली,

— बिस्तरे हो गये सब?

— हाँ, आओ, बैठो जिजी!

श्रीमती गोदावरी देवी बिस्तरे पर बैठते हुए बोली,

— शिवशंकर लौटने के लिए कह रहा था?

— ऐसी क्या जल्दी है?

— नही दुर्गा! गाँव सारा खाली हो गया है। घर किसके भरोसे इत्ते दिन अकेले छोड़ा जा सकता है?....तेरी बुआ-माँ बता रही थी कि तेरी सास तेरे बिदा न कराने पर बडी बिगड रही थी।

— जिजी! तुम इन सब बातों की चिन्ता न करो।

— चिन्ता क्यों न करूँ बेटी!... पर देखो, कैसे सब चटपट हो गया।

और श्रीमती गोदावरी देवी ने गहरी निश्वास ली। दुर्गा को डर लगा कि कही जिजी फिर न रोने लगें, पर दुर्गा अपनी माँ को जानती ही कितना है? व्यक्तित्व के रेशे यों ही आकर्षण और दबाव नही सहन करते है।

— जिजी!

— क्या?

— मैं भी गाँव चलना चाहती हूँ।

— ऐसी क्या जल्दी है?....और दुर्गा! गाँव एक तरह से उजड़ चुका है। अब वहाँ क्या है?

और दुर्गा को लगा कि जैसे वह गाँव के छतहीन घर ही नही लोगों की उजड़ी मनःस्थिति को भी देख रही है।

— ऐसा क्यों कहती हो?

— अब वहाँ रहने को मन नही करता। सब भाँय-भाँय लगता है। न जाने कितने घर

पूरे के पूरे उजड़ गये। घर है तो रहने वाले नहीं है।....अभी कुछ दिन ठहर। तेरी अगरनी (गर्भवती स्त्री के लिए सातवें मास में किया जाने वाला संस्कार) पर तुझे वहाँ ले चलूँगी।

दुर्गा हतप्रभ से अधिक झेंप गयी। उसकी समझ में नहीं आया कि वह जिजी के सामने किस प्रकार बैठी रहे। वह उठने को उद्यत हुई। श्रीमती गोदावरी देवी ने कहा,

— दुर्गा, कल मैं तेरी ससुराल हो आऊँगी।...मैं सोचती हूँ कि वे लोग तुझे मेरे सामने ही यहाँ से लिवा ले जाएँ। चाहती तो मैं यही हूँ। बार-बार गाँव से आना हो नहीं सकेगा और फिर तू कितने दिन बुआ के घर रहेगी ?

— तो मुझसे क्या सलाह कर रही हो ?

— तो अब किससे करूँ ? अब कौन रह गया है ?

— बड़दा से पूछो न ?

— तेरे इस बड़दा ने तो मेरी नाक में दम कर रखा है।

— क्यों, क्या हुआ ?

— होता क्या ? पहले ही यह कौन कम वीतरागी था और अब तो एकदम ही बदल गया है। यह ठीक है कि सारी गृहस्थी, खेती-बाड़ी, खेत-खलिहान सब सम्हाल लिये है पर लगता है कि वह मन से और अधिक खोया-खोया रहने लगा है। सिर्फ हाथों से ही गृहस्थी हुआ है। रात में देर तक गायत्री का जप करता रहता है। सवेरे भी चार बजे से केवडा-स्वामी चला जाता है। पूजा-पाठ करता है। मेरी तो कुछ भी समझ में नहीं आता कि वह चाहता क्या है। अब वह इतना अधिक गम्भीर हो गया है जैसे पचास बरस का हो। घर का पुत्र नहीं, पिता हो। वह घर के कामों में भी इतना खटता है कि उससे कुछ भी कहते नहीं बनता।

दुर्गा ने अपनी जिजी में अपने सन्दर्भ में यह एक घोषित परिवर्तन पाया कि वह अब उससे अनेक बातें करने लगी है। इसके पूर्व वह उससे 'यह कर', 'वह कर' से अधिक कुछ नहीं कहती थी, परन्तु उसे अब जिजी गम्भीर लेने-लगी है। दुर्गा को यह व्यवहार अच्छा लगा। वह बोली,

— बड़दा का साधु स्वभाव तो पहले ही से है।

— हाँ लेकिन दुर्गा ! जब तक पिता की छाया सिर पर थी तब तक दूसरी बात थी।

— क्यों, क्या माँ की छाया भी वैसी ही नहीं होती ?

— नहीं, नहीं होती। अब शिवशंकर की छाया हम सब पर है। अब वह घर का स्वामी है। इसीलिए मुझे डर लगा रहता है।

— किस बात का डर ?

— पता नहीं, किस बात का। पता नहीं भगवान अभी और न जाने कौन सी परीक्षा लेना चाहते है।

— यहाँ भी बड़दा जब से आये है तब से पता नहीं दिन भर न जाने कहाँ रहते है।

— जाने कहाँ क्या !! घर मे रह कर चला था कि वह महाकाल मन्दिर में अपना कुछ

जप-तप करेगा और उसमें कोई विघ्न नहीं डालेगा।
जिजी की इस बात से दुर्गा की अपनी माँ के भय का हल्का सा बोध हुआ। वह भी काँप उठी।

— जिजी!
— क्या ?
— बड़दा का ब्याह कर दो अब।
— अगले बरस करने की सोच रही हूँ।
— बुआ-माँ से कुछ बात हुई इस बारे में ?
— हाँ। यहीं उज्जैन की एक लड़की बतायी है।
— लड़कियाँ तो बहुत मिल जाएंगी बड़दा के लिए। बड़दा राजी है ?
— भला अभी इस बारे में उससे कोई बात की जा सकती है क्या ?
— तो फिर तुम यह लड़की देखती भी जाओ।
— हाँ ऽऽ, ये ही दो-चार काम हैं,
— क्यों जिजी ! यह हो सकता है क्या ?
— क्या ?
— *गाँव का सब कुछ बेच-बाचकर तुम लोग भी यहीं आ जाओ। अरे सरकार ने बाबा* के लिए मनाही की थी। तुम लोग तो अब आ ही सकते हो।
— लेकिन देवपूजा की जमीन बेची थोड़े ही जा सकती है।
— माफी की यह जमीन है ही कितनी ? दूसरी कित्ती ही जमीनें हैं, उन्हें ही बेच दो। अब वहाँ गाँव में जब मन नहीं लगता है तो रहने से लाभ ?
— घर-जमीन कहीं इस तरह बेचे जाते हैं पगली ? कुछ हो, अपना गाँव है। अपने गाँव की हवा भी अपनी ही होती है दुर्गा ! यहाँ आकर क्या करेंगे ? कल जब शिवशंकर की गृहस्थी बसेगी, चार बाल-बच्चे होंगे तो उन सब का लालन-पालन कैसे होगा ? और फिर इत्ता बड़े शहर में बिना काम-धन्धे के कित्ते दिन कोई रह सकता है ? तुम्हारे घर की तरह तो कोई हमारा काम-धन्धा तो है नहीं।

दुर्गा ने स्पष्ट अनुभव किया कि जिजी उससे अब बिलकुल बराबरी से बातें करती हैं और किस पराये भाव से बातें करती हैं। अभी एक माह पूर्व तक दुर्गा उनकी थी और अब एकदम से काट फेंक दिया है। लड़की कितनी जल्दी परायी हो जाती है अथवा कर दी जाती है। सृष्टि में नारी ही विभाजित होती आयी है—एक से अनेक।
नीचे सड़क पर ढेर सारे लोगों का बोलना तथा स्त्रियों के चलने से उनके गहनों की आवाजें आ रही थीं। शब्द और स्वर का रेला जैसे बहा जा रहा था। तभी नीचे से पण्डित बैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी की पुकार आयी,

— दुर्गा !
— आयी फूफाजी !

श्रौर दुर्गा दरवाजा खोलने के लिए नीचे चल दी।

पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी, श्रीमती श्यामादेवी तथा श्रीमती गोदावरी देवी में बडी रात तक मंत्रणा होती रही। इधर चाँदनी में विस्तरों पर लेटे हुए वसुन्धरा श्रौर दुर्गा बतियाती रही। सबके श्रपने-श्रपने वृत्त, जो मिलकर परिवार-कुटुम्ब के बडे परिवृत्त बनते हैं श्रौर ये ही संसार-चक्र के श्रारे हैं।

दूसरे दिन रविवार था। ऐन मौके पर श्रीमती श्यामादेवी त्रिपाठी ने यही उचित समझा कि शुक्ल जी के यहाँ केवल वे दोनो ननंद-भाभी ही न जाएँ बल्कि शिवशंकर तथा उनके पति भी साथ चलें। जिस समय ये लोग शुक्ल जी के यहाँ पहुँचे पण्डित महादेव शुक्ल अपनी बैठक में कुछ यजमानों के साथ व्यस्त थे। यदि त्रिपाठी जी साथ में न होते तो पण्डित महादेव शुक्ल के लिए शिवशंकर आचार्य को चीन्हना कठिन हो जाता। श्रीमती श्यामादेवी और श्रीमती गोदावरी देवी दोनों भीतर चली गयी। त्रिपाठी जी को देखकर शुक्ल जी तुरन्त बोले,

— आइए, आइए, धन्य भाग आपके दर्शन तो हुए। अरे, शिवशंकर जी, कब आए?

— परसों ही ये लोग आये हैं।

— क्या इनकी माता जी भी आयी है?

— हाँ, ननँद-भौजाई दोनों ही तो अन्दर गयी है।

— अच्छा, अच्छा बैठिए।

मुसकराते हुए तकियों की ओर संकेत किया, पुनः बोले,

— जरा इन लोगों का प्रवन्ध कर दूँ।

— अवश्य, अवश्य।

— हाँ, तो श्रीमान! ब्राह्मण-भोजन वही भैरोगढ में करवाना हो तो ऐसा कहें। इक्कीस, इक्कावन, एक सौ एक जितने ब्राह्मण कहे। आप जैसा कहेंगे वैसा ही प्रवन्ध हो जाएगा। अपनी श्रद्धा और मर्यादा दोनो के अनुरूप कार्य होना चाहिए। आपकी स्वर्गीया मातुश्री रतलाम के वैश्य-समाज की सिरमौर थी। कैसी पुण्यात्मा थी। आज चार पीढ़ियाँ देखने का सौभाग्य और पुण्य बिरलों को ही प्राप्त होता है। आपके घर की अचला लक्ष्मी उसी देवी के प्रताप से है सेठ जी! अब आप जैसा

उचित समझें। हाँ, वह लिस्ट किसके पास है न ?
— छोटे पण्डित जी को दी थी।
और पण्डित महादेव शुक्ल ने त्र्यम्बक को आवाज दी। त्र्यम्बक शायद बाहर जाने की तैयारी से निकले थे। त्र्यम्बक ने आते ही त्रिपाठी जी और शिवशंकर को सामान्य रूप से नमस्कार किया। पिता ने पुत्र से कहा,
— पहचाना भी, या यों ही नमस्कार किया ?
सच ही त्र्यम्बक शुक्ल ने शिवशंकर आचार्य को नहीं पहचाना था। समझा कि कोई मिलनेवाला होगा। इस पर त्रिपाठी जी बोले,
— त्र्यम्बक ही नहीं, कोई भी भला एक बार और वह भी विवाह की अफरातफरी में देखकर कैसे पहचान सकता है ?—अरे ये तुम्हारे बड़े साले पण्डित शिवशंकर आचार्य हैं।
परिचय जानकर त्र्यम्बक ने इस बार थोड़े झुककर तथा आगे बढ़कर नमस्कार किया। आयु में कोई विशेष अन्तर नहीं था, पर पद की मर्यादा का प्रश्न था।
— त्र्यम्बक, सेठ जी की लिस्ट पूरी तैयार है न ?
— जी हाँ।
— तुम ऐसा करो कि इन लोगों को बजाजे में दूकान दिखा आओ। ये लोग तब तक खरीदें, तुम फिर लौट कर चले जाना।—क्यों श्रीमान ! जरा ये लोग आये हैं इसलिए आप लोग स्वतः कुछ कपड़ा-लत्ता खरीदें तब तक त्र्यम्बक आ जाएगा।
— कोई बात नहीं। हम खुद ही चले जाएँगे।
— नहीं, ऐसे कैसे हो सकता है। जाओ तो बेटा ! जल्दी करो।
और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के साथ यजमान लोग चले गये। उपरान्त पण्डित महादेव शुक्ल बोले,
— आप परसों पधारे और हम लोगों को आज खबर हुई ?
पण्डित शिवशंकर आचार्य को बोलने का मौका न देकर त्रिपाठी जी बोले,
— परसों रात तो ये लोग आये ही। कल सोचा था कि आपसे धर्मशाला में भेंट होगी तो सूचित कर दिया जाएगा पर आप तो आये नहीं।
— त्रिपाठी जी ! भाई, आप बुरा न मानें तो एक बात कहूँ।
— आप एक नहीं दस कहिए महाराज !
— यह जो कुछ आप कर रहे हैं ठीक नहीं है।
— कौन सी बात ?
— अरे यही, और कौन सी ?
— आप साफ-साफ कहें न।
— इन छोटी-सम्भावालों के साथ बड़ी-सम्भावालों का खानपान आरम्भ करवा कर आप लोग अच्छा नहीं कर रहे हैं। मैं कहता हूँ तड़ (भेद) पड़ जाएगी।
— शुक्ल जी ! आप भी क्या दकियानूस बातें ले बैठे।

— आज खानपान है तो कल से ब्याह-शादी भी होगा, है न ?

— जरूर होगा साब ! और क्यों नही होगा ? आप ही सहस्रोदीच्य ब्राह्मण है ? आप ही के पुरखो को कन्नौज से मूलराज सोलंकी यज्ञ के लिए गुजरात ले गये थे ? आप तो उन असली कान्यकुब्जो में से है जो गुजरात में 'एक हजार उत्तर भारतीय ब्राह्मण' कहलाये और ये लोग कौन हैं—शूद्र या चाण्डाल ? ?

— तो आप सीधे-सीधे कहिए न कि आप जाति-सुधार का बीड़ा उठाये हैं दयानन्द जी की तरह ।

— आप हमारी बात का जवाब दीजिए । यह जाति-सुधार या जाति-पतन है, यह बाद की बात है । गुजरात के ब्राह्मण अलग, राजस्थान के ब्राह्मण अलग, उत्तर भारत के ब्राह्मण अलग । शुक्ल जी ! ब्राह्मणों के पतन का एक मात्र यही कारण है कि हम तो श्रेष्ठ और दूसरा निकृष्ट । वाह महाराज ! खूब न्याय है यह । अरे, ये भेद करते जाएँगे तो स्थिति यह आ जाएगी कि कार्तिक-चौक के अलग, सिंहपुरी के अलग, मगरमुँहा के अलग, अब्दालपुरे के अलग और भागसीफला के अलग । करते जाइए टुकड़े । मसल सुनी नही कि आठ कनौजिए नौ चूल्हे । आखिर तो खून वही है न ? इतना लम्बा प्रयास किया, इतनी मार खायी फिर भी कनौजिया-अक्खडता कैसे जा सकती है ?

पण्डित महादेव शुक्ल कुछ जवाब देने की सोच रहे थे कि तभी दरवाजे की कुण्डी बजी ।

— क्षमा करें खजान्ची साब ! अभी आया ।

शुक्ल जी का घर बहुत पुराने ढंग का था । बीच में सहन तथा चारो ओर कमरे । सहन के ऊपर जँगला था । जँगले से ऊपर देखने पर ही पता चलता था कि दो जँगलें और ऊपर इसी प्रकार थे । ऐसे घरों की विशेषता यह होती है कि गर्मियों में काफी ठण्डे रहते है । पक्के सहन में बीचोबीच तुलसी-क्यारा था । एक ओर दीप-स्तम्भ बना था । पथरीले मकान के कारण गर्मी का प्रभाव न कुछ के बराबर था । पण्डित महादेव शुक्ल लौटते हुए बोले ।

— आइए, ऊपर चलें ।

पण्डित शिवशकर आचार्य को अपनी बहन का यह घर कुछ अजीब सा लगा । जीने पर चढने के लिए दीवार में ऊपर से नीचे एक रस्सी बँधी थी जो कि लोगों के बारम्बार हाथो से पकड़े जाने के कारण चिकनी और काली हो गयी थी । काफी खडी-खडी सीढियाँ थी । ऊपर भी लगभग वैसे ही कमरे थे जैसे कि नीचे थे । अन्तर केवल यही था कि नीचे जितना अँधेरा लग रहा था वैसा नही था । नीचे की बैठक के ठीक ऊपर वाला कमरा झँझरियों के कारण खुला था । इसी कमरे में पाट और पत्तलें लगी हुई थी । कोने में ताँबे के बम्बे में पानी की टोंटी लगी हुई थी । पास ही तार पर लाल गलना (गमछा) सूख रहा था ।

पण्डित महादेव शुक्ल ने बम्बे की ओर संकेत करते हुए कहा,

— चलिए, हाथ धो लीजिए।

— यह सब क्या शुक्ल जी ? लड़की के घर भला कोई पानी भी पीता है ? पण्डित वैकुण्ठ नन्दन त्रिपाठी ने कहा।

— नहीं महाराज ! लड़की के घर का नही खिलाया जाएगा। गोवर्धननाथ जी के मन्दिर का प्रसाद तो ग्रहण करेंगे न ?

भला प्रसाद का तिरस्कार कोई कर सकता था ? और सच ही 'ठाकुरजी' का प्रसाद ही आया ! ठौड़ और बासूंदी थी। पान तक "प्रसादिया" ही था। वहीं पर दरवाजे की ओट लेकर श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल आकर खड़ी हो गयीं और अपने पति से बोली,

— क्यों, आपने शिवशंकर जी से पूछा कि सब "कारज"—यथायोग्य हो गया कि नहीं ?

— अरे, अब बैठा जाएगा तब न सब हाल-चाल पूछा जाएगा। तुमने अपनी समधिन को सब बताया ही होगा कि कैसी कठिनाई थी कि उस समय हमारे यहाँ से जाने वाला कोई था नहीं और खजाची साव ! त्र्यम्बक की जिजी तो जाने के लिए जाने कितना कलपती रही। कैसा समय था वह भी।

पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी बोले।

— वो तो ऐसा समय था महाराज ! कि सब को अपनी-अपनी पड़ी थी। खैर, वो तो जो हुआ सो हुआ उस पर मनुष्य का क्या बस था परन्तु अब शिवशंकर की जिजी का यह आग्रह है कि एक-दो दिन में ही आप अपनी बहू को विदा करवा ले।

— ऐसा क्या जल्दी है महाराज ? माना कि हमारी बहू है पर वह भी अपने घर दो-चार दिन रहना चाहती होगी। अभी विदा करवाएँ और फिर चार दिन बाद राखी पर भेजना पड़े इससे क्या फायदा ? मैं तो यही सोचती हूँ कि राखी के बाद ही देवोत्थानी-एकादशी करके बहू को बुलवाया जाए। मैंने तो शिवशंकर जी की जिजी से भी यही कहा, अब आप लोग जैसा फैसला करें।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल की बात पर त्रिपाठी जी बोले।

— वैसे आपकी बात ठीक है। मैंने भी भाभी से यही कहा कि दुर्गा को अभी वापस ससुराल भेजने की क्या आवश्यकता है ? वह कहती है कि वह उसे गाँव नहीं ले जाना चाहती है, तो दुर्गा की बुआ ने कहा कि उसे गाँव भेजने के लिए कहता कौन है ? यहीं रहे। गाँव में अब धरा भी क्या है ? वहाँ जाएगी तो न जाने क्या-क्या याद आएगा। यह देखेगी, वह करेगी तो सब याद आएँगे। पर इन लोगों का कहना है कि गाँव से बार-बार नहीं आया जा सकता। घर में अब दूसरा देखने-सुनने वाला कौन बैठा है ? यह माँ और यह बेटा। अब दो जने क्या-क्या करें, है न ? खेत-खलिहान देखें या घर-दुआर। वैसे मैं आपसे स्पष्ट बता दूँ कि मैं दुर्गा को अभी विदा करने के बिल्कुल पक्ष में नहीं हूँ।

तभी दरवाजे की ओट से श्रीमती गोदावरी आचार्य बोली,

— ननंदोई जी ! हमारी तरफ से प्रार्थना कर दे कि हम तो उसी दिन कह चुके थे कि

अब दुर्गा के पिता और ससुर दोनों यही हैं। उसकी सास और माँ इसी घर में हैं, परन्तु इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि हमारा जो उचित कर्तव्य है उसका हम पालन नहीं करेंगे। जहाँ तक इन बच्चों की बुआ का प्रश्न है, तो वह घर तो अब है ही। हमारे घर में अब क्या धरा है? फिर भी रीति की बात होनी ही चाहिए। क्वांर महीने में हम लोगों को खेत-खलिहान का काफी काम रहता है। वैसे हम आपकी आज्ञा से बाहर नहीं। आप जैसा कहेंगे वैसा ही हमें करना होगा। राखी पर भेजकर क्या होगा? राखी पर शिवशंकर ही यहाँ चला आएगा। कर्तव्य-पालन करते रहेंगे, पर दुर्गा जिस घर की है अब उसे वहीं रहना चाहिए। वैसे उसकी यहाँ बुआ है। आप और ननँदोई जी जब चाहें उसे भेजें, बुलावालें, पर यह अलग बात हुई। अपने मन की बात तो यही है कि भगवान ने चाहा तो उसे अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार उसकी अगरनी घर ही ले जाएँ। हमारी तो यही कामना है कि वह इस घर में आप सब की सेवा करे। यदि आप लोग उससे प्रसन्न रहे तो वह उसके लिए अच्छा है, हमारा क्या। हमारा तो तीज-त्यौहार का ही अब सम्बन्ध है, वह भी आपकी इच्छा पर है। लड़की तो हाथ का तोता है, एक बार उडा तो बस आकाश ही है।

श्रीमती गोदावरी आचार्य की बात इतनी सटीक और विनम्रपूर्ण थी कि कोई क्या कहता? फिर भी श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल ने कहा,

— जहाँ तक अगरनी का प्रश्न है तो अभी तो भगवान ने वह दिन दिखाया नहीं। पहले ऐसा अवसर आये तो। रीति तो यही है कि पहली अगरनी तो माँ के यहाँ ही होती है। मैं तो सोचती थी कि गाँव-देहात में तब कैसे क्या हो सकेगा....खैर ...लेकिन क्यों जी? इधर कोई मुहूरत है भी?

इस पर त्रिपाठी जी बोले,

— आप इसकी बिलकुल चिन्ता मत करिए। यह पण्डित शिवशंकर जी अपने एक नम्बर के ज्योतिषी हैं। उस पर हम लोग पण्डित सूर्यनारायण जी व्यास से भी मुहूर्त निकलवा लाये हैं। एकदम बढ़िया चौघड़िया है परसों शाम छह से रात के नौ बजे तक।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल बोली,

— इत्ती जल्दी कैसे कुछ हो सकता है? न तेड़ा दिया किसी को, न बताशे, न कोई तैयारी। परसों कैसे हो सकता है जी?

बात स्पष्टतः पति पण्डित महादेव शुक्ल से कही गयी थी। वह कुछ उतावले नजर आ रहे थे। बोले,

— अब तुम बेकार की बहस मत करो। एक बात जब तय हो गयी कि परसों बहू को विदा कराना है तो बताशे, तेड़े वगैरा में क्या रखा है....पता नहीं यह त्र्यम्बक न जाने कहाँ रह गया। कहा था कि उन लोगों को दुकान पर छोड़ कर तुरन्त लौट आये।

सब उठने लगे तो त्रिपाठी जी बोले,
— तो फिर परसों का तय रहा न ?
बात का उत्तर पण्डित महादेव शुक्ल ने दिया,
— खजाची साव ! हम लोग कभी आपकी बात से बाहर हैं ?....शिवशंकर जी ! क्या आप भी चल दिये ? आप तो कुछ बोले ही नहीं ?
— बड़ों की बातों में बीच में बोलना शोभा नहीं देता। अच्छा, प्रणाम माता जी !
श्रीमती कृष्णादेवी ने आशीर्वाद देते हुए कहा,
— सुखी रहो।
शिवशंकर ने पीठ की ओर से आते इस आशीर्वाद को बहुत ध्यान से संभवत. नहीं सुना क्योंकि उसका ध्यान सीढ़ियों और पकड़ने वाली रस्सी की ओर था।

पहली बार दुर्गा को अनेक बातों की अनुभूति या प्रत्यक्षता हुई। जानकर अथवा सुनकर कष्ट की यातना अथवा व्यथा का अनुभव, यथार्थ के कष्ट-अनुभव से न केवल सर्वथा भिन्न ही होता है अपितु गुणात्मक रूप से विपरीत ही होता है। भोगना, विचारों से नहीं होता। भुगतना एक प्रक्रिया होती है। देह उसका माध्यम है। उस प्रक्रिया के बारे में मानसिकता का निर्माण भोगने के बाद ही संभव है। माघ में ठण्डे जल का स्नान, यह एक वैचारिक दृष्टिकोण नही वरन सर्वथा एक ऐसी प्रक्रिया है जो देह को उसके जड़मूल तक सिहरा दे सकती है। दुर्गा को भी बहू होने की यातना का अनुभव नहीं था, ज्ञान था। ज्ञान और अनुभव दो भिन्न वस्तुएँ हैं। कभी-कभी सर्वथा भिन्न भी हो सकते है।

इस बार जब वह बुआ-माँ के घर से विदा होकर आयी तो उसे वैसा ही लगा जैसे कि दूध पीते बछड़े को अधपेट ही ग्वाला हटा देता है। उसने अनुभव किया कि जिजी, दादा, बुआ....सब कितनी विवशता से रोते हुए मौन खड़े थे। विवाह के बाद अन्य दुःख इतने मिश्रित थे कि अपना व्यक्तिगत दुःख स्पष्ट ही नही हो सका था, पर इस बार तो केवल अपना ही दुःख था। वैसे बहुत स्पष्ट तो नही कुछ सोच पायी पर उसे लगा कि क्या सर्वथा विदेह हुआ जा सकता है? उसे लगा कि वह स्वयं में दो है। एक वह जो, कि उसकी देह है जिस पर नाना प्रकार के अंकुश है। जिसे विवाहा गया है। जिसके अपने जाने कैसे-कैसे सम्बन्ध है। और दूसरी वह है जो, इस देह से परे सर्वथा उन्मुक्त है—जैसे यह धूप, हवा, आकाश है—जो कि स्वच्छन्द, निरानन्द, सम्बन्धहीन, चिलम्प में परिव्याप्त हैं। वह नही जानती कि अपनी इस भावना को वह इस प्रकार की भाषा में सोच सकी थी या नही, पर बोध कुछ-कुछ इसी प्रकार का था कि वह समय के साथ निर्व्याज रूप में सतरित है। यदि व्यक्ति समय की भाँति अजन्मा, अक्षर और

ग्राप्रवाहित हो तो न दुःख, न सुख कुछ नही होगा। केवल अमूर्त सत्ता अपने निर्गुण रूप में केवल अपने लिए ही रहेगी। पर देह की वास्तविकता कितनी कठोर, निर्मम एवं अपरिहार्य होती है कि ऐसा सारा ज्ञान धराशायी हो जाता है। ज्ञान, प्राय: देह की दीवार से टकराकर कैसा विवश हो जाता है।

इस बार जब से वह आयी है तब से उसे अपनी सास में परिवर्तन लगा। निश्चय ही परिवर्तन सुखद के लिए नही था। इस बार भी जिजी और दादा ने लगता है अपनी सामर्थ्य से अधिक लेन-देन, में खर्च किया। इस बार वसुदीदी की बातों से वह 'बहुत कुछ' जान सकी और बूझ सकी। पर ऐसा जानना और बूझना उसे अव्यक्त ही उदास कर गया। नारी और पुरुष की वास्तविकता अब उसे स्पष्ट दिखायी देने लगी। अर्धनारीश्वर की कल्पना उसे आदर्श लगी और आदर्श सदा अप्राप्य होता है। वास्तविकता में तो लक्ष्मी, विष्णु के पैर ही दबाती हैं। राम के द्वारा सीता लांछित, उपेक्षित, तिरस्कृत, अपमानित जाने क्या-क्या रहती हैं। यह कैसी अमानुषिक अनिवार्यता होती है कि जिसके कारण विष्णु अपनी सारी विष्णुता के बाद भी कहीं न कहीं लक्ष्मी-कांक्षी हुए बिना नही रह सकते। उसे अपने भीतर कही सुदूर में बडी ही ठण्डी वितृष्णा हुई, पर उसे कुछ ही दिनों में अनुभव हो गया कि नारी का कैसा ही संन्यास-भाव पुरुष के निकट कोई अर्थ नही रखता। वह मात्र भोग्या है। विलास और संन्यास पुरुष के ही सन्दर्भ में अर्थ रखते हैं। स्त्री के भाग्य में केवल सनना ही है।

घर में ढेर सारा काम फैला हुआ था। करीब बीस सेर गेहूँ पीसना था। दस सेर चने की दाल दलनी थी। पापड का सारा काम फैलाकर सास तो चली गयी थी। कल रात ही तीन चार केलें कटवाकर मँगवा ली गयी थी ताकि उन्हें कूट कर पानी निकाला जा सके और तब पापड की पिट्ठी तैयार हो सके। यदि यह सब शाम तक न हुआ तो लौटने पर सास पूरा महाभारत मचा देंगी, यह उसे अब सब समझ में आने लगा था। रात में पति रोज देर से लौटते हैं उसके बाद आधी रात के पहले सोने को नही मिलता। उस पर चार बजे नियमानुसार उठना ही पडता है। एक परिवर्तन अवश्य पहली बहू के देहान्त के बाद से यह हो गया था कि अब खारा-मीठा दोनों पानी मोल से भराया जाने लगा था। फिर भी तीनों तल्ले की झाड़ू-बुहारू, चक्की पीसना, दही बिलोना, दूध-पानी कितने ही ऐसे काम थे जो कि सवेरे सात के पहले-पहले सब हो जाने चाहिए। आये दिन विशिष्ट यजमान बने ही रहते जिनका विशेष प्रबन्ध भी करना होता।

आज सवेरे जब वह उठी तो सिर हल्के से पिरा रहा था लेकिन उसने कोई ध्यान नही दिया। अब वह धीरे-धीरे समझने लगी थी कि नारी देह का धर्म ही है न कुछ पिराते रहना। वह बिस्तर से उठी और अँधेरे में ही टटोलती सीढ़ियाँ...

सहन के जँगले से रोज की भाँति ही देखा कि अभी तारे मटमैले होने के पूर्व की चमक में चमक रहे हैं। तुलसी-क्यारे के सामने एक पक्का दीपस्तम्भ बना था जिस पर म्युनीसीपल्टी की लैम्प की तरह की एक लैम्प रात भर जलती रहती थी, वह भी अब टिमटिमा रही थी। चक्कीवाली कोठरी में पहुँच कर चिमनी जला दी। परेंडी (पानी के घड़े रखनेवाली घड़ौंची) पर से करवे (ताँबें का टोंटीदार वैष्णवी लोटा) में पानी लिया और मंजन करने लगी। गर्मियों की सवेरे ठण्ढा पानी जितना सुखद लगता है, आज वैसा नहीं लगा। देह हल्के सुरसुरा उठी। अपने निकट भी, सास के शब्दों में यह अपना 'नखरा' लगा, और वह गेहूँ पीसने बैठ गयी। वैसे और भी घरों से पिसनहारियों के गाने की लय हल्के-हल्के आ रही थी। जिजी भी तो ऐसे ही गाती थी। उसने भी तो जिजी के साथ चक्की की मूठ पकड़कर प्रायः गाया है। वैसा रेला होता है न लय का ? जिजी लय उठाती और बीच ही में तोड़ देतीं। वहीं से वह कैसे उठा लेती थी। इधर चक्की की पाल सफेद, गरम, भुरभुरे आटे से भरी होती और उधर सूर्य की किरणें पीपल की फुनगियों पर होतीं। गीत की राह आज वह कैसे इस घर के पथरीलेपन से ऊपर उठ जाना चाहती है पर गीत या तो कण्ठ से फूटता ही नहीं या फिर फूटता भी है तो ऐसे लगता कि जैसे वह घर की अँधेरी दीवालों से बारम्बार अपना सिर कूट रही है। चक्की की मूठ पकड़े उसके हाथ घूमघूमकर उसकी देह में ही लौट आते हैं, ठीक वैसे ही गीत दीवालों से टकरा-टकरा कर उसी में लौट आता है। इसलिए प्रायः वह गुनगुनाकर ही रह जाती रही है। कैसे उसका मन चक्की की घरघराहट में शिशु की भाँति सो जाने को करता है। ऐसे में कैसी गुनगुनी नींद आती है कि जैसे रात भर नहीं सोया गया था। माँ की जाँघो पर सिर रख देने पर कैसी नींद आ जाती थी। माँ की देह का हिचकोला खाना भी नींद में बाधक नहीं लगता था। वह पीसते हुए खो गयी थी, इसका कारण यह था कि जो सिर, उठते समय मात्र पिरा रहा था वह इस समय काफी दुखने लगा था। और उसे लगा कि ऐसा सिर तो ज्वर में ही दुखता है। उसने उल्टी हथेली से अपना माथा छुआ पर कोई अपना ही ज्वर आँक सकता है ? वह फिर पीसने लगी। अभी आधा ही गेहूँ पिसा था पर क्रमशः उसे लगा कि चक्की की मूठ पर से उसकी पकड़ ढीली होती जा रही है फलतः हाथ में झटका लग रहा है। अपनी देह में बार-बार कसाव उत्पन्न कर वह मूठ घुमाती रही पर थोड़ी ही देर में और पीस सकना असाध्य लगा। सारा आटा परात में समेट वह डिब्बे में भर आयी। बचा गेहूँ कल के लिए कोने में सरका दिया। सवेरा हो चुका था। घर के सारे लोग जाग चुके थे। सासुमाँ मन्दिर जाने के लिए तैयार थीं।

— बहू !

— जी।

— आटा तो हो गया न ?

— जी।

और वह झूठ बोल गयी।

— ठीक से सब ढँक देना। मैं तो मन्दिर से सिंहपुरी चली जाऊँगी। शाम तक लौटना होगा। यो देखो, चने की दाल तो दलनी है हो। पापड़ का भी काम है। यहाँ-वहाँ कहीं बैठती मत फिरना, समझी !! सूखते पापड़ों पर नजर भी रखना, यह नहीं कि चील-कौवे ही खा जाएं। शाम तक सब हो जाना चाहिए।

— जी, अच्छा !!

और सारा काम सहेज कर 'सासूमाँ' चली गयीं। जाने क्यों उसे सास के जाने से डर भी लगा और निश्चिन्तता भी लगी। सम्भवतः इस घर में पहली बार बिना सास की उपस्थिति में स्वयं को अनुभव कर रही थी जो कि सुखद ही था, लेकिन जितना काम उसे करना था वह उसके ज्वर को देखते असाध्य लग रहा था। पता नहीं शाम तक इतना सब होगा भी कि नहीं, और नहीं होगा तो सास कितना बिगड़ेंगी। पर वह क्या करे ? जैसे ही वह ऊपर पहुँची ठण्ड के मारे कँपकँपी छूट रही थी। जो बर्तन वह उठाने-धरने के लिए पकड़ती, वही तेज चाकू की धार की तरह उसे लगता। दाँतों से वह कब तक कँपकँपी रोकती ? वह बारम्बार अपने को गिरने से बचाने के लिए दीवाल पकड़ लेती पर दीवाल की ठण्डी छुअन उसके रोम-रोम में वैसी ही दौड़ जाती जैसी कि भाद्रपद की विद्युत-कटार क्षणान्त में पूरा आकाश चीरती निकल जाती है। आकाश चिल्लाता हुआ पीछे-पीछे भागता है और विद्युत-कटार कादती न जाने कहाँ चली गयी होती है। तभी त्र्यम्बक आया और उसने आदेश दिया,

— यजमानों के लिए अभी नाश्ता तैयार नहीं हुआ ?

दुर्गा की पीठ थी। वह दीवाल थामे खड़ी थी। उसके एक हाथ में दाल का भरत्या (बटुआ) था जिसे वह अदहन चढ़ाने के लिए खरा लगाने के लिए ले जा रही थी। उसने पति की बात सुनी पर ऐसा लगा कि वह क्षिप्रा में गहरे नीचे जल में डूबी नहा रही है और पति उसे घाट पर से पुकार रहा है। पति ने कुछ कहा अवश्य, पर क्या कहा ? वह समझ नहीं पायी। वह पति की ओर मुड़ी तो अनजाने ही हाथ से भरत्या छूट गिरा। बाल-बाल उसका पैर बच गया और भरत्या लुढ़कता हुआ अपने मुँह की ओर घूमने लगा। गनीमत हुई कि फूल का होने पर भी टूटा नहीं। त्र्यम्बक हठात कुछ समझ नहीं सका। उसे लगा कि भरत्या ऐसे ही छूट गया होगा।

— दुर्गा !

और दुर्गा ने पति की ओर देखा। हठात ढेर सारा जल ठेलकर जब कोई ऊपर आता है तो भी शेष जल आद्यन्त नितरता होता है। वह भी पत्थर-जल को ठेलकर ऊपर आयी थी। पति उसे पहले तो अस्पष्ट जल-भीगा दिखा, पर जब दृष्टि जमा कर देखा तो स्पष्ट दिखा।

— जी !

— ऐसी क्यों लग रही हो ?

त्र्यम्बक को लगा कि दुर्गा, सहज नहीं है।

— कुछ नहीं, भरत्या हाथ से बस छूट गया।

और वह भरत्या उठाने झुकी तो बरसों पुरानी, वर्षाजल की मार खाते-खाते सद गयी मिट्टी की दीवाल सी भरभरा कर गिर पड़ी। त्र्यम्बक को लगा कि दुर्गा अस्वस्थ है। दुर्गा, सिर का पल्ला ठीक करने लगी तो त्र्यम्बक ने देखा कि उसके बालों में आटा लगा हुआ है।

— जब तबियत ठीक नहीं थी तो फिर आटा पीसने की क्या आवश्कता थी ?

और वह उसे उठाने लगा।

— तुम्हें तो काफी तेज ज्वर है। चलो, चलो लेट जाओ।

दुर्गा अब तक सम्हल चुकी थी। अपने को छुड़ाते हुए बोली,

— छोड़ो, कुछ नहीं हुआ मुझे।........जजमानों के लिए सीरा (हलवा) बना दूँ न ?

तभी नीचे से पण्डित महादेव शुक्ल की आवाज आयी,

— त्र्यम्बक! क्या वहाँ जाकर सो गया ?

— आया बाबा!... चलो तुम लेट जाओ मैं नाश्ते का प्रबन्ध कर दूँगा।

— लेट जाऊँ, कैसी बात करते हो ? तुम नीचे जाओ मैं जल्दी से बनाती हूँ।

— मैं कहता हूँ तुम नहीं बनाओगी, तुम्हें तेज ज्वर है, चलो लेटो चलकर।....जिजी को तो रोज अपने मन्दिर और सिंहपुरी जाने से ही फुर्सत नहीं !!

त्र्यम्बक को झल्लाहट हुई। तभी पीछे से पण्डित महादेव शुक्ल की आवाज सुनायी दी,

— यह क्या हो रहा है ?

त्र्यम्बक सकपका गया। पिता को इस प्रकार सहसा देखकर उसकी कुछ समझ में नहीं आया। वह डरा कि पता नहीं दुर्गा के साथ इस प्रकार खड़े देखकर बाबा न जाने क्या सोचें। वह लगभग हकलाते हुए बोला,

— मैं....... नाश्ते........के लिए........

— क्या अभी नाश्ता तैयार नहीं हुआ ?....... देख रहा हूँ अभी तो चूल्हा भी नहीं जला....त्र्यम्बक !!

— जी बाबा!

— बहू से कह दो इस तरह से हमारे घर में काम नहीं होता है।

त्र्यम्बक ने साहस बटोर कर कहा,

— बाबा! जरा इसकी तबीयत........

— क्या हुआ इसकी तबीयत को ? मैं सब तुम्हारे लक्षण देख रहा हूँ, समझे न ? जाओ जल्दी से और फकीरचन्द के यहाँ से जलेबी-सेव ले आओ। आठ-आठ बजे तक चूल्हा जलने का पता नहीं, जाओ अब खड़े क्या हो ?

और त्र्यम्बक सिटपिटाता फकीरचन्द की दूकान की ओर चला। जाते-जाते ससुर, बहू को आदेश दे गये,

— चूल्हा जलाने की आवश्यकता नहीं अब....तबीयत ठीक नहीं !!

और सम्पूर्ण वितृष्णा व्यक्त करते हुए पण्डित महादेव शुक्ल भी चल दिये। दुर्गा को लगा कि जैसे उसे नंगा करके बेंत से पीटा गया हो। वह फुंकी जा रही थी। ससुर जो

तिरस्कार उसका कर गये थे वह उसे मर्माहत कर गया। वह रोना चाहने लगी पर उसे अज्ञात में भय लगा कि कहीं ससुर जी ने सुन लिया तो क्या होगा? और वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठी।

अधिकांश बर्तन तो रात ही माँज लिये जाते हैं। जो एकाध बच जाते हैं वही इस बेला साफ किये जाते हैं। दुर्गा, 'चाटने' का बर्तन उठाकर पीछे की खिड़की की ओर चली। खिड़की पीछे की गली में खुलती थी जहाँ नीचे गायें, आवारा कुत्ते वगैरा जूठन खाने के लिए घूमा करते हैं। खिड़की के ठीक सामने एक बड़ा सा मकान आ गया था जिसके कारण आसपास का दृश्य रुक गया था, केवल ऊपर आकाश की एक पतली सी नीली चिंदी अवश्य दिखलायी पड़ती थी। बहुत हुआ तो थोड़ा झुककर देखने पर दो-एक मकानों की छतें दिखलायी पड़ जाती। जिन पर सूखती धोतियां तथा एकाध की मुंडेर पर तुलसी का गमला दिखलायी दे जाता था। बाकी नीचे की गली एक प्रकार से अंधी गली थी, जहाँ कभी भूले-भटके से ही धूप पहुँचती होगी। गली में जूठी पत्तलें और जूठन, गंदी नालियों का रिसता पानी ही होता। कभी-कभी दो कुत्तों में किसी जूठन को लेकर तकरार होती तो वह गली सजीव हो उठती अन्यथा वह मूक गली थी। उस गली में खुलने वाले एकाध मकान का जो दरवाजा था, वह बंद होता। उसका बन्द होना बोलता सा लगता कि वह अनेक वर्षों से कभी खुला ही नहीं है। बाकी तो लम्बी-ऊँची दीवालें ही थीं। फिर भी इस खिड़की की राह दुर्गा को लगा कि वह इस घर के बाहर तो निकली। वह यहाँ इस समय स्वत है। सम्बन्धहीन ऐसा स्वत होना कितना मूल्यवान है, यह उसे प्रतिदिन अनुभव होने लगा। जब वह खिड़की पर से 'चाटना' फेंक रही थी तो वह अत्यन्त सतर्क थी कि कहीं उसके हाथ से बर्तन न गिर जाए। बहुत सम्भव था कि यदि वह इतनी सतर्क न होकर अन्य दिनों की भाँति सहज होती तो आज चाटने का बर्तन अवश्य गिर जाता और तब क्या होता? इस कल्पना मात्र से वह काँप उठी। अभी जिस प्रकार ससुरजी गरज कर गये थे उसके बाद तो लगा कि यदि बर्तन गिर जाए तो?....पता नहीं क्या हो जाए, शायद प्रलय। और जब 'चाटना' फेंकने के बाद बर्तन उसके हाथ में ही बना रहा तो उसे उत्तप्त ज्वर में भी गहरा परितोष हुआ। यद्यपि जब वह 'चाटना' फेंक रही थी तो उसे ऐसा लगा था कि जैसे जूठन के साथ वह और हाथ का बर्तन दोनों ही नीचे चले जा रहे हैं। बल्कि वह कल्पना में अपने तथा बर्तन के गिरने एवं धनधनाने तक को न केवल अनुभव ही बल्कि सुन तक सकी थी।

उसे अब बहुत तेज ज्वर था। छाँह में बैठकर बर्तन माँजना उसके लिए असम्भव हो रहा था। जब सूखी राख में हाथ डालती तो उसे अँगुलियों की राह कैसा हल्का सन्तोष अनुभव होता पर जब वही राख, बर्तनों पर मली जाती और गीली हो जाती तो कैसा ठण्डा चटाव लगता और लगता ही चला जाता। उपरान्त फिर बर्तन को शुद्ध करने के लिए सूखी राख लेती और तब बर्तन की धातु के ठण्डेपन में भी क्षीणान्त गर्मी लगती। अन्तिम बर्तन मलने तक वह ऐसी ही हो गयी कि वहीं ढेर हो जाएगी। किसी

प्रकार बर्तन सहेज, वह भरी दोपहारी में धूप में तपी छत पर निकल ग्रायी । और कोई दिन होता तो वह एक क्षण भी इस चिलचिलाहट में खड़ी नहीं रह सकती थी, पर इस समय धूप नहाती वह ऐसी लग रही थी जैसे माघ में जड़ाये अंग सेक रही हो । तपती छत पर आते ही उसे कैसा सुखद लगा था जैसे पैरों की राह रजाई ओढ़ ली हो, पर कुछ ही क्षण बाद धूप की प्रखरता अंगों से अधिक आँखों के लिए असुविधा लग रही थी । यद्यपि वह आँखें बन्द किये थी फिर भी पलकों की त्वचा को धूप न केवल आरक्त किये दे रही थी पर धूपाभास धँसा पड रहा था । छत एकदम सूनी थी । बिना छाँह के बैठना संभव नहीं था अतः वह नीचे उतर आयी । बीच-बीच में वह आँख खोलकर देखती रही थी कि कैसे आकाश के तपने के साथ पूरी उज्जैन, पूरा मुहल्ला तथा सारे मकान तपे पड रहे थे । मकानों की छतें टिन की थी जिन्हें उड़ने से रोकने के लिए पत्थर रखे गये थे—सब कुछ तप रहा था । लगता था कि ज्वर अब दुर्गा की आँखों में सुलगा पड रहा था । उसके मस्तिष्क में काम, काम और काम ठक-ठक बज रहा था, पर वह विवश थी और जाकर बिस्तर पर लेट गयी । सोचा, चादर ओढ़कर लेट रहेगी पर उसे भंडारे में रखी रजाइयों में से एक निकालनी ही पड़ी और जब रजाई में मुँह ढाँप कर वह सोयी तो उसे बड़ी देर बाद नींद की झपकी आयी । वह नींद क्या लेती रही बल्कि नींद में भी काम ही करती रही । रजाई ओढकर जब झपकी का आभास हुआ उस समय वह चक्की पर चने की दाल ही पीस रही थी । बल्कि कहना चाहिए कि चक्की की घरघराहट के कारण ही उसे नींद आयी थी । हाँ, उसकी नींद पहली बार तब टूटी जब वह खरल में केलें कूट रही थी । उनका पानी छिटका पड़ रहा था । वह जल्दी से जल्दी सारा काम समाप्त कर लेना चहती थी । केलें कूटते हुए ही उसे लगा कि बत्ता (लोढ़ा) उसके हाथ पर लगा और वह चीख उठी । उस चीख के कारण उसकी नींद टूटी । वह हड़बड़ा कर उठना चाहने लगी पर उसे लगा कि वह इस समय घोर ज्वर में है । उसे यह भी नहीं मालूम पड़ा कि कब ससुर जी, उसके पति यजमानों के साथ घर से गये । अवश्य ही जाते समय मात्र सूचना के लिए कहा होगा कि "हम जा रहे हैं" । रोज वह ऐसा सुनती है पर आज ऐसा कुछ भी नहीं सुनायी दिया । और उसने करवट ली । करवट बदलने के साथ ही काम ने भी करवट ली । दुर्गा समझ नहीं पा रही थी कि काम की चिन्ता के मारे नींद ठीक से नहीं आ रही थी अथवा ज्वर की तेजी के कारण । संभवतः दोनों ही अपनी तेजी पर थे । अब पिट्ठी तैयार की जा रही थी । उसके बाद पिट्ठी के लम्बे-लम्बे बेलन जैसे तैयार कर पाँव के अँगूठे में तागे का एक सिरा बांध कर दूसरा सिरा मुँह में दबा एक ही आकार की लोइयाँ काटती जा रही थी । कितना थका देने वाला काम है न यह ? और जब चकले (चौका) पर तेल लगा पहला पापड़ बेला और चटाई पर उसे फेंका तो लगा कि चलो, कुछ काम हुआ तो । और फिर तो उसके हाथों में ऐसी तेजी आयी कि कागज की भाँति पारदर्शी पतले पापड़ चटाई पर फैलते ही चले गये । चार बार बेला नहीं कि पापड़ तैयार । स्त्रियाँ, पापड़ बेलना भी एक बडा भारी काम समझती हैं । दुर्गा चाहे तो दिन भर में दस सेर के

पापड़ बेल कर रख दे और कहीं कोई बात नही। हाँ, यह बात है कि साथ में कोई हो, तो दो बात भी होती चलती हैं वर्ना सूम सरीखे बेलते जाइए।

तभी उसे लगा कि रजाई सिर तक ओढ़े रहने से काफी घुटन हो गयी है और इसके साथ ही वह वास्तविकता में लौट आयी। पापड़ तो दूर, पापड़ की पिट्ठी की गंध तक घर में कहीं नहीं थी। वह कैसे बचपन में कच्चा ही पापड़ खा जाया करती थी। ताजे सिके पापड़ पर तो उसकी जान ही निकली रहती थी। पर अब... .... कितना कुछ बदल गया था न? क्या वह स्वयं ही वही दुर्गा है? जिजी खीझ में कैसे उसे "दुर्गी" कहा करती थी। अब कभी वह सब नहीं लौट सकेगा न? विगत, जैसे नहाया हुआ जल था, जो नालियों से बहकर जाने कहाँ चला गया। क्या इसी कारागार के लिए हम अंकुर से वृक्ष बनते हैं? क्या सदा बिरवा बने रहना संभव नहीं? क्या फिर कभी वैसी निश्चिन्तता नही होगी? घर, आँगन, लोग सब कैसे खुले-खुले लगते थे। कैसी पवित्रता थी उन दिनों। मुँह पर ठण्डी हवा लग रही है तो लगती ही चली जाती थी। तभी उसे लगा कि वह बहुत देर तक सोयी रही है। इस बार वह सच में ही उठ खड़ी हुई। उसे लगा कि तीसरा प्रहर हो चुका है। अब लोगों के लौटने का क्रम आरम्भ होगा। उसकी समझ में नहीं आया कि वह कहाँ से और कैसे काम प्रारंभ करे। गनीमत थी कि चौका-बासन का काम नही था परन्तु गेहूँ पीसने को बचे थे। दाल पीसनी थी। केलें कूटकर पिट्ठी तैयार करनी थी। कोई भी तो ऐसा काम नहीं था जिसे वह ज्वर के होते हुए भी कर सकती थी। वह अन्दर ही अन्दर पीपल के पत्ते सी काँप उठी। पता नही सासूमाँ क्या कहेंगी। उन्हे जरूर ही बहू का यह सब 'नखरा' ही लगेगा। वह संकल्पित थी कि काम पूरा न सही तो आरंभ तो कर ही दे। आगे की आगे से देखी जाएगी। और वह उठी। अभी भी तेज बुखार था पर उसने बिस्तर समेट कर गोदड़मच्ची (गद्दों की मचिया) पर रख दिया और नीचे चल दी। वह बिना कुछ आगा-पीछा सोचे गेहूँ पीसने बैठ गयी। जिस प्रकार व्यक्ति प्रलाप करता ही जाता है उसी प्रकार वह अचिन्त्य भाव से पीसती रही। जब गेहूँ पिस गया तो जल्दी से चक्की साफ कर चने की दाल का डूमला (कागज की लुग्दी की बड़ी सी टोकरी) उठा लायी और दाल पीसने लगी। पीसते हुए। उसे ध्यान ही नही रहा कि धरधरी (गोधूलि) बखत हो गयी है, उसे उठना चाहिए और दिया-बत्ती करनी चाहिए। तभी बाहर 'कल' खोलने की आवाज हुई और पुकार आयी,

— बहू! क्या बात है, जो आज दिया-बत्ती नहीं हुआ?

सासूमाँ की आवाज पर वह जीवन की कठोर वास्तविकता में लौटी। सच ही कितना अँधेरा हो गया था। वह पीसते हुए न जाने किस लोक में थी, परन्तु सासूमाँ की आवाज के साथ ही वह न केवल यथार्थ में लौटी ही बल्कि उसे लगा कि उससे कितना बड़ा दोष हो गया है। पता नही अब इसका क्या परिणाम हो। वह अपने ज्वर को लगभग भूल गयी। उसे चिन्ता हुई कि अब वह कब घर के सारे कन्दील, चिमनियाँ एकत्र करेगी, उनकी हण्डियों को कब राख से मला और चमकाया जाएगा फिर

भरा जाएगा ? दीपाधारवाली बड़ी लालटेन कब साफ होगी ? जैसे ही वह ओसारे में पहुँची, सासूमाँ तुलसी-क्यारे के पास खड़ी थी ।

— घर में कोई नही तो मनमानी शुरू कर दी न ?

सासूमाँ ने कड़क कर कहा । दुर्गा को भय और ज्वर दोनों की प्रतीति हो आयी थी और वह काँप रही थी । वह क्या कहती ? उचित यही था कि जल्द से जल्द दिया-बत्ती कर डाले । वह तेज चलना चाहती थी पर वह अपने प्रति बहुत अमानवीय पहले ही हो चुकी थी अतः जैसे ही ऊपर जाने के लिए देहरी चढ़ी कि उसे चक्कर आ गया और वह गिर पड़ी । श्रीमती कृष्णादेवी इस "तिरिया चरित्तर" को क्या नही समझती हैं ? भला स्त्री से बड़ा 'तिरिया चरित्तर' का ज्ञाता एवं कर्ता कौन हो सकता है ? उन्हें लगा कि कल की यह छोकरी उन्हें उल्लू बना रही है ।

— कामचोरी और उस पर ये नखरे ? देहरी लाँघते चक्कर आते है, बड़ी फूल-सुंघनी है, लाडो है लाडो !!

यदि अन्य कोई अवसर होता तो दुर्गा अवश्य ही बेहोश हो जाती पर वह अपने को पूरे मनोबल से साधे हुए थी । सासूमाँ की बात सुनकर वह तेजी से उठी और लगभग एक ही साँस में जीना चढ गयी । किसी प्रकार उसने जल्दी से दिया-बत्ती की । इस बीच वह सोचती जा रही थी कि जब सासूमाँ को सारा काम पूरा किया न मिलेगा तो पता नहीं वह क्या-कुछ न कहेगी । जब वह बैठक की लैम्प लेकर नीचे पहुँची तो कपड़े बदल कर सासूमाँ भी पीछे-पीछे आ रही थी । दुर्गा पीठ की ओर से अपनी सासूमाँ की उपस्थिति पूर्णरूपेण अनुभव करते हुए बैठक में लैम्प रख रही थी । लैम्प के जलते ही छत के चँदोवे में लगे कागज के रंगीन फूल, शीशे के हण्डे चमक उठे । बैठक के दरवाजे पर से ही सासूमाँ की कड़कती आवाज सुनायी दी,

— सारे पापड़ सुखा कर डिब्बों में रख दिये ?

दुर्गा की समझ में नही आया कि वह सहसा क्या कहे ? और कैसे कहे ? जब पापड़ बने ही नही तब सुखाने की बात ही कहाँ उठती है ?

— जी नही ।

— क्या अभी छत पर ही सूख रहे है ?

दुर्गा समझ गयी कि गाँव में मेहतर लोग सूअर को जैसे घेरते है वैसा ही सासूमाँ उसे भी केवल घेरना चाहती है वर्ना केलें यथावत रूप में अभी भी ऊपर वैसी ही पड़ी हुई है तो क्या सासूमाँ को वे नही दिखी होगी ? यह असम्भव है ।

— सासूमाँ······ ···

— क्या बात है ?

— वो ऽऽ जरा तबीयत········

— क्या हुआ तबीयत को ? उल्टी हुई ? दस्त हुए ? बच्चा हुआ ?

- दुर्गा क्या बताए कि क्या हुआ ।

—जवाब दो न कि क्या हुआ तबीयत को ? तबीयत खराब है !!—आये दिन एक न एक

बहाना,—नखरा !! आधा-दूधा गेहूँ पिसा पड़ा है। नाम करने को चने की दाल के दो-चार दाने पीस कर रख दिये और हो गया रानी जी का सारा काम। पापड़ कौन तुम्हारे घर वाले आकर बना जाएँगे? दो दिन से केलें आधी पड़ी हैं। सूख जाएँगी तो दूसरी केलें कौन तुम्हारा भाई लाकर दे जाएगा?''''क्या काम किया आज तुमने?

दुर्गा सच ही क्या बताए कि उसने कौन-सा काम किया।

— यह सारा मटरूपन निकाल दूँगी समझी? अपनी बुआ या फूफा के भरोसे इतराना नहीं, अच्छा !! अपने ये लक्खन अपनी माँ-बुआ को ही दिखाना। इस घर में ये नखरे नहीं चलने के। ऐसी ही कामचोरी करनी है,तो दो-चार नौकर अपने भाई से कहकर रखवा लो''''एक दिन को घर से कहीं जाओ तो इनके मिजाज आसमान में पहुँच जाते हैं''''अब यह सारा काम कौन मैं करूँ? जब देखो तब तबीयत खराब हो जाती है। अभी तबीयत खराब होना जानती क्या हो लाडो! ?''''तब चीख नहीं निकलेगी, ऊपर की साँस ऊपर रह जाएगी''''जान आफत में कर रखी है।

तभी बाहर के दरवाजे की 'कल' खटकी। श्रीमती कृष्णादेवी ने 'कल' की आवाज पर पीठ फिराकर देखा। कोई आया था जिससे बात करने वह दरवाजे की ओर पूछती हुई बढ़ी,

— कौन है?

— मैं नारायण, गंधी जी का लड़का।

— क्या बात है?

— काकी के पेट में बहुत दरद हो रहा है, जिजी ने आपको बुलाया है।

— अब भैया, मैं तो दिन भर की अभी लौटी हूँ बाहर से और घर में कोई है भी नहीं। अपनी जिजी से कहना कि सरसों की पुटली तवे पर गरम करके सेके।

— वो तो सब हो रहा है पर आपको जल्दी बुलाया है।

दुर्गा इस बीच ऊपर जा चुकी थी। एक क्षण को तो श्रीमती कृष्णादेवी असमंजस में पड़ी पर तभी जोर से पुकारते हुए बोली,

— बहू! मैं पड़ोस में गंधी जी के यहाँ जा रही हूँ। ध्यान रखना।

और श्रीमती कृष्णादेवी उस लड़के के साथ दरवाजा बन्द करते हुए चली गयी।

जिस समय श्रीमती कृष्णादेवी गंधी जी के घर से लौटी घर के सारे लोग लौट आये थे। बैठक में रोज ही की भाँति कुछ यजमान तथा कुछ बाहरी लोग बैठे हुए थे। पति नियमानुसार हाथ-मुँह धोने गये थे। उनकी खड़ाऊँ, गमछा, करवा सब रखे हुए थे। त्र्यम्बक के बोलने की आवाज ऊपर से आ रही थी। बाहरी लोगों को देखते ही श्रीमती कृष्णादेवी ने अपना घूँघट थोड़ा और नीचे कर लिया तथा ऊपर चल दी। वह जैसे-जैसे

सीढ़ियाँ चढ रही थी वैसे-वैसे त्र्यम्बक की आवाज साफ होती जा रही थी। वह बोल रहा था,

— मैं कहता हूँ जब इतना तेज बुखार है तो काम नही करोगी तो मर जाओगी ? सवेरे से बुखार था तो दिन भर लेटी क्यो नही रही ? कौन सा ऐसा काम था जो आज नही होता तो पहाड टूट पडता ?

श्रीमती कृष्णादेवी दबे पैरों दरवाजे में जाकर खडी हो गयी थीं। दुर्गा खरल में केले कूट रही थी और त्र्यम्बक इसी बात पर बिगडा हुआ था। दोनों की पीठ उनकी ओर थी अतः वह हल्के से खाँसी। त्र्यम्बक ने पलट कर देखा, तो जिजी खडी थी।

— देख रही हो जिजी !

— सब देख रही हूँ मैं, और साथ ही सब समझ भी रही हूँ। धूप में बाल सफेद नही हुए हैं समझे !! ...मगर तू यहाँ क्या कर रहा है ?

— तुम इससे कहो कि जाकर लेटे यह।

— तू क्या समझता है कि यह दिन भर काम करती रही है ? अरे ' यह तो दिन भर रजाई लिये आराम से सोती रही है। भला इसका सा भाग किसका है ? वैसे ही घर में क्या काम है ? रोज खीर-पूडी खाने को मिले मुफ्त में और काम कौडी का न हो तो आदमी इस भरी गर्मी में भी रजाई ओढकर नही सोये तो क्या करे ?.... तू ही पूछ इससे, इसने क्या काम किया आज ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की समझ में अब आया कि जिजी तो दुर्गा को लेकर ताने मार रही थी। उसकी कुछ समझ में नहीं आया कि जिजी ऐसा क्यों कह रही है।

— जिजी ! आज सवेरे से ही इसे बुखार है।

— इसने कहा और तूने मान लिया, है न, ? इसने 'अ' माने आम बताया तो तू आम-आम कहने लगा—लेकिन अब माँ का कहा मानेगा ?

— क्या मतलब ?

— बेटा ! अपने काम से काम रखो। किसको बुखार है, किसको नही, अभी यह देखने के लिए हम लोग बैठे हैं। जब हम नही रहे तब जो चाहे करना ! इसे चाहे पालने में झुलाना या बम्बई घुमाना समझे !! स्त्रियाँ इस तरह माँदी (बीमार) पडने लगें तो अपना कुल्ला भी आप नही कर पाएँ। औरतों के नखरे तू क्या समझे। आधी रात में केले कूट कर रानी जी अपने पति और ससुर को यह जताना चाहती हैं कि बेचारी दिन भर धनकुट्टी करती रहती है। पुरुष इस तिरिया-चरित्तर को क्या समझेगा ?

— जिजी ! तुम तो हद कर रही हो।

— जा, जा, माँ से जिबान लडाते शरम नही आती तुझे। घर के काम-काज से तुझे क्या मतलब ?....और यदि तबीयत खराब है तो जाकर लेटे, किसी ने मना किया है क्या ? यह नाटक करने की क्या जरूरत है ? वक्त पर दिया-बत्ती तो होता नहीं और केलें कूटने चली है....और तू नीचे क्यों नही जाता है रे ? यहाँ क्यो घुसा

पड़ा है ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल क्या कहते ? वह बेचारा अजीब मनस्थिति में था। एक ओर माँ थी तो दूसरी ओर पत्नी। आखिरकार वह बिना कुछ बोले ही नीचे चल दिया। श्रीमती कृष्णादेवी को जब लगा कि अब त्र्यम्बक नीचे पहुँच गया है तब आवाज को बिल्ली की पीठ की तरह नीचे करते हुए बोली,

— तू यह अपना नखरा नहीं छोड़ेगी न ?

और उन्होंने कस कर एक लात दुर्गा को लगायी। दुर्गा हमकी अवश्य, पर वह अपने घुटने समेट कर मुँह के बल लुढ़क पड़ी। उसके बाद तो श्रीमती कृष्णादेवी ने तीन-चार लातें और भी कसकर जमायीं। वैसे ही दाँत सटाकर दबे स्वर में बोली,

— कान खोलकर सुन ले। पति को लेकर अगर फिर कभी इतरायी तो गरम-गरम चीमटे से ऐसा दाग दूँगी तेरी जीभ को कि बोलने के लिए तरस जाएगी। बड़ी पतिवाली बनती है, हरामजादी !!

यद्यपि श्रीमती कृष्णादेवी को बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगा परन्तु पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जाकर वैद्यराज सावेरकर जी को बुला लाये। श्रीमती कृष्णादेवी को लगा कि पुत्र अनावश्यक रूप से पत्नी की चिन्ता कर रहा है। एक प्रकार से यह उनके अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप ही था। यदि बहुओं की इस तरह बात-बात में चिन्ता की जाए तो यह संसार चल चुका। पता नहीं ये लड़के किस मिट्टी के होते हैं। कोई इनसे पूछे तो, कि कौन ऐसी बहू है जिसके कुछ न कुछ पिराता या होता नहीं रहता? आज सिर है, तो कल कमर। अरे, हम भी तो स्त्री हैं कि एक तुम्हारी ही बहू स्त्री हुई है? रोग, स्त्री को नहीं होंगे तो क्या पुरुषों को होंगे? ऐसे रोज-रोज स्त्रियों की चिन्ता करने लगोगे न, तो ये सारी चण्डियाँ तुम्हारे माथे पर वो नाच नाचेंगी कि दिन में तारे दिखने लगेंगे। जैसे जूते को पैरों से दबाये रखना पड़ता है वही स्त्री का हाल है। पर इन कल के छोकरों को कोई क्या समझाये? जरा सा स्त्री ने कान के पास कांख-कूंख दिया तो कुलांचे मारते पहुँचे वैद्य-डाक्टर के पास। कोई पूछे तो, कि क्या हुआ? मामूली सा बुखार ही तो है—कोई कालाजार या गर्दनतोड़ तो हुआ नहीं। दो बार तुलसी का काढ़ा पियो और मुँह ढाँक कर सो जाओ तो सारा बुखार पसीना बन कर न बह निकले, तो कहना। मगर नहीं, इनको तो तांगे में बैठाल कर बड़े अस्पताल ले जाओ, तो खुश। यह तांगे की सवारी दवाई के लिए है? सीधे-सीधे कहो न कि हवाखोरी को मन करता है। जानती है न कि यों तो कोई गली में भी झाँकने नहीं देगा इसलिए आज माथा बाँधकर लेट गये तो कल जी मितलाने का बहाना बना लिया। और जब त्र्यम्बक जैसा काठ का उल्लू मिल जाए, जो कि सुने खेत की और कहे खलिहान की, तब भला किस औरत का मन तांगे में मटरगश्ती करने को नहीं करेगा? अरे, मैं सब समझती हूँ बिट्टो! तुम्हीं तो पहली औरत हो जो बहू बनी हो, और क्या!!—हमें तो मोतीझरे में भी किसी चिड़िया के पूत ने कभी तांगे में नहीं घुमाया।

और जब वैद्यराज जी ने भी निदान किया कि बहू को सिर्फ मामूली सा ज्वर है तब तो श्रीमती कृष्णादेवी ने महाशय त्र्यम्बक की वो खबर ली, कि ली भली।

— भैया! अब तो तू अपनी बहू को बड़े अस्पताल ले जाकर डाक्टर जोशी जी को भी दिखला दे। लापरवाही करना ठीक नही। इन वैद-हकीमों का क्या ठीक।

— चिन्ता न करो जिजी! तुम तो जरा से में घबरा जाती हो। वैद्यजी ने शहद में देने को ये चार पुड़ियाएँ दी हैं। देखते हैं, दो-एक दिन में ठीक न हुई तो फिर····

— मुझे तो बेटा! इन शहद वाली दवाइयों पर जरा भी विश्वास नही।

— माखेरकर जी की दवाइयो के बारे में यह तुम कह रही हो?

— और क्या रे। तेरी बहू का जैसा बुखार है वैसा तो आज तक किसी भी बहू का बुखार न देखा, न सुना। ले जा इसे बड़े अस्पताल, ताँगे में ले जाना समझे····और हाँ, मालीपुरे से इसे एक गजरा भी खरीद देना।

अब पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की समझ में आया कि माँ चिन्ता नहीं कर रही है बल्कि ताना मार रही हैं।

— तुम भी हद करती हो जिजी! तीन दिन से उसका बुखार····

बात काटते हुए श्रीमती कृष्णादेवी बोलीं,

— बड़ा आया इसका-उसका करने वाला। हमारे रहते इसकी चिन्ता करने वाला तू कौन होता है रे? अपने मुँह की मक्खियाँ तो उड़ा नहीं पाता और चला है वैद्य-डाक्टरो के पास। तुझे मालूम है कि स्त्रियों को क्या-क्या रोग-शोक होते हैं? मुझे इतनी बार बुखार आया होगा, आये दिन पाँव के जोड़ो में दर्द होता है—कभी पूछा कि क्या हुआ है? कभी तारपीन का तेल भी लाया तू? मलना तो दूर, कभी पास में आकर बैठा भी है? इसने जरा सा कान में कुछ फूंक दिया तो तू निर्लज्ज की भाँति जूते पहन कर दौड गया। मैं पूछती हूँ किससे पूछ कर तू गया था वैद्यजी के यहाँ?—ठीक है, जब तुम्हें ही करना है सब, तो फिर करो अपने मन की। तुम्हारे लेखे तो मैं उसकी दुश्मन हूँ न? अब तो वही सब कुछ है तेरी। हम तो उसे फूटी आँख नहीं देख पाते है न? दुनिया में लोगों के शादी-ब्याह होते है पर तेरा जैसा तो कभी नही देखा-सुना।····क्या इसी दिन के लिए तुझे पाला-पोसा था कि मुझे बदनामी मिले—हे भगवान! कैसा जमाना आ गया ····उठा क्यों नही लेता रे····

और श्रीमती कृष्णादेवी ने अपने हाथों से माथा पीटते हुए विलाप करना शुरू कर दिया। अच्छा यही हुआ कि पण्डित महादेव शुक्ल घर में नहीं थे। अभी कोई कुछ कहे इसके पूर्व ही श्रीमती कृष्णादेवी नीचे जाकर तुलसी-क्यारे की पाल (जगत) पर जाकर रोती बैठी रही। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की समझ में कुछ नही आ रहा था कि माँ ऐसा व्यवहार क्यों कर रही है? ऐसा कुछ तो उसने नही किया, जो यह काण्ड हो गया। थोड़ी देर तक तो वह सन्नाटे में, असमंजस में खड़ा रहा उपरान्त जूते पहन कर बाहर जाना ही उचित लगा। जाते हुए उसे लगा कि माँ रो नही रही है बल्कि विलाप कर रही है।

उसे पहली बार माँ के इस नाटक पर वितृष्णा हुई। माँ के व्यक्तित्व के इस ओछेपन के जो क्षोण से उसे दर्शन हुए उससे वह आसन्न ही हुआ।

घर मे अब सन्नाटा था। केवल सासूमाँ का प्रलाप ही पूरे घर में गुंजर था। दुर्गा बडी देर से बिस्तरे पर लेटे हुए माता-पुत्र का संवाद, तनाव पीठ किये सुनती रही थी। दोनो का नीचे जाना भी वह टोह ले गयी थी। पर जब 'कल' बजने की आवाज सुनी तो वह बूझ ले गयी कि पति वितृष्ण होकर माँ को रोता छोडकर चले गये है। वह काफी कमजोरी अनुभव कर रही थी। वह कितना चाहती रही कि थोडी देर को ही सही, शान्ति से सो सके। पति के जाने के बाद सासूमाँ का विलाप सुनने पर भी वह थोडी देर तक आँखे बन्द किये लेटी रही पर सास का कलाप उसे रह-रह कर चीथ रहा था। वही इस विलाप का कारण थी, तो वह क्या करे?—और अगत्या वह किसी प्रकार अपने अस्तव्यस्त कपडो से कही अधिक पिराते अंगो को समेटते हुए उठी और सीढियाँ उतरने लगी। सीढी की रस्सी में जो झूल थी उसके कारण वह झूली पड़ रही थी। दूसरे हाथ की हथेली दीवार के ठण्डेपन से झनझना रही थी। पूरे घर का ठण्डापन हथेली और पगथली की राह उसकी हड्डियों में धँसा पड रहा था और वह रह-रह ठण्ड से काँपी पड रही थी। जिस कठिनाई से वह नीचे उतरी, वही जानती है। जीवन की स्वस्थता पर से पकड ढीली हो जाने का अर्थ ऐसे ही अवसरो पर मालूम होता है। अन्तिम सीढी के पास वह कुछ देर को रुकी। जिस प्रकार सासूमाँ का पल्ला सिर से गिरा हुआ था तथा घर का एकान्त सन्नाटा जिस प्रकार चिथा लग रहा था उसमें लगा कि यदि दुर्गा उन्हे जरा सा भी छू देगी तो या तो वह चीख पडेगी या ढह जाएँगी। सासूमाँ अब रो नही रही थी बल्कि रह-रह कर सुबुक रही थी। उन्होंने शायद बहू को सीढियाँ उतरते सुन लिया था इसलिए मुँह, पल्लू में दबाकर एक घुटने पर रख लिया और फिर रोना आरम्भ कर दिया। कोई भी कह सकता था कि इस बार का रोना अधिक सांगोपाग था। दुर्गा कुछ देर तक तय नही कर पायी कि वह क्या करे? सासूमाँ से क्या कहे? समझाए तो, पर कैसे?··· क्या वापस लौट जाए?···और अगर इस बीच ससुरजी आ गये और सासूमाँ को यह प्रलाप करते देख लिया, तो ?? नही, जैसे भी हो, सासूमाँ को मनाना ही होगा, और वह आगे बढी। दुर्गा जानती थी कि कुछ भी कहना-सुनना आग मे घी डालने जैसा ही होगा, परन्तु कई बार यही नियति होती हैं। सासूमाँ की पीठ के पीछे जाकर वह खडी हो गयी। वह जान रही थी कि पीठ होने पर भी श्रीमती कृष्णादेवी को उसकी उपस्थिति का पूरा पता था। दुर्गा कितना चाहने लगी कि वह सासूमाँ के कन्धे पर सिर रखकर जोरो पर रो पडे। वह इस घर में अपने को सौपने ही तो आयी है। क्यों नही सासूमाँ उसे ग्रहण करती? वह उनके कंधे पकडने को लगभग मन से तैयार हो चुकी थी कि श्रीमती कृष्णादेवी ने सहसा अपना रोना छोडा और छिटक कर

अलग खडे होते हुए दुर्गा से बोलीं,

— अब तू क्या चाहती है चामुण्डा !

दुर्गा, हवाहीन सन्नाटे में खड़ा वृक्ष •हो रही थी कि कोई डालो व्यर्थ तो बाहर नहीं निकली हुई है ?

— तेरी माँ, बुआ ने जो नाटक करना तुझे सिखाया है न, वह मैं खूब समझती हूँ। समझी !! मेरे बेटे को उल्लू बना रखा है तूने। पर याद रख, एक भी वशीकरण तेरा नहीं चलने दूँगी। उलटो मूँठ ऐसी चलवा दूँगी कि तू भी याद करेगी। क्या समझा रखा है तूने उसे ? बताती क्यों नहीं अब ? अगर तू मेरा बेटा छीनेगी तो याद रख मैं भी तेरा····

दुर्गा को लगा कि वाक्य पूरा नही करने देना चाहिए। सासूमाँ को बाँह से पकडते हुए बोली,

— चलो सासूमाँ ! ऊपर चलो।

— बडी मुझे ऊपर ले जाने वाली आयी है। मैं तेरा सारा नाटक समझती हूँ, समझी ?

और श्रीमती कृष्णादेवी ने अपनी बाँह छुडाते हुए इतनी जोर का दुर्गा को झटका दिया कि वह तुलसी-क्यारे की पाल से टकरायी और चौखण्डी के पत्थरों पर जोरों से गिरी। हाथों की चूड़ियाँ तडक गयीं। कलाई से खूब खून बहने लगा। कमजोर तो वह थी ही, पत्थरों पर कूल्हों के बल गिरने पर चोट आ गयी। सब कुछ अप्रत्याशित ढग से हुआ था।

— बडा हाथ पकड़ने चली है, चुडैल कही की। खबरदार, जो फिर कभी मुझे छुआ तो, डाकन !!

और श्रीमती कृष्णादेवी ने फिर उसे दो लातें जमायी और फुँफकराती हुई ऊपर चल दी। लगता था कि खाली घर, उसकी सारी दीवाले, लकडी के खम्भे सभी तो साँस रोक कर यह काण्ड स्तब्ध होकर देख-सुन रहे थे। सिवाय इस काण्ड के कही कोई शब्द नही था। एक सुँता हुआ सन्नाटा, अविश्वसनीय शाति छितरी हुई थी। दुर्गा को बड़ी जोरो की मितली आ रही थी। सासू माँ सीढ़ियाँ चढती जा रही थी और दुर्गा पेट पकड कर गोँ-गोँ कर रही थी। उसे लगा कि मुँह के रास्ते सारी आँतें निकल पडेंगी। तभी बाहर के दरवाजे की 'कल' खुलने की आवाज हुई। वह समझी कि या तो ससुरजी होगे या फिर कोई बाहरी व्यक्ति। और अपने को बड़ी कठिनाई से सहज बनाने की चेष्टा में उठने को हुई। कूल्हे जोरो पर पिरा रहे थे। वह चाहने लगी कि किसी प्रकार वह चूडी के टुकडे भी समेट पाती। आगन्तुक बुआ-सास श्रीमती यमुनादेवी पंड्या थी। दुर्गा लाख उपक्रम करती रही परन्तु एकदम उठ नही पा रही थी।

दुर्गा को चौखण्डी में इस प्रकार अनाथ-भाव से गिरे देखकर वह लपकी और बोली,

—क्या बात है बहू ? गिर कैसे गयी ?

बुआ-सास का सहारा मिलते ही घुटने पर हाथ टिका वह उठते हुए बोली,

— कुछ नही बुआजी ! शायद पैर लचक गया था।

— इसे पैर लचकना कहते हैं ? हाथों की चूडियाँ तक तड़क गयीं। कलाई खूनाखून हो गयी। क्या घर में कोई नही है क्या ?
— सासूमाँ ऊपर है।
बुआ-सास ने दुर्गा के शरीर को जैसे ही थोड़ा अधिक सहारा दिया, बोली,
— तुम्हे तो ज्वर लगता है।
— कुछ नही, बस ऐसे ही।
दुर्गा को उठने पर लगा कि कूल्हो में जो दर्द है उससे भिन्न प्रकार का दर्द उसके पेट में हो रहा है, शायद असह्य। और वह दोनों हाथो से पेट पकड़ कर तुलसी-क्यारे की पाल पर बैठ गयी। उसे लगा कि यदि वह एक पैर भी चली तो पेट गिर कर नीचे आ जाएगा। शायद बुआ-सास बहू की इस शारीरिक-यन्त्रणा को किसी सीमा तक बूझ ले गयी। जिस ढंग से दुर्गा ने पेट थाम रखा था उससे उन्हें तत्काल शक हो गया और उन्होने उसका हाथ हटा कर बहुत हौले से अपना हाथ फेरने लगी। पता नही हाथ और अँगुलियों ने उन्हे क्या प्रतीति करवायी। वह बहुत ही आत्मीयता से बोली,
— अरे, तेरे तो पैर भारी है बहू!
दुर्गा ने जल भरी आँखों से इस आत्मीय स्वर की ओर बिना समझे-बूझे ही देखा। बुआ-सास में उसे उस व्यक्ति की तलाश की पूर्ति लगी जिसके कन्धे पर वह सिर रख 'ओ माँ !!' कहकर कम से कम एक बार फूट कर कितनी देर से रोना चाहती रही थी।
— बेटा! अब सम्हल कर चला करो।
बुआ-सास ने उसे कन्धो से थाम रखा था। वह निढाल सी उन पर झुकी-झुकी चलने लगी। वह किसी प्रकार ऊपर पहुँच कर अपने बिस्तरे में पहुँच कर अपनी इस देह को छोड़ कर अपने में डूब कर मुँह में कपडा ठूँस कर खूब रो लेना चाह रही थी।
जैसे ही दुर्गा को लेकर श्रीमती यमुनादेवी ऊपर पहुँचीं और श्रीमती कृष्णादेवी को वहाँ देखा तो हँसकर बोली,
—भाभी! बहू के तो पैर भारी है। दो महीने चढ़ गये, लगता है।
अपनी ननँद की यह बात सुनकर श्रीमती कृष्णादेवी हठात अवाक हुई परन्तु फिर तत्काल प्रसन्न भी हुई। उन्होने आगे बढ़कर बहू को बिस्तरे की ओर ले जाते हुए ननँद से कहा।
— कित्ती बार कहा होगा कि बहू! जब तबीयत ठीक नहीं तो बार-बार नीचे न जाया करो, पर ये आजकल की लडकियाँ तो किसी की सुनती ही नही। मान लो पैर ही फिसल जाए ?
— मान लो!····अरी भाभी! वो तो कहो कि मै पहुँच गयी वर्ना यह तो वहाँ— चौखण्डी में गिरी पड़ी थी।
श्रीमती यमुनादेवी की इस बात पर श्रीमती कृष्णादेवी हतप्रभ हो आयी। बात पर लीपापोती करते हुए बहू से बोली,
— घर में इत्ते लोग है। कोई जरूरत नहीं तुम्हारे उठ कर कही जाने की।
वास्तव में श्रीमती कृष्णादेवी को अब अपने पर ही खीझ भी आ रही थी कि बहू के

गर्भवती होने का पता स्वयं उन्हें पहले क्यों नहीं हुआ?—हाँ, होता भी कैसे? एक बच्चे की माँ होना भी क्या माँ बनना होता है? और वह भी कब?''''सच्ची, कित्ते जोर से बहू का हाथ झटक दिया था न? शायद चूड़ियाँ तड़क उठी थीं। बिचारी कैसे पछाड़ खा कर चौखण्डी में गिरी थी।''''और बहू के लिए उनके मन में असीम न भी सही तो स्नेह तो उमड़ ही पड़ा।

अपनी ननँद से बोली,

— तुम इसके पास बैठो, मैं इसके लिए गरम-गरम दूध ले आऊँ।

दुर्गा ने मुँह ढँके हुए ही अपनी सास की बात सुनी और रुलाई फूट पड़ी, पर कहीं बुआ-सास न सुन लें इसलिए वह कपड़ा दाँतों से कसकर दाबे रही।

॥ प्रशाखा-प्रकरण ॥

दुःख ही एकमात्र निकष है। दुःख जब स्वत्व को भेद देता है तो व्यक्ति वीतरागी हो जाता है। दूसरे के सन्दर्भ में यह दुःख ही करुणा है। दुःख, भाव है और करुणा स्वत्व। दुःख उठाना एक बात है और दुःख का साक्षात करना सर्वथा भिन्न है। दुःख उठाने वाला प्रायः टूट जाया करता है परन्तु दुःख का साक्षात करने वाला निश्चय ही आत्मजयी होता है। पण्डित शिवशंकर आचार्य ने भी दुःख का साक्षात किया था। व्यर्थ ही श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य अपने इस शेष, एकमात्र पुत्र को लेकर चिन्तित थीं। वैसे चिन्ता किसी बुरे अर्थ में नहीं थी कि एकमात्र पुत्र आवारा निकल गया है, या उडाऊ हो गया है, या और कुछ। शायद स्थिति इसके ठीक विपरीत ही थी। लेकिन सामान्य जीवन में बहुत बुरा जिस प्रकार असहनीय होता है उसी प्रकार बहुत अच्छा होना भी कष्टदायक ही होता है। इसीलिए सासारिक बने रहकर व्यवहार-जगत की सारी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना असाध्य ही है, परन्तु हम सब चाहते यही हैं।
पिता और भाइयों की मृत्यु के उपरान्त पण्डित शिवशंकर आचार्य में सहसा परिवर्तन हुआ, इतना तो सच है, परन्तु यह अनपेक्षित कुछ नहीं था। हाँ, यदि पिता की छाया बनी रहती तो पण्डित शिवशकर आचार्य के 'वयस्क' होने में अभी कुछ वर्ष और लगते। और उस स्थिति में क्या होता, कहना कठिन है। परन्तु जिस दिन पिता का शवदाह करके वह लौटे और उस उतने बड़े उजाड घर में सिवाय आर्त्त-माँ के और किसी को नहीं देखा तो उन्हें लगा कि जैसे उन्हें किसी ने जलते तवे पर खड़ा कर दिया है और ओठ सी दिये हैं। सारा दुःख वाणी से, अभिव्यक्ति से परे का था। जिस प्रकार बहन का विवाह हुआ और बीत कर जो कुछ पीछे अवसाद छोड़ गया था उसमें द्वार पर बँधी आम के पत्तों की बन्दनवार, आँगन का मण्डप; यज्ञ की वेदी सब कैसे निरीह—उपहास लग रहे थे। ओसारे की आधी दीवाल से पीठ सटाये, फटी आँखों में शून्य

ताकती माँ कितनी विकराल लग रही थी जैसे कोई उन्हे छू भर दे तो वह दाँत किट-किटाकर वकोट ही लेंगी। कहाँ चले गये सब ? ओसारे के डांडो में लाल कपडे में बँधा जटाशकर का हारमोनियम क्या अब कभी नही बजेगा ? जटा, रोज नीम नीचे, लँगोट कसकर तेल मालिश करता था और डण्ड-बैठक निकाला करता था। उसके तेल की वह ऊँट के खाल की कुप्पी लकडी के खम्भे में लटकी हुई थी। पिता की वह लाल पगडी तथा जरी का सारंगपुरी दुपट्टा दोनों खूंटी पर टँगे हुए कैसे दयनीय प्रतीक्षा करते लग रहे थे। वस्तुएँ थी परन्तु अब उनके व्यवहारकर्ता जाने कहाँ चले गये थे। उस पूरे घर में उस समय केवल कृष्णा गाय की गलघटी कभी टुनटुना पडती नही तो पूरा घर, तमाचा खाये मुख सा भाषाहीन आसन्न था। पडित शिवशंकर आचार्य को उन दिनों वैसी ही अपार पीडा हुई जैसी कि किसी कद्दावर शीशम के वृक्ष को उस समय होती होगी जिस समय उसे आरे से रेता जा रहा होता है। रेशा-रेशा काटा जा रहा है और आपका पोर-पोर कट रहा है। देखते-देखते वह बिन्दु भी आता है जब अन्तिम रूप से आपकी ऊर्ध्वता धराशायी हो जाती है। उसके बाद आप कभी भी फिर अपनी भूमि से, अपनी वानस्पतिकता से नही जुड पाते है। आपकी समग्रता टुकड़े-टुकड़े कर दी जाती है। लगता है न, कि क्या इसी ध्वस्त होने के लिए आप इच-इच पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध सघर्ष करते हुए बढे थे ? जिस कमरे में जाते, पडसाल में जाते उन्हे पिता की, भाइयों की आवाज सुनायी पडती। दीवाल में लगे छोटे से शीशे में कैसे दुर्गा अपना मुँह, अपनी टिकुली देखा करती थी। फर्श और दीवालें अन्तिम बार उसी ने तो अपने हाथों से गोबर से लीपी थी। गोबर लिपी दीवालों और आँगन में घास के तिनके कैसे सोने की पत्तियों में चमक-चमक पडते है। कल तक बहन थी, एक अविभाज्य उसकी यहाँ उपस्थिति थी, पर अब ??....दूसरों की अनुकम्पा पर यदा-कदा की एक अतिथि बन गयी है। पिता और भाई ऐसे गये कि संसार की सम्पूर्ण सम्पदा के बदले भी उन्हे प्राप्त नही किया जा सकता। रोज पेडों की फुनगी से धूप को उड़ते हुए देखा है, समय को बीतते देखा है, ताल में जल का चलना देखा है पर क्या कभी सोचा था कि व्यक्ति भी इसी प्रकार बीत जाते है ? सारा गाँव कैसा खाली हो गया न, जैसे बर्तन का पानी खौलकर उड गया। विश्वास ही नहीं होता कि कभी इसमें पानी भी था। गाँव, घर सब कैसे उजड़ गये। गुडीमुड़ी किये हुए गीले कपडे जैसे रखे-रखे ही सूख जाएँ, वैसे ही तो घर हो गये हैं। दु:ख हो तो रो लिया जाए लेकिन विभीषिका के लिए कोई क्या करे ? जब सारी इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से दु:ख भोग रही हों तो व्यक्ति किस-किस के लिए रोये ? पण्डित शिवशकर आचार्य कभी घर में जाते, कभी बाहर चबूतरे पर टहलने लगते। क्या कह कर माँ को सान्त्वना दें ? जब दोनो ही बचे हुए प्राणी भोग रहे हों तो कौन-किसको सान्त्वना दे ? भाषा दूसरे के लिए होती है। अपने को सान्त्वना देने के लिए व्यक्ति केवल रो सकता है, और रोना न जाने कब का शेष हो चुका था। उन दोनों के पास केवल विस्फारित दृष्टियाँ थी और ओठों पर वाचाहीनता का ठण्डापन।

ऐसे में पण्डित शिवशंकर आचार्य में यदि गुणात्मक परिवर्तन आ गया तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आश्चर्य तो न होने पर ही होता परन्तु श्रीमती गोदावरी देवी अपने आकुल मन को क्या कहकर समझाएँ ? लेकिन श्रीमती गोदावरी देवी ही क्यों हममें से कितने जानते हैं कि सन्तान के बारे में मनुष्यों से कहीं अधिक यथार्थपरक दृष्टिकोण पशु-पक्षियों का होता है, इसलिए वे सन्तुलित होते हैं। सन्तान को लेकर जितना दुःखी मनुष्य होता है उतना कोई और नहीं। इसका कारण यह है कि मनुष्य यह नहीं जानता कि सन्तान का सुख, सन्तान के केवल पालन-पोषण में ही है। और इतने अंश में मनुष्यों से कहीं अधिक सतर्क, सावधान और निष्ठा पशु-पक्षियों में देखने को मिलेगी। लेकिन जिस दिन सन्तान के स्वत्व के डैने निकल आते हैं या व्यक्तित्व के सींग उग आते हैं—वे मूक जीव 'पुत्रं मित्रं-समाचरेत' का अक्षरशः न केवल पालन ही करते हैं बल्कि उससे सर्वथा असम्पृक्त हो जाते हैं। जबकि मनुष्य के लिए यह सन्तान-सम्बन्ध गुणा-भाग होता है। वह निरन्तर उससे जुड़ा रहना चाहता है, जबकि सन्तान छिटक जाना चाहती है। इस आकर्षण-विकर्षण के कारण ही आये दिन सामान्य घरों में ही नहीं, मनुष्य मात्र के साथ सन्तान को लेकर रोना-पीटना, आशा-हताशा, शिकवा-शिकायत क्या नहीं होता है ? ममत्व की यह कैसी जड़ता है कि हम अपनी सन्तान को न केवल वस्तुएँ, सम्पत्ति ही वसीयत में दे जाना चाहते हैं बल्कि अपने राग-द्वेष तक सौंप देना चाहते हैं। हम नहीं जानते कि यही मोह विषमता का बिन्दु है। हम दूर-दूर तक अपनी सन्तान से असम्पृक्त नहीं हो पाते। सन्तान के साथ किये गये पालन-पोषण का प्रतिदान जब मनुष्य चाहता है, तब वह नहीं जानता कि कहीं वह विकर्षण, वितृष्णा का बीजारोपण भी कर रहा होता है ? इसी आकर्षण, विकर्षण को कालान्तर में मनुष्य ने कुल, गोत्र, सभ्यता न जाने क्या-क्या नाम दिये। हर पीढ़ी यही कहती हुई इस संसार से विदा हुई कि इस नयी पीढ़ी में माता-पिता के प्रति कर्तव्य-बोध नहीं रहा। परन्तु इस अर्थ में श्रीमती गोदावरी देवी को पण्डित शिवशंकर आचार्य ने शिकायत का कोई मौका नहीं दिया। कल तक शिवशकर एक प्रकार से फूहड़, गँवार जैसे ही थे। पिता की अनुपस्थिति में या पिता के रुग्ण हो जाने पर मन्दिर में जाकर लिंग पर बिल्वपत्र चढ़ा दिये, अभिषेक-पात्र को छलकाते हुए भर दिया और यदि इस पर पिता ने जरा सी भी टीका-टिप्पणी कर दी तो मुँह ढँककर बिना बोले अपने कोने में पड़े रहे परन्तु जटा या रामनारायण की तरह कभी जवाब नहीं दिया। खलिहान पर अगर भेज दिये गये तो जितना कहा उतना तो कर दिया लेकिन उसके आगे-पीछे से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु हाँ, क्या मजाल जो एक पूला इधर का उधर हो जाए या कोई एक दाना भी अनाज के ढेर में से आसामी या बैल मुँह मार सके। जबकि माता-पिता की अपेक्षाएँ शायद और अधिक ही रही होंगी। पिता और भाइयों की मृत्यु के बाद जो हठात परिवर्तन हुआ वह यही कि वह अब सतर्क ही नहीं जिम्मेदारी भी अनुभव करने लगे, परन्तु सम्पत्ति के स्वामी की भाँति नहीं बल्कि एक रक्षक के रूप में। आसक्ति और अनासक्ति का अजीब व्यवहार शिवशंकर में दिखलायी देने लगा। आसक्ति, एक

रक्षक के रूप में थी जबकि अनासक्ति एक व्यक्ति के रूप में थी। उनके सारे व्यवहार-आचरण से स्पष्ट लगता था कि वह खेत-खलिहान, अनाज-फसल, लेन-देन, घर-बाडी सबको माँ की सम्पत्ति समझते थे और एक पुत्र के नाते उनका कर्त्तव्य था, कि चूँकि अब पिता नहीं थे इसलिए सम्पत्ति की समुचित देख-रेख करके माँ को पूर्ण सन्तुष्ट रखना। इसके साथ ही उनका जो मौन रहने वाला व्यक्तित्व था वह भी मुखर होने लगा। पहले इस व्यक्तित्व के पास कोई विशेष भाषा, दिशा नहीं थी परन्तु सांसारिक वयस्कता के साथ-साथ उनमें का आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी जाग्रत हो उठा। उनको देख कर लगने लगा कि यह व्यक्ति देखकर पैर ही नहीं बढाता बल्कि प्रत्येक साँस भी देख सुन कर ही लेता है।

अगत्या पंडित शिवशंकर आचार्य एक सफल गृहस्थ भी बन कर रहे परन्तु परम वीतरागी भी, इसका नतीजा यह हुआ कि आसपास के गाँव-खेड़ों तक धीरे-धीरे उनका सम्मान बढ़ने लगा। अब उनके उठने-बैठने के दो ठौर हो गये थे—गृहस्थी के लिए घर था ही और अपने लिए उन्होंने अब केवड़ा-स्वामी को धीरे-धीरे विकसित करना शुरू किया। अब उनकी दिनचर्या में किसी भी प्रकार की ढिलाई नहीं थी। एक निष्णात वादक का जिस प्रकार आकण्ठ कसा हुआ वाद्य होता है, वही स्थिति पण्डित शिवशंकर आचार्य की थी। सवेरे छह बजे तक वह नियमतः गाय-बैलों का दाना-पानी करवा देते। शुरू में तो अपने ही गाय दुहते थे परन्तु बाद में ग्वाला लगा दिया था जो गाय दुहने के बाद उसे माल (जंगल) में ले जाता। इसके बाद दूध गरमाना, औटाना, छाछ बिलोना, मक्खन निकालना आदि माँ करती। इस बीच हाली-मवाली को दिन भर का काम सहेज देते। बीज, खाद जो भी लेना-देना होता उसे निबटा कर वह तब मन्दिर की पैतृक देव-पूजा पर निकल पड़ते। पूजन के बाद एक चक्कर अपने खेत-खलिहान का लगाते हुए उस बगीचे को भी देख आते जिसे पिता ने अपने अन्तिम दिनों में बड़े मनोयोग से खरीदा था। बगीचा क्या था अभी, पर हाँ पपीते, अमरूद, शरीफे के कुछ पेड़ों के साथ आठ-दस पेड़ आम के भी थे। वैसे तो प्रायः मालवा में कटहल नहीं होता परन्तु संयोग से दो पेड़ कटहल के भी थे। कभी एकाध मजदूर की सहायता से, तो कभी स्वतः ही शिवशंकर इस बगीचे को व्यवस्थित करते होते। मौसमी फूलों की भी व्यवस्था थी। उनका विचार था कि यदि एकाध कुआँ खुदवा दिया जाए तो पानी की समुचित व्यवस्था हो जाने पर बगीचा विकसित किया जा सकता था।

सवेरे की इस देख-रेख के बाद जब तक वह घर लौटते तब तक माँ घर का झाड़-बुहारू, बिलोना-पोसना आदि कर चुकी होती। यदि इस बीच माँ गाय-बैलों का गोबर समेट रही होती तो वह माँ की सहायता करने लगते। उसके बाद वह दूध पीकर केवड़ा-स्वामी चल देते। कभी-कभी ही नहीं बल्कि प्रायः उन्हे खलता कि माँ और उनके बीच ओठों की भाषा नहीं बल्कि हाथों का काम ही सेतु है। कभी-कभी जब दोनों इस निरन्तर के मौन के प्रति सचेत हो जाते और चौंक कर एक दूसरे को देखने लगते उस दोनों का प्रति-चौंकना और भाषा की तलाश की व्यग्रता तथा बहुत-कुछ कह

की आकुलता देखते ही बनती । शायद दोनों ही झेंप जातें । यह दुरवस्था प्रायः नाश्ते के समय होती । दूध पर माँ जिस प्रकार अतिरिक्त ही नहीं बल्कि सारे दूध की मलाई डाल कर देती, उस समय शिवशंकर को लगता कि वह अपने सारे भाई-बहनों की मलाई खा रहे हैं । पता नहीं माँ को कैसा क्या लग रहा होगा । अवश्य ही माँ इस समय उनके मुख में उटा, रामनारायण, दुर्गा को तो देख ही रही होंगी साथ ही कहीं न कहीं पिता को भी खोज रही होंगी । यही सब सोचते हुए शिवशंकर ही नहीं बल्कि उसी समय माँ भी गहरी निश्वास ले रही होती । शिवशंकर नहीं समझ पाते कि इन सबको क्या कोई भाषा दी जा सकती है ? और भाषा यदि दे दी जाती तो कितना मर्मान्तक होता ? और वह जल्द से जल्द गुड़ डला दूध पीकर एक बार कनखी आँखों से माँ की ओर देखते, जैसे माँ को बाहु में भर लिया हो और लगभग कुछ भी कहे बिना निकल पड़ते ।

मनुष्य का मन भी क्या है कि घर में होने पर घर के बाहर की कामना करता है परन्तु घर से बाहर होते हो निरन्तर घर से जुड़ा रहता है । जैसे-जैसे घर दूर होता जाता है उतना ही घर, मन में धँसता जाता है । शिवशंकर भी प्रायः इस मन:स्थिति के साथ ही केवड़ा-स्वामी पहुँचते । धीरे-धीरे केवड़ा-स्वामी का रूप निखर आया है, नहीं तो वर्षों तक यह स्थान निर्जन, उजाड़ ही था । यहाँ शिवजी का एक मन्दिर अवश्य था परन्तु वह भी अत्यन्त जीर्णावस्था में था । इसके शिल्प को देखकर भले ही कहा जा सकता था कि किसी ने कभी इसे मनोयोग से दिव्य ही बनाया होगा परन्तु समय, वर्षा और हवा ने निरन्तर प्रहार करते-करते केवल इसका आकार-प्रकार ही किसी सीमा तक बनाये रखा था बाकी सब ध्वस्त था । दीवालों का, फर्श का चूना झड़ चुका था । कहीं-कहीं लखौरी ईंटें दिखने लगी थीं । मन्दिर का गुम्बद टपकता तो नहीं था परन्तु उजड़ा अवश्य लगता था । लिंग इतना उपेक्षित हो चुका था कि उसमें देवत्व कहीं शेष नहीं रह गया था । पास ही एक पुरानी बावड़ी थी जो सर्वथा मृत नहीं हो पायी थी । इसका कारण यह था कि आते-जाते यात्री इसमें नहाते-धोते थे, नहीं तो जिस प्रकार इसकी सीढ़ियाँ टूट-फूट गयी थी तथा हवा-पानी में वर्षों-वर्षों धूल और पत्ते जिस तरह गिरते रहते थे तथा काई जमनी शुरू हो गयी थी उसमें इस पानी को मरते क्या देर लगती । परन्तु हाँ, इस स्थान को निर्जन या सर्वथा परित्यक्त होने से जिस चीज ने बचा रखा था, वह था इसका केवड़े का वन । केवड़े का वन नैसर्गिक ही था । मीलों से इसकी गमक आती । सर्प को यह गन्ध बहुत प्रिय होती है इसलिए यहाँ प्रायः सर्प दिखलायी देते थे । शायद इसी कारण, भयवश ही यह स्थान रम्य होते हुए भी सुरक्षित न समझ मनुष्यों ने इसे त्याग दिया हो । जो भी कारण रहा हो पर प्रकृति के अपने नियम होते हैं । जिस चीज व्यक्ति और स्थान की चिन्ता मनुष्य करने लगता है प्रकृति उसकी चिन्ता करना छोड़ देती है और जिसे मनुष्य छोड़ देता है वहाँ प्रकृति अपने ढंग से उसे ऐसा सुरभित किये रहती है कि आश्चर्य होता है । प्रकृति ने ही इतने वर्षों तक केवड़ा-स्वामी को सुरक्षित रखा । जंगली गेंदा, गुलाब, चमेली क्या नहीं था ? हाँ, जो

नहीं था, वह थी व्यवस्था । मनुष्य की व्यवस्था की कल्पना और प्रकृति की व्यवस्था की कल्पना में मौलिक अन्तर होता है । प्रकृति विशाल फलक पर काम करती है इसीलिए पर्वतमाला की व्यवस्था के लिए उसके पास समुद्र का प्रतिमान होता है, जबकि मनुष्य इस विशाल प्रतिमान की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता ।

पण्डित शिवशंकर आचार्य ने दिन-रात के वर्षों के अपने अथक परिश्रम से तो कभी गाँव के कुछ उत्साही लोगों की सहायता से पहले स्थान को समतल बनाया, रास्ते बनाये । चारों ओर मेड़ें लगाकर जानवारों से स्थान को सुरक्षित बनाया । और देखते-देखते वहाँ कच्चे-पक्के दो कमरे, आगे-पीछे पडसाले बनायीं । मन्दिर की भी कुछ मरम्मत कर डाली गयी । केवडा-स्वामी अब धीरे-धीरे गाँव वालों के लिए भी रमणीक-स्थान बन गया । शिवशंकर के उद्योग से लिंग-स्थापन हुआ । अब प्रतिदिन वहाँ शाम को सार्वजनिक पूजा-आरती होने लगी । लोग अपने फुर्सत के समय घाट की मरम्मत कर दिया करते । जिस किसी की मोंठ और बैल खाली होते वही बावडी के पानी की सफाई में लग जाता । इस प्रकार सारे गाँव को अपने-अपने घरों की सकुचित सीमा से निकाल कर एक सार्वजनिक स्थान पर शिवशंकर ने कुछ ही वर्षों में ला खडा किया । परन्तु इसके लिए उन्होंने कभी किसी से कुछ कहा नहीं होगा । उनके हाथ में खुरपी या फावड़ा ही रहा होगा जब कभी कोई अनायास वहाँ पहुँचा होगा । उस आगन्तुक को देखकर उनकी बड़ी-बडी आँखें ऐसे आत्मीय भाव से मुसकरायी होंगी कि वह आगन्तुक भी अनायास हाथों से दूब ही उखाड़ने लगा होगा । जब दो से चार हाथ हो जाएँ तो व्यक्ति 'चतुर्भुज' हो जाता है और किसी भी धरती को चतुर्भुज ही तो चाहिए । वही धरती तब अन्नपूर्णा बन जाती है । और हुआ भी यही कि केवडा-स्वामी भी उस गाँव का केन्द्र बन गया ।

जिस प्रकार मनुष्य में उसकी छाया भी निहित होती है कि हमारे खड़े होते ही हमारी छाया भी पैरों की राह फैल जाती है उसी प्रकार मनुष्य के साथ उसकी सांसारिकता भी होती है । फिर पण्डित शिवशंकर आचार्य ने जिस एकान्त और आध्यात्मिकता की दृष्टि से केवडा-स्वामी का जीर्णोद्धार एवं विकास करना चाहा वह उनकी व्यक्तिगत इच्छा थी परन्तु अब वह स्थान रमणीक एवं सार्वजनिक हो चला था इसलिए आये दिन चैत्र और आश्विन की नवरात्रियों को तो विशेष पूजा-अनुष्ठान होते ही परन्तु वैसे भी सभी मौकों पर कुछ न कुछ यहाँ आयोजन होने लगे । इन पूजा-अनुष्ठानों के अतिरिक्त बावड़ी में नहाने-धोने की पहले से अधिक व्यवस्था हो जाने के कारण तथा आस-पास की प्राकृतिक सुषमा के कारण लोग सैर-सपाटे या सेल (पिकनिक) करने के लिए जमा होने लगे फलस्वरूप शिवशंकर को अपने चिन्तन-मनन में व्याघात लगने लगा । चूँकि यह स्थान सार्वजनिक था इसलिए उस पर एकाधिपत्य का प्रश्न ही नहीं था अतः केवडा-स्वामी से थोड़े ही दूर पर जो उनका अपना बगीचा था, वहाँ अपनी एक छोटी सी कुटिया बना

ली। और एक प्रकार से अब यह कुटिया ही उनका आध्यात्मिक केन्द्र बन गयी। कुछ धार्मिक पुस्तकें, पूजा-अर्चा का थोड़ा सा सामान, एक चटाई और एकाध धोती वगैरह भी उस कुटिया में आ गये। वैसे वह नित्य केवड़ा-स्वामी में भी पूजन करते परन्तु गायत्री के पुरश्चरण आदि यहीं कुटिया में ही करते। दोपहर में या जब कभी मौका मिलता तो देर रात तक भी भागवत, दुर्गा-सप्तशती, रामायण, महाभारत आदि का पारायण होता। उपनिषदों के तत्वों, तात्विक आख्यानों को पढ़कर घण्टों खोये रहते। उन्हें लगता कि उनके भीतर कोई एक प्रासाद है, जो बन्द है और जिसकी ताली को उन्हें जैसे तलाश है। एक अन्तर्नाद की प्रतीति होती, जैसे चट्टानों के भीतर बहते या संघर्ष करते जल की आवाज होती है कि जैसे जल, बाहर आने के लिए पत्थरों से टकरा रहा है।

परन्तु पण्डित शिवशंकर आचार्य ने अपने भीतर के व्यावहारिक व्यक्ति की, उसके सम्बन्धों की कभी अवमानना नहीं की। माँ को कभी शिकायत का अवसर नहीं दिया होगा। दुर्गा को लेकर माँ की जो स्वाभाविक चिन्ता हो सकती थी उसमें वह भी कर्तव्य और भावना दोनों ही रूप में भागीदार थे, बल्कि सोत्साह। अब दुर्गा तीन बच्चों की माँ हो गयी थी फलतः वह भी एक प्रकार की निश्चिन्तता अनुभव करते थे। यद्यपि दुर्गा की सास का जो अमानवीय व्यवहार दुर्गा के साथ था, उसको लेकर वह भी माँ की ही भाँति विकल हो जाते थे परन्तु एक तो सम्बन्ध की विवशता थी, दूसरे यही सोचते थे कि कुछ भी कहने-सुनने से स्थिति शायद खराब ही हो। परन्तु अच्छाई केवल यही थी कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने अब सारा काम-काज अपने हाथ में कर लिया था। पिता पण्डित महादेव शुक्ल एक तो गिरते स्वास्थ्य के कारण दूसरे किन्हीं आर्थिक मामलों में घपले करने के कारण राज्य-कोप के भाजन बनते जा रहे थे इसलिए पुत्र ने पिता को परामर्श दिया कि अब वह विश्राम करें। पण्डित महादेव शुक्ल ने भले ही पूरी तरह हट जाना स्वीकार न किया हो परन्तु अब सारा कारोबार त्र्यम्बक ही करने लगे थे। यद्यपि श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को यह स्थिति कदापि स्वीकार नहीं थी। क्योंकि इसका तात्पर्य था कि तब घर में भी सास के स्थान पर बहू का वर्चस्व हो। हाँ, पुरुष एक बार यह भी स्थिति स्वीकार सकता है परन्तु स्त्री कभी नहीं। स्त्री को यदि एक बार भी केन्द्रीय-पद मिल गया तो वह जीते जी उससे कम कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती है। इसीलिए दुर्गा की साँसत अभी भी यथावत ही थी। वैसे एक रास्ता यह हो सकता था कि त्र्यम्बक और दुर्गा—अपनी कातिक-चौक वाली हवेली में चले जाते। परिवार बढ़ ही रहा था। वहाँ जाना सुविधाजनक भी होता। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने तो कहा भी होगा इस बारे में परन्तु दुर्गा को ही यह स्वीकार नहीं हुआ। दूसरी कोई बहू होती तो वह इतनी दुर्गत की यदि आधी भी भोगती तो कभी की अलग हो जाती, परन्तु जब दुर्गा ने अलग रहना स्वीकार नहीं किया तो ससुर पण्डित महादेव शुक्ल के मन में बहू को लेकर कोमलता ही आयी। इसके कारण उनमें और पत्नी श्रीमती कृष्णादेवी में प्रायः तू-तू, मैं-मैं तक हो जाती। सास की यह मनोग्रंथि निरन्तर बढ़ती रही कि बहू बहुत मायावी है जिसने पहले तो उनका पुत्र उनसे छीना और अब

छल-छन्द करके उनका पति भी छीन रही हैं।
आये दिन इस प्रकार के समाचार सुनने को या तो गाँव में ही मिल जाते या जब कभी उज्जैन जाना होता तो न जाने कितने नमक-मिर्च के साथ देखना-सुनना पडता। फिर भी श्रीमती गोदावरी आचार्य और पण्डित शिवशकर आचार्य दुर्गा को लेकर निश्चिन्तता ही अनुभव करते परन्तु जिस एक बात में पुत्र, माँ का सामना नही कर पाता या करना नही चाहता होता—वह था उसका स्वयं का विवाह। उन दिनो शिवशकर की साँसत और अधिक बढ जाती जब दुर्गा या बुआ या किसी अन्य नाते-रिश्तेदार के यहाँ से किसी लडकी के सम्बन्ध की बात आती। आरम्भ में तो वह हँसकर टाल जाते थे। माँ भी समझती थी कि जिस दुर्दान्त अनुभव से न केवल उन्हें ही बल्कि पुत्र को भी गुजरना पड़ा है उसमें ऐसा बिदकना स्वाभाविक है। पहले तो वह इसे शिवशंकर का श्मशान-वैराग्य समझती रही परन्तु जब उन्होंने पंचकेशी रखना शुरू किया तो उनका चौकना स्वाभाविक ही था। श्रीमती गोदावरी देवी की अकेले में घबराहट, चिन्ता या परेशानी प्रायः बढ़ जाती कि यदि इसने विवाह नही किया, तो क्या होगा ? और वह इस बात का फैसला पुत्र के लौटने पर जब भी करने को होती और पुत्र का शान्त, सौम्य-मुख देखती तो लगता कि जैसे उफनाते दूध पर पानी के छींटे पड गये हों। कोई क्या कहे ? शिवशंकर के जैसा आज्ञाकारी, सेवा-परायण, विनम्र और जल की भाँति निर्मल पुत्र सामने खडा हो तो वही नही, कोई भी क्या कह सकता है ? पुत्र ने उन पर घर-गृहस्थी का कौन सा बोझ या स्वयं अपना बोझ आप पर डाल रखा है ? श्रीमती गोदावरी आचार्य को अपने पुत्र से क्या शिकायत है ? गर्मियों की दोपहर में नींद से चौककर क्या उन्होंने नही देखा है कि आप पसीने-पसीने भले ही हो रहा होगा पर माँ को बराबर पंखा झलता बैठा है ? घर-गृहस्थी का कौन सा काम शिवशंकर को नही आता है ? उनसे दही का जाँवन गड़बड़ा सकता था परन्तु शिवशकर से नही। जाड़ों की रात में गोमुखी में हाथ डालकर वह माला फेरते हुए भूल गयी होगी कि सामने रखी सिगडी (खुली, मिट्टी की अँगीठी) में उन्होने दूध की बाटियाँ भार रखी है परन्तु शिवशकर ने सदा हँसते हुए उन बाटियों को राख से निकाला होगा और तर्जनी से बजाते हुए बताया होगा संकेत से कि जरा भी देर हो जाती तो ये जल जाती। घर के साधारण से साधारण काम तक अपनी जान शिवशंकर ने माँ को नहीं करने दिये होंगे—कोठियों में अनाज धरने से होकर, सूखे कंडो को घर में रखना। आम की पाल कही सड़ तो नही गयी है या अचार में तेल की जरूरत तो नही है ? भला ऐसे पुत्र से माँ को क्या शिकायत हो सकती थी ? उसने घर के काम-काज में हाथ बँटाने के लिए एक विधवा महाराजिन भी रख दी थी। पुत्र की सदा यह चेष्टा रही है कि माँ को अब शरीर से नही केवल जीभ से ही काम करना पड़े। जीवन में जो सुख पिता और पति के समय में नहीं मिला वह पुत्र उपलब्ध करा दे। भला श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य यही न कह सकती थी कि पुत्र की यह मार तो ऐसी थी कि मार भी पड़े और रोने न दे। पानी के लिए अभी वह उलीचना (पानी भरने वाला बर्तन) उतार ही रही होंगी कि शिवशंकर ने दोनों

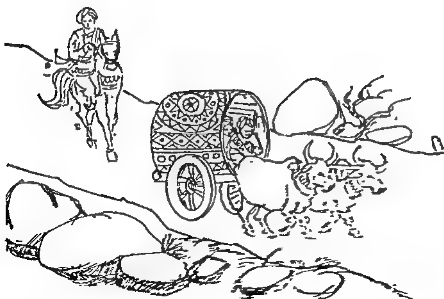
कंधों से दबोचकर उन्हे पलग पर बैठा कर पानी का गिलास थमा दिया होगा । अब इसे वह सुख कहे या दुःख ? इस पर गर्व करें या रोएँ ? वह सब समझ रही थीं कि पुत्र की सारी चेष्टा यही है कि उससे जैसा चाहे, जितना चाहे काम ले लो परन्तु विवाह की मत कहो । लेकिन क्यों ? और श्रीमती गोदावरी देवी इस प्रश्न से बारम्बार वैसे ही टकरातीं जैसे बन्द घर की जालियों से, भूल से घिरा पक्षी बारम्बार जाली से टकराता है । वह नही समझ पाता कि बाहर का सब कुछ तो दिख रहा है, फिर वह बाहर क्यों नहीं जा पाता है ?

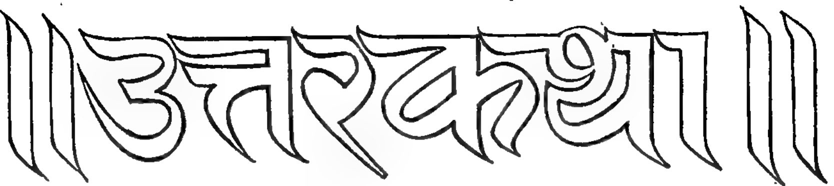
और ठीक भी तो है, श्रीमती गोदावरी आचार्य को बहू क्यों चाहिए ? पण्डित शिवशकर आचार्य ने कभी यह कहा नही परन्तु जिस ढग से वह दौड़-दौड़ कर घर-गृहस्थी और अपनी माँ की सेवा करता है उसका मतलब ही यह है। बहू सेवा के लिए ही तो चाहिए ? तो, जब बेटा ही सेवा किये दे रहा है, तब ? और बहू इससे अधिक सेवा करेगी इसका क्या प्रमाण ? मान लो वह सेवा न करे, तो ? तब घर में जो महाभारत होगा उसका क्या ?—फिर भी श्रीमती गोदावरी आचार्य अपने ही से जूझती होतीं। बहू उन्हें अपने लिए ही तो नही चाहिए । क्या बेटे की अपनी आकांक्षाएँ नही है ?.... और आज तो वह है, कल ? क्या माता-पिता सदा बैठे रह सकते है ? नही, शिवशकर को ब्याह करना ही होगा । परन्तु किसी भी दिन वह अपने पुत्र के प्रशान्त व्यक्तित्व को देखकर कहने का साहस नही जुटा पाती हैं ? वह कातर लाख हों परन्तु किसी से भी क्या कहे ? क्या जप-तप करना बुरी बात है ? और घर-गृहस्थी पिता के जमाने में जैसी थी उससे क्या लाख गुना हालत मे अच्छी अब नही है ? पहले एक सामन (हल) की खेती थी अब चार की नही हो गयी ? क्या उज्जैन-बडनगर की मंडियों तक उनका अनाज गाड़ियों में बिकने नही जाता ? दुर्गा की पहली अगरनी से लेकर बाकी के सारे काम भी जिस प्रकार सम्पन्न हुए, क्या इससे उन्हें असन्तोष है ? कुल-कुटुम्ब में होने वाले कौन से कार्य में लेन-देन के व्यवहार में पहले से कमी आयी ? बल्कि आचार्य-परिवार की सम्पन्नता पहले से कही बढी ही है, तब ?

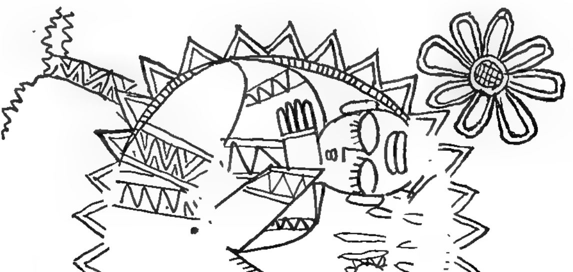
फिर भी श्रीमती गोदावरी आचार्य को लगता कि आचार्य-परिवार की वश-बेल आगे कैसे चलेगी ? वह रात में नीद से चौक-चौक पडती । दो-चार बार वह रात में घबराहट के कारण बगीचे वाली कुटिया तक भी गयी कि वह आज सारी बात का फैसला करके ही रहेगी, परन्तु जब उस शान्त कुटिया में पुत्र को अत्यन्त पवित्र, प्रशान्त भाव से पूजा-अर्चा, जप, ध्यान करते देखा तो वह मुँह में कपड़ा ठूँस कर रोते हुए ही लौटी हैं। उस मुद्रा में, उस पंचकेशी में ज्ञान-ध्यान में लीन बैठे व्यक्ति से वह क्या कहे, कि वह विवाह क्यों नही करता ? उस दिव्य रूप को देखकर सदा उन्हें लगा कि यह मुख उस व्यक्ति का नही हो सकता जिसकी कि वह माँ है । हाँ, यह कामना वह कर सकती है कि इस मुख को वह जन्म दें । अपने ही पुत्र के भीतर वह कौन सा अतिरिक्त व्यक्ति, अन्तर्निहित था, जो कि क्रमशः दीप्तिमान हो रहा था जिसके सामने केवल भक्ति से विनयित ही हुआ जा सकता था । परन्तु मनुष्य की यह विवशता है कि वह सन्तान

॥उत्तरकथा॥

(प्रथम-खण्ड)




।। उत्तरकथा ।।



का स्वरूप, जीवन तथा आशा-आकांक्षाएँ भी अपने अनुरूप ही चाहता है। पुत्र को श्रीमती गोदावरी देवी सांसारिक देखना चाहती थी और यह उस रूप में नहीं था इसलिए घोर दुःखी थी। समस्त सुखों में व्यक्ति इसी प्रकार दुःखी हो सकता है। मनौती, गंडा-ताबीज भी वह चुपके-चुपके करती रही कि किसी प्रकार इन सारे सद्गुणों के साथ पुत्र गृहस्थ भी बने। रामेश्वर से जल ले जाकर वह केदार-बदरीनाथ पर चढ़ाने का भी संकल्प मन ही मन कर चुकी थीं। किसी सामुद्रिक ने बड़नगर में उन्हें बता दिया था कि वह बहू का मुँह नहीं देख सकेंगी इसलिए वह मारे डर के तब से संकल्प किये थी कि यदि ऐसी ही बात है तो वह विवाह का सब कुछ तय हो जाने पर चारों धाम की यात्रा पर पैदल ही निकल पड़ेंगी और फिर बदरीनाथ से कभी नहीं लौटेंगी—परन्तु किसी प्रकार पुत्र विवाह कर लेता।

अब तो धीरे-धीरे स्वयं उनके निकट भी यह गेहुएँ वर्ण का, सुदीर्घ नासिका तथा किंचित बड़े नेत्रों वाला ब्रह्मचारी-व्यक्तित्व का पण्डित शिवशंकर आचार्य भी पूज्य व्यक्ति जैसा होता जा रहा था। घर में उसका आगमन, उसकी उपस्थिति का अर्थ अब सारे हाली-मवाली, अड़ोस-पड़ौस में विशिष्ट होने लगा था। कोई भी अपरिचित कह सकता था कि यह व्यक्ति इस घर का सदस्य न होकर घर में आया कोई व्यक्ति है—शायद साधू तक। लेकिन सिवाय पचकेशी के शिवशंकर की वेश-भूषा बाकी सामान्य ही थी, वही धोती, कुरता, दुपट्टा और चमरौधा ही। अब भी किसी काम के करने में न कोई संकोच, न भाव। फिर भी श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य को लगता कि यह अन्तिम पुत्र भी उनके हाथ से सर्वथा भिन्न प्रकार से छूट रहा है। विधवा तो वह थी ही, अब पूरी तरह सन्तानहीन भी शायद होना पड़े। उनकी आकुलता, विकलता का पार नहीं था—जैसे दूध भरा थन हों कि यदि दुहा न गया तो चूने लग जाएगा।
जब भी दुर्गा आती तो माँ, शिवशंकर की परौंच लेकर बैठ जातीं। मनुष्य के भाग्य में यदि दुःख लिखा है तो वह घोर सुख में भी दुःखी हो लेगा। श्रीमती गोदावरी की यही स्थिति थी। दुर्गा सारी बातें समझती है। अपनी माँ की व्यथा को भी और अपने 'बड़दा' के मन को भी। पर वह क्या कहे? क्या करे? और उस व्यक्ति से, बचपन में जिसके कंधे पर वह चढ़ी है, जिसे घोड़ा बनाया है और आज, जोकि वस्तुतः उसके पिता के समान है? क्या कहे कि वह विवाह क्यों नहीं करते? छोटे मुँह बड़ी बात करना और क्या होता है? एकाध बार जब दुर्गा ने कहने का प्रयत्न किया भी तो कैसे उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कैसी मन्द आवाज में बड़दा ने कहा था, जैसे कोई सच ही पिता हो—दुर्गा! बड़ा भाई पिता ही तो होता है, और क्या तू मेरी बेटी नहीं है दुर्गा?....और दुर्गा! ये तेरे तीनों बाल-गोपाल—धूर्जटी, पंचानन और चन्द्रशेखर क्या किसी दूसरे के हैं रे? तू हमें पराया समझती है?—अब भला दुर्गा इसका क्या उत्तर

दे ? एकान्त में वह माँ के वक्षस्थल पर सिर रखकर सिवाय रोने के और क्या कर सकती थी ? अजीब साँसत थी कि दुनियाँ जिसकी प्रशंसा करती हो उसकी शिकायत किससे की जाए, और क्या ??

श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य उज्जैन भी गयी । ननँद, ननँदोई त्रिपाठी जी से भी बीच-बचाव के लिए कहा । समधी पण्डित महादेव शुक्ल तक से सकेत में कह कर देखा कि न हो तो वही कुछ शिवशकर को समझाएँ, परन्तु कोई क्या समझाए ? पण्डित शिवशंकर आचार्य को यदि किसी प्रकार घेर लिया गया, तो वह हाथ बाँधकर खड़े हो जाएँगे । उस समय कोई भी कह सकता है कि वह आत्मलीन हैं । किसी की कोई बात सुन ही नही रहे है । परन्तु ऐसे में कोई अवज्ञा भाव नही होगा । विनम्रता में कोई कमी नही होती परन्तु जब वह वहाँ हों तब न सुने । वर्षों के प्रयास से अब तो उनकी यह वृत्ति ही बन गयी थी कि अहोरात्र, अखण्ड, निर्विघ्न गायत्री का जाप चलता रहता । कर्तव्य को भी कभी कुहनियो से ऊपर नही चढने दिया । और सच तो यह है कि चाहे वह शुक्ल जी हो या त्रिपाठी जी, पण्ड्या जी हो या त्रिवेदी जी सबको थोडी ही देर में शिवशकर के उस भव्य व्यक्ति के सामने लगने लगता कि वह किस व्यक्ति से क्या कह रहे हैं ? माना कि आयु में शिवशकर छोटा है पर आयु के बडप्पन का प्रमाण शूद्रो के सन्दर्भ में ही मनु भी मानते हैं । वास्तव में तो व्यक्ति ज्ञानवृद्ध ही होना चाहिए । ज्ञान ही प्रामाणिक होता है, आयु नही ।

जब पूछने वाला व्यक्ति पद, पर्यादा, सम्बन्ध की दुहाई देकर बहुत आग्रह करता तो शिवशकर सिर झुकाए मात्र इतना ही कहते—मेरा कर्तव्य जिजो के प्रति है, यदि उसमें कोई त्रुटि हो तो आप आदेश दें ।—जबकि विवाह के विषय में वह किसी भी प्रकार की चर्चा ही न करते । माँ, दुर्गा, बुआ किसी के भी तो आँसू उन्हे पिघला नही सके । जब सब कुछ कह-सुन लिया तो श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य ने यह तक सोचा कि न हो तो गाँव का सब-कुछ समेट कर उज्जैन ही चलकर रहा जाए । शायद है वातावरण के बदलने से पुत्र में परिवर्तन आए ।

और एक दिन जैसे ही नाश्ता करके, दूध पीकर शिवशंकर चलने को हुए कि माँ बोली,

— बेटा ! मेरा तो यहाँ अब मन लगता नही ।

— मैं भी यही सोचता हूँ कि तुम कुछ दिनों के लिए उज्जैन हो आओ । चाहो तो मामा जी के यहाँ बडनगर हो आओ ।

— अब बेटा ! सगे-सम्बन्धियो के यहाँ जाने की मेरी उमर है ? मैं तो बस क्षिप्रा-स्नान, देव-दर्शन के साथ आराम से रहना चाहती हूँ ।

— जिजी ! तुमने तो मेरे मुँह की बात ही छीन ली । तुम यहाँ की बिल्कुल चिन्ता मत करो । सारा जीवन तो तुम्हारा गोबर-कंडों में ही बीत गया । कुछ भगवत-भजन करो । मैं तो कहता हूँ तुम चारों धाम की यात्रा कर आओ । सारा प्रबन्ध हो जाएगा । मैं पूछ रखूँगा कि आस-पास के गाँवो से कौन इस बार यात्रा पर जा रहा है ।

श्रौर श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य सकते में आ गयीं। गयी थीं उपवास तोड़ने और एकासना गले पड़ गया। वह बहुत पछतायीं कि नाहक ही उन्होंने यह चर्चा चलायी, क्योंकि इसके बाद तो वह आये दिन पूछता कि बताओ, क्या सोचा है? जैसे ही किसी गाँव से तीर्थयात्रा पर जाने वालों का समाचार मिलता कि श्रीमती गोदावरी देवी की स्थिति विषम हो जाती। इसका तात्पर्य यह नहीं कि पुत्र उन्हें तीर्थयात्रा नही करवाना चाहता है या वह उन्हें भगाना चाहता है बल्कि यह, कि पुत्र बचे-खुचे गृहस्थी के बन्धनों से भी, भले ही कुछ दिनों के लिए ही सही, मुक्त होना चाहता है। मान लो वह पुत्र के सन्तोष के लिए चली भी जाएँ परन्तु लौटने के बाद क्या पुत्र इसी अवस्था में उन्हें मिलेगा? अभी कम से कम एक बात का तो सन्तोष है ही कि पुत्र चौबीसों घण्टे आँख के आगे है। जीवन में वह इतना कुछ खो चुकी थीं कि अब एकमात्र पुत्र को खो देने या आँख से ओझल हो जाने की कल्पना मात्र से काँप उठती थीं। इसलिए पुत्र के द्वारा लाये जाने वाले सारे धर्मयात्रा सम्बन्धी प्रस्ताव वह टालती रहीं। जब कभी धर्मयात्रियों के लौटने या उत्यापन-समारोहों की चर्चाएँ होतीं तो शिवशंकर अपनी माँ से कहते कि जिजी भी अगर यात्रा कर आतीं तो गाँव में तो समारोह होता ही पर उज्जैन जाकर वह ऐसा उत्थापन करते कि हुआ भला, लेकिन जिजी मौका ही नही देतीं।

— लेकिन मेरे और भगवान के बीच में तो तू आड़े आया हुआ है।

— मैं?

— हाँ, तू। तू आज ब्याह कर ले तो मैं कल ही बहू को सब कुछ सौंप कर न चारो धाम की यात्रा पर चली जाऊँ तो मेरा नाम नहीं।

पण्डित शिवशंकर आचार्य जिजी का सारा दर्द ही नही जानते हैं बल्कि वे उनके तर्क, स्नेह के सारे अस्त्र भी जिनसे व्यक्ति को घेरा जाता है। इसीलिए तरह देने में ही भलाई समझ वह मन्द-मन्द मुसकराते हुए मात्र इतना ही कहते,

— जिजी! जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

— क्या मतलब?

— मतलब-वतलब कुछ नही, जिजी! भगवान के दर्शनो में कोई बहाना नही करना चाहिए।

— मैं बहाना कहाँ कर रही हूँ, मैं तो बात कह रही हूँ।

— अच्छा मान लो जिजी! कभी बहू नहीं आए तो क्या तुम भगवान के दर्शन नही करना चाहोगी? कित्ती बुरी बात है यह।

— अब बुरी बात है तो ले आ न जल्दी से बहू। मेरी छुट्टी हो।

— जिजी! जैसा ससार उजड़ते तुमने देखा उसके बाद भी तुम्हारा मन इस ससार, इसकी माया में लगा हुआ है?....जिजी! अच्छा तो यह होता कि तुम भगवत्-भजन में मन लगाती। इस सांसारिकता से किसका भला हुआ है जो हमारा-तुम्हारा ही होगा?....अच्छा जिजी! एक बात बताओ कि जिस बहू की तुम लगाये हुए हो वह कभी कर्कशा निकल जाए तो? अगर वह तुम्हें दुःख दे...

पर क्या बीतेगी ? जिजी ! क्या मैं यह सब सहन कर सकूँगा ? और नहीं सहन करूँगा तो क्या होगा ?....जिजी ! मनुष्य सारी अच्छी बातें अपने ही लिए क्यों सोचता है ? दूसरों के साथ घटनेवाली दुर्घटनाएँ क्या हमारे साथ नहीं घट सकतीं हैं ? या घटी नहीं हैं ? एक बहू मर जाए, दूसरी लाओ। मान लो दूसरी कर्कशा तो नहीं पर निःसन्तान निकल जाए, तो ?....तब तीसरी लाओ, है न ?....सारा कुचक्र समझ रही हो न जिजी ?... मैं गत वर्षों से बराबर देखता रहा हूँ कि तुमने ज्योतिषी को मेरी जन्म-कुण्डली दिखायी, अपना हाथ दिखाया मनौतियाँ मानी, गण्डे-तावीज बाँधे, तीरथ-बरत किये, दुनिया भर के सगे-सम्बन्धियों के सामने रोना रोया—इससे क्या लाभ जिजी ?....बन्द करो न यह सब। तुम या कोई भी भगवान से पुत्र की कामना तो कर सकता है लेकिन पौत्र, प्रपौत्र की माँग करना मूर्खता है जिजी !....यदि तुम्हारी सेवा में कोई त्रुटि हो तो मुझे कहो, परन्तु यह बात कहते मुझे दुःख होता है जिजी ! कि पुत्र को नहीं खोना चाहती हो तो बहू की कामना मन से निकाल दो।....मैं जानता हूँ जिजी ! कि तुम वंश चलाने के लिए चिन्तित हो। परन्तु जिजी ! जब वंश राजा रामचंद्र, श्रीकृष्ण भगवान का नहीं रहा तो हम तुम क्या हैं ?... और जिजी ! वंश नाती-पोतों से चलता है क्या ? तुलसी बाबा का नाम उनके नाती-पोतों के कारण तुम जानती हो क्या ? ऐसे कर्म करो जिजी ! कि वे कर्म ही बाद में रहें। बड़े से बड़े महल, किले नहीं रहते। बड़े-बड़े राजवंश नहीं रहे। यहाँ, बहुत रहने की चिन्ता करने वाला ही सबसे पहले नहीं रहता है जिजी !....सब कुछ भगवान पर छोड़ दो जिजी ! क्या तुम कर्ता हो ? यदि कर्ता थीं तो दोनों बेटों को, बाबा को क्यों जाने दिया ?.. .और मान लो तीनों बेटे तुम्हारे चले गये होते तो ?....

पुत्र की ऐसी ज्ञान-ध्यान की तथा वीतराग की आसन्न कर देने वाली बातें सुनतीं तो वह चौंक उठतीं। उन्हें भी लगता कि जब शिवशंकर इतना वीतरागी है तो उसे बन्धन में बाँधना क्या ठीक होगा ?""पर दो-चार दिन के बाद माँ का सारा ज्ञान-ध्यान जाने कहाँ कपूर हो जाता और वह फिर दुःखी हो उठतीं। न जाने क्या-क्या घिरता। कैसा मन करता कि इस आँगन में भी बहू की धोती सूखती। कैसा गुंजान लगता कि बच्चे पूरे घर में दूध के लिए चिल्ल-पों मचा रहे हैं। चीजों की उठा-पटक हो रही है। पूरा घर गुलदावदी की क्यारी की भाँति भर आया है। कैसे उनके कान 'सासूमाँ' सुनने को तरस गये न ? बच्चों की तोतली बोली में 'दादी' सुनना कितना सुखकर होता होगा न ?""
यह स्वप्न-लोक जब भी टूटता तो वह देखतीं कि या तो अँगीठी की आँच बुझ रही है या रसोई में बैठे हुए वह शिवशंकर की प्रतीक्षा कर रही हैं। बहुत बार भाजी जल गयी होती या दूध खौलकर ढुलक गया होता। जलने की गंध पर ही उनकी तन्द्रा टूटी होती। और एक गहरी निश्वास निकलती कि आज जब दूध है, विपुलता में भी है पर इन सब का भोक्ता कोई नहीं है। और यह सारी सम्पन्नता व्यर्थ लगने लगती। जब मन बहुत घबरा उठता तो वह दुर्गा के बच्चों को बुलवा लेती। महीने-दो महीने रहकर वे

लोग भी लौट जाते। और वैसे भी उन बच्चों की दादी को अपने बच्चों का इस प्रकार नानी के यहाँ देहात में रहना नहीं सुहाता था इसलिए श्रीमती गोदावरी देवी को प्रायः अपना मन मारना पड़ता। फिर भी जितने दिन वे बच्चे यहाँ रहते, घर-आँगन, खेत-खलिहान सब गुंजान रहते। ताजे गुड़ की राब खायी जा रही है, तो गन्ना चूस-चूस कर पूरा घर खराब कर दिया गया है। कुछ नही तो चने को छोड़ों के लिए ही बच्चों में खींचातान हो रही है। उज्जैन में बच्चों को सब बड़ा बंधा-बंधा सा लगता इसलिए यहाँ आने पर जो लाड़-प्यार, खुलापन और किसी भी बात के लिए कोई टोकने वाला न होता तो बच्चे पूरा घर ही नहीं, पूरा गाँव सिर के ऊपर लिए रहते। गर्मियों में आम, आम की पाल के सैकड़ों आमों से ही पेट नहीं भरता बल्कि हर किसी के आम के पेड़ से कच्चे ही आम तोड़े जा रहे हैं और जब रखवाले बच्चों की शिकायत करने पहुँचते तो श्रीमती गोदावरी देवी को भीतर से गहरा परितोष ही मिलता। उन दिनों वह इतनी भूली रहती कि कब सबेरा हुआ और कब रात, कुछ भी पता नहीं चलता। वह यह भूल जातीं कि ये पराये बच्चे हैं।

जिस दिन ये जा रहे होते श्रीमती गोदावरी देवी का कलेजा मुँह को आ जाता। पूरा घर, उसकी मनसायनहीनता सब खाने को दौड़ती। अब किसके लिए दूध गरम करें? आटा किसके लिए माँडें? किसके लिए आम के पापड़ सहेज कर रखें। कौन बैठा है जिसके लिए बड़ियाँ चूँटी जाएँ? उस 'साधू महाराज' के लिए?""झल्लाहट में कभी-कभी मन में शिवशंकर को वह 'साधू महाराज' कह उठती, परन्तु दूसरे ही क्षण वह इस सम्बोधन से काँप उठती। यह नही कि उनका मन ओछा था परन्तु प्रायः यह सोचना तो आ ही जाता कि गाँव भर उनके यहाँ की कैसी गाढ़ी छाछ लोटा भर-भर कर ले जा रहा है और घर में एक भी प्राणी पीने-खाने वाला नही। गन्ने, राब, पूँखड़े, पापड़, गुड़ तो ननँद और बेटी के घर भेजा जा सकता है, पर छाछ तो नहीं न?

कैसा उत्सव? किसका उत्सव? त्योहार, हुँमः!! दशहरा हो या दिवाली या होली। कौन है घर में जिसके लिए पूरा घर उठाओ-धरो, लीपो-छाबो, खम्भों का तैल-पानी करो, आँगन में खड़िया-गेरू से माँड़ने-माँडो।—इस शिवशंकर को वह क्या कहें। बूढ़ों से कही समार होता है? घर का कोना-कोना त्योहार के दिनों में उनसे जैसे बार-बार पूछता होता कि त्योहार आ गया तो हमें साफ नही करोगी?

जब ये तीनों छोटे थे और दुर्गा थी तो घर-आँगन में कैसा हो-हल्ला मचा ही रहता था। दम मारने की फुर्सत नही होती थी। एक त्योहार गया नही कि दूसरा सिर पर सवार। आज केसरिया-भात बन रहे हैं, तो राखी पर मोहन-भोग चाहिए ही चाहिए। दशहरे पर गुझिया, तो दिवाली पर मीठे खाजले बनने ही है। मिठाई, मिठाई, और मिठाई!! और अब? चारों कोनों में सिर मार आओ, कही आदमी की गन्ध तक नही। और श्रीमती गोदावरी देवी बिसूरने लगतीं। ऐसी विह्वल तो वह पुत्रों, पति की मृत्यु के समय भी नही हुई थी। सवेरे शाम धूप, अनकुचले भाव से आँगन में सरकती सहन से दीवालों पर चढ़कर सामने की बेर से होती हुई न जाने कहाँ उड़कर चली जाती है और

टोकने वाला तक नही। लालटेन जला कर रील पर रामायण, भागवत जी रखकर जोर-जोर से पढने लगती तो अपने ही शब्द, राग उस बड़े से खाली घर, दीवालो से टकरा कर लौट-लौट आते। जाँघ पर जब तक कोई बच्चा सिर धर कर न सोया हो तब तक चक्की की लय ही नहीं उठती। और ऐसे में वह कभी-कभी अनचाहे में शिवशंकर से कुछ कड़ुवा कह बैठती। तब किसी दिन शांत भाव से वह फिर माँ को समझाने लगते। यह ठीक है कि वह कभी भी अपमान तो दूर जवाब भी नही देता परन्तु कहना ही कहाँ मानता है? जब जिजी इस प्रकार झल्लायी होती उस दिन शिवशंकर अपने हाथ से कोई चीज बनाने के लिए चूल्हा सम्हाल लेते तो थोडी देर बाद आँचल से आँसू पोछते हुए पुत्र को हटा कर वह खुद बनाने लगती। उन्हे बराबर परिताप होता कि पुत्र जब वीतरागी है तो वह अपने भीतर भी इस सांसारिक इच्छा को क्यो नही तिलाजलि दे पाती है? और चिमनी के आलोक में खाना खाते बैठे पुत्र की दीवाल पर गिरती प्रलम्ब पंचकेशी छाया को देखकर लगता कि क्या वह पुत्र को खाना खिला रही है या किसी 'साधु महाराज' को? क्या सच ही?

वैसे तो बड़नगर में पण्डित शिवशंकर आचार्य का ननिहाल था परन्तु नाना पण्डित करुणा शंकर दवे की मृत्यु तो शिवशंकर के जन्म के पूर्व ही हो चुकी थी तथा नानी भी उसके बाद बहुत दिन जीवित नहीं रहीं इसलिए ननिहाल जाना-आना कम ही हुआ होगा। एक मात्र मामा पण्डित आनन्द शंकर दवे मिडिल स्कूल में मास्टरी करते हुए हेड-मास्टर बने थे, तो वह हमेशा बाहर ही रहते थे इसलिए श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य बच्चों को लेकर कहाँ जाती ? जब नौकरी से अवकाश मिला और दवे जी वापस अपने घर बडनगर लौटे तब तक वह विधुर हो चुके थे। जिस प्रकार के अनुभव उन्हें जीवन भर हुए उसमें उन्हें या तो संन्यासी हो जाना चाहिए था या फिर पागल। पत्नी जब तक जीवित रही सदा रुग्ण रही। एक मात्र पुत्र को जन्म देकर वर्षों तक पत्नी बिस्तरे पर ही रही। पण्डित आनन्द शकर दवे को स्मरण नही आता कि पत्नी ने उन्हे शुरू के दो-चार वर्षों तक भले ही खाना बनाकर खिलाया हो, वर्ना तो उन्होंने ही पत्नी और पुत्र को जीवन भर बना बनाकर खिलाया होगा। सवेरे से घर का सारा काम-काज, रसोई-पानी करना, दिन भर स्कूल और शाम को फिर वही घर-गृहस्थी। इस चक्र में वह यदि सभी नाते-रिश्तेदारों को ही भूल गये तो उसमें आश्चर्य की क्या बात थी ? जिस-जिस स्थान पर रहे, वहाँ-वहाँ के सामान्य लोगों और जीवन से सदा कटे रहे—न ऊधो का लेना, न माधो का देना। परन्तु संसार में रहकर संसार से कटे रहना कैसे सम्भव है ? विशेषकर तब तो और भी सम्भव नहीं जब आप लँगडी गृहस्थी लेकर चल रहे हों। परन्तु मनुष्य ही जिन नियमों का निर्माण करता है उनका उल्लंघनकर्ता भी वही होता है। पण्डित आनन्द शंकर दवे बहुत अच्छे, सफल अध्यापक माने जाते थे। किसी सीमा तक लोकप्रिय व्यक्ति भी थे, परन्तु अपने अन्तर में वह हमेशा पीपल के पत्ते की भाँति काँपते रहते थे। फलस्वरूप वह किसी सीमा तक भीरु प्रकृति के हो गये थे। जरा सा

शोर, उलझन उन्हें परेशान कर जाते थे। स्कूल का निरीक्षण करने के लिए 'इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्स' आने को है—यह सुनकर उनकी रातों की नींद हराम हो जाती। इसका कोई कारण नहीं होता परन्तु चिन्ता करना उनका स्वभाव बन गया। जाने किस पुण्य-प्रताप से उनका एक मात्र पुत्र रविशंकर ठीक-ठिकाने से पढ़-लिख गया और राज्य की वकालत पास करके बड़नगर में ही वकालत करने लगा। पुत्र का जब संसार बस गया और वह बडनगर में काम-काज से लग गया तब पण्डित आनन्द शंकर दवे फिर रुग्ण पत्नी के साथ अकेले रह गये।

चूल्हे पर दाल का अदहन चढ़ा हुआ है और दवे जी सामने बैठे हुए पूजन भी करते जा रहे हैं परन्तु ध्यान बराबर खाँसती पत्नी की ओर लगा हुआ है। डाक्टरों ने कह दिया था कि यह उनकी क्षय की आखिरी 'स्टेज' है। दवे जी हर बार गायत्री का मन्त्र फिर से बोलते परन्तु मन बार-बार सोचने लगता कि बिना पत्नी के वह क्या करेंगे? अभी नौकरी से अवकाश मिलने में पाँच-सात बरस बाकी थे। यदि इस बीच पत्नी न रहीं, तो? और दाल उबल कर अपने फेन से चूल्हे की आँच बुझाने लगती। गोमुखी आसन पर ही रख कर वह दाल सम्हालने लगते। मन में निरन्तर झुँझलाहट होती रहती जो कि चूल्हे की लकड़ियों पर निकलती। बड़ी मुश्किल से तो ये जंगली लकड़ियाँ जलने पर आती हैं और जरा सी दाल उबल पड़े तो सूँ-सूँ करती हुई बुझ जाएँगी और फिर जलने का नाम ही नहीं लेंगी। और इस प्रकार रोते-झींकते प्रतिदिन वह खाना बनाते। स्वयं खा-पीकर पत्नी को सब सहेज जाते। हालाँकि वह मना कर जाते थे कि पत्नी बर्तन न साफ करें, वह स्कूल से लौटकर कर लेंगे; परन्तु पत्नी श्रीमती दमयन्ती दवे अपने जले भाग्य को कोसते हुए न सिर्फ बर्तन ही मल डालती बल्कि रेंगते-रेंगते चूल्हा-चौका भी कर डालती। और जब यह सब कर लेती उस समय वह एक दम पसीने-पसीने हुई रहती। उन्होंने कितनी ही बार आत्म-हत्या तक कर डालने की सोची। न हो किसी कुएँ में ही फलाँग जाएँ, तेल झारकर जल मरें, छत के कड़े में साड़ी बाँधकर झूल जाएँ, पर रोज-रोज की इस बीमारी से तो पिण्ड छूटे। इसमें न मरने के, न जीने के। परन्तु पति की मनोदशा और व्यथा को वह समझती थी कि वह और भी अधिक निरुपाय ही नहीं होंगे बल्कि जीवन भर वह उन्हें कभी क्षमा नहीं करेंगे। इसलिए वह घिसट-घिसट कर जी रही थी। रविशंकर ने लाख बार कहा होगा कि—माँ, बहू को यहीं रख लें। खाने-पीने की तकलीफ है; दूसरे बहू, सास की देख-भाल करेगी परन्तु श्रीमती दमयन्ती दवे और पण्डित आनन्द शंकर दवे ने यही तर्क दिया कि—कब तक? नहीं, सबके अपने-अपने कर्म, भोग और भाग्य होते हैं। वे बेटे-बहू के सुख में बाधक नहीं बनेंगे। यह गृहस्थी उनकी है और पुत्र को अपनी गृहस्थी अलग बसानी है। हाँ, दशहरे-दीवाली पर आना-जाना एक बात है, और यही होता भी था।

परन्तु श्रीमती दमयन्ती दवे ने एक दिन पण्डित आनन्द शंकर दवे को धोखा दे ही दिया। ऐसा नहीं कि यह अचानक हुआ था। पण्डित आनन्द दवे निश्चित ही जानते रहे होंगे कि क्षय, रोगी को भी लेकर ही जाता है और यदि श्रीमती दमयन्ती दवे का

क्षय अपने साथ उनकी पत्नी को भी ले गया तो इसमें आश्चर्य क्या था ? परन्तु मनुष्य की ही यह विशेषता होती है कि वह अपना सारा ज्ञान, अज्ञान को बनाये रखने में ही लगाये रहता है। वैसे कभी भूले से पण्डित आनन्द शंकर दवे हवाखोरी के लिए घर से निकले हों तो निकले हों वर्ना तो घर उनके लिए सबसे सुरक्षात्मक किला था। कभी मन हुआ तो पत्नी के पास बैठकर सगे-सम्बन्धियों की, विगत जीवन की, परिवार की तथा पत्नी के अच्छे हो जाने पर तथा अपने अवकाश ग्रहण कर लेने पर तीर्थ-यात्रा पर जाने की चर्चाएँ होतीं। या कभी रामायण-महाभारत खोलकर पत्नी को सुनाते। ज्ञान-ध्यान की बातें करते पति का मुख पत्नी को कितना बड़ा-बड़ा सा लगता। उस समय उसे लगता कि सचमुच ही उनका पति कितना बड़ा व्यक्ति है और उसी क्षण, हर क्षण विवश होते हुए पति की मुद्रा और झल्लाहट याद आती, तो रो पड़ने को मन करता। अपने पर केवल खीझ उठती कि पति की सेवा करना तो दूर, सुख तक नहीं दिया। उल्टे बरसों से बिस्तरे पर लेटे हुए कैसी-कैसी सेवा पति से करवायी। पूरा जीवन चूल्हा फूंकते और पत्नी की सेवा करते ही बीता। पता नहीं उसकी मृत्यु के बाद 'यह' क्या सोचें—और यह ध्यान आते ही वह धाराधार रोने लगती। रामायण का कोई प्रसंग होता और जब पढते हुए पण्डित आनन्द शंकर दवे को पत्नी का हल्का सा सुबुकना सुनायी पड़ता तो वह पोथी पर से मुँह उठा पत्नी की ओर देखने लगते। लालटेन के मन्द प्रकाश तथा चश्में में से साफ न दिखता कि पत्नी क्या कर रही है तो वह चश्मा उतार कर पूछते,

— क्या बात है ? रो क्यों रही हो ?

— नही तो, वैसे ही।

— तुम बिल्कुल ठीक करती हो। यह राम-कथा है ही ऐसी।

— कैसी ?

— यह पृथ्वी की भाँति अपनी कीली पर भी घूमती है और साथ ही परिक्रमा भी करती चलती है।

— मैं समझी नही।

— अपने तो यह राम-कथा है ही, परन्तु हमारे सबके भीतर एक रामायण घटित होती चलती है। हमारी कठिनाई यह है कि हम पुत्र भी होते है, पिता भी और भी बहुत-कुछ। इसलिए रामायण के पात्रों से कहीं अधिक व्यथा हमें-आपको भोगनी पड़ती है। राम और सीता को अपनी-अपनी ही व्यथा भोगनी पड़ी परन्तु हमें-तुम्हें तो इन दोनों की ही नही बल्कि रामायण के सारे पात्रों का हँसना, बोलना, जीना-मरना सब भोगना पड़ता है।

— आप ठीक कहते हैं परन्तु मन को शान्ति कितनी मिलती है।

— परन्तु क्या तुम जानती हो कि ऐसी शान्ति का कितना भयावह मूल्य दशरथ कौशल्या, कैकेयी, उर्मिला या और दूसरों को चुकाना पड़ा होगा ?
तुम भी इसका मूल्य प्रत्येक क्षण रिस-रिस कर नही चुका रहे हैं ?
व्यथा नही समझता हूँ ?

— यही तो मेरा दुर्भाग्य है कि आप भी यदि दूसरों की तरह होते तो मैं कब की कुएँ में छलांग लगा जाती और छुट्टी हो जाती, दोनों की। परन्तु मेरे साथ आपकी भी दुर्गति हो रही है।

— कैसी दुर्गति ?

— अपने हाथ से बरसो से खाना बनाना, नौकरी करना, घर-बार सम्हालना—और किसलिए ?

और विसूरती पत्नी के सिर पर हाथ फेरते हुए स्वयं उन्हें जोरों पर रुलाई फूट आती परन्तु वह पुरुष हैं, इसकी प्रतीति ही उन्हें बचाये हुए रहती।

— तुम बड़ी पागल हो दयमन्ती !—देखो, इस संसार में शायद ही नहीं बल्कि निश्चित ही कोटि-कोटि लोग होंगे कि जो हमसे भी कहीं अधिक भोग, भोग रहे होंगे।

— ठीक है, परन्तु उन्हें इस सबकी चेतना भी शायद नहीं होगी।

— क्या पता ?

और इस प्रकार दोनो एक-दूसरे को प्रति-सान्त्वना देकर दूसरे दिन की प्रतीक्षा में, भले ही आशा न सही, सो जाते।

परन्तु उस दिन वह हवाखोरी पर जाने की भूल कर ही बैठे। भूल भी क्या कहा जाए। रोज-रोज वही का वही हो, तो उकता जाना स्वाभाविक ही है। इस कस्बे को छूती हुई एक बड़ी सड़क जाया करती थी। उन दिनों हवाखोरी के लिए जाना भी बहुत बड़ी बात समझी जाती थी। गिरदावर-इन्सपेक्टर जैसे ही दो-चार लोग मील-दो मील तक सड़क पर घूम आते थे। बाकी के लोगो को अपने ही काम-धन्धे, घर-दूकान से फुर्सत ही नहीं होती। बहुत दिनो बाद पण्डित आनन्द शंकर दवे ने क्षितिज तक चली गयी सड़क, आकाश का निरभ्र गुम्बद, पठारी हवा का सपाटे मारना और खेतों का हरियालापन देखा तो अपने फेफड़ों में ताजगी अनुभव की। उन्हें लगा कि ऐसे में यदि व्यक्ति अपने को भूल सके या पूरी तरह अपने से मुक्त हो सके तो कितना अभूतपूर्व आनन्द मिले। अपने को जितना ज्यादा भूला जा सके उतना ही ज्यादा आनन्द होता है। आकाश की पृष्ठभूमि में खड़े बबूल तक से ईर्ष्या होने लगी। आकाश में निश्चिन्त उड़ते साँझ-पाखियों का प्रसंग चला जाना तो जैसे उन्हें भीतर तक तोड़ जाता। उन्हें पहली बार लगा कि आकाश कितनी देर तक प्रकाश को धारण किये रहता है। जब तक प्रकाश की एक बूँद भी कहीं होती है आकाश उसे पकड़े रहेगा ताकि मनुष्य, पशु-पक्षी, वनस्पतियाँ सब आती हुई रात्रि के लिए तैयार हो जाएँ।

शायद विराट में पहुँचकर ही व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार की मनःस्थिति में आ जाता है। पण्डित आनन्द शंकर दवे को लगा कि वह आज जो कुछ हैं उससे कहीं अधिक सार्थक व्यक्ति हो सकते थे। वह बहुत न भी सही तो थोड़ा बहुत तो कर ही सकते थे। कभी-कभी उन्होंने अपनी डायरी लिखी है। जब कभी उस लिखे को वह एकान्त में पढ़ते है तो उन्हें आश्चर्य तो होता ही है, परन्तु कहीं डर भी लगता है। क्या इतना साफ-साफ लिखा जाना चाहिए ? कौन नहीं भोगता है ? सभी को अपना भोगना ही सर्वाधिक

कष्टद एवं महत्वपूर्ण लगता है, तब अपनी इस कष्ट-गाथा को लिखने से लाभ ? और यह ध्यान आते ही वह फिर डायरी लिखना छोड़ देते रहे हैं। परन्तु यह उन्हें अवचेतन में बराबर लगता रहता कि वह कुछ सार्थक रच सकते थे। जब यह भाव उनके अवचेतन से निकलकर चेतन के स्तर तक आ जाता उन दिनों उन्हें घोर मानसिक क्लेश होता। यद्यपि उसे वह किसी दूसरे को ही क्या, स्वयं को भी पता नहीं लगने देते। जीवन को जिस प्रकार नियमित कर लिया था उसमें इस प्रकार बिखरने का न कोई अवसर था और न औचित्य ही। जो भी इसका कारण रहा हो परन्तु यह वह युग था जब व्यक्ति, शिशु से किशोर होता तो अवश्य दिखता था परन्तु वह युवा कब हुआ, पता ही नहीं चलता था। या तो इटालियन टोपी या पगड़ी, एडवर्ड या पारसी कोट या अँगरखा और दुपट्टे की भूषा वाला व्यक्ति तीस से साठ की आयु की किसी भी आयु में हो सकता था। शायद लोग उन दिनों अपनी आयु नहीं, पद जिया करते थे। घर हो या बाहर, एक मर्यादा होती थी जिसके आप वाहक होते थे। इसीलिए पण्डित आनन्द शंकर दवे तीस तक पहुँचते ही जिस दिन हेड-मास्टर बने उसी दिन से वह साठ वर्ष के लगने लगे। बेंत या छाता, पम्प या जूता, और औपचारिक भूषा ही जब व्यक्ति का पर्याय बन जाए और सब समय व्यक्ति अपने पद पर ही बैठा लगे, तो इसे और क्या कहा जा सकता है ? पण्डित आनन्द शंकर दवे को अपने लिए साठ वर्ष के होने में तीस वर्ष लगे होंगे परन्तु देखने वालों को ऐसा कभी नहीं लगा होगा। इसीलिए ये लोग प्रायः अकेले हुआ करते थे। हालांकि उस युग के व्यक्ति के अकेले होने में और आज के व्यक्ति के अकेले होने में गुणात्मक अन्तर है। परन्तु अकेलेपन का एक आनुपातिक अकेलापन तो है ही जो देश, काल और स्थितियों पर निर्भर नहीं करता। उन दिनों की पारिवारिकता में ऐसा अकेलापन, आज की तरह तीव्रता से अनुभव करने का न तो मौका ही था और न आवश्यकता ही। वैसे—अकेला होना और उस अकेले होने की प्रतीति, आज के इस अकेलों के युग में भी कितनों को है ? इसलिए उन दिनों जिन्हें इस अकेलेपन की प्रतीति, थोड़ी सी भी, होती थी वह गुरु-गम्भीर हो जाया करते थे और पण्डित आनन्द शंकर दवे ऐसे ही व्यक्तियों में से थे।

यह कहना तो गलत होगा कि पण्डित आनन्द शंकर दवे कुछ-कुछ ऐसा ही सोच रहे थे। ज्यादा अच्छा तो यह होगा कहना कि वह व्यक्ति थे, इसलिए कि उनमें जो भी सम्भावनाएँ थी उनका उपयोग नहीं हो सका। बारम्बार उनके व्यक्ति होने में उनका हेड-मास्टर होना बाधा दे रहा था। हर बार उन्हें लगता कि व्यक्ति भले ही ऐसा सोच लें, पर एक हेड-मास्टर को ऐसा नहीं सोचना चाहिए। वस्तुतः अन्तर में वह न तो पूरी तरह व्यक्ति ही हो पा रहे थे, न हेड-मास्टर और न पति ही। शायद वह दुःख भोगते मात्र एक मनुष्य थे। जब इतने खुले में भी अंधकार बढ़ने लगा तो उन्हें लगा कि शायद बहुत देर हो गयी। निश्चय ही पत्नी चिन्ता कर रही होगी कि आज 'यह' कहाँ चले गये ? घर में शायद दिया-बत्ती भी नहीं हुआ होगा। पत्नी को किसी भी चीज की आवश्यकता पड़ सकती है। सवेरे से घर से निकले हैं। हालांकि चपरासी ने स्कूल की

ताली और वस्ता पहुँचाते वता दिया होगा कि आज वह हवाखोरी करने ही सीधे चले गये हैं। फिर भी पत्नी का चिन्ता करना स्वाभाविक ही है। उन्हें अन्तर में लगा कि इस प्रकार हवाखोरी के लिए निकल पड़ना कितना स्वार्थपरक दृष्टिकोण है। अमानवीय भले ही न हो, पर पत्नी के प्रति यह उपेक्षा ही है, और वह विकल हो उठे। उस लम्बी सी सड़क पर वह अकेले थे। ऐसा अकेलापन कितनी अलभ्यता भी है न ? चारों ओर प्राकृतिक सन्नाटे के अलावा कहीं कुछ नहीं था। छोटे-बड़े पत्थर, बबूल के काँटों की मेड़ें, पीली घासों के बीच से जाती हुई पगडण्डियाँ और गरम काली मिट्टी के परिदृश्य के अतिरिक्त या तो जंगली हवा थी जो चल रही थी या फिर वह, जो चल रहे थे।

एक अव्यक्त घबराहट के साथ उन्होंने कस्बे की नदी का झुका पुल पार किया। अच्छा-खासा अँधेरा घिर आया था। नदी पर जो एकमात्र छोटा सा पक्का घाट था उसके शिवाले में अवश्य दीपक जल रहा था। दिन भर के काम-काज से निवट कर या तो कोई दूकानदार या फिर और कोई नदी में नहाता लग रहा था। सड़क, कस्बे में जहाँ मोड़ लेती है वहाँ एक म्यूनीसीपैल्टी का लैम्प जल रहा था। नदी किनारे के घरों का नदी की ओर पिछवाड़ा पड़ता है इसलिए उनकी खुली खिड़कियों से या दर-वाजों से चूल्हे के आँच की लौ या चिमनी का पतला प्रकाश उभका पड़ता दिखता। पण्डित आनन्द शंकर दवे ने आज शायद पहली बार आँख खोलकर तथा स्वतः होकर कस्बा देखा होगा। प्रायः तो वह अपने बँधे-बँधाये गलियों वाले रास्ते से स्कूल जाते हैं। सिर नीचा किये वह इतनी तेजी से निकल जाते हैं कि आस-पास से आते-जाते लोग अभी अभिवादन करें इसके पूर्व ही वह गुजर चुके होते हैं। वह जहाँ-जहाँ रहे, ऐसे ही रहे इसलिए वह उन स्थानों को कभी भी पूरी तरह नहीं पहचान सकते थे।

एक अव्यक्त घबराहट के साथ वह गली में मुड़े। घर दूर से दिख रहा था। अन्य घरों में शाम बीत चुकी थी और रात्रि आरम्भ हो गयी थी। गली में विभिन्न भोजन की गन्ध आ रही थी। जैसे ही घर का चबूतरा चढ़े, उनकी घबराहट जाने क्यों बहुत अधिक तेज हो गयी। वैसे ऐसा कभी होता नहीं था। वह बहुत दूर तक अपने पर संयम रख पाते थे। अन्तर में जो भी घटता रहे परन्तु ऊपर से वह प्रायः संयत और सौम्य लगे हैं। दरवाजा ;उभका पड़ा था। धक्का दिया, खुल गया। दो ही तो कमरे थे, वे भी कच्चे फर्श के। भीतर वाले कमरे में लालटेन जल रही थी। दमयन्ती ने ही जलायी होगी। उन्होंने अव्यक्त घबराहट में ही भूपा खूँटी पर टाँगी और बनियान-धोती में पत्नी को आवाज देते हुए भीतर गये। प्रायः तो पत्नी पूछ ही लेती हैं—'कौन ?' परन्तु आज पत्नी की यह जिज्ञासा नहीं सुनायी दी। न जाने क्यों उन्हें अपराध-भाव सता रहा था। वैसे तो वह रोज सामने बिछे अपने पलँग पर बैठकर हाल-चाल पूछते रहे हैं परन्तु आज सीधे पत्नी के पलँग को ढँस पर बैठकर सिर छूते हुए बोले, — दमयन्ती !

दमयन्ती निशब्द थी। लालटेन के मन्द प्रकाश में आज वह अधिक कृशकाय लगी। बहुत मन्द-मन्द साँस चल रही थी।

— कैसी हो दमयन्ती ?

बड़ी कठिनाई से पलकें उठायी, यह समझना कठिन नही था। एक क्षण तो वह जैसे सुदूर में देख रही हों की तरह देखती रही, फिर पति को लगभग छूने जैसा देखा और तब फिर आँखें छलछला आयीं।

—क्या बात है ? बहुत कष्ट है ? दवाई खायी थी ?

श्रीमती दमयन्ती दवे ने उनकी किसी बात का उत्तर नही दिया बल्कि कहना चाहिए कि उनमें जरा भी शक्ति शेष नही थी। मात्र वह इतना ही बोलीं,

— आप आ गये ?

— क्यों ? यह क्यों पूछ रही हो ? आज जरा....

— क्या ? रवि और बहू-बच्चों को तार देकर नही बुलवा सकते ?

— क्यों, क्या बात हुई ?

— कुछ नहीं ऐसे ही। एक बार देखना चाहती थी।

— कल तार कर दिया जाएगा।

— हाँ, सो तो ठीक है पर मैं इतना रुक थोड़े ही सकती अब।

— क्या कहती हो ?

— झूठ नही, सच ही कह रही हूँ। दिन भर से रुकी हुई हूँ कि आप आ जाएँ तो फिर चलूँ।

— आज यह तुम क्या सब कह रही हो।

— अच्छा छोड़ो,....मैंने आपको सच ही कोई सुख नहीं दिया न ?

— और सुख क्या होता है ?

— मुझे बहका रहे हो ? मैं जीवन भर आपका बोझ बनी रही....मुझे क्षमा कर देना, भगवान के लिए, मुझे क्षमा कर देना। मैं सच ही विवश थी, नही तो....।

और दमयन्ती की विवश आँखें रोने की चेष्टा में मात्र भरी आ रहीं थीं। और दमयन्ती ने दोनों हाथ ऊपर उठाकर पति को पास सटाते हुए कहा,

— मुझे अब नीचे सुला दो, देखो देर न करो।

और पण्डित आनन्द शंकर दवे ने पत्नी को गोदी में उठाकर नीचे सुला दिया।

बडनगर से त्रयोदशा, उत्तरकार्य आदि सम्पन्न करके जिस समय पण्डित आनन्द शंकर दवे चलने को हुए तो रविशंकर ने तथा और लोगों ने भी बहुत कहा कि अब अवकाश-ग्रहण माँग लीजिए। अकेले कहाँ जाते हैं ? अब न तो ऐसी आयु है और न ऐसी मनःस्थिति हो कि अब अकेले रहे परन्तु पण्डित आनन्द शंकर दवे ने सोचा

जो भी तीन-चार वर्ष की नौकरी ग्रौर शेप हैं उन्हें पूरा करने के बाद ही वह नौकरी से ग्रलग होंगे। नौकरी चाहे कुछ ग्रौर न हो, एक हीला तो है ही जिससे ग्रादमी लगा हुग्रा रहता है वर्ना ग्राज ग्रवकाश ले लें तो कल ही से समस्या हो जाएगी कि बैठा ग्रादमी क्या करे ? प्राकृतिक रूप से जो भी हो उससे तो मुंह नही मोडा जा सकता है परन्तु ग्रपने से क्यों स्थितियो को ग्रामन्त्रण दिया जाए ? ग्रौर वह नौकरी पर चले गये।

लेकिन नौकरी के वे शेप वर्ष उन्होंने ग्रागामी एकान्त की तैयारी में बिताये। ग्रपनी ग्रोर से वे सभो वातो का सकल्प छोड चुके थे। रवि की लड़की कल्याणी ग्रौर लडका कृष्ण-शंकर वडे हो गये थे। कल्याणी विवाह योग्य भी हो चली थी। दमयन्ती उसका विवाह ग्रपने हाथों से करना चाहती थी। कृष्ण शंकर छोटा था पर वह भी हाईस्कूल में पहुँच रहा था। पण्डित ग्रानन्द शकर दवे एक प्रकार से पहली वार निश्चिन्तता ग्रनुभव कर रहे थे कि शायद पेन्शन के वाद वह कुछ ग्रपने ढंग से जीवन जीने की सोच सकते हैं। वह किसी तीर्थ-स्थान में जाकर रहना चाहते थे, सम्भव हुग्रा तो हरिद्वार रहेंगे। हरिद्वार का एकान्त उन्हें वहुत प्रिय था। पेन्शन से इतनी ग्राय तो हो ही जाएगी कि उन्हें ग्रपने लिए रविशंकर से कहने की ग्रावश्यकता नही होगी। यद्यपि रविशंकर की इच्छा थी कि पिता ने जीवन भर कष्ट झेला है ग्रतः वह पेन्शन के वाद वडनगर में घर ग्राकर रहें। चूँकि वकालत से उन्हें फुर्सत नही मिलती इसलिए गाँव की खेती-वाडी की जैसी देख-भाल होनी चाहिए वैसी होती नही। पिता ग्रा जाएँगे तो घर, खेती-वाड़ी सभी सम्हल जाएँगे।

ग्रौर पण्डित ग्रानन्द शकर दवे को स्कूल में उस दिन तार मिला—'रवि शकर की हत्या हो गयी।' सहसा वह कुछ नही समझ पाए, परन्तु क्षणान्त में ही जब स्थिति की विभीषिका का वोध हुग्रा तो वह हाहाकार से भर उठे। यह क्या हो गया ? क्यो हो गया ? उनके ही साथ क्यो हुग्रा ? ... ग्रौर पहली वार वह इतने विकल हुए कि स्कूल के ग्रन्य ग्रध्यापकों को उन्हें घर पहुँचाना पडा। घर में था ही कौन ? इसलिए सारे ग्रध्यापको ने ग्रपना क्रम बाँध लिया ताकि वह ग्रकेले न रह पाएँ। वडनगर तक उन्हें छोड़ने के लिए एक ग्रध्यापक ग्रौर एक चपरासी ग्राया।

मनुष्य समझता है कि ग्रव इससे ग्रधिक वह सहन नही कर सकता है, वह टूट जाएगा, पर यह भ्रम लगभग क्षितिज की तलाश जैसा है कि यह सामने जो पेड़ों की कतार दिख रही है या वो जो पर्वतमाला दिख रही है, वही तो क्षितिज है। पर क्या वहाँ क्षितिज होता है ? जाने कहाँ से फिर ग्राकाश नये रूप से खुलकर सुदूर में चला जाता है। मनुष्य भी टूटता नही है, उसे लगता है कि वह टूट सकता है, या टूट गया है। शायद यह भ्रम भी ग्रावश्यक है। ऐसा भ्रम न होता तो मनुष्य ने दूसरों का जीना

दूभर कर दिया होता। यह भ्रम, उसके भीतर के देवत्व और दानवत्व दोनों का कवच हैं। जाग्रत कर दिये जाने पर यह शक्ति बन जाता है अन्यथा यह मारक तो है ही। पण्डित आनन्द शंकर दवे ने जब विधवा पुत्र-वधू शकुन्तला को तथा रवि के दोनों बच्चों को जिस प्रकार विलाप करते देखा तो उन्होंने अपनी नियति स्वीकार ली कि जीवन भर तो रोगिणी पत्नी की सेवा की और अब विधवा बहू का मृत्यु पर्यन्त संरक्षण करना है। उन्हें लगा कि स्त्री-शक्ति उन्हें रास नहीं आयी। रवि की हत्या को लेकर बहुत दिनों तक प्रवाद चला। कानून ने अपने ढंग से जो भी कार्रवाई की हो परन्तु पण्डित आनन्द शंकर दवे ने यह मान लिया कि उनका पुत्र तो अब लौट नहीं सकता है। अब चाहे रविशंकर की हत्या अनजाने में हुई हो या जानबूझकर उससे क्या फर्क पड़ता है? उन्होंने उसमें कोई रुचि नहीं दिखलायी। हाँ, उन्होंने यह आवश्यक समझा कि बहू शकुन्तला अपने पैरों पर खड़े होना सीखे इसके लिए उसे आगे पढ़ाना आवश्यक था। अपनी पोती कल्याणी के विवाह की उन्हें अब अधिक चिन्ता थी। रवि का लड़का कृष्ण शंकर पढ़ने में ठीक ही है। पण्डित आनन्द शंकर दवे पेन्शन के बाद जिस शान्त-जीवन की आशा लगाये बैठे थे उसका कहीं पता नहीं था। अब वह लगभग रोज गाँव जाते और शाम तक वापस बड़नगर चले आते। अपने और पौत्र-पौत्री के बीच जो पुत्र की जगह खाली हो गयी थी उसे वह पाटने के ख्याल से खूब मेहनत करने लगे। चूँकि जीवन भर नियमित जीवन जिया था इसलिए उत्तरकाल में यह जो परिश्रम करना पड़ रहा था उससे कोई हानि नहीं हुई बल्कि वह अधिक स्वस्थ रहने लगे। यदि वह हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते तो पत्नी दमयन्ती की स्मृति तथा और भी न जाने क्या-क्या स्मरण आता और शायद था वह बहुत शीघ्र मन से टूट गये होते। चूँकि बड़नगर से गाँव तक काम ही काम फैला रहता इसलिए बैठकर सोचना नहीं हो पाता। फिर भी मन सोचने के लिए अवसर निकाल ही लेता है। गाँव चूँकि दो-तीन मील की दूरी पर ही था इसलिए पण्डित आनन्द शंकर दवे पैदल ही आते-जाते थे। और पैदल-यात्रा के दौरान ही मन जितना और जैसा चाहे सोचता रहता। परन्तु कुल मिलाकर अब उनमें हताशा वैसी नहीं थी जैसी कि हो सकती थी। हाँ, अब वह मन से सर्वथा असंग हो गये थे।

जब श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य को कल्याणी के विवाह के बारे में अपने भाई पण्डित आनन्द शंकर दवे की चिट्ठी और कुंकुम-पत्रिका मिली तो अपार प्रसन्नता के साथ विषाद भी हुआ कि आज उनका भतीजा रविशंकर होता तो कितना प्रसन्न होता। अपनी दमयन्ती भाभी भी याद हो आयी कि बिचारी पूरा जीवन भोगती हीं रही परन्तु कैसा महिम–भाग्य लेकर आयी थी कि पति ने जैसी सेवा पत्नी को की वैसी तो पत्नी भी मुश्किल से पति की करती है। उनका मन हुआ कि वह सहसा भाई के पास पहुँच जाएँ। रवि की विधवा बहू को खूब सारा प्यार करें। कल्याणी अब कैसी लगती होगी? कृष्ण-

शंकर भी सुना है खूब सुन्दर निकल आया है—अपने दादा पर गया है। और कहीं वह दिन भी याद आ गया जब वह विवाह के बाद चली थीं तो अपने इन्हीं दादा के कन्धे पर सिर रख कर कितना रोयी थीं। लगता है न कि जैसे यह किसी अन्य जन की कथा है। बिचारे दादा को अब इस बुढ़ौती में आकर कैसी मेहनत करनी पड़ रही है। जीवन भर तो नौकरी में यहाँ-वहाँ खटे। बीमार पत्नी की सेवा की। बरसों हाथ से बनाया-खाया और रात-रात जाग कर लड़का बड़ा किया। लड़का योग्य भी निकला परन्तु भाग्य के आगे किसकी चलती है? रवि कैसा हाथ से निकल गया—देखते-देखते।

पण्डित शिवशंकर आचार्य खेत से लौटे थे। माँ ने मामा की चिट्ठी सामने कर दी। जिस स्नेह से पत्र लिखा था उसके बाद न जाने का प्रश्न ही नहीं था। शिवशंकर के न जाने का प्रश्न खड़ा हो सकता था कि यहाँ इतने दिनों कौन सब सम्हालेगा परन्तु शिवशंकर की व्यवस्था जैसी थी उसमें उसका भी कोई प्रश्न नहीं था।

बडनगर कोई दूर भी नहीं था। सड़क का रास्ता तो था नहीं। गाड़ी के रास्ते जाना था। बीच में जरूर चम्बल पडती थी परन्तु पौष-माघ में इतना पानी तो रहता नहीं कि चम्बल पर बनी रपट पर पानी हो। आराम से दमनी में जाने पर आठ घंटे में पहुँचा जा सकता है। अतः माँ-बेटे में तय हुआ कि सवेरे चार बजे निकल चला जाए तो तीसरे प्रहर तक पहुँच जाया जाएगा। जाड़ों में बड़ी जल्दी अँधेरा घिरता है इसलिए दिनछते (दिन के रहते) ही बड़नगर पहुँचना ठीक होगा।

कितने वर्षों बाद श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य अपने मायके जा रही थी। अन्तिम बार वह रवि के उत्तरकार्य में ही गयी थी, जिसे जाना मानना बेकार है। याद नहीं पड़ता कि अपने विवाह के बाद वह सचमुच ही निश्चिन्त भाव से या किसी आनन्द-अनुष्ठान में गयी हों। मायके में रह कौन गया था? पिता पण्डित करुणा शकर दवे पूजा-पाठी, सन्तोषी ब्राह्मण वृत्ति के व्यक्ति थे। पुत्र ने अपने ही अध्यवसाय से पढ़ा-लिखा था तथा हेड-मास्टरी तक पहुँचा था। पुत्री गोदावरी का विवाह करके पिता निश्चिन्त हो गये थे। पिता ने कभी पुत्र के मामलों में कोई टाँग नहीं अड़ायी। बल्कि वह मन से बहुत सन्तुष्ट थे। जब इसी बडनगर में पुत्र मास्टर था तभी उनकी मृत्यु हो गयी। पण्डित करुणा शंकर दवे की पत्नी तो गोदावरी के छुटपन में ही चल बसी थी इसलिए श्रीमती गोदावरी देवी को मायके के नाम पर केवल भाई का ही स्मरण आता। आज वह बहुत ही प्रसन्न थी कि भाई के पास जा रही है।

घर से जब चले थे तो सप्तर्षि डूबने को थे। कठघाव ठण्ढ थी। पण्डित शिवशंकर आचार्य ने सिर पर साफा बाँध रखा था। टसर के कोट पर एक गरम हिरावल ले रखी थी। ठण्डी हवा में उनकी नाक लाल हो रही थी। आँखों में रह-रह कर पानी भर आ रहा था। दमनी में उन्होने खूब सारे पुआल बिछाकर उस पर बिस्तर बिछाकर माँ के लिए यात्रा सुखद बनाने की पूरी चेष्टा की थी। माँ को खूब सारा ओढ़ा-पहरा कर रजाई में लपेट कर बिठा रखा था। पुत्र की इस सारी हरकत पर माँ बरजती रही परन्तु पुत्र के आग्रह के सामने उनकी एक न चली। और इस समय वह नींद में हिचकोले

खाते उन्निद्र थी।

पण्डित शिवशंकर आचार्य के लिए ब्राह्म-मुहूर्त या प्रातःकाल से साक्षात कोई नयी बात नहीं थी। परन्तु स्थान-भेद तथा सन्दर्भ से रोज वाला ही आकाश भिन्न लगने लगता है। तारों की आदिमता तक नयी लगने लगती है। जंगल, गरवट, टीले, डूंगर, कच्चे रास्तों का बीच-बीच में आकर मिलना तथा फिर घूम कर अलग हो जाना कितना साधारण होता है, परन्तु अनेक बार यही साधारणता कैसी अप्रतिम लगने लगती है। हवा में झाड़ियों के झुके पड़ने में क्या विशेषता हो सकती है? परन्तु किसी भी प्रातःकाल में इसे देखिए तो—एकदम अविश्वसनीय लगेगा, जैसे इस झाडी का झाडी होना आज सार्थक हो गया। रास्ते में पड़ते गाँवों के ऊपर कुहरा जिस प्रकार कुंडली मारे मिलता तो लगता कि प्रकृति भी मनुष्य की उपस्थिति के प्रति सचेत है। पण्डित शिवशंकर आचार्य को सदा इस बात पर आश्चर्य हुआ है कि आकाश में प्रकाश का आभास शुरु भर हो कि पक्षियों को सबसे पहले उसकी सूचना हो जाती है। और पूरा वातावरण, जंगल, वन, उपवन, हाट-घाट उनके कूजन से भर उठते हैं। प्रकाश के प्रति ऐसा उत्साह, आलोक का ऐसा स्वागत कोई क्या करेगा!! कुछ पागल पक्षी तो दिन के स्वागत में जैसे पूर्वांचल के गोपुर पर पहुँच कर ही रहेंगे। जाड़ों में चने के खेता पर ओस कैसे विनम्र छिटकी रहती है। गन्ना भी खेतो में कैसे एक-दूसरे से सटा पडता है जैसे उन्हें आपसी नैकट्य की गर्मी चाहिए। मचान पर बैठा हुआ जोट ओढ़े कोई रखवाला या कोई पद-यात्री अनायास ही 'राम-राम महाराज' कहना कभी नहीं चूकता। खासकर दमनी हो और उस पर लाल भूल पड़ी हो, तब तो आपके सम्भ्रान्त होने में कोई शक ही नही रहता। पूरे रास्ते बैलों के घुंघरू सहयात्रा करते हुए आपको किसी अन्य की उपस्थिति का आभास दिलाते चलते हैं। जब कभी कोई नदी या खाल आता तो दमनी पहले तो कगार चढ़ती उसके बाद उतार धँसा पडता। बैलों की रस्सी यदि थामने में जरा भी चूक हो जाए तो भय दमनी के आप उस ठण्डे पानी में ही बस दिखायी दें। और दोपहर होते तक वे लोग चम्बल पहुँच गये। नहा-धोकर, खा-पीकर तथा गाडी में बैठे-बैठे अगो को कगार पर टहल कर जब सीधा कर लिया, तब चले। चम्बल का पानी रपट के ऊपर ही बह रहा था परन्तु रपट पर पानी न कुछ के बराबर ही था। हाँ, चम्बल की कगार खूब ऊँची थी। भूरी मिट्टी को जाडों की धूप ने सुनहला कर दिया था। लगता था कि पीली कनाते दोनों ओर तनी हैं और 'चमणवती' इस निभृत एकान्त में स्नान कर रही है। यहीं प्रायः समय-कुसमय डाके पड़ जाते हैं। चम्बल की यह पूरी खोह ही है जो यमुना तक ऐसी ही भयावह चली गयी है। शायद चम्बल का मार्ग सबसे ऊबड़-खाबड भू-भाग से निर्मित हुआ है इसलिए चम्बल और चम्बल की कगारें दोनों ही अविश्वसनीय रूप में अमानुषी हैं। चम्बल को देखकर यदि जल के भय का बोध जागता है तो चम्बल कगारों को देखकर भूमि के भय का बोध जागता है। जब आप चम्बल का पेटा वापस ऊपर चढ़ आते हैं तभी आप इन दोनों भयों से मुक्त हो पाते हैं।

चम्बल से बड़नगर दूर तो नही है परन्तु रास्ता बहुत ही पथरीला है। बैलों

जमाने में कठिनाई होती है, तो पहिये एक पत्थर से दूसरे पत्थर पर जाते हुए आपको पूरी तरह हिला कर रख देते हैं। रास्ते भर जो थोड़ी-बहुत वनस्पति मिलती रही है वह भी यहाँ लगभग गायब हो जाती है। एकदम सफाचट धरती की कल्पना वैसी ही भयावह है जैसे कि किसी घुटे सिर वाले व्यक्ति की भौंहें भी साफ हों। ऐसा व्यक्ति केवल हत्यारा ही हो सकता है, इसी प्रकार ऐसी धरती भी ऐसी ही लगती है। गर्मियों में मालवे का यह पश्चिमी भाग खूब तप उठता है। हाँ, वड़नगर से दो कोस पहले से धरती फिर वनस्पतियाँ धारण करने लगती है और वड़नगर पहुँचते-पहुँचते तो आप जैसे किसी आरण्यक माधवता में पहुँच गये लगता है।

और पण्डित शिवशंकर आचार्य, माँ और दमनी के साथ तीसरे प्रहर वड़नगर पहुँच ही गये।

वैसे तो अपेक्षित ही था कि दुर्गा से बड़नगर में साक्षात होगा ही, फिर भी दुर्गा, त्र्यम्बक और उसके बच्चों को देखकर श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य और पंडित शिवशंकर आचार्य को बहुत ही अच्छा लगा। अब तक दुर्गा से साक्षात उज्जैन में ही होता रहा या फिर जब कभी वह घर आयी है, तभी बोलना-चालना हुआ है परन्तु यह शायद पहली बार है जब किसी पारिवारिक मंगल-कार्य में भिन्न स्थान और सन्दर्भ में भेंट हो रही थी। श्रीमती गोदावरी देवी जो भी सोचती हों परन्तु पण्डित शिवशंकर आचार्य को दुर्गा से पूर्ण सन्तोष था। वैसे सच तो यह है कि दुर्गा का जैसा व्यक्तित्व बनता जा रहा था इसकी उन्हें कदापि आशा नहीं थी। प्रायः तो सामान्य जीवन में परिस्थितियों का दबाव, जकड़ एवं पकड प्रमुख हुआ करती है। ऐसे में प्रायः व्यक्तियों के अन्तर में विराजा आरम्भिक या अविकसित सदाशयी व्यक्तित्व दब जाया करता है या कुण्ठित हो जाता है और व्यक्ति, एक भिन्न प्रकार का हो जाया करता है। विशेष-कर स्त्रियों के व्यक्तित्व के बारे में चर्चा करना जब आज कठिन या निरर्थक है तब भला उन दिनो? और वह भी गाँव-देहात की, घर पर ही शिक्षित हुई लडकी का व्यक्तित्व? परन्तु मनुष्य की सम्भावनाएँ कब, कहाँ और किसमें, किस प्रकार प्रस्फुटित होंगी, इसके बारे में कोई भविष्यवाणी नही कर सकता है। अपनी 'सासूमाँ' श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल का जैसा अमानवीय व्यवहार उसके साथ है उसमें या तो उसे पूरा टूट जाना चाहिए था या फिर अपना फन उठा लेना चाहिए था। सामान्यतः तो इस दूसरी सम्भावना की ही आशा हो सकती थी क्योंकि पति, पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने विवाह से लौटते हुए पहले दिन दुर्गा को जो आश्वासन दिया था, वही अन्तिम भी था। परन्तु दुर्गा ने इस आश्वासन के होते हुए भी किसी दिन पति को, माँ को या भाई को अपनी ससुराल की यातनाओं की भनक नही दी होगी। अब सुन-सुनाकर जिसे जो पता हो गया है

उसके लिए दुर्गा क्या कर सकती थी, परन्तु अपने मुँह से उसने एक शब्द भी नही कहा होगा। बहुत हुआ होगा तो एक गहरी निश्वास निकल गयी होगी। लेकिन इतना तो आदमी दो कदम चलने पर भी करता है।

दुर्गा ने अपने विवाह के अवसर पर जो हाहाकार, मानवीय जीवन की व्यर्थता, व्यक्ति की विवशता तथा संसार की असारता देखी उसके बाद उसमें आसक्ति तो नाम मात्र को नही रह गयी। देह को उतार कर कोई नही फेंक सकता, तो वही क्या उतार पाती परन्तु ससुराल की देहरी में जब प्रथम बार पैर रखा, उस समय उसे यही लगा कि वह कभी किसी का प्रतिकार नही करेगी बल्कि जो भी होगा, जैसा भी होगा उसे अंगीकार ही करेगी। अस्तित्वहीनता के स्तर पर जाकर भी वह सामने वाले को तुष्ट करने की पूरी चेष्टा करेगी। वह जीने नही, परीक्षा देने आयी है। अब जो भी इसके तर्क, परिणति हो उसे केवल स्वतः होकर ही जीना है। उन्ही आरम्भिक दिनो में वसु-दीदी की यातना ने उसके मन में शेष रहे संकल्प-विकल्प को भी सदा के लिए नि.शेष कर दिया। यहाँ किसी बात, सम्बन्ध और व्यक्ति का कोई अर्थ नही है। स्त्री से सब को अपेक्षाएँ होती हैं। स्त्री, अपनी देह से भी दाता होती है और कैसा ही दाता क्यों न हो, दारिद्रय की कभी कमी नही होती। इसलिए जब दुर्गा ने यह तर्क स्वीकार लिया कि उसे मात्र देना है, तब क्या पात्र, क्या कुपात्र। और क्या प्रमाण कि यह बुरा है, तो वह अच्छा ही होगा। यो भी वह कभी स्मरण नही करती। जो जैसा बीता, उसे वैसा ही बीतना था। दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता था। और जो बीत गया उसे याद करके दुःखी होने या सामने वाले पर क्रोधित होने से क्या हो जाएगा? यदि सास ने खूँटी से उसकी चोटी बाँधकर उसे मुँह पर मारा ही मारा, तो पति से कहकर क्या होगा? कलह, आग और बदनामी को सीमित बनाये रखने की चेष्टा करनी चाहिए या कि उन्हे फैलने देना चाहिए? ईंधन डाल कर कौन सी आग बुझी है? पति को या किसी भी दूसरे को बताकर ईंधन ही तो डाला जाता? जितनी आपकी धरती जली है, उतनी ही जली रहे, इसके लिए आवश्यक है कि पास के सारे सम्भावित ईंधनो से अलग हो लिया जाए।

वह कोई हों—ममिया-सास या बुआ-सास, पास की ननद या दूर की भाभी—क्या वे सब भी जलती धरती पर नही खड़ी है? तब किससे अपनी कथा-व्यथा कहना? अरे, जब तुम स्वयं अपना दर्द अपने पेट में नही रख सके तब सामने वाले से अपेक्षा करना कि वह उसे सुनकर डकार तक न ले—कैसे सम्भव है? क्या वह नही जानती कि 'सासूमाँ' की सारी चेष्टा यही तो है न कि बहू, एक मूक पशु की भाँति केवल कामों में खटती रहे? उसमें मनुष्य होने की केवल प्रतीति ही न हो बल्कि किसी भी प्रकार की—न घर के बारे में, न बाहर के बारे में, जिज्ञासा भी न हो। ठीक है, जिज्ञासा नही सही—यह खूँटी यहाँ क्यो है? यह

जो श्रायी थी यह ग्रापसे क्या बातें कर रही थी ? यह ग्रापने चुपके से अपने आँचल में से निकाल कर अपने भंडारे में क्या रखा ? रखते समय आपके चेहरे पर घबराहट क्यों थी ? यह जो चुपके-चुपके देन-लेन करती हैं इसका ससुर जी को पता है या नहीं ?.... इनसे अनभिज्ञ रहने को ही तो कहती हैं न ? ठीक है, दुर्गा को कोई जिज्ञासा ही नहीं है। आप यही न चाहती हैं कि रिश्ते की जो बड़ी-बूढी आयी है उनके चरण-स्पर्श करके वह इतनी दूर चली जाए कि आपको आवाज दबाकर उनसे बातें करने की कोई आवश्यकता न हो। आपने अच्छा या बुरा घर को, अपने को तथा सम्बन्धों को एक तिलिस्म, बना रखा है, तो बहू को उसकी ताली खोजने की जरूरत ? या चोरी से उस ताली की नकली चाभी बनवाने की क्या पड़ी है ? तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। तुम गिनकर पापड़ दो या तौलकर शक्कर-गुड़ दो—अपने को आश्वस्त कर लो। यदि दुर्गा के गले में अँगुलियां डालकर देखना हो, तो भी कोई फरक नहीं पड़ने का। घी-गुड़ जितना दिया था, उतना ही है। अब दुर्गा इस रोज-रोज की पंचायत को किससे कहे ? और उससे लाभ ? कोई कुछ कर सकता है क्या ? मायके के सम्बन्धों की सीमा है। कोई भी बाहरी, बोलकर स्थिति को अधिक दुर्वह ही बनाएगा। दुर्गा को यही लगा कि सामने वाले को यदि बदलना है तो पहले अपने राग-द्वेष वाले 'स्व' को उतार फेंको। सामने वाला जो चाहता है वही हो जाओ। क्या अन्तर पड़ता है ? और कितने दिन ? यदि तुम अपना स्वत्व इतना नगण्य बना लो कि मारने के लिए उठा हुआ हाथ तुम्हारे स्वत्व की शून्यता से टकराये, तब ? और शून्य से भला कोई चीज टकराती है कभी ? वह उठा हुआ हाथ, वह क्रोधित स्वत्व, वह दुर्धर्ष अस्त्र शून्य में भूल-भूल जाएगा और अगत्या अपने ही परास्त हो जाएगा। जिस प्रकार सहने की सीमा होती है उसी प्रकार क्रोध, विद्वेष, कमीनापन, सब की सीमा होती है। इनकी इस सीमा का अतिक्रमण कर जाओ—तब क्या ? मगर का मगरत्व उसकी पीठ की ओर होता है, परन्तु पेट की ओर ? क्या वैसा ही निरीह या दयनीय नहीं, जैसा कि कोई भी होता है ? असल में सामने वाले के व्यक्ति के पार जाना होता है। उसे खुलकर आचरण करने दिया जाए। आप दोनों हाथों में घुटने समेट कर सिर झुका कर भी पराजित नहीं हुए हैं बल्कि सामने वाले के आततायीपन के लिए निरन्तर दुर्भेद्य दुर्ग हो गये हैं। प्रत्येक आततायी सामने वाले के व्यक्तित्व का अपहरण या हनन ही तो करना चाहता है। यदि आप उसका सामना, या अपना बचाव भी करेंगे तो सम्भव है वह तब आपको पराजित कर ले जाए। आप तो केवल अपने को अव्यक्ति बना लेते हैं। आप जब हैं ही नहीं तब न तो वह सामने वाला ही रहता है और न उसका वह आततायीपन ही। आप पर विजय पाने के लिए उसे भी अ-व्यक्ति बनना होगा। और अव्यक्तित्व के स्तर पर व्यक्तित्वों की लड़ाई का प्रश्न ही नहीं रहता।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि दुर्गा के लिए दैनंदिन जीवन और सम्बन्धों की विभीषिका इस प्रकार के तात्विक रूप और भाष्य में थी। वह तो केवल अन-हुआ होना जानती थी, और जब स्वत: उसे 'सामूर्णा' से व्यवहार करना होता था तब उसमें गहन

अपनत्व अनुभव होता था, जिसका सामना कभी-कभी श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल नहीं कर पाती थी। दुर्गा ने उन्हें कभी विजेता होने का सुख नहीं भोगने दिया होगा। गरम-गरम चिमटे से उसे दाग भी दिया होगा या पैर में सुइयाँ चुभो दी गयी होंगी पर श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल को कभी तोष नहीं अनुभव हुआ होगा। न जाने क्यों वह विकल ही हुई होंगी। उन्हें यह तक शिकायत हो सकती थी कि किसी भी सम्बन्धी के सामने बहू ने मुँह खोलकर कुछ तो कहा होता। परन्तु जहाँ जाकर वह पहले से अधिक झल्लाती होंगी वह था त्र्यम्बक का अपनी पत्नी का पक्ष लेना। पहले तो उन्हें विश्वास था कि बहू ही उसे बताती होगी परन्तु जब वह आश्वस्त हो गयी कि बहू ने कुछ नहीं बताया है तब तो वह बहू से अधिक पुत्र पर क्रोधित रहने लगी। परन्तु उनकी मुश्किल यह थी कि वह पति से भी बहू के बारे में कुछ नहीं कह सकती थी क्योंकि ससुर को बहू से कोई शिकायत नहीं थी, दूसरे त्र्यम्बक जिस प्रकार सारा कारोबार सम्हाल चुका था उसमें अब उनकी नहीं चलती थी। साथ ही श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल जानती थी कि पति को उत्तरोत्तर उनसे भय, घृणा, वितृष्णा तक होने लगी थी।

जिस समय पण्डित शिवशंकर आचार्य एवं श्रीमती गोदावरी आचार्य की दमनी पहुँची दुर्गा अपनी लड़की कुन्ती को गोदी में लिये ओटले [चबूतरे] पर खड़ी थी। बाहर की दीवाल में दरवाजे के दोनों ओर चित्र बनाये जा रहे थे। चित्रकार ने एक ओर का हाथी बना दिया था और इस समय वह दूसरा हाथी बना रहा था। ढेरों बच्चे अकेले, दुकेले, छोटे भाई-बहनों को कमर पर बैठाये हुए झुके-झुके या हाथ पकड़े हुए घेरे खड़े थे। रह-रह कर बच्चे जिज्ञासा कर रहे थे कि क्या सिर्फ हाथी ही बनेंगे? यह पूरी दीवाल खाली ही पडी रहेगी? पूरी बरात ही क्यों नहीं बनाते?''''अरे''''रे''''यह हाथी की पूँछ तो लम्बी हो रही है? हाथी भी कहीं नीला होता है? इस हाथी के हौदे की रस्सी में घंटा क्यों नहीं बना देते? सेठ मिसरी लाल जैन की दीवालों पर देखो जाकर, क्यों गनपत! देखे हैं न! क्या हाथी हैं साले!!—बस कूद कर चढ बैठो उन पर। और चित्रकार लड़कों की बातों पर प्रायः तो चिढ ही बैठता पर कभी-कभी हँस भी पडता। दुर्गा भी अभी-अभी आयी थी कुन्ती को खोजते हुए। कुन्ती को यहाँ देखा तो उसे उठाकर दूध पिलाने के लिए भीतर ले ही जा रही थी कि चित्रों का बनाया जाना उसे भी आकर्षित करने लगा और वह देखने खड़ी हो गयी। तभी उसे ध्यान आया कि उसे इस तरह चबूतरे पर लडकों के बीच खड़े हुए देखे तो कोई क्या कहे, और वह मुड़ी। मुड़ते ही उसने देखा कि गली में कोई दमनी आ रही है। गली की नाली के पानी को कुचलते हुए बैल अपनी गलघंटी बजाते हुए आये और घर के सामने रुके। और दुर्गा चौंकी।

— अरे, दादा!

श्रौर दुर्गा ने देखा कि भव्य पंचकेशी पर सिल्क का साफा श्रौर टसर का कोट पहने दादा सच ही कितने अच्छे लगते हैं न ? और वह कुन्ती को वहीं छोड़ श्रोटले से नीचे पहुँची श्रौर चरण-स्पर्श कर भाई के अंक में पूर्ण तुष्टि, आनन्द और प्रसन्नता के साथ समा गयी। दोनों हाथों में उसका मुख भर कर शिवशंकर उसे जिस तन्मय भाव से देख रहे थे वह एक पिता ही कर सकता है। तब तक काँखते-कूँखते श्रीमती गोदावरी श्राचार्य भी दमनी से नीचे उतरी। उनके उतरने से दमनी में झटका लगा तो बैलों के कन्धों को जुए ने झटका दिया।

माँ ने जैसे ही दुर्गा को देखा तो पूछा,

— तुम लोग कब आ गये ?

— हम लोग तो परसों ही आ गये थे।

माँ ने बेटी का सिर सूँघा और दोनों बाहुओं से पकड़ कर पहले उसे देखा, तौला और फिर अपने से सटा लिया। वह लगभग रो पड़ी, शायद दुर्गा भी। यदि इस बीच श्रोटले पर खड़ी कुन्ती, निराश्रित हो उठने के कारण, न रो पड़ती तो ये दोनों माँ-बेटी रो पड़तीं। रोना आया, खूब ही आया पर शब्दहीन। शायद दोनों सचेष्ट भी हुईं कि सरे आम खड़े होकर यह क्या हो रहा है। जैसे ही नतिनी का ख्याल आया, तो नानी उसे लेने को बढ़ी परन्तु एक अपरिचित को हाथ फैलाये अपनी ओर आते देखा तो कुन्ती जोरों से रो पड़ी। दुर्गा ने उसे गोद में लेते हुए झिड़का,

— 'पागल, नानी को नहीं पहचानती ?'

श्रोटले पर खड़े लड़के-लड़कियों को धीरे-धीरे होने वाली चित्रकारी में रुचि यों भी कम होती जा रही थी कि पता नहीं कब तक यह चलेगा। इस बीच दमनी दिखी। दमनी की लाल झूल, गबरू बैल, उनकी सुन्दर सी गलघंटियाँ, रँगे सींग, जुए में लगने वाला 'जोत' भी कैसा कमानीदार था। और तो और हाँकने वाले डण्डे में रस्सियाँ कैसी रंगीन लगी थीं। जरूर ही जब बैलों पर पड़ती होंगी तब हवा मे कैसी 'शपाक' 'शपाक' बोलती होंगी। लड़कों में बहस छिड़ी थी कि आगन्तुक कौन होगा और अपनी-अपनी बात मनवाने के लिए वे भापा की टाँग तक बना कर एक दूसरे मे फँसाने लगे।

माँ को दुर्गा भीतर ले गयी। पण्डित शिवशंकर आचार्य ने इस बीच बैलों को खोल डाला और फिलहाल के लिए श्रोटले मे लगे कड़ों से उन्हें बाँध दिया। दमनी को सामने से उठाकर भरसक एक तरफ कर दिया। गाड़ी के बिस्तरे को समेट कर भीतर रख आये और तब चार-पाँच घास के पूले खोलकर बैलों के सामने चरने के लिए खोल दिये। बैलों को काम मिल गया। बच्चे इस बीच सारा व्यापार ध्यान से देखते रहे। इस व्यक्ति की वेश-भूषा, केश-दाढ़ी को देखकर प्रसन्न नहीं बल्कि आतंकित थे। क्योंकि पण्डित शिवशंकर आचार्य जैसे ही यह सब करके घर के भीतर गये तो लड़कों में से एक ने, जो खासा चालू लगता था, उनकी पूरी-पूरी की नकल कर डाली और उसके बाद वह तथा सारे लड़के उस नकल पर सेरी की धूल में लोट-लोट कर हँसने लगे।

पण्डित ग्रानन्द शंकर दवे बाजार से लौटे। बाहर एक दमनी खड़ी देखी तो चौंके कि कौन ग्राया ? लगा तो, कि गोदावरी हीं होगी परन्तु इस तरह तो गाड़ी में ग्राने वाला कोई भी हो सकता था। घर में घुसने के पूर्व उन्होंने चित्रकारी का निरीक्षण किया, बोले,

— ग्राज तो क्या सब बन सकेंगे ?

— ग्राज तो नहीं, कल तक सब बन जाएगा माड़साब ! देवी-देवताग्रों के विवाह के प्रसंग बनाऊँ या कोरी बरात बनाऊँ ?

— कोरी बरात किस काम की ? ग्ररे राम-जानकी, शिव-पार्वती के विवाह-प्रसंग बनाग्रो। शोभा भी हो ग्रौर भगवान के दर्शन भी हों।

ग्रौर यह कहते हुए जैसे ही घर में घुसे कि रास्ते में किसी ने पानी भरने की रस्सी पटक रखी थी, उसमें उनका पैर उलझा।

— यहाँ रास्ते में यह नेज किसने रख छोड़ी रे ? किसी का पैर उलझेगा तो बत्तीसी निकल ग्राएगी।

ग्रौर वह नेज को सहेजने लगे। तभी पण्डित शिवशंकर ग्राचार्य ने बढ़ कर मामा जी का चरण-स्पर्श किया।

— ग्ररे वाह, तुम लोग कब ग्राये ?

— ग्रभी ही ग्राये।

— गोदावरी कहाँ है ?

— जिजी भीतर है।

— जभी तो। बाहर दमनी खड़ी देखी तो सोचा कि ग्रौर कौन हो सकता है ?—

किंचित ग्रात्मस्थ होकर पूछते हुए बोले,

— दुर्गा मिली ?—ग्ररे दुर्गा ?

ग्रौर मामा जी की ग्रावाज पर दुर्गा भीतर से निकली। उसे देखते हुए मामा जी बोले,

— ग्ररे बेटा, दादा को पिछवाड़े वाली बैठक में ले जा। ग्रौर कुछ नाश्ता, पानी नहीं होगा क्या ? बेटा, तुझे ही सब सम्हालना है, ग्रौर कौन बैठा है यहाँ ?

शायद यह वाक्य कहते-कहते वह ग्रपने ही ग्रन्तर्मन के न जाने कौन से मर्म को क्षणान्त में छू ग्राये कि ग्राँखों में पानी ग्रा गया। नाक तक वह उठी। धोती से नाक पोंछते हुए स्थिति को टालते हुए शिवशंकर से बोले,

— चलो बेटा, ऊपर चलो।—ग्ररे यह गोदावरी कहाँ रह गयी ?

ग्रौर जब तक गोदावरी ग्रपने भाई के चरण छुएँ भाई ने उन्हें थाम लिया, बोले,

— तू कुछ दुबली हो गयी क्या ?

— दादा ! क्या तुम इसी तरह मास्टरी करते थे ?

— कैसी ?

— मोटे को दुबला ?

— लो, गोदावरी मोटी है ?

और 'लो' वाला वाक्य उन्होंने बिल्कुल अध्यापकीय ढंग से कहा जैसे क्लास में लड़कों को पृथ्वी का ग्लोब घुमाते हुए उस पर टार्च की रोशनी डालते हुए बताया हो कि—लो लड़को देखो, दिन-रात इस प्रकार होते हैं।

व्यक्ति अपना ऊपरी व्यक्तित्व भूल कर कब मूल रूप में आ जाता है, पता नहीं चलता। पण्डित आनन्द शंकर दवे मूल रूप में बड़े ही सीधे, आनन्दी जीव हुआ करते थे। सीधे तो वह जीवन भर रह सके परन्तु उनका आनन्दी स्वभाव जाने कहाँ खो गया। आज अपनी एकमात्र बहन को देख कर पचासों बरस पूर्व का घर द्वार, हँसना-हँसाना याद हो आया।

— तू मोटी ही नहीं, बड़ी खोटी भी है।

और कहते-कहते गोदावरी के कन्धे पकड़ कर वह खूब खुलकर हँस दिये, बच्चे बन गये।

— बोल, बता दूँ गोदावरी ! कि तुझे बजार की सेब चोरी से खाते मैंने कैसे पकड़ा था। दुर्गा और शिवशंकर ने भी कभी माँ को ऐसे सहज प्रसन्न, सुखी पहले कभी नहीं देखा। माँ सुन्दर रही होंगी यह तो वे दोनों जानते थे। पर आज भी सुन्दर हैं। यह पहली बार देखा कि मामा जी और माँ की शक्लें अद्भुत रूप से मिलती थीं। केवल अन्तर इतना ही था कि मामा जी के चेहरे में हल्का शहरातीपन भी था। इनकी इटालियन गोल टोपी, बिना कालर की कमीज, केलिको की धोती और पम्प में उनका सारा व्यक्तित्व नागरिक अधिक लगता था जबकि गोदावरी में ग्राम्यता की गन्ध थी, परन्तु एक ही शाखा की सगोत्री प्रशाखाएँ थी।

हँसते हुए पण्डित आनन्द शंकर दवे बोले,

— चलो, तुम लोग समय से आ गये बड़ा अच्छा हुआ।

— अरे दादा ! तुम चार-आठ दिन पहले खबर दे देते तो यह शिवशंकर हीं चला आता। ऊपर की दौड़-धूप यही कर लेता।

— करना क्या था गोदावरी ? सारा काम हाथों-हाथ हो गया। सच तो यह है कि मुझे उठकर पानी भी नहीं पीना पड़ता है। रविशंकर का लोगों से ऐसा व्यवहार था कि आज सारी बडनगर उसकी लड़की के ब्याह में जुट पड़ी है।

पण्डित शिवशंकर आचार्य को लगा कि व्यक्ति अपने निकट के सामने वैसा ही खुलना चाहता है जैसे कि व्यक्ति घर पहुँच कर सबसे पहले कपडे उतारना चाहता है, जैसे कि ये ही बोझ थे।

और देर रात तक आपस में परामर्श होता रहा। किसका प्रबन्ध हो चुका है,

किसका होना है, किसके जिम्मे क्या है और शिवशंकर किस प्रकार सब देख-रेख करेगा। पण्डित ग्रानन्द शंकर दवे के सामने जो सबसे बड़ा प्रश्न था वह यह कि लड़की के ब्याह में मामेरा [मामा की ओर से आने-वाले कपड़े आदि] बहुत प्रमुख होता है। यदि उनके ससुराल पक्ष में कोई न होता या दूर कहीं होता तो वह स्थिति सम्हाल लेते परन्तु वह नहीं समझ पा रहे थे कि अब क्या करें ?

उनकी ससुराल एक तो यहीं बड़नगर ही में थी, दूसरे अब केवल उनके एक ही छोटे साले बच गये थे। बड़े साले उद्धवदास जोशी ग्वालियर में जाकर ऐसे बस गये थे कि सिर्फ भेलसा अपनी ससुराल के अलावा किसी से भी उनका चिट्ठी-पत्री का भी नाता-रिश्ता नहीं रह गया था। आज पैंतीस बरस हो गये होंगे बड़नगर आये। छोटे साले उत्सव लाल जोशी जिन्दगी भर यहाँ कचहरी में 'स्टाम्प-वेन्डर' ही बने रहे। अपनी हैसियत के अनुसार वह जात-बिरादरी में, नाते-रिश्ते में, काज-करयावर में भरसक आना-जाना, देन-लेन करते रहे परन्तु योगायोग के सामने किसकी चली जो पण्डित उत्सव लाल जोशी की ही चलती। नहीं तो अपनी छोटी सी गृहस्थी को वह किसी प्रकार गरीबा-गरीबी में चला ही रहे थे परन्तु भाग्य की बात कि एक पागल कुत्ते ने उनकी पत्नी को काट खाया।

शायद पत्नी उस दिन किसी के घर से विवाह-गीत गाकर लौट रही थी। आँचल में बताशे बँधे थे। बाजार तक तो सारी औरतें साथ ही आयी थी परन्तु जैसे ही वह अपनी गली में मुड़ीं कि सामने से कुछ लोग लाठियाँ लिये, चिल्लाते हुए एक कुत्ते को खदेड़ते हुए ला रहे थे,

—बचना, बचना, कुत्ता पागल है, पागल है।

अभी वह कुछ सम्हलें और स्थिति की गम्भीरता का उन्हें बोध हो कि कुत्ता उन पर लपका। वह आँचल के बताशे फेंक कर लगभग चीखते हुए एक चबूतरे पर चढ़ी परन्तु चढ़ते-चढ़ते भी कुत्ते ने उनके बाँये पैर में काट ही खाया। लाठी लिये लोग पीछे थे ही। गली में वैसे भी अँधेरा था। किसी को पता नहीं चला कि कुत्ते ने किसी को काटा भी है। श्रीमती अयोध्यादेवी जोशी को न तो सपट ही बँधी और न पराये मर्दों से कुछ कहने की हिम्मत ही हुई। सब कुछ क्षणान्त में ही हुआ था। और देखते-देखते गली में फिर सन्नाटा छा गया। अब जाकर वस्तुस्थिति की भयावहता का उन्हें बोध हुआ कि कुत्ता तो पागल था। और यह ध्यान आते ही वह पागलों सी घर की ओर दौड़ी।

घर दूर ही कितना था। जैसे ही वह घर का चबूतरा चढ़ी कि उनका साहस छूट गया और वह लगभग चीखते हुए गिर पड़ी। पण्डित उत्सव लाल जोशी रोज के रोज सरकारी स्टाम्पों का हिसाब-किताब, रुपया-पैसा रात में गिनकर एक पेटी में रख दिया करते थे। यह काम वह सोने जाने से पहले ही करते थे। जिस समय पत्नी की चीख सुनायी दी वह बक्से में नीचे के तल्ले में रुपये-पैसे सजा रहे थे। सहसा नहीं समझ पाए कि यह कौन चीखा। यही लगा कि कोई चीख थी। उसके बाद ध्यान गया कि चीख किसी स्त्री की थी और अन्त में लगा कि यह चीख तो उनकी पत्नी की आवाज जैसी थी।

और उन्हें तब ध्यान आया कि हाँ, पत्नी किसी के यहाँ ब्याह में गीत गाने गयी हुई है—तो ? और वह झपट कर उठे। बाहर अँधेरा था। तारों का जो कुछ प्रकाश होता है, वही था। इतना वह देख सके कि कोई ओटले पर पछाड़ खाये पड़ा है। फिर लगा कि कोई स्त्री है। और पलट कर उन्होंने लालटेन उठायी और चबूतरे की तरफ बढ़े। मारे घबराहट के वह इतने में ही पसीने-पसीने हो गये थे। लालटेन की रोशनी में जैसे ही साड़ी दिखी तो वह पहचान गये कि यह तो पत्नी ही है। लालटेन पटक कर उन्होंने पत्नी को उठाया और झकझोरते हुए पूछा,

— क्या बात है ? क्या हुआ ?

पत्नी ने पहले तो जलती लालटेन को देखा, फिर पति को देखा और पहचाना। पति को पहचानते ही वह जोरों से चीखीं और रो पड़ीं।

— क्या बात है ?....अच्छा, चलो, घर में चलो।

पत्नी को वह लगभग कंधे से घसीटते हुए भीतर लाए। वह नही समझ पा रहे थे कि क्या हुआ ? अनेक शंका—कुशंकाओं से घिरे जब उन्होंने पत्नी को बिस्तरे पर लिटाया, पानी पिलाया और सान्त्वना दी तो वह खूब खुलकर रो पड़ीं। एक सीमा पर रोना बहुत आवश्यक होता है, इसलिए श्रीमती अयोध्यादेवी जोशी रोती रहीं, परन्तु जब उन्हें ही बोध हुआ कि पागल कुत्ते का विष अब तक काफी फैल गया होगा तो उन्होंने पति को बताया।

पण्डित उत्सव लाल जोशी ही नहीं, कोई भी उस स्थिति में होता तो क्या करता ? दौड़कर गये और रामवल्लभ कम्पाउन्डर को सारी बात बतायी। उसने काटे हुए पर चीरा लगाया और नीला थूथा भर दिया। इससे अधिक बड़नगर में तब सम्भव भी क्या था। विष उतारने की दवा और वह भी पागल कुत्ते के विष का निदान, कम्पाउन्डर रामवल्लभ क्या वहाँ के डाक्टर के पास भी नही था। हाँ, यदि उज्जैन जाएँ तो सुना है कि इसमें बड़ी-बड़ी सुइयाँ लगती है। परन्तु रोगी बचता है, ऐसा तो कभी नहीं सुना है। वैद्यराज जी ने भी अपनी समझ से पुड़ियाँ दीं कि शरीर से विष निकल जाए और रक्त शुद्ध हो जाए। बिचारे उत्सव लाल जोशी रोते-कलपते, एक मात्र पुत्र को, जो कि उन दिनों चार वर्ष का ही था, लेकर पत्नी को दिखाने उज्जैन भी गये। डाक्टरों ने अपनी समझ से सुइयाँ-गोलियाँ भी दीं। परन्तु उन्हें लग गया कि विष फैल गया है और सिवाय यातना, असह्य यातना के कोई रास्ता नही। यह सोचकर ही पण्डित उत्सव लाल जोशी का रहा-सहा साहस भी डोल गया कि पत्नी को पानी से, बरसात से बचाना होगा। बच्चे को दूर रखना होगा, और घर से बाहर भी नही जाने देना है। वह एक प्रकार से श्वानवत ही कभी भी व्यवहार कर सकती है।

वैसे भी उनके जीवन में कौन बड़ा सुख था। बड़े भाई पण्डित उद्धवदास जोशी घर का पैतृक मकान बेच-बाचकर सारा रुपया डकार कर जो ग्वालियर गये तो मालवा की ओर कभी मुंह तक नही किया। कभी भूल कर नही झाँका कि भाई का पीछे से क्या हुआ।

बड़े भाई थे, रसूखवाले थे, सम्पन्न भी थे भला ऐसे व्यक्ति से एक स्टाम्प-वेन्डर भाई क्या कहता ? टुकुर-टुकुर देखते रहे। अपना विवाह भी पण्डित उत्सव लाल जोशी ने अपने मे ही किया। हाँ, जीजा पण्डित आनन्द शंकर दवे और बड़ी बहन श्रीमती दमयन्ती दवे न होते तो पता नही उनका क्या हुआ होता। होता क्या, जो अनाम प्रसंग कोटि-कोटि लोगों के साथ होता है वही होता। अनाम जन्म और असंग समापन। वह तो कहिए कचहरी में टिकिट बेचने का काम लोगों के कहने-सुनने से मिल गया तो किसी तरह रो धोकर चार पैसे हाथ में आये और यह दो कमरों का कच्चा-पक्का मकान खड़ा कर सके। किसका उन्होंने बुरा चेता था जो उन पर यह विपत्ति आयी ? कभी किसी का एक पैसा मारा नहीं। यदि किसी की सहायता नही कर सके होंगे तो बुरा भी तो नही ही किया। हमेशा किसी के सामने हाथ न फैलाना पड़े इसलिए अपनी चादर से पैर किसी भी मौसम में बाहर नहीं निकाला होगा। एक ही एक लड़का गोविन्द था, बड़ा हो ही जाता। बहुत कट गयी थी, बाकी की भी कट ही जाती, परन्तु यह क्या हो गया ? अब वह किसके सहारे यह गृहस्थी चलाएँगे ?

और जिन दिनों पत्नी को दौरे पड़ते घर नरक हो जाता। पत्नी भौंकते-भौंकते अधमरी हो जाती। गोविन्द डरा-डरा सा रहता। पण्डित उत्सव लाल जोशी, आँगन में जाकर बेर के नीचे एकान्त में रो पड़ते। कुछ समझ में नहीं आता कि क्या करें ? और कैसे करें ? आदमी रसोई-पानी का कष्ट सह लेता है, आदमी के चले जाने की यातना भी झेल जाता है परन्तु रोज-रोज इस पाशविक संत्रास का कोई क्या करे ? न मरने की कामना कर सकते हैं, न जीने की। इसका सबसे बुरा असर गोविन्द पर पड़ रहा था। वह बढ़ नही रहा था बल्कि डूब रहा था। कचहरी में दिन भर स्टाम्प बेचते होते तो उन्हें पत्नी का भौंकना सुनायी देता। भय से सन्त्रस्त अबोध पुत्र की आँखें याद आती और वह पसीने-पसीने हो उठते। अजीब साँसत थी कि गले में फाँसी लगाकर मर भी नही सकते थे।

और वर्ष, और वर्ष।

हमें लगता है कि समय नहीं बीतता परन्तु सच तो यह है कि समय ही तो बीतता है। हमारी आयु क्या है ? समय के बीतने का एक माप ही तो है। समय सबको, नदी, फूल, प्रकाश, वनस्पति, पशु-पक्षी, मनुष्य सबको अपने बीतने के लिए काम में लाता है। परन्तु यह विराट बीतना हमारे क्षण-क्षण को कैसे तोड़ जाता है। दो-तीन बड़े दौरों के बाद जिस दिन अन्तिम दौरा पड़ा उस समय पण्डित उत्सव लाल जोशी कचहरी में थे। अभी गोविन्द मुश्किल से आठ साल का ही था। परन्तु उसमें एक ऐसा मौन, एक ऐसी गम्भीरता आ गयी थी जिसे शुभ नहीं कहा जा सकता था। दौरे के बाद कई बार गोविन्द ने ही कमरे की काफी सफाई की होगी। जिस कोठरी में माँ को बन्द रखा

जाता था उसे गोविन्द भी बन्द कर सके इसके लिए उसके दरवाजे के बीच में तथा नीचे साँकल लगवा दी थी। दौरे के समय गोविन्द माँ के पास न जाए यह गोविन्द भी समझ गया था। शायद वह बहुत-कुछ समझ गया था इसीलिए घर से बाहर बच्चों में भी नहीं जाता था। लड़के उसे देखते ही भौंकने लगते थे। पहले जब वह नहीं समझता था तब की बात और थी परन्तु उसे लगा कि मुहल्ले के सारे बच्चे उसका उपहास, तिरस्कार कर रहे हैं। पूरे दिन पिता की अनुपस्थिति में वह क्या करे ? जिस स्कूल में जाता था वहाँ भी लड़कों ने चिढ़ाना शुरू कर दिया था इसलिए पण्डित उत्सव लाल जोशी को उसका स्कूल तक छुड़वा देना पड़ा। मास्टर लोग कर ही क्या सकते थे। लड़के क्लास में न सही, अध्यापकों के सामने न सही पर स्कूल के बाहर, पूरे रास्ते भौंक-भौंक कर या 'माँ इसकी पागल है' कह-कह कर चिढ़ाते। रोज-रोज बच्चे को कचहरी भी कैसे ले जाया जा सकता था ? कचहरी की उस चिल्ल-पों में बच्चा क्या लिख-पढ़ सकता था ? परन्तु घर वह किसके भरोसे छोड़ें ? अजीब सांसत थी।

और उस दिन जब वह शाम को लौटे तो देखा कि कोठरी के बन्द दरवाजे से सटा गोविन्द सो रहा है। खटका हुआ। गोविन्द को जगाया और जब उसने रोते हुए बताया कि दरवाजे के पीछे माँ सिर पीट-पीट कर मौन होकर गिर पड़ी और जब थोड़ी देर बाद उसने दरवाजा खोलकर देखा तो माँ मरी पड़ी थी। मारे भय के उसके पैर बँध गये और तबसे वह यहीं बैठा है। पण्डित उत्सव लाल जोशी सचमुच उस मनःस्थिति में पहुँच चुके थे कि जैसे पागल कुत्ते ने उन्हें ही काटा है और वह अभी भौंकने लगेंगे। सिर पीट लेने को मन हुआ कि क्या भाग्य लेकर आये है। पूरे जीवन में एक दिन भी निश्चिन्तता नहीं अनुभव की। क्या इसी संसार के लिए मनुष्य इस माया की ओर भागता है ? वह नितान्त टूट चुके थे।

राम-राम करते पत्नी का उत्तरकार्य क्या किया जैसे अपना ही श्राद्ध किया। पहले ही कौन अभिव्यक्ति थी, परन्तु अब तो ओठों पर जैसे सिल रख ली। वह पूरी तरह घिरे लग रहे थे। पुत्र था, परन्तु क्या पुत्र ऐसा होता है ? अभी आयु ही कितनी थी कि कुछ समझ पाता। परन्तु यह उनका भ्रम था। जब कभी वह पुत्र को आवाज देते तो वह उसी कोठरी में से बहुत बुलाने पर जवाब नहीं देता बल्कि फटी-फटी आँखें लिए सामने आ खड़ा होता। उसके न बोलने पर वह प्रायः झल्लाये हैं, क्रोध में दो-चार बार कसकर मारा भी है परन्तु उन्हें अन्त में प्रतीति यही हुई कि वह किसी पत्थर की प्रतिमा को ही पीट रहे थे। वह कुछ नहीं समझ पा रहे थे कि क्या करें ? पुत्र को क्या उसकी ननिहाल भेज दें ? परन्तु नहीं, यह और भी भूल होती। साधारण स्थिति में ही जब पराया बच्चा किसी को भी बोझ होता है तब किस मामी-मासी का कलेजा है जो एक रोगी बच्चे को सम्हाल सके और क्यों ? और कितने दिन ? नाना-नानी भी वृद्ध हो चुके थे।

उन्हें लगा कि उन्होंने न केवल श्मशान में ही जन्म लिया था बल्कि यह घर भी श्मशान

में ही बनाया है। यह जीवन ही कैसा शलाका-प्रकरण है। क्या इससे कोई मुक्ति नहीं ?

और देखते-देखते यह निदान हो गया कि गोविन्द को कोई शारीरिक बीमारी नहीं है बल्कि माँ को जो यातना भोगनी पड़ी उसी का सांघातिक प्रभाव उसके बाल-मन पर हुआ है। यह मानसिक रोग दवा से नहीं, सम्भव है, सेवा से ही कभी ठीक हो। यदि उपयुक्त ढंग से रखा जाए, कुछ अशुभ न देखने-सुनने को मिले तो कालान्तर में उसके मन से यह भय उतर सके। यह एक प्रकार के आत्म-पीड़न से पीड़ित है।
भला पण्डित उत्सव लाल जोशी क्या कहते ? केवल सुनना और भोगना ही जिसके भाग्य में हो वह क्या कह-सुन सकता है ? भोगते हुए व्यक्ति की देह हो जिह्वा होती है। वह स्वयं ही दु:ख-भाषा होता है। पण्डित उत्सव लाल जोशी क्या कहते ? पण्डित शिवशंकर आचार्य को यह सब जानकर तथा सामने बैठे विवश पण्डित उत्सव लाल जोशी की हताशा देखकर यही लगा कि वह स्थिति कितनी सुखद है जिसमें कि पीड़ा में व्यक्ति रो तो सके। जब क्रन्दन भी व्यक्ति में जम जाए तब व्यक्ति अपना ही 'फॉसिल' बन जाता है। पण्डित उत्सव लाल जोशी अपना ही 'फॉसिल' थे। ऐसे व्यक्ति को आप कुछ कहें, कैसी ही आध्यात्मिक, ज्ञान-ध्यान की भाषा में कहें—पत्थर को सुनाना है। 'फॉसिल' व्यवहार की वस्तु न होकर अध्ययन का आकर्षण होता है।
पण्डित आनन्दशंकर दवे ने जिस प्रकार मामेरे के प्रबन्ध के लिए रुपये भिजवाए थे, उसमें उनका तात्पर्य पण्डित उत्सव लाल जोशी का किसी प्रकार अपमान करना नहीं था—केवल यही बात समझाने के लिए पण्डित शिवशंकर आचार्य उनके पास गये थे। उत्सव लालजी की जो मनःस्थिति देखी उसमें उन्हें यही उचित लगा कि उनकी ओर से मामेरे को सारा प्रबन्ध कर दिया जाए तो ठीक होगा। उत्सव लाल जी से यह आशा करना कि वह सब करेंगे, उनके साथ अमानवीयता ही होती ! ऐसा व्यक्ति, व्यक्ति नहीं बल्कि निमित्तवत होता है।
हाँ, पण्डित शिवशंकर आचार्य ने जब उनके पुत्र से मिलने के बाद पूछा, कि वह इसके बारे में क्या सोचते हैं तो वह बोले,
— क्या सोचूँ ? आप ही बताएँ ?
— आप मुझे 'आप' क्यों कहते हैं ? आप मेरे मामा जैसे ही हैं।
— चलो, तुम ही सही। क्या अन्तर पड़ता है ? अब बताओ, मेरी जगह तुम हो तो क्या करो ?
पण्डित शिवशंकर आचार्य ने प्रति-प्रश्न की आशा नहीं की थी, बोले,
— मामाजी ! भगवान पर विश्वास रखें। अवश्य ही कोई मार्ग निकलेगा।
— भैया, न भी विश्वास करना चाहें, तब भी क्या ?—हाँ, हारे को हरिनाम तो है ही।
पण्डित शिवशंकर आचार्य के मुँह पर तभी कोई बात आयी अवश्य परन्तु सोचा कि

पहले अपनी माँ से परामर्श कर लें तभी कहें। और यथायोग्य कहकर वह उठ खड़े हुए। उन्हें लगा जैसे वह क्षितिज पर्यन्त फैले किसी तपते रेगिस्तान में खड़े अकेली खजूर से मिलकर लौट रहे हैं। खजूर के अकेलेपन का हाहाकार उनके लिए असह्य हो उठा था।

कल्याणी का विवाह हुआ और बहुत अच्छा हुआ। बरात रतलाम से आयी थी। कल्याणी का विवाह रतलाम के पण्डित मनोहर लाल जी उपाध्याय के पुत्र बसन्ती लाल से हुआ था। पण्डित मनोहर लाल जी उपाध्याय रतलाम-राज्य के एक ठिकाने में कामदार थे। रतलाम में ऐन चौक में उनकी बड़ी सी-कोठी थी। जागीरदारों की तरह उन लोगों का रहन-सहन था। ब्राह्मण से अधिक क्षत्रिय लगते थे। जब पण्डित शिवशंकर आचार्य ने रतलाम के पास एक स्वामी जी की चर्चा सुनी तो उनकी बड़ी इच्छा हुई कि वह जब यहाँ तक आये हैं तो जाकर दर्शन कर आएँ। और जब मालूम हुआ कि कामदार साहब के परिवार का यह नियम है कि वर-वधू को पहले स्वामी जी के दर्शन कराने ले जाते हैं तब तो उन्होंने बहुत अच्छा अवसर समझा। यही तय हुआ कि आखिर तो दो दिन बाद बहू को लेने किसी को जाना ही पड़ेगा तो क्यों नहीं पण्डित शिवशंकर आचार्य ही यह काम भी करते आएँ?

रतलाम पहुँच कर अधिकांश बराती तो घर चले गये पर दस-पन्द्रह आदमी स्वामी जी के आश्रम तक जाने के लिए रुक गये। चूँकि स्थान लगभग चार मील दूर था, अतः ताँगों का प्रबन्ध किया गया। पण्डित शिवशंकर आचार्य ने यह वृत्ति विकसित कर ली थी कि वह जब चाहें, जहाँ चाहें, अपने को अकेला कर सकते थे। सबसे पीछे वाले ताँगे में वह थे। अन्य तीन सवारियाँ अपनी ही राम-कहानी में डूबी थीं। विवाह की दौड़-धूप में पण्डित शिवशंकर आचार्य को खुली आँखों चारों ओर देखने का मौका ही नहीं मिल पा रहा था। रतलाम, मालवे का पश्चिमी नगर-द्वार जैसा था। यहीं से छूती हुई रेलें बम्बई, बड़ौदा जाया करती थीं। यहीं से होकर दक्षिण-पश्चिम मालवा को काटती मीटर-गेज की अजमेर-खण्डवा रेल भी थी। इस प्रकार रतलाम की बाहरी सीमा में रेलवे वर्क-शाप की तथा छोटे-मोटे उद्योगों, जीन-फैक्टरियों की चिमनियाँ, उनका धुँआँ, मालवी ग्रामीण-आँखों के लिए आश्चर्य का विषय थीं। चूँकि यह राजधानी थी इसलिए रेलवे-लाइन के पार की अकेली सड़क के एक ओर रेलवे-लाइन के समानान्तर कुछ कोठियाँ, कुछ बँगले दूर तक चले गये थे। मालवी काली मिट्टी की पृष्ठभूमि में खड़ी ये इमारतें निखर आयी थीं। कपास के खेत अभी फूले नहीं थे। क्षितिज में हलके डूँगरों की पंक्ति का आभास था।

उनका सारा व्यक्तित्व जिस प्रकार का था तथा उस पर उन्होंने जो गहरा नीला चश्मा धूप से बचने के लिए लगा रखा था और अखण्ड गायत्री का जाप

उनके ओठ स्वतः जिस प्रकार चलते रहते थे उसके कारण अपेक्षाकृत कम आयु होने पर भी वह व्यक्तित्व में बड़े लगते थे इसलिए लोग भी उनसे ज्यादा बोलने की न तो चेष्टा ही करते थे और न ही उत्सुक ही रहते थे। वह उन स्वामी जी महाराज के बारे में बराबर सोच रहे थे। वह नहीं सोच पा रहे थे कि वह क्या बात करना चाहते हैं। बल्कि यह भी कि वह आखिरकार वहाँ जा ही क्यों रहे हैं? बस, जा रहे हैं, और क्या !!

तांगे की यह यात्रा उन्हें अच्छी ही लगी। खूब हवा, धूप, प्रकाश, खुलापन—सभी कुछ तो था, जो किसी को भी सम्मोहित कर सकता था। उस प्रान्तर की सारी निस्तब्धता को तांगों की घंटियाँ, घोड़ों की टापें और लोगों का तेज-तेज हँसना-बोलना भंग कर रहा था। इक्के-दुक्के आते-जाते ग्रामीण रुक कर इस रेले को देखते और फिर बढ़ जाते। सामने सड़क पर एक अमराई उभरने लगी थी। सड़क उस अमराई की सघनता में जाकर विलीन हो गयी लगती थी। अमराई के पहले कोई पुलिया नजर आ रही थी जिस पर दो देहाती स्त्रियाँ अपने टोकरे रखे थकान मिटाती बैठी थीं। उनके लाल घाघरे और लुगड़े धूप में खिले लग रहे थे। आगे वाले तांगे उसी पुलिया के पास जाकर रुक गये। सड़क की दाहिनी ओर एक पगडण्डी लपक कर नीचे उतर गयी थी और सामने के पेड़ों के झुण्ड के पीछे किसी गाँव के होने की सम्भावना प्रदर्शित कर रही थी। बाँयें हाथ खेतों का सिलसिला फैला था। फसल तैयार लग रही थी। गन्ना भी धूप में छितर आया था। गाँव की ओर के खेतों में मैथी, बथुआ, बैंगन, मूली दिखलायी दे रहे थे। आगे वाले तांगे में वर-वधू थे जिसमें बच्चे भी थे। लोग, तांगों से उतर कर बाँयी ओर की पगडण्डी से उतर कर जाने लगे। यह पगडण्डी, खेतों और सड़क के बीच गड्ढे में से होकर जाती थी और तब खेतों के बीच तिरोहित होती थी। बीच गड्ढे की सूखी, पपड़ी जैसी काली मिट्टी में जानवरों के खुरों के चिह्न सूख आये थे तथा बबूल के सूखे काँटे भी छितरे पड़े थे।

वर-वधू को सम्हाल कर इस पगडण्डी से ही ले जाया जा रहा था। वर के दुकूल से वधू का पल्लू बँधा हुआ था। शायद वर की बहनें थीं, जो वधू के आगे-पीछे, लगभग उसे थामे-थामे चल रही थीं। लड़कियों के हँसने-बोलने की आवाज वैसी ही आ रही थी जैसी कि सारस-मिथुनों की डूबी-डूबी आवाज इस प्रकार के खुलेपन में आया करती है। वर का गुलाबी साफा और वधू की लाल भूषा तथा उन दोनों का, चलना-सीखने जैसा हौले-हौले चलना सब, उन खेतों के बीच एक अजीब उत्सव-दृश्य जैसा लग रहा था। खड़ी फसलों के बीच से चलते हुए हमेशा ही ऐसा लगता है न, कि अभी यह सब खत्म होगा तो आप हठात किसी बड़े प्रपात के सामने होंगे। खेतों के हरियालेपन में धूप भी कैसी गीली लग रही थी। थोड़ी दूर पर एक विशाल पीपल अवश्य दिख रहा था। लगता था कि वहाँ अवश्य ही खुलापन होगा। उस पीपल की फुनगी पर एक भगवी झण्डी फहरा रही थी। आकाश वैसे तो स्वच्छ था परन्तु दो-चार पतले बादलों की लम्बी-लम्बी चिंदियाँ थीं जिनकी ओर ध्यान गया है। उस भगवी झण्डी के कारण

था। आगे जाकर जब पगडण्डी एक बड़ा सा मोड लेती है तब पता चलता है कि दो-चार ग्रामों की एक छोटी सी अमराई है। लगभग एक फर्लांग चले होंगे कि यह अमराई दिखी। खेत क्रमशः पीछे छूट गये और एक खुला मैदान निकल आया। बच्चों ने जैसे ही एक आम की झुकी डाल देखी, जो कि धरती को छूती हुई फिर ऊपर चली गयी थी, तो उसे झूला जैसा बना लिया और खेलने लगे। बच्चे भी चिड़ियों की तरह फुद-कने तथा शोर करने लगे।

झण्डी वाला पीपल, मैदान के उत्तर-पश्चिम में था जबकि ठीक उत्तर मे एक विशाल वटवृक्ष भी था। वटवृक्ष की आयु उसकी लटकती जड़ें होती हैं और इस अर्थ में वट, काफी वृद्ध लग रहा था। दाहिने हाथ मैदान सहसा ऊँचा होकर खत्म हो जाता है। ध्यान से सुनने पर ही आपको नाले की खल-खल की मन्द आवाज सुनायी दे सकती है। यह वही नाला था जिस पर कि सड़क पर पुलिया बनी है। नाले के उस पार छोटी झाड़ियों का सिलसिला दूर तक चला गया था। इस सारे दृश्य को जैसे परिभाषित करता रेल का वह ओवर-ब्रिज था जिसने सामने के आकाश से उस मैदान, वहाँ के दृश्य को काट दिया था। ओवर-ब्रिज की तीन ऊँची-ऊँची मेहराबों के कारण वातावरण मात्र जंगल नही रह गया था। मैदान के बांयी ओर पीपल के नीचे एक छोटा सा शिवाला था। शिवाले के पीछे, कुछ हट कर सीताफलों [शरीफों] का सघन झुरमुट था और इसी झुरमुट में एक करीनेदार साफ-सुथरा मार्ग बना था, जिसके सिरे पर स्वामी जी की कुटिया थी। उस रास्ते के इस सिरे पर लकड़ी का कामचलाऊ फाटक था। उस रास्ते के दोनों ओर क्यारियाँ थी जिनमे गेंदे, गुलदाबदी के फूल ही नहीं थे बल्कि वातावरण में उनकी चटख सुगन्ध भी घुली हुई थी। शिवाले के सामने समतल भूमि थी तथा एक चबूतरा भी था। लोगों ने जल्दी से उस चबूतरे पर जाजम तथा चाँदनी बिछा दी और लोग जूते उतार कर विश्राम जैसा करने लगे। वर और वधू तथा लड़कियाँ जाजम के सिरे पर बैठे थे। वट-वृक्ष के नीचे उसके फल बिखरे पड़े थे। जिन पर ढेरों चींटे घूम रहे थे। जाजम पर भी चींटे आ-जा रहे थे। वातावरण में एक ऐसी अभिव्यक्ति लग रही थी जैसे वह अपने को आहत अनुभव कर रहा हो कि उसे इतने लोग, इतना शोर प्रिय नही है। मनुष्यों के ही मुखो पर झल्लाहट नहो हुआ करती बल्कि और तो और दूब के छोटे से मुख पर भी ऐसी झल्लाहट देखी जा सकती है।

शायद लोगों की उपस्थिति तथा उनके शोर ने कुटिया का भी ध्यान भंग किया था तभी तो एक व्यक्ति उसमे से निकला। व्यक्ति, साधु नही था। त्रिपुण्ड्र से वह ब्राह्मण लग रहा था परन्तु वेश से किसान। बरात में आये इन लोगो में कामदार साहब के अलावा एक और अत्यन्त सम्भ्रान्त व्यक्ति भी थे, जिन्हे सब लोग मात्र 'साहब' ही कहते थे। कामदार साहब का व्यक्तित्व बहुत रोबीला था। नोची सफेद कलमों, क्लीन-शेव तथा गरम एडवर्ड कोट-पैंट तथा इटालियन गोल टोपी वाले कामदार साहब का प्रभाव, राजस था। उनके एडवर्ड कोट मे घड़ी की झूलती सोने की चेन उनकी साँस साथ हिलती हुई प्रभाव उत्पन्न करती थी। जबकि 'साहब' का व्यक्तित्व भिन्न प्रकार

का था। वह पास की धार-स्टेट में कमिश्नर थे। परन्तु उनके आदरणीय होने में उनका पद इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था जितना कि उनका व्यक्तित्व। गौर वर्ण के 'साहब' में एक वैष्णवी कमनीयता थी जिसे लालित्य भी कहा जा सकता था, यद्यपि वह शैव थे। उनके माथे पर चन्दन का आग्नेय-तिलक दिन भर देखा जा सकता था। साफा, बन्द गले का कोट, कोट पर जेब-घड़ी का काला तागा झूलता रहता, जो कि उनके गले में पड़ा रहता था। चूड़ीदार पाजामा तथा हाथ में साधारण सी छड़ी। छड़ी कामदार साहब के भी हाथों में रहती, परन्तु चाँदी की मूठ वाली उस छड़ी के कारण भी वह अपना पार्थक्य बनाये रखते थे जबकि 'साहब' में ऐसा कुछ नहीं था। साहब के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में जो अत्यन्त प्रभावकारी एवं आकर्षक वस्तु थी, वह थी उनकी आँखें—सदा ऐसी प्रसन्न, धुली सीप सी होती कि उन्हें बस देखा ही जा सकता था। एक पवित्रता लगती जिसमें से जैसे इलायची की गन्ध आ रही हो। एक राजस व्यक्तित्व था तो दूसरा सात्विक।

कुटिया से जो व्यक्ति बाहर निकला था उसने आकर कामदार साहब और 'साहब' को प्रणाम किया। वह शायद पूर्व परिचित था। उसे शायद पूर्व ज्ञान था कि ये लोग आने वाले हैं। उसके प्रणाम करने पर कामदार साहब ने कहा,

— क्या हाल हैं पुजारी जी ?

— सब हुजूर की मेहरबानी है।

— महाराज जी ठीक से हैं ?

— आपकी खबर महाराज को कल ही मिल गयी थी। आप लोग चलें।

इसी बीच वर-वधू शिवजी की पूजा-अर्चा कर चुके थे। वर-वधू को आगे करके सब लोग कुटिया पर पहुँचे। कुटिया के पार्श्व में ढँका सहन खूब बड़ा सा लम्बा चला गया था। उसी सहन में जाजम बिछी थी तथा एक सिरे पर एक चौकी पर मृगचर्म था। वातावरण में अगुरु गंध स्पष्ट थी।

थोड़ी ही देर में स्वामीजी कुटिया से बाहर आये और मन्थर गति से आकर चौकी पर बैठ गये। इस बीच सब अभिवादन करने के लिए आगे बढ़े। स्वामीजी ने कामदार साहब और 'साहब' को देखकर प्रसन्नता प्रगट की। इस प्रकार के सन्यासी सभी एक ही प्रकार के आकार-प्रकार में होते हैं। ताम्रवर्ण की पृथुल देह। कमर में एक भँगवा वस्त्र लपेटे हुए, रुण्ड-मुण्ड तथा आत्मलीन आँखें। ऐसे व्यक्ति यदि जन्म-कुन्डली से सिंह राशि के न हों तब भी व्यक्तित्व से सिंह ही लगते हैं। जब उनकी सांगोपांग पूजा-अर्चा हो गयी तब उन्हें चढ़ाये गये फल, प्रसाद रूप में उन्हीं पुजारी जी ने वितरित किये। इस सारे व्यापार के समय पण्डित शिवशंकर आचार्य सबसे पीछे सहन के एक खम्भे से पीठ टिकाये हाथ गूँथ कर खड़े रहे। लोगों की ओर से या तो कामदार साहब या फिर 'साहब' ही बोल रहे थे। स्वामी जी ने अपने गले की सारी मालाएँ वर-वधू के बाद बच्चों में बाँट दी थी, जिनकी गिरी पंखुरियों से सहन की जाजम भर उठी थी।

इस बीच पुजारी जी प्रसाद बाँटते रहे, उन्हें सम्बोधित करते हुए स्वामी जी बोले।

— अरे पुजारी जी ! आश्रम का भी प्रसाद लाओ।

और पुजारी जी झेंपते हुए कुटिया के दूसरी ओर चले गये। इस बीच स्वामी जी और पण्डित शिवशंकर आचार्य में दृष्टि-विनिमय भी हुआ और हर बार वह चौंके। उन्हें किसी बात की प्रतीति अवश्य हुई, परन्तु किस बात की हुई, यह स्पष्ट नहीं हो सका। उन्हें लगा कि वह देर से खड़े हैं इसलिए वह चौंक पड़े—परन्तु हर बार ऐसा क्यों हुआ?

— कहिए कामदार साहब! आप का कैसा चल रहा है? लड़के का भी ब्याह हो गया, अब तो निश्चिन्त हुए होंगे।

और स्वामी जी हँसने लगे।

— आपके आशीर्वाद है प्रभु!

— ज्यादा माया-ममता ठीक नहीं है।....क्या मैं गलत कहता हूँ?

बात का दूसरा हिस्सा उन्होंने 'साहब' से कहा था। 'साहब' बोले,

— महाराज जी! जब तक गुरु-कृपा नहीं होती, जीव का उद्धार कैसे हो?

— गुरु क्या करेगा, जीव की भी तो इच्छा होनी चाहिए?

— महाराज! जीव में यह इच्छा कैसे हो?

— पूर्व-पुण्य के आधार पर।

— तब गुरु-कृपा की महत्ता क्या?

— 'साहब'! आप इतना भी नहीं जानते, यह स्वीकारना होगा क्या?—व्यक्ति के मुख को देखकर बताया जा सकता है कि इसका पूर्व-पुण्य क्या है।....आपको देखकर लोगों का मस्तक क्यों झुक जाता है?

— किसी का सिर किसी के सामने अनेक कारणों से झुक सकता है महाराज!

— उसी कारण में उसका पुण्य भी निहित होगा। बिना हवा हुए पत्ती तक तो हिलती नहीं तब भला मनुष्य का मस्तक!!....आप तो साधक है, क्या आप यह रहस्य नहीं जानते?

और वह खिलखिला पड़े। उस हँसने में झरने का बोध था। तभी स्वामी जी ने फिर कामदार साहब से कहा।

— अब ज्यादा दुनियादारी ठीक नहीं। अपने लिए कुछ अर्जित कीजिए। आगे के लिए कुछ पुण्याई नहीं जमा करेंगे? इस बार बहुत खर्च कर डाली।

और वह लगभग उठ गये। स्पष्ट संकेत था कि अब लोग चलें। सब ने फिर अभिवादन किया। महाराज के पास एक सेब पड़ा था। महाराज ने हँसते हुए उसे 'साहब' को दे दिया।

लौटने की तैयारी ही नहीं बल्कि लोग लौटने के लिए चल चुके थे। दो-दो तीन-तीन का झुण्ड था। पन्द्रह-बीस आदमियों की भीड़ को जाते कितनी देर लगती? थोड़ी ही देर में कोलाहल दूर खेतों के बीच से आता सुनायी दिया। पण्डित शिवशंकर आचार्य अभी भी उस खम्भे से सटे वैसे ही आत्मस्थ भाव से खड़े थे। गये हुए लोगों में से रास्ते में ही जब किसी को उनका ध्यान आया तो उन्हें बुलाने आये व्यक्ति से उन्होंने मात्र इतना ही कहा कि आप लोग चलें मैं आ जाऊँगा।

लोगों के चले जाने पर स्थान की आरण्यकता बड़े क्रम से लौटती लगी। पाखियों का स्वर जो मानवीय स्वरों के कारण डूब गया था, मुखर होने लगा। क्रमशः स्थान प्रमुख लगने लगा। मैदान में पेड़ों से छनकर आयी धूप चकत्तों में छिटकी हुई थी। सहन में गिरी हुई पंखुरियाँ कैसी सजीव लग रही थीं। एक शब्द, एक गंध बीत गयी थी परन्तु उससे भी अधिक सार्थक भाषा और गन्ध की उपस्थिति लग रही थी। कुछ क्षण पहले तक लोग, रंग, अलंकार, रूप, गन्ध सभी कुछ था पर सब बीत गया परन्तु उनका बीतना, बाद की किसी महत् की उपस्थिति के लिए कितना आवश्यक था। तब मनुष्य था पर इस समय, काल उपस्थित है। बीतना, होने की ही भाँति आवश्यक क्रिया है। लोगों के पूर्व भी यहाँ यही काल अपने इस चिद् रूप में, अखण्ड रूप में अमूर्त भाव से विद्यमान था। सच तो यह है कि उस समय भी यह था, लोग बन कर। लोग ही बीते हैं। काल नहीं। काल बीतकर भी काल ही रहता है। इसीलिए समय बीतता है और काल घटित होता है। काल, जब समय होता है तब देश, सृष्टि, व्यक्ति सबसे बँधा होता है। काल तक पहुँचना किसी समूह-शक्ति या सत्ता के लिए सम्भव नहीं। समय को भेद करके काल का स्पर्श या स्वयं काल बनकर कालातीत हो जाने की सम्भावना केवल व्यक्ति को ही प्राप्त हो सकती है। इसीलिये त्याग, तपस्या, संन्यास आदि व्यक्ति की पहचान हो सकते हैं, समाज की नहीं। राम और कृष्ण के समय का समाज कालातीत नहीं है, परन्तु राम और कृष्ण हैं। तब व्यक्ति क्यों देश, समय आदि में ही रहना चाहता है? अपने भीतर, अन्तर में जो परात्परता है, जो महाप्रासाद है, ब्रह्माण्ड है उसके गोपुर को खोलकर क्यों नहीं चिरयात्रा पर निकल पड़ता? क्यों ऐसी महत् सम्भावना वाला शक्ति-पुरुष, सांसारिक राग-द्वेष, सुख-दुःख, पाप-पुण्य के गुरुत्वाकर्ष में ही आबद्ध रहकर शक्तिहीन हो जाता है? क्या इन सारे पाशों को, कर्म मात्र के पाश को तोड़ा नहीं जा सकता?....मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो....शिवशंकर! अपने नाम के आदि के 'शिव' और अन्त के 'शंकर' को क्यों नहीं चरितार्थ करता? और पण्डित शिवशंकर आचार्य चौंके कि उनके अन्तर में यह सब क्या घटित हो रहा है? यह कौन आह्वान कर रहा है? यह सम्बोधनकर्ता कौन है? चारों ओर यह कैसा लग रहा है जैसे कि रह-रह कर एक विद्युत-पाश झटके देता है। चेत होते ही उन्हें लगा कि वह अन्तस में ही झाँक रहे थे। आँखों ने अब अपने चारों ओर देखना शुरू किया— कोई तो नहीं था कहीं। एकदम निरभ्र शांति थी जैसे एकान्त, साँस ले रहा हो।

इस बार उन्हें बुलाने को दो व्यक्ति आये,

— चलिए पण्डितजी! कामदार साहब रास्ता देख रहे हैं।

— उनसे कहो चलें, हम बाद में आ जाएँगे।

दोनों कुछ नहीं समझ सके परन्तु दुबारा कहने या आग्रह का प्रश्न ही नहीं था। वे लोग लौट गये। पण्डित शिवशंकर आचार्य फिर एकाकी हो आए। उन्हें अनवरत एक स्पर्श अनुभव हो रहा था। वह स्पर्श क्या था इसे वह व्यक्त नहीं कर सकते थे। जब अनुभव, व्यक्तित्व में गहरे चला जाता है तब उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता है'

हम केवल स्वयं उसके अनुभवकर्ता हो सकते हैं। वटवृक्ष की ऊँची फुनगियों के ऊपर नीलाम्बर आकाश अबाध व्याप्त था। अनेक प्रार्थनाओं, मन्त्रों, स्तोत्रों के अर्थ जैसे स्वतः स्पष्ट हो रहे थे। इन सबके भाषा के आच्छद, स्वतः गिर गये थे और भीतर का अर्थ उनके सामने प्रस्तुत था। गायत्री....मैं इस जल, पृथ्वी, आकाश को तथा सर्व भूतात्मकता को अपने पर भस्मवत धारण कर रहा हूँ, काल के अकल्पनीय तीव्रातितीव्र प्रवाह को देखने के लिए आदित्य, सविता, ये समस्त तारक-दल मेरे नेत्र हैं। समस्त जड और चेतन में अबाध रूप से उपस्थित तथा बोलता हुआ मेरा वह कालरूप-पुरुष है। उस पुरुष की प्रतीति वाणी नही करा सकती, नेत्र जिसे देख नहीं सकते, श्रवण जिसे सुन नहीं सकते, स्पर्श के परे है क्योंकि वह अनित्य है। इन्द्रियों से नित्य की अभिव्यक्ति हो सकती है, अनित्य को इन्द्रियातीत होकर अनुभव ही किया जा सकता है। यह अनुभव ही साक्षात है।....पण्डित शिवशंकर आचार्य को लगा कि एक यज्ञ-भाव अपने में घटित हुआ है। एक अग्नि की आँच थी जिसमें वह फुँके पड़ रहे थे। वह पसीने-पसीने हो रहे थे। वैसे तो वह छाँह में ही खड़े थे, हवा में नमी थी फिर भी उनकी बगलें भीगी हुई थीं।

तभी कुटिया के द्वार खुले और स्वामीजी दिखलायी दिये। एक क्षण को उनसे दृष्टि विनिमय हुआ तो उनका रोम-रोम काँप उठा। आद्यन्त एक सिहरन पहले ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर गुजरती अनुभव हुई। मेरुदण्ड में जैसे कोई गरम तरल पदार्थ था जो आ-जा रहा था।

स्वामीजी शायद बाहर जाने की तैयारी में थे। उनके सिर पर तौलिया थी। वह बोले,
— क्यों खड़ा है भाई ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य वैसे ही हाथ गूँथे वाचाहीनता में खड़े रहे।
— जाता क्यों नही भाई ? वे लोग सब राह देख रहे होंगे।

पण्डित शिवशंकर आचार्य इस बार भी मौन ही बने रहे। इस बार स्वामीजी के स्वर में किंचित खीझ थी। यद्यपि वह नेत्र झुकाये खड़े थे फिर भी उन्हें लग रहा था कि एक अग्नि-रेखा उनको छूती हुई आ जा रही है। बारम्बार की आग से उन्हें असुविधा होने लगी थी। वह कह नही सकते कि ऐसा कितनी देर तक हुआ परन्तु जब उन्हें पुनः चेत हुआ तब देखा कि स्वामी जी उनसे थोड़ी ही दूर पर खड़े थे। बोले,
— क्या चाहता है तू ?

पण्डित शिवशकर आचार्य ने ऐसी साँसत कभी अनुभव नही की। वह बोलना चाहने लगे परन्तु गला सूखा पड रहा था। बारम्बार थूक घोटते रहे परन्तु जैसे वह भी सूख गया था। उन्होंने वस्तुतः एकाध बार चाहा कि जैसे स्वामीजी की ओर अन्य लोग देखते हैं, वैसे ही देखें परन्तु लगा कि क्या सूर्य को देखा जा सकता है ? वह निरन्तर आतप अनुभव कर रहे थे।
— कैसा पागल है !! बोलता क्यों नही ? क्या जिज्ञासा है तेरी ?....बहुत गरम रहा है ?

भौर वह हँसे। तभी पण्डित शिवशंकर आचार्य को लगा कि वातावरण हठात् कैसा गुराद हो आया न ? उन्होंने देखा कि स्वामी जी थोड़े पीछे हट गये थे और सिर की तौलिया ऐसे थामे थे जैसे दोनों के बीच ओट किये हैं। सूर्य और पृथ्वी के बीच कितनाहो भीना, पारदर्शी, पतला मेघ ही क्यों न हो, पृथ्वी को गुराद लगने लगता है।
बड़ी मुश्किल से पण्डित शिवशंकर आचार्य कह सके,
— एक प्रश्न था।
कहते हुए उनके नेत्र फिर झुक आये। स्वामीजी बोले,
— प्रश्न ?....अच्छा क्या प्रश्न है ?
— क्या नारायण के दर्शन सम्भव हैं ?
प्रश्न करते हुए, शायद भूल से पण्डित शिवशंकर आचार्य के नेत्र स्वामीजी के नेत्रों से मिले। एक क्षण को ऐसी शान्ति हुई जैसे कि क्षणान्त में समस्त कोलाहल हठात शान्त हो गया है और समस्त शान्ति कोलाहल से भर उठी। पैरों के नीचे क्या कहीं कोई पृथ्वी थी ? अपनी देह पता नही किस ग्रह-नक्षत्र में वासों वस्त्रों से उतरी पड़ी है— केवल प्रकाश, आलोक, ज्योति....!!
और उन्हे स्वामीजी की वाणी पता नही किस अन्तराल से, ब्रह्माण्ड के न जाने किस कूल से सुनायी दी,
— करेगा ?
— पर एक शर्त है प्रभु !
— गृहस्थ रूप में न ?....तू संन्यास के लिए नहीं बना है।
हठात सुगन्धित शान्ति जैसी छा गयी थी। स्वामी जी मौन थे। उन्होंने द्वितीया के दो चन्द्रमाओं की भाँति अपनी पलकें उभारीं और पण्डित शिवशकर आचार्य को जैसे ही देखा तो उन्हें लगा कि वह देश, काल, देह सबको पुनः धारण कर रहे हैं और स्वामी जी वापस कुटिया में लौट गये।
अब वह फिर अकेले हो उठे। पर इस बार एक ऐसी सुगन्ध, एक औत्सविकता अपने अन्दर अनुभव हुई जैसे उन्हे कुछ उपलब्ध हुआ है। वह चलकर वटवृक्ष के नीचे कुछ देर खड़े रहे। उन्हे लगा कि वट उन्हें देख रहा है। उन्हे प्रक्षालन की इच्छा हुई और वह नाले की ओर निकल आये। नाले मे जल अद्भुत रूप से स्फटिकवत था। जल मे पेड़ो का प्रतिबिम्ब तो पैठा लग रहा था परन्तु आकाश का प्रतिबिम्ब बिछल आया था। कगार में मिट्टी काटकर काम-चलाऊ घाट बना हुआ था। आशा से अधिक ही नाले में जल था। थोड़े हट कर कुछ पत्थर रखकर नाला पार करने की सुविधा भी थी। नाले के उस पार झाडियों में गायो से अधिक बकरियाँ घास चरती दिख रही थी। दो-एक ग्रामीण लडकियाँ सिर पर लोहे की तगारी (तसला) में कंडे-लकड़ियाँ बीनती घूम रही थी। तभी कोई रेल धडधड़ाती हुई रतलाम की ओर जाते हुए गुजरी। वातावरण एकबारगी झनझना उठा। रेल का शोर जब हठात बीता तो लगा कि अरण्यता ने जैसे हँसकर कहा कि—क्या किया जाए, लोग इसी प्रकार शान्ति भंग

करते रहते हैं।—दोपहर बीतकर अपराह्न आ चला था। इस कच्चे घाट पर बैठना कैसा आत्म-साक्षात्कार जैसा लग रहा था और उन्हें हल्का-सा कोलाहल कुटिया की ओर सुनायी दिया। एकाग्रता भंग हो चुकी थी। यहाँ बैठना अब व्यर्थ था।

शाम को देवारती हुई। पुजारी जी इस समय तक लौट आये थे। देव-पूजन के उपरान्त स्वामीजी की अभ्यर्थना भी उन्होंने ही की। आस-पास के खेतों में काम करने वाले तथा गाँव के कुछ पुरुष-बच्चे जमा थे। गुरु-पूजा के बाद चौकी के नीचे रखी रील पर कपड़े में लिपटी रामायण खोली गयी और उसका पाठ होने लगा। इस बीच धीरे-धीरे अँधेरा घिर आया था। पाठ करते पुजारी जी तथा एक मात्र लालटेन ही जैसे जागते लग रहे थे। रामायण-पाठ के बाद भजन-कीर्तन हुआ। सारे समय स्वामीजी ध्यानस्थ बैठे रहे। कीर्तन के बाद स्वामीजी ने चारों ओर देखकर जब उन्हें भी देखा तो उन्हें लगा कि जैसे वह किसी वृक्ष या पदार्थ को देखने की दृष्टि से उन्हे देख रहे हैं।

प्रसाद-वितरण हो गया तो पुजारीजी ने स्वामीजी के कपड़े के जूते उनके सामने कर दिये और स्वामीजी भ्रमण पर निकल गये। स्वामीजी के जाते ही पुजारी जी ने कुटिया की कुंडी चढ़ा दी। बाकी के लोग जा चुके थे। हाथ में लालटेन लिये पुजारी जी ने पास आकर उनसे कहा,

— अब चलिए महाराज!

पण्डित शिवशंकर आचार्य की कुछ समझ मे नही आया। पूछा,

— कहाँ?

— अरे तो क्या घर नही जाइएगा?....स्वामीजी तो पता नही रात मे कब लौटे। उनके अलावा रात में यहाँ कोई नही रुकता।

— क्या आप भी जा रहे हैं?

— और नहीं तो क्या!! दिन भर सेवा के बाद इस समय सब चले जाते हैं।

— स्वामी जी अकेले ही रहते है यहाँ?

पुजारी जी ने धुँआ देती लालटेन की बत्ती नीचे करते हुए कहा,

— अरे संन्यासी लोग अकेले नही रहेंगे तो क्या हम-आप इस जंगल मे रहेंगे?—अरे हाँ, आपके साथी लोग तो सब दोपहर ही में चले गये, आप अब जाएँगे कैसे? कोई सवारी लाये हैं क्या?

— सवारी?....नहीं....आप चिन्ता न करें, मै चला जाऊँगा।

तभी दो व्यक्ति एक लालटेन तथा लट्ठधारी के साथ आते दिखे। आते ही उनमें से एक बोला,

— वाह महाराज! आप भी कमाल करते हैं। दिन भर आपका रास्ता देखते रहे कि अब आएँ, तब आएँ। चलिए साब! कामदार साब ने बुलवाया है। वो....'साहब' भी परेशान थे। आपको बुलाया है।

पण्डित शिवशंकर आचार्य उन लोगों को पहचानते नहीं थे परन्तु क्या कहते? वह आज की रात जाना नही चाहते थे, बोले,

— देखिए, कामदार साब से कह दीजिएगा कि मेरे लिए चिन्ता न करें। मैं कल अपने आप आ जाऊँगा।

साथ वाला दूसरा व्यक्ति बोला,

— हमें तो साथ ही लाने के लिए कहा गया है।....अच्छा तो यह बताइए कि कल आप किस समय आएँगे? ताँगे का वैसा प्रबन्ध कर दिया जाए।

— आप ताँगे की बिल्कुल चिन्ता न करें, मैं अपने से आ जाऊँगा।

— आप जानें। घर तो पता है न?

— मुझे सब पता है। आप लोग जाएँ।

तब तक पहला बोला,

— महाराज! जाड़े की रात में इस जंगल में बिना बिस्तर के क्या होगा?

वह हँसते हुए बोले,

— अरे यह पुजारी जी तो हैं ही। आप कुछ चिन्ता न करें।

और उन दोनों व्यक्तियों के चले जाने के बाद वह और पुजारी जी, निपट हो आये। बिचारे पुजारी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि यह व्यक्ति कौन है? क्या चाहता है? यहाँ रात में रुकने का क्या प्रयोजन है? स्वामी जी को शायद पता भी नहीं होगा कि यह यहाँ रात में रहना चाहता है, तब? क्या वह बिगड़ेंगे नहीं? और साथ में कुछ भी तो नहीं है। आश्रम पर कैसे अजीब लोग आ जाते हैं न?

पुजारी जी ने कहा,

— लेकिन श्रीमान्! स्वामी जी से पूछा भी है?

— नहीं तो।

— और बिना बिस्तरे के इतनी ठण्ढ में, रात में सोएँगे कैसे?····और यहाँ रात में जंगली जन-जनावर का भी डर रहता है।

— हाँ, जैसा सुनसान है, उससे तो लगता है कि यह होता होगा।

— तो फिर?

— क्या किया जा सकता है?

पुजारी जी को गुस्सा तो बहुत आ रहा था कि अजीब आदमी है जो हर बात में हाँ भरता जाता है। खीझते हुए बोले,

— अच्छा तो अब हमारे साथ गाँव में ही चले चलिए। सवेरे चले जाइएगा।

लगभग आभारी होते हुए ही वह बोले,

— आप मेरी चिन्ता बिल्कुल न करें। अब आप जाएँ। आपको भी देरी हो रही होगी।

— देरी तो खैर हो ही गयी, परन्तु····

— अरे पुजारी जी! सब भगवान हैं। आप जाएँ।

पुजारी जी केवल किंकर्तव्य-विमूढ ही हो सकते थे। वही हुए। बिना किसी निर्णय के

वह चल दिये। मैदान की घास पर प्रकाश और पुजारी जी का चलना दोनों धीरे-धीरे चलकर विलीन हो गये।

चारों ओर स्पृहणीय निस्तब्धता थी। कभी दूर पर सियारों की हुआँ-हुआँ या फिर रखवालों के कुत्तों की बीच-बीच में भौंक सुनायी पड़ जाती। कोलाहल, किसी अन्य की उपस्थिति का सूचक होता है और वह आपको खण्डित करता है। अखण्ड तो एकान्त ही होता है। ऐसा एकान्त आपको न केवल आमन्त्रण देता है बल्कि आपको एक व्यक्तित्व प्रदान करता है। आपकी सारी सम्भावनाओं को पंख प्रदान करता है। जो जितनी देर तक ऐसे एकान्त को वहन कर ले जाता है वह उतनी ही देर तक देश और काल का अधिष्ठाता होता है।

शायद नाले की किसी झाड़ी में से झींगुरों की झनझनाहट कभी-कभी उठती अन्यथा थिर शान्ति थी। वैसे तो पक्षी अपने-अपने नियत स्थानों पर ही विश्राम कर रहे थे परन्तु किसी कारणवश जब कभी कोई पक्षी स्थान-च्युत हो जाता तो एक तेज फड़फड़ाहट ऐसे सुनायी पड़ती जैसे कोई अन्धकार को, कपड़े की भाँति फटकार रहा है और तहाता जा रहा है। उस समय लगता कि चारों ओर की असंग निस्तब्धता का सारा ध्यान इस व्यवधान की ओर लग गया है। आद्यन्त एक अदृश्य चौकन्नापन जैसा लगता। कभी हरिण को कान खड़े करके चौंकते या आहट लेते देखा है? बस, वैसा ही लगता। पण्डित शिवशंकर आचार्य को पहली बार लग रहा था कि हमारा—अर्थात् प्राणिमात्र से लेकर अणुमात्र का, ब्रह्माण्ड की अकल्पनीय दूरियों से कैसा गोत्रिक-सम्बन्ध है, जो कि इन तारों और नक्षत्रों के प्रकाश के माध्यम से शताब्दियों से चला आ रहा है। क्या, इस सम्बन्ध की कोई भाषा नहीं है क्या? क्या यह अपरिभाषित है? क्या इसका कोई प्रभाव, अर्थ इस पृथ्वी के जड़-चेतन के जीवन पर कुछ भी नहीं पड़ता? ध्यान, प्रार्थना, सद्वृत्तियाँ मानवीय वनस्पति की सुगन्ध नहीं है क्या? प्रार्थना की ध्वनियाँ, मनुष्य का रुदन क्या वायुमण्डल में केवल थरथराहट उत्पन्न कर निःशेष हो जाते हैं? क्या ये ध्वनियाँ गुरुत्वाकर्षण का भेदन नहीं करती हैं? करती हैं तो फिर शून्य में उनका क्या होता है? क्या शून्य अवतरित होता है? शून्य में कुछ तो संतरित होता ही होगा? यदि प्रकाश, शून्य को भेद करके आता है तो ध्वनि भी आती होगी। तब क्या हमारी प्रार्थनाओं की ध्वनियाँ, स्तोत्र-पाठ के स्वर शून्य के पार नहीं जाते होंगे? तब वे कहाँ जाते हैं? शून्य से आगे न? तो शून्य के आगे क्या है? महाशून्य !! उसके आगे ?····
उन्हें लगा कि वह सोचने की भी भारहीन स्थिति में खड़े हैं। वह कहाँ जा रहे हैं? प्रकाश, दैविकता आदि तो अपनी अभिव्यक्ति के लिए पृथ्वी की ओर चली आ रही है। ये पशु-पक्षी, ये वनस्पतियाँ, ये मानव आदि क्या हैं? शून्य की ही अभिव्यक्ति हैं। अपनी अभिव्यक्ति के लिए पृथ्वी ही चुनता है। पृथ्वी की यह विराट अभिव्यक्ति

की अभिव्यक्ति हैं। प्रभु का साक्षात, नारायण का दर्शन इस पृथ्वी के जीवन के दर्शन का ही तो दूसरा नाम है।

वह कितने समय तक इस साक्षात, आत्मभाव में रहे पता नहीं चला। वह आश्रम से निकल कर उस वट-वृक्ष के कच्चे चबूतरे पर कब पहुँच गये थे, उन्हें पता नहीं। उन्हें प्रतीति तब हुई जब उन्हें 'पंडितजी' कह कर दो-तीन बार पुकारा गया। दूर से आवाज ही नहीं लालटेन का प्रकाश भी आ रहा था। वह चौंके। वह सचमुच लौटे, यह लग रहा था। सहन में बिस्तरा रखा था और बिचारे पुजारी जी उन्हें आवाज देते खड़े थे। उन्हें देखते ही वह बोले,

— वाह महाराज ! वहाँ शिवाले के वहाँ ठण्ढ में क्या कर रहे थे ?—अच्छा यह बिस्तरा सम्हालें।
— आपने नाहक ही कष्ट किया।
— अरे, जब यहीं सोना है, तो फिर आराम से ही सोइए।
— मैं तो सो ही लेता।
— अब जब आश्रम के मेहमान बन ही गये हैं तो फिर हमारा भी तो कर्तव्य है कुछ, वर्ना स्वामी जी को हम क्या जवाब देते ?
— स्वामी जी कब....
— *स्वामी जी का कुछ ठीक नहीं महाराज ! ....काल और योगी के लिए क्या कहा जा सकता है ?*
— अच्छा, तो आप अब चलें।
— हाँ, चलूँगा। सबेरे फिर जल्दी लौटना भी है। —अच्छा, नमो नारायण !!

पुजारी के जाते ही सहन में बिस्तर बिछाया और लिहाफ लेकर लेट गये। लिहाफ ओढ़ने पर जाड़ा लगने लगा। उन्हें हँसी आ गयी कि मनुष्य की यह देह भी कितनी अजीब है। अभी तक जाड़े में थे तो सब सहन हो रहा था, जैसे ही थोड़ा सुख मिला कि और अधिक सुविधा की कामना जाग उठी। प्रकृति ठीक ही करती है। अब तक वह आपकी रक्षा की चिन्ता कर रही थी, अब जब आपने प्रकृति को उन्मुक्त कर दिया तो फिर ठीक है—सम्हाले यह भार—लिहाफ !! —पता नहीं कैसे—वातावरण कुछ अधिक ठण्डा हो चला था, शायद कुछ हवा चलने लगी थी। इस बीच वह कब सो गये, पता नहीं चला।

वर्षों के अभ्यास के कारण ब्राह्म-मुहूर्त में ही वह जाग गये। एक क्षण उन्हें यह समझने में लगा कि वह कहाँ हैं। सहसा उनका ध्यान कुटिया की ओर गया। कुटिया भीतर से बन्द थी। इसका मतलब कि स्वामी जी किसी समय लौट आये थे। वह उठे और निवृत्त होकर स्नान-ध्यान करके वह शिवाले लौट आये। गीली धोती पेड़ की डालियों

में बाँध दी ताकि प्रातःकाल की हवा में सूख जाए। इस बीच वह अपनी सन्ध्या करने बैठ गये। आकाश में जैसे-जैसे तमिस्रा दूर हो रही थी वैसे-वैसे पृथ्वी मुखरित होती जा रही थी। हम नही जानते कि द्यावा-पृथिवी का यह अखण्ड परिणय-सम्बन्ध सनातन से है। आकाश मे प्रकाश के आते ही पृथ्वी धूप के श्लोक लिखने लगती है। आकाश का स्वरूप निखरा नही कि पृथ्वी पर दूरियाँ दौडी नही। आकाश ने अपने तारे समेटे नही कि धरती ने फूल मुखरित किये नही। धोती सूख चुकी थी। पण्डित शिवशंकर आचार्य तैयार हो गये परन्तु यह नहीं समझ पा रहे थे कि अब क्या हो? क्या स्वामी जी से चर्चा सम्भव है? परन्तु कैसी चर्चा? स्वामीजी जिस स्तर, जिस भूमि पर हैं वहाँ तक स्वयं पहुँचना तो दूर, सम्बोधन से भी नही पहुँचा जा सकता है। चर्चा समान स्तर पर होती है। स्वामीजी से चर्चा कर सकने की कोई भी योग्यता उनमें नहीं थी। सम्भव हुआ तो मात्र, कान बना जा सकता है। कल से जो कुछ 'अनुभव' हो रहा है, क्या उसका कोई अर्थ है? क्या यह प्रेरित नहीं लगता? लेकिन किसके द्वारा? यहाँ, इस पुण्य-क्षेत्र में किसकी सत्ता विद्यमान है? क्या स्वामीजी निरन्तर उपस्थित नही है?.... नही, वह स्वामीजी से कुछ भी नहीं कह सकते। केवल दर्शन करके लौट जाएँगे। लौट जाएँगे? —तो फिर रात भर रुकने का प्रयोजन क्या था? प्रयोजन? क्या सारे कामों का प्रयोजन होना आवश्यक है? —क्यो नही? क्या किसी पुण्य-क्षेत्र में रुक जाना ही प्रयोजन नही हो सकता? क्यों नहो।

प्रातःकाल की धूप, चिड़ियों सी पेड़ों की पत्तियों, मैदान की घास पर फुदकी पड़ रही थी। धूप में फलों की सी मिठास थी। तभी देखा कि स्वामी जी कुटिया से बाहर निकले और पीछे की ओर के मैदान में नंगे पैरों टहलने लगे। मैदान की दूब, ओस से गीली थी। दूब की नोकों पर अटकी ओस की बूदें, विभिन्न वर्ण में चमकी पड़ रही थी। पण्डित शिवशंकर आचार्य ने निकट पहुँचकर दण्डवत प्रणाम किया और हाथ गूँथ कर, नेत्र नीचे किये थोड़ा हटकर खड़े हो गये। स्वामी जी ने उन्हे देखा, पर वह वैसे ही थोड़ी देर टहलते रहे। उसके बाद बोले।

— इस प्रकार रात में यहाँ रुकना और जंगल में सोना ठीक नही था।

स्वामी जी ऊपर कुछ नही लपेटे थे। उनकी ताम्रवर्णी देह, धूप में सिकी पड रही थी। स्वामी जी फिर बोले,

— क्या नाम है?

— शिवशंकर आचार्य।

स्वामी फिर टहलते रहे। इस बार उन्होंने अपने टहलने का क्रम बदल दिया था, बोले,

— गायत्री का इष्ट है न?

पण्डित शिवशंकर आचार्य अपने मुँह से इतनी बड़ी स्वीकृति कैसे कर सकते थे? स्वामी जी ने एक क्षण के लिए उन्हें देखा। कल भी उन्होंने यह मार्क किया था कि स्वामी जी जब-जब देखते हैं वह प्रयोजन-दृष्टि होती है। ग्रह-नक्षत्रो से क्या केवल रोशनी ही मिलती है? क्या वहाँ से एक सनातन भाषा हम तक नही आती है? यह भाषा उसी के

लिए है जो ग्रह-नक्षत्रों को उनके तृतीय आयाम में देखता है। स्वामी जी भी जब ऐसे देखते हैं तब दूरी का बोध तो देते ही हैं परन्तु बीज-भाषा की भी अनुभूति होती है।

— अपने स्वरूप को पहचानो। नारायण कहीं अन्यत्र नहीं है। भूषा का नहीं मन का संन्यास ही वास्तविक है। अग्नि है, जितना ईंधन डालोगे उतना ही यज्ञ सम्पन्न होगा।

— ईंधन से तात्पर्य ?

बहुत ही साहस करके पण्डित शिवशंकर आचार्य ने पूछा।

— कर्म।

— जो बन्धन का कारण होता है।

— आसक्ति होने पर बन्धन है। निष्काम कर्म बन्धन नहीं, मुक्ति है। यद्यपि मुक्ति भी बन्धन है। कर्म करते हुए कर्त्ता का भाव न हो, तो न बन्धन है, न मुक्ति। यही सन्यास है। अपने स्वरूप को जानना ही साक्षात है, दर्शन है। तुम जिस पथ पर हो वही तुम्हारे लिए उचित है। सेवा, प्रार्थना और कर्तव्य यही तुम्हारी दिशा होनी चाहिए।

— और ससार ?

— ससार तो दीमक है। समय-समय पर झाड़ते-पोंछते रहोगे तो भय नही है। —तुम सेवा के लिए ही आये हो। दीन-हीन संत्रस्त प्राणियों के प्रति किये गये कर्म से बड़ी न प्रार्थना है और न पूजा—कोई प्रश्न ?

— प्रभु ! माँ को कैसे समझाऊं ?

— कर्तव्य और निरासक्ति से। —अच्छा, अब जाओ।

दण्डवत करते हुए पण्डित शिवशंकर आचार्य को स्वामी जी के पैर मैदान की दूब में रखे हुए नही बल्कि उगे हुए लगे। जैसे पृथ्वी पर केवल उनके चरण ही हैं, स्वामी जी यहाँ नहीं हैं। एकान्त, व्यक्ति को कितना वैभव-सम्पन्न बनाता है इसका प्रमाण सामने खड़ा अनासक्त व्यक्तित्व था। पृथ्वी जिस प्रकार अपनी कीली पर घूमती है पर प्रकारान्तर से वह घूमना ही सूर्य की परिक्रमा का कारण भी हो जाता है उसी प्रकार स्वामी जी की 'स्व' की अनासक्ति 'पर' के सन्दर्भ में आसक्ति का कारण भी थी। संसारी केवल झेलता है, सन्यासी भोगता है। संसारी एक के रूप में ही सोचकर सन्तुष्ट हो सकता है पर संन्यासी की नियति अनेक होने की है इसीलिए अनेक आसक्तियां मिलकर उसकी अनासक्ति हो जाती है।

व्यक्तित्व की पहचान, उसका गुरुत्वाकर्षण होता है। स्वामीजी से दूर होते हुए उन्हें प्रत्येक पग पर चुम्बकत्व का दवाव कम होता अनुभव हुआ। कालान्तर में यह आकर्षण स्मृति के रूप में विद्यमान रहता है।

चूंकि पैदल ही आश्रम से लौटे इसलिए पूरे रास्ते स्वामी जी की बातों का मर्म, अर्थ सब कुछ सोचते रहे। वह बराबर यह सोचते रहे कि स्वामी जी ने यह क्या कहा कि तुम सेवा के लिए ही आये हो। दीन-हीन, संत्रस्त प्राणियों के प्रति किये गये कर्म से बड़ी न प्रार्थना है, न पूजा।....अवश्य ही यह दिशा-बोध है। उनके मन में गोविन्द को लेकर जो संकल्प-विकल्प चल रहा था, क्या यह बात उसी दिशा में तो संकेत नहीं करती? क्या किसी दिन बहुत बड़ी मानव-सेवा करनी पड़ेगी? क्या ऐसा पुण्य है मेरा?....माँ को कर्तव्य और निरासक्ति से ही समझाया जा सकता है? तो क्या बड़नगर पहुँच कर माँ से गोविन्द की चर्चा की जाए? उस दिन वह पण्डित उत्सव लाल जोशी से जो कहना चा ते हुए भी नहीं कहा उसका कारण मात्र इतना ही था कि वह माँ से परामर्श करना चाहते थे। यदि माँ स्वीकार लेंगी तो वह गोविन्द को अपने साथ रखना चाहते हैं। गोविन्द के पूर्व किसी को देखकर यह भाव कभी नहीं आया कि इसकी सहायता की जाए। स्वामी जी का संकेत भी तो क्या इसी ओर नहीं है? क्या यह बीज नहीं है? निष्काम कर्म की और क्या परिभाषा है? कामना निःशेष कर्म, धर्म को धारण करना ही तो है।

जिस समय वह रतलाम पहुँचे, दूसरा प्रहर बीत चुका था। कामदार साहब की कोठी के प्रशस्त लॉन में भोजन के बाद धूप का आनन्द लेते हुए अकेले 'साहब' टहल रहे थे। पण्डित शिवशंकर आचार्य को 'साहब' में भी एक प्रकार का गुरुत्वाकर्षण अनुभव हुआ है। धोती और बण्डी में गौरवर्ण के साहब कमनीय संगमरमर की मूर्ति लग रहे थे। उनकी देह-यष्टि से अधिक उनके सम्पूर्ण स्वत्व में एक ऐसी सात्विक मन्त्रात्मकता थी जो अपनी ओर सुगन्ध की भाँति आकर्षित करती थी।

अभी वह फाटक खोलकर प्रवेश कर रहे थे कि फाटक की आवाज सुनकर ही चौके और वहीं से बोले,

— वाह महाराज! आप आश्रम क्या गये, हमें तो लगा कि अब संन्यास लेकर ही रहेंगे।....आइए, आइए भले आए। आज शाम तक न आते तो फिर पुलिस बुलानी पड़ती।

और वह झरने की भाँति प्रसन्न हँस रहे थे। यदि कोई संगमरमर की प्रतिमा हँसती तब शायद ऐसा ही लगता।

— कुछ नहीं, बस सोचा कि सत्संग रहेगा।

— तो सत्संग हुआ?

— हाँ, जितना भाग्य में था।

— अरे आपके भाग्य की क्या बात है? जिसने अनेक पुरश्चरण कर डाले उसका क्या कहना। सुना बहुत था आपके बारे में....लेकिन आप क्या आश्रम से पैदल ही आ रहे हैं?

— हाँ, है ही कितनी दूर?

— हाँ, दूर तो विशेष नहीं है। तब तो भोजन वगैरा भी नहीं हुआ होगा।...

पहले पेट-पूजा आवश्यक है—भूखे भजन न होंई गोपाला।
और पण्डित शिवशंकर आचार्य ने देखा कि साहब खूंटियों वाली खड़ाऊँ पहने हुए थे। वह आगे चलते हुए एक पिता जैसे लग रहे थे। बहुत कम व्यक्ति होते हैं जो आगे चलते हुए अच्छे लगते हैं।

तीसरे प्रहर विवाह की बची-खुची प्रथाएँ पूरी होती रहीं। विवाह में आये लोगों में से कुछ जा रहे थे। उनकी विदाई हो रही थी। जब पण्डित शिवशंकर आचार्य कल्याणी से मिले तो उन्हें पता चला कि उनके आश्रम पर रुक जाने को लेकर यहाँ लोगों में न जाने क्या-क्या प्रवाद फैल गया, और यदि एकाध दिन और न आते तो बड़नगर तक खबर पहुँच जाती। यह सब सुनकर वैसे तो मनोरंजक ही लगा परन्तु कहीं यह भी लगा कि पता नहीं माँ को यह सुनकर कैसा लगे। वस्तुतः वह माँ को किसी भी प्रकार का मानसिक सन्ताप देने की सोच ही नहीं सकते थे। माँ ने अपने जीवन में दो-दो पुत्रों और पति का जो वियोग भोगा है वह किसी को भी आद्यन्त तोड़ सकता है, भला इसके बाद उन्हें कोई भी क्लेश देना नितान्त अमानवीयता ही होती।

रात में जब 'साहब' से एकान्त-चर्चा हुई तब और भी स्पष्ट हुआ कि वह विशिष्ट व्यक्ति ही नहीं बल्कि विभूति हैं। गीता और गायत्री पर एक प्रकार से उनका अधिकार जैसा अध्ययन ही नहीं था बल्कि अनुभूति भी थी। व्यक्ति अपना ही संकल्प-वृक्ष होता है। परिवेश का प्रयोजन होता है परन्तु निर्णायक स्थिति तो आपकी संकल्प-शक्ति ही होती है। 'साहब' ने संसार, नौकरी में रहते हुए भी जिस प्रकार न केवल आत्मोन्नति ही की उसी प्रकार अपनी सीमा में रहते हुए अनेक विद्यार्थियों, अनाथों, विधवाओं को सब प्रकार से सहायता की। विद्या और अर्थ दोनों ही प्रकार से सहायता के कारण जाति के, ब्राह्मण समाज के तथा सामान्य अनेक लोग हैं जो राज्य में, स्वतन्त्र रूप से अपने पैरों पर 'साहब' की कृपा से खड़े हुए। एक समय था, जब उनकी पत्नी की मृत्यु हुई थी तब वह भी सन्यास के लिए इन्हीं स्वामीजी के पास गये थे। स्वामीजी ने तब उनसे भी निष्काम कर्म, पर-सेवा तथा गायत्री के इष्ट के लिए कहा था। आज इस बात को बीसियों वर्ष हो गये परन्तु आज उन्हें पूर्ण सन्तोष है कि उनके चारों ओर सदाशयी व्यक्तियों का अच्छा खासा समुदाय बन चुका है। एक विद्यालय तथा एक ऐसे आश्रम की अब योजना है जहाँ व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति के साथ-साथ सामारिक जीवन में भी प्रगति करना सीख सके।

बहुत देर से पण्डित शिवशंकर आचार्य एक प्रश्न पूछना चाह रहे थे,

— आपका स्वामी जी के विषय में क्या विचार है ?

— यह आपने क्यों पूछा ?

— किसी विशेष कारणवश तो नहीं पूछा।

— देखिए, अपने विश्वास की पुष्टि कभी दूसरे से नहीं करानी चाहिए। यदि आपका उन पर विश्वास है तो उसे बनाये रखें। अपने आस्वाद के लिए परायी जीभ का प्रयोग, जूठन होता है।

— लेकिन आपने मेरी बात का तो उत्तर नहीं दिया।

— साधु-सन्तों के बारे में कभी इतने जल्द राय नहीं बनानी चाहिए। पेड़ में फल भले ही हों, दिख भी रहे हों परन्तु उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना होता है। कई बार तो बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। कुछ को तो ऐसा प्रयत्न अनेक जन्मों तक भी करना पड़ता है। सच तो यह है कि ऐसा प्रयत्न भी एक प्रकार का फल ही है।

— और कइयों को तो तब भी नहीं मिलते।

— असम्भव नहीं है ऐसा।

और वह हँस दिये। साहब को लगा कि इस व्यक्ति में संस्कार हैं, जिज्ञासा है और सम्भवतः लगन भी हो। वह बहुत अधिक नहीं जानते थे, अतः पूछा,

— आपके लग्न तो शायद अभी नहीं हुए।

— जी नहीं।

— परिवार में शायद आप ही शेष रह गये हैं न ?

— जी हाँ।

— आपके विवाह न करने से आप की माताजी को कष्ट नहीं है ?

— है क्यों नहीं।

— तब क्या विचार है ?

— मैं स्वयं बहुत स्पष्ट नहीं हूँ परन्तु लगता है कि मुझे विवाह नहीं करना है।

— तब ?

— तब क्या ? करने को बहुत से काम हैं।

— जैसे ?

— अपने चारों ओर आँख खोलकर देखने पर काम ही काम तो दिखलायी देता है।

— समाज के प्रति कर्तव्य और अपने प्रति कर्तव्य में विरोध की स्थिति उसी व्यक्ति के सामने होती है जो वस्तुतः किसी भी प्रकार का कर्तव्य नहीं करना चाहता है। सच तो यह है शिवशंकर जी ! कि अंग्रेजी और अंग्रेजों का जो प्रभाव हमारे जीवन और विचारों पर धीरे-धीरे हो रहा है उसी के कारण 'पर्सनल', 'प्राइवेट' का विचार बढ़ना शुरू हुआ है। समाज और व्यक्ति के बीच यह खाई उत्पन्न करेगा। हमारे यहाँ यह भेद नहीं है इसीलिए हमारी भाषा में भी इस भावना, स्थिति के लिए शब्द नहीं है। अभी तो यह शताब्दी आरम्भ हुई है, फिर हम तो देशी राज्य में हैं। पता नहीं आप जानते हैं कि नहीं कि यूरोप, जहाँ के रहने वाले ये अंग्रेज हैं, में राष्ट्रों की स्थिति बिगड़ती जा रही है। इसका बहुत दूरगामी प्रभाव पड़ेगा। हम अब तक

इस्लाम के सम्पर्क में आये थे अब इस ईसाइयत के प्रभाव के भी बहुत दूरगामी प्रभाव पड़ने वाले हैं।

सहसा 'साहब' ने बोलना रोक कर उन्हें देखना शुरू कर दिया। पण्डित शिवशंकर आचार्य को 'साहब' की इन बातों से लगा कि जैसे दुनिया उनके आगे हठात खुल आयी है। सहसा जैसे खाड़ी के जल से निकलकर कोई नौका उत्ताल तरगों वाले समुद्र में पहुँच जाए जहाँ आक्षितिज केवल जल ही जल परिव्याप्त हो। और तब एक अव्यक्त घबराहट तथा अपनी सीमा के बोध के साथ-साथ कहीं यह प्रसन्नता भी अनुभव हो कि क्षितिज, संसार और धरती की सीमा केवल अपने गाँव, प्रदेश और देश तक हो नहीं है। उनका मन इस नये साक्षात्कार के लिए जैसे विकल होने लगा। वह जिस सीमा में आज तक है, वह वस्तुतः कोई सीमा ही नहीं है। जीवन के प्रति अलभ्यता की प्रतीति हुई। दृश्य जगत से अदृश्य जगत की विस्तृति एवं परिधि कहीं बड़ी लगी। मनुष्य ने जीवन को कैसे कुछ बातों, घटनाओं तक ही सीमित कर छोटा कर रखा है। हमने उतनी ही धरती बुहार कर साफ करने की चेष्टा की है जितनी कि हमारे घर में या घर के अहाते से सम्बन्धित है। शेष धरती, लोग और घटनाओं के प्रति या तो हम अज्ञान की स्थिति में हैं या हमें उनके होने की समझ ही नहीं है।

पण्डित शिवशंकर आचार्य को अनेक वर्षों बाद पितृ-छाया की अनुभूति हुई। इतने वर्ष बाद पिता का हठात और वह भी ऐसा स्मरण अत्यन्त प्रीतिकर लगा। गाँव के परिवेश में तथा परिवार के संस्कारवश ही वह अध्ययन, पाठ-पूजन की ओर प्रवृत्त हुए। इससे उन्हें सन्तोष एवं विश्वास तो मिला ही परन्तु ज्ञान की चमक आज पहली बार उन्हें हल्की सी दिखलायी दी। सच तो यह है कि 'साहब' के सामने बैठकर आज उन्हें पहली बार लगा कि वह अपने को आयु में भले ही जितना भी बड़ा समझते रहे हों, स्थिति वह है नहीं। जीवन के आरम्भिक तीव्र तथा कटु अनुभवों के कारण तथा गृहस्थी के दायित्व ने उन्हें जो एक वार्धक्य दे दिया था उसका सम्बन्ध न तो उनकी आयु और न ज्ञान—किसी से भी नहीं था।

कल्याणी को लेकर पण्डित शिवशंकर आचार्य बड़नगर लौट आये। पता नहीं कल्याणी ने अपने पिता पण्डित आनन्द शंकर दवे और बुआ श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य से काका पण्डित शिवशंकर आचार्य के स्वामीजी के यहाँ रात रुक जाने के बारे में क्या-कुछ कहा, कि श्रीमती गोदावरी देवी पुत्र को लेकर चिन्तित हो उठी। पण्डित आनन्द शंकर दवे विवाह का सारा हिसाब-किताब जोड़-घटा रहे थे। उनके पास पहुँचते ही श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य बोली,

— दादा! तुम ही शिवशंकर को क्यों नहीं समझाते?

बहन की बात सुनकर पण्डित आनन्दशंकर दवे हठात कुछ नही समझ पाए। वह बाजे वालों का हिसाब समझ रहे थे, चश्मा उतारते हुए बोले,

— क्या बात? मै समझा नहीं।

वह बैठते हुए बोलीं,

— तुम्ही बताओ दादा! मैं अब कब तक बैठी रहूँगी? मेरे बाद इसकी देख-भाल कौन करेगा? और तुम जानो कि इतनी बड़ी गृहस्थी भी अब मेरे बूते में है नहीं।

— तुम तो मुझसे बहुत छोटी हो। अभी तो मैं ही देखो दो दूनी चार करते गृहस्थी खींच रहा हूँ और तुम इतने में ही शोर करने लगी।

और पण्डित आनन्दशंकर दवे ने बहन की चिन्ता कम करने के लिए ही स्थिति को हल्का बनाने के लिए कहा।

— तुम तो हँसी कर रहे हो।

— अच्छा गम्भीर हो जाता हूँ, बस!!....अब बताओ कि जैसा चारों ओर देख-सुन रही हो उसमें मनुष्य का विश्वास या आसरा—क्या कोई अर्थ रखता है गोदावरी?

— ऐसा हर कोई सोच ले तो यह संसार तो चल चुका फिर।

— तो यह कहो न कि तुम्हें शिवशंकर की नहीं बल्कि घर-संसार की चिन्ता है। बिचारा शिवशंकर तो निमित्त मात्र है।

— ये बड़ी-बडो बातें मेरी तो समझ में आने से रही। मैं तो तुमसे सलाह लेने आयी थी कि तुम मेरी कुछ सहायता करोगे।

भाई ने देखा कि बहन सचमुच ही रुष्ट हो गयी हैं। बोले,

— अच्छा यह बताओ, शिवशंकर क्या कहता है ?

— यही तो रोना है कि वह कहता कहाँ है ? बहुत घेर लिये जाने पर हाथ बाँधकर खड़ा हो जाएगा—बस !!

— इसका मतलब हुआ कि वह विवाह नही करना चाहता है।

— विवाह ?....मैं कहती हूँ कि यदि यही हाल रहा तो किसी दिन संन्यासी न बन जाए तो मेरा नाम बदल देना।

— गोदावरी ! अब इस बुढ़ौती में नाम बदल भी जाए तो क्या।

और वह खिलखिला पड़े। गोदावरी से बातें करते हुए उनकी विनोद-वृत्ति जाग्रत हो आयी थी। यह नही कि बहन की बातों को वह गम्भीरता से नही ले रहे थे या बहन की चिन्ता उन्हें स्वाभाविक नही लग रही थी, बल्कि वह गम्भीर थे इसीलिए उनका विनोदी स्वभाव जाग्रत हो आया था।

भाई को हँसता देखकर श्रीमती गोदावरी आचार्य बोलीं,

— तुम्हें तो हँसी छूट रही है।

— अरे, हँसूँ नही तो क्या करूँ ? तुम्ही बताओ। एक बात याद रख लो गोदावरी ! कि शिवशकर ऐसा नहीं है कि वह तुम्हें छोड़कर या दु.खी करके संन्यासी बनेगा। यह हो सकता है कि मन से संन्यासी भले ही हो पर लगता नही कि संन्यासी बनेगा। और मान लो कि वह संन्यासी हो ही जाए तो तुम यहाँ चली आना। हम दोनो बुड्ढे भाई-बहन आराम से भगवत्-भजन करेंगे। सामने सिगड़ी [मिट्टी की खुली अँगीठी] में तुम दूध के टापू भार देना। पूजन के बाद हम लोग अफीम की भाजी या कोथमीर [हरी धनिया] की चटनी से खा लिया करेंगे। बहुत ही अच्छा रहेगा, है न ?

हठात् श्रीमती गोदावरी आचार्य को भाई पर क्रोध हो आया परन्तु भाई के मुख में कहीं माता-पिता की झलक दिखी तो पता नहीं कितने वर्ष पीछे लौट गयी। वर्तमान की सारी चिन्ताएँ न जाने कहाँ रह गयी और वह भी खिलखिला पड़ी।

सिर का पल्लू ठीक करते हुए बोली,

— पता नहीं तुम अपनी गोदावरी को कभी गम्भीर क्यों नही लेते ?

— गोदावरी ! सच पूछो तो शिवशंकर का लग्न करना उतनी समस्या नही है जितना कि न करना। वह तब क्या करेगा ?....संसार बसाना लाख बुरा हो परन्तु आदमी बिखरने से बच जाता है। साधारण आदमी के लिए तो घर-गृहस्थी बहुत ही जरूरी होती है। बड़े संकट के सामने विवाह, छोटा सकट है। यदि व्यक्ति किसी

बड़े उद्देश्य के लिए घर-संसार न बसाए तो सम्भव है कि वह निभा ले जाए, नही तो गोदावरी ! एक आयु के बाद साधारण व्यक्ति का पतन यदि साधारण-पतन होता है तो असाधारण व्यक्ति का पतन भी तब अद्भुतरूप से असाधारण-पतन होता है।

— तो फिर यही बात उसे समझाओ।

— तुम क्या सोचती हो कि वह इतनी सी बात भी नही जानता होगा ?

— कई बार आदमी बड़ी बातों के सामने मुँह आगे की नही देख पाता है।

— हो सकता है तुम सही होओ। कई बार व्यावहारिक ज्ञान बड़ा काम करता है। पर इतना तय है कि वह साधारण तो नहीं है।

तभी दोनों चौंके, पण्डित शिवशंकर आचार्य हठात सामने आ खड़े हुए थे। दोनों को ही आश्चर्य हुआ कि शिवशंकर के आने की आहट सीढ़ियो पर क्यों नही सुनायी दी ? ऊपर का यह कमरा पहले कल्याणी के पास था परन्तु उसके जाते ही अब यह पण्डित आनन्दशंकर दवे का अपना हो गया था। कमरे में छापे की चादरनुमा जाजम पर सफेद चाँदनी और उस पर गद्दा डला था। दो लोढ़ और एक गाव तकिये लगे थे। चूँकि यह मकान गली के कोने पर था इसलिए इसके उत्तर-पूर्व की ओर खिड़कियाँ थी जिससे दृश्ये के साथ-साथ धूप भी आती थी। जाडे की धूप इस समय खिडकियो के द्वारा कमरे में बिछी हुई थी। गोबर लिपे फर्श पर धूप ने जैसे पूर्व ओर की तीनों खिड-कियाँ लिख रखी थी। दीवाल और छत के बीच सफेद तनी चादर के चारों ओर देवी-देवताओं के फ्रेमित चित्र टँगे हुए थे। सफेद तनी चादर में कागज के दुरंगी फूल चिपके हुए थे। चूँकि विवाह अभी-अभी समाप्त हुआ था इसलिए ताजे लिपे-पुते घर की सी सुगन्ध भी थी। पण्डित आनन्दशंकर दवे का विचार था कि अब उन पर कोई विशेष दायित्व नही रह गया है तो सम्भव है वह यहाँ बैठकर कुछ लिखे-पढ़ेंगे। आते ही पण्डित शिवशंकर आचार्य ने निर्दोष ढंग से मुसकराते हुए पूछा,

— किसकी बात हो रही है ? कौन साधारण नहीं है मामा जी ?

— जो बड़ा काम करता है, वह।

— कौन बड़ा काम करता है ?

— कोई तो होगा ही।

— बड़े काम से आपका तात्पर्य ?

— जो छोटा न हो ?

— यह तो जवाब नहीं हुआ ?

— अब मामा से जवाब-तलब करोगे ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य ने विनम्र होकर मामा के चरण-स्पर्श किये। उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया। पण्डित शिवशंकर आचार्य के मन में अपनी मामा, एक प्रकार से आदर्श व्यक्ति रहे है। अध्ययन-अध्यापन के प्रति उनके भी मन में ललक रही है परन्तु उनके भाग्य में तो कुछ दूसरा ही लिखा था। दूसरे, मामा जी ने जिस धैर्य के साथ अपनी

गृहस्थी, मामी की दीर्घकालीन बीमारी को झेला था वह धैर्य तो स्पृहणीय था। भला ऐसे देवता-पुरुष से वह जवाब-तलब कर सकते थे ? हाँ, वह यह समझ गये कि मामा-जी और जिजी के बीच हुई बातचीत को मामा जी बताना नहीं चाहते। जिस तरह वह उसकी बात का जवाब दे रहे थे उसमें तो वह बात को काफी लम्बा कर सकते थे। जीवन भर लड़कों को बातें ही तो पढ़ाई हैं तब भला बातों को लम्बा करते जाना कौन मुश्किल है ? चरण-स्पर्श कर सामने बैठते हुए वह बोले,

— जिजी ! अब चलने की भी सोचो।

— यहाँ कौन तेरी बहू बैठी है जो चलने की चिन्ता हो। इतने वर्षों बाद तो दादा से मिलना हुआ है।

पण्डित शिवशंकर आचार्य समझ तो गये कि उन्हें लेकर ही दोनों भाई-बहन में बातें होतीं रही हैं फिर जिजी ने जिस तरह बात की उसमें उन्हें लग गया कि वह बहुत आहत हैं।

— मामा जी ! जिजी भी यहीं है, एक राय लेना चाहता था।

पण्डित शिवशंकर आचार्य की बात सुनकर श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य को उत्सुकता जागी कि भला वह ऐसी कौन सी राय लेना चाह रहा है ? पता नहीं....।

पण्डित आनन्दशंकर दवे बोले,

— किस बारे में ?

— उत्सवलाल मामा जी के गोविन्द के बारे में।

— गोविन्द के बारे में ? क्या ?

— कैसा है लड़का ?

पण्डित आनन्दशंकर दवे फिर उत्फुल्ल हो आये। हँसते हुए बोले,

— तुम तो उसके बारे में ऐसे पूछ रहे हो जिस तरह लड़की वाले किसी लड़के के बारे में पूछते हैं।

कभी-कभी पण्डित आनन्दशंकर दवे सुंघनी सूंघ लिया करते हैं। जेब से डिबिया निकाली और तम्बाकू की चुटकी भरी। नाक से उसे सुड़का, और लगातार दो-तीन छींकें जब ले लीं तब उन्हें ताजगी महसूस हुई।

— मेरा मतलब यह था मामा जी ! कि पहले वह कैसा था ?

पण्डित आनन्दशंकर दवे हठात म्लान हो उठे। वह स्वयं उस लड़के की यातना, यन्त्रणा तथा अपने साले पण्डित उत्सवलाल जोशी की विवशता देखकर सच्चे मन से दुःखी होते रहे हैं। बोले,

— आठ-दस बरस का लड़का होता ही क्या है शिवशंकर ?....लेकिन तुमने क्यों पूछा ?

— पढ़ने में कैसा है ?

— मुझे तो लगता है कि पढ़ता, तो शायद पढ़ ही जाता। तेज तो है।

— क्या उसके लिए कुछ किया जा सकता है ?

पण्डित आनन्दशंकर दवे से अधिक उत्सुक, व्यग्र तो श्रीमती गोदावरी आचार्य लग रहीं

थी कि शिवशंकर कहना क्या चाहता है।

पण्डित आनन्दशंकर दवे बोले,

— क्या किया जा सकता है ? —मैं जानता हूँ कि वह पागल नहीं है परन्तु माँ की पीड़ा, यन्त्रणा का जो बुरा असर उसके शिशु-मन पर हुआ है वह बहुत गहरा है। उत्सवलाल जी विचारे स्वयं ही परेशान रहते हैं। उस बच्चे के लिए अच्छा वातावरण चाहिए। मेरी स्थिति तुम जानते ही हो। किस बूते पर उस बच्चे को अपने यहाँ लाकर रखूँ ?

तभी पण्डित शिवशंकर आचार्य ने अपनी माँ से कहा,

— क्यों जिजी ! यदि गोविन्द को हम लोग अपने साथ रखें तो कैसा ?

— क्या ?

और श्रीमती गोदावरी आचार्य अपने पुत्र की बात सुनकर चौंक पड़ीं।

— तुम चौंकी क्यों जिजी ?

हठात वह कुछ नहीं समझ पायीं कि शिवशंकर को क्या जवाब दें। अपने दादा से बोलीं,

— दादा ! शिवशंकर की बात सुन रहे हो ?

— तुम क्या समझती हो कि मैंने नहीं सुना ?

— इस शिवा को लेकर तो मैं पहले ही परेशान हूँ और अब दूसरे के लड़के को, वह भी पागल....

— जिजी ! वह पागल नहीं है, उसे एक माँ चाहिए, वातावरण चाहिए।

— न सही पागल, पर उसे जो देख-रेख मिलनी चाहिए क्या वह तुम दोगे ?

— जिजी ! बिना माँ के उस बच्चे को कभी उस घर में देखा है ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य जानते थे कि उनकी माँ की यह कमजोरी है कि वह बिना माँ के बच्चे को देखकर विकल हो जाती हैं। शायद इसीलिए यह बात उन्होंने कही थी। वह टालते हुए बोलीं,

— सगे-सम्बन्धियों में, भला किया तो किसी को दीखेगा नहीं पर कल को कुछ हो-हुवा गया तो बदनामी रखी समझना।

— लोगों का क्या है जिजी ! उन्हें न चुप्पी साधे रहने में शरम है, न बोलने में कुछ जाता है। —तुम लोगों की नहीं, अपनी बात कहो।

— लगता है तू सब सोचे बैठा है, तो फिर मुझसे हामी क्यों भरवाना चाहता है ?

— हामी नहीं जिजी ! मैं चाहता हूँ तुम उस गोविन्द को देखती। मैं नहीं, तुम उसे ले चलोगी। उसे तुम जैसी माँ चाहिए।

— देख रहे हो न दादा ! कैसी साँसत में डालना चाहता है यह ?

पण्डित आनन्दशंकर दवे इस बीच शिवशंकर को ध्यान से चुपचाप देख रहे थे और सोच रहे थे कि घाट तो छोटे जल के लिए होते हैं, बड़ा जल तो पृथ्वी पर नदी बनने के लिए ही होता है। बहन की बात सुनकर वह चौंके,

— हो सकता है गोदावरी ! गोविन्द का और तुम्हारा किसी जन्म का सम्बन्ध ही हो।

— मामाजी ! किसी जन्म का क्या; जिजी का केवल गोविन्द ही नहीं बल्कि मैं चाहता हूँ कि जिजी को चारों ओर प्रजा ही प्रजा, सन्तान ही सन्तान घेरे रहे— स्त्री का यह जगज्जननी का स्वरूप ईर्ष्या की वस्तु नहीं है मामाजी ? माँ ! जरा सोचो तो इसे।

बिचारे मामा जी क्या कह सकते थे ? माना कि जीवन भर उन्होंने लड़कों को साहित्य ही पढ़ाया था। बड़े-बड़े लेखकों की कविताएँ, निबन्ध पढ़ाये हैं। विश्व-बन्धुत्व पर लड़कों से निबन्ध लिखने को भी कहा होगा परन्तु यह पोथी का ज्ञान कभी आचरण में प्रतिपालित होता है, इसकी प्रतीति उन्हें नहीं हुई होगी। दया से ऊपर करुणा कितनी दैवीय होती है इसकी उन्हें कल्पना भी नहीं थी। यदि वह स्वयं गोविन्द को साथ ले आते तो वह दया ही होती परन्तु शिवशंकर जिस भाव से गोविन्द को ले जाना चाह रहे थे वह दया नहीं, करुणा है। वह मन ही मन शिवशंकर के प्रति पूज्य न सही, तो आदर का भाव ही रखना चाहने लगे। गर्व वह नहीं कर सकते थे इस पर, क्योंकि इस पर गर्व करना तो उस कार्य की पवित्रता को अपमानित करना हो जाता। यदि वह और कुछ नहीं कर सकते थे तो कम से कम अपमानित तो नहीं करना चाहिए।

·

पण्डित शिवशंकर आचार्य समझ चुके थे कि माँ की सहमति मिल चुकी है परन्तु अनेक कारणों से वह स्वयं प्रवक्ता नहीं बनना चाहते थे। एक तो माँ का पद बड़ा था ही, दूसरे किसी के बच्चे को वह किस अधिकार से अपने साथ रखने के लिए माँग सकते थे ? माँ की स्थिति सभी प्रकार से ऐसी थी कि न केवल पण्डित उत्सवलाल जोशी ही कुछ नहीं कह सकते थे बल्कि परिवार-कुटुम्ब में जो भी सुनता, वह भी उस स्थिति में कुछ नहीं कह सकता था। अभी पण्डित शिवशंकर आचार्य की सामाजिक स्थिति एवं हैसियत ही क्या थी ? दूसरे वह यह जानते ही थे कि गोविन्द को देखकर स्वयं माँ का अपना अन्तर्द्वन्द्व, संशय सब समाप्त हो जाएगा। माँ भले ही यह मान लें कि गोविन्द को लाने ले जाने का सुझाव शिवशंकर का हो पर ले जाने का काम स्वयं उन्होंने ही किया है— इसके लिए माँ का गोविन्द से मिलना आवश्यक था।

विवाह के दूसरे दिन ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल तो लौट गये थे परन्तु दुर्गा और बच्चों को रोक लिया गया था। श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य ने दुर्गा को शिवशंकर की इच्छा के बारे में बताया कि वह किस प्रकार गोविन्द को गाँव ले जाना चाहता है। दुर्गा को मात्र इतना ही लगा कि बड़दा के अन्तर में कोई बड़ी चीज स्वरूप पा रही है। मामाजी, माँ, बड़दा के साथ वह भी गयी।

रात के अभी आठ ही बजे होंगे जब ये लोग उत्सवलाल जी के यहाँ पहुँचे। मुहल्ले में सन्नाटा जैसा ही था। गली के मुहाने पर एक मात्र सरकारी लैम्प जलती मिली थी इसके बाद तो लोगों के घरों की नालियों का पानी गली में जगह-जगह भरा

हुआ था। अँधेरे में किसी तरह बचते-बचाते ये लोग पहुँचे। जब गली में इन लोगों की आवाज सुनायी दी तो पण्डित उत्सवलाल जोशी लालटेन लेकर अपने चबूतरे पर आकर खड़े हो गये।

यह अच्छा ही हुआ था कि दिन में पण्डित आनन्दशंकर दवे और पण्डित शिवशंकर आचार्य की पण्डित उत्सवलाल जोशी से बातें हो चुकी थी। जोशी महोदय के लिए यह जीवन का अत्यन्त आश्चर्य था कि कोई उनके पुत्र के इस महादुःख में सहयोगी बनकर उनके साथ खड़ा हो सकता है। उन्होंने अपनी हतभाग्यता को स्वीकार लिया था। उनके लिए, कभी-कभी आँसू आ जाने के अलावा कोई मार्ग ही नहीं था। जब जीजाजी ने उनसे कहा कि शिवशंकर, गोविन्द को अपने साथ रखना चाहते हैं। सम्भव है वातावरण बदल जाने से गोविन्द की मानसिकता में कोई परिवर्तन आए, तो, सहसा तो उनकी समझ में कुछ नही आया परन्तु जब इतनी बड़ी बात, कि कोई दूसरा गोविन्द के लिए सोच रहा है—समझ में आयी तो वह [illegible]। [illegible] व्यक्ति किसी अन्य के द्वारा छू दिये जाने पर सचमुच ही [illegible] है। यों अवचेतन मे जो भी रहा हो परन्तु इस सक्रिय [illegible] पहली बार अकेलेपन के कसाव को अनुभव करने लगे। [illegible] समाज आदि से, जीवन के रागरंग से घिरा रहता है; [illegible] होती है जो बोध कराती है कि तुम सर्वथा 'स्व' हो। [illegible] लगाये रहने पर भी पण्डित उत्सवलाल जोशी के [illegible] गोया दूध, दूध नही था काँच था, जो हाथ [illegible]। [illegible] शंकर दवे मात्र यही कह सके थे,

यहाँ तो उसे आँख खोलते ही जैसा देखने को मिला वैसा भगवान न करे किसी को मिले।

सामान्यतः पहला उफान सम्हालना ही कठिन होता है, जबकि पण्डित उत्सवलाल जोशी की मनःस्थिति तो तेज आँच जैसी हो रही थी जिसमें दूध, पानी के छींटों से नीचे बैठता और आँच उसे उफनाये दे रही थी। ऐसे में दूध अपने को संघटित ही करता है। पण्डित उत्सवलाल जोशी की स्थिति में कोई भी होता तो वह भी वैसा ही व्यवहार करता। बड़े भाई उद्धवदास के लिए तो छोटा भाई कहीं था ही नहीं, और किसी प्रकार का सहारा कुछ था नहीं। किसी प्रकार दाँत भींचे वह जीवन का यह सगड़ दलदल में से खींच तो रहे ही थे कि पत्नी को जो दारुण कष्ट, यन्त्रणा झेलनी पड़ी तथा उसके बाद पुत्र का विक्षिप्त हो जाना तो उसके दुर्धर्ष होने की पूर्णाहुति जैसा था, और उन्होंने सब कुछ जीभ काट कर जैसे स्वीकार लिया था। भानजे रविशंकर के सास-ससुर हैजे के प्रकोप में चल बसे थे तथा उसकी बहू के कोई नहीं था, अतः कल्याणी के विवाह में मामेरा कौन लाता इसलिए यह 'करियावर' उन्हें ही करना पड़ा परन्तु जिस प्रकार उन्होंने विवशता अनुभव की उसे वह कभी नहीं भूल सकते। सच तो यह है कि वह मन से टूट चुके थे। उन्होंने सभी से अपने को काट लिया था। ऐसा करने में किसी दूसरे के प्रति कोई आक्रोश नहीं था क्योंकि किसी से कोई अपेक्षा ही नहीं रह गयी थी। वस्तुतः वह अपने को ही क्षमा नहीं कर पा रहे थे।

दोपहर भर वह पण्डित आनन्दशंकर दवे और पण्डित शिवशंकर आचार्य की बातों पर सोचते रहे। कष्ट से अधिक दुःख था। परिस्थितियों ने उन्हें कहाँ ले जाकर खड़ा कर दिया था कि वह अपने एकमात्र पुत्र के लिए भी दूसरे की कृपा पर निर्भर है। क्या भाग्य ले कर वह आये और कैसा अकारथ गया उनका पुरुषार्थ। हाहाकार तो था ही परन्तु पुत्र के भविष्य के ख्याल से उन्होंने पुत्र को भेज देने में ही कल्याण समझा।

ये लोग जिस समय पहुँचे वह लालटेन के प्रकाश में यही सब सोच रहे थे। मान लो पुत्र की यह विक्षिप्तता दूर हो गयी तो भविष्य में वह अपने पिता के बारे में क्या सोचेगा? क्या पुत्र को उनकी आज की इस मानसिक पीड़ा की कुछ भी प्रतीति कभी भी हो पाएगी?''''और इन लोगों की आवाज सुनते ही वह लालटेन लेकर बाहर चबूतरे पर निकल आए। उन्हें उस समय ऐसा ही लगा कि जैसे कुछ लोग आये हैं जिनसे वह पुत्र का सौदा करने वाले हैं। हालांकि वह जान रहे थे कि उनका यह सोचना व्यर्थ है। यह किसी प्रकार का सौदा नहीं था। गोविन्द का शायद है भविष्य बन ही जाए, लेकिन गोविन्द के चले जाने के बाद वह इस घर में, इस घर की यंत्रणावाली स्मृतियों के बीच कैसे रह सकेंगे?

पण्डित उत्सवलाल जोशी, गोविन्द का हाथ पकड़ कर भीतर के कमरे से उसे लाए। जैसे ही श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य ने गोविन्द को देखा तो उन्हें असुविधा होने लगी। बल्कि कहना चाहिए कि एक प्रकार का हाहाकार-सा होने लगा। पिता-पुत्र ने जिस प्रकार प्रवेश किया वह इतना कारुणिक था कि उनकी आँखें छलछला

आयी। उत्सवलाल जी की सारी व्यथा जैसे उनके सामने सजीव हो उठी। गोविन्द के सन्दर्भ में वह जर्जर भोजपत्र वाली कोई प्राचीन पाण्डुलिपि लग रहे थे। क्या मनुष्य इसी यन्त्रणा, हाहाकार, दयनीयता के लिए ससार बसाता है? कहने को सभी तो नाते-रिश्तेदार होते हैं, परन्तु कौन-किसका दुःख या भोग बँटाता है? कैसे सारा काम हाथ से करते होंगे, विक्षिप्त पुत्र को भी देखना पड़ता होगा; और फिर इसका अन्त क्या? मान लो, कल को गोविन्द अकेला रह जाए, तो? क्या गोविन्द....और उन्होंने देखा कि गौरवर्ण का एक लड़का कैसे सशंक भाव से सामने खड़ा कर दिया गया है। क्या सच ही वह पागल है?....नहीं, ऐसा तो नहीं लगता है। कैसा सुदर्शन है न? मुश्किल से अभी दस-बारह का होगा। इसके जन्म के समय इसकी माँ, इसके इस कचन-वर्ण को देखकर कैसी प्रसन्न हुई होगी। क्यों नहीं, वही क्यों? कोई भी स्त्री, सुन्दर सन्तान की माँ बनने पर तो और भी खिल उठती है। गौरवर्ण कैसा पीलापन लिये हुए है। पतली सूँती देह के कारण किंचित लम्बा लग रहा है। लड़का अपनी माँ पर ही गया है। गोविन्द की माँ को श्रीमती गोदावरीदेवी आचार्य ने केवल एक बार ही देखा था। देहात की अवश्य थीं वह, परन्तु सुघड़ थी। हँसती थी तो गाल में गड्ढे पड़ते थे। गोविन्द ने अपनी माँ से प्रत्यक्षतः आँखें ही ली थीं। कैसी बड़ी-बड़ी सी हैं, परन्तु इस आयु में ही कैसी अथक पीड़ा अँजी हुई है। पतले लम्बे गौर पैरों की लम्बा-लम्बी अंगुलियाँ धरती पर चलती नहीं, बल्कि लिखती लगती हैं। कोई उसे हठात भी देखता तो भी कह सकता था कि वह आया नहीं था बल्कि प्रस्तुत किया गया था। पिता ने नमस्कार करने को कहा तो, पहले तो वह अन्यमनस्क बना खड़ा रहा; परन्तु दुबारा कहे जाने पर पिता की ओर देखते हुए उसने नमस्कार कर दिया। बैठने के लिए कहा गया तो दुबक कर बैठ गया। वह डरा हुआ नहीं बल्कि आत्मस्थ लग रहा था। वह देखने से अधिक सोचता लग रहा था।

— गोविन्द! इनको जानते हो?

पिता का तात्पर्य पण्डित आनन्दशंकर दवे से था, जो कि उसके फूफा थे। गोविन्द ने उन्हें देखा पर लगा कि वह उनके पार देख रहा था। कुछ देर बाद वह फिर पिता की ओर देखने लगा, हालाँकि उस देखने में भी कोई मापा नहीं थी। वह देखता था तो लगता था कि यह मात्र नेत्रों से नहीं बल्कि सम्पूर्ण स्वत्व से देख रहा है।

पण्डित उत्सवलाल जोशी ने फिर पूछा,

— कौन है यह?

पिता की बात का कोई जवाब न देकर वह श्रीमती गोदावरीदेवी आचार्य को देखने लगा। हठात उसे अपनी ओर देखने से उन्हें असुविधा होने लगी। श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य अपनी दृष्टि से जैसे उसके पास पहुँची पड़ रही थी। उन्हें अपनी सन्तानों के अलावा किसी अन्य को देखकर ऐसी ललक पहले कभी नहीं हुई होगी। तभी तो वह अपनी दृष्टि से उसे देख नहीं रही थीं बल्कि छू रही थीं। गोविन्द इस बार दुर्गा को भर आँख देखने लगा था। गोविन्द की थिर पुतलियाँ दुर्गा को देखते हुए किंचित,

पड़ रही थी। इस तरह देखने में उसके मुंह पर भी कुछ हल्की सी प्रतिक्रिया होती दिख रही थी। आँखें बारम्बार ऐसी लग रही थीं। जैसे कोई उन्हें फूंक मार रहा है। दुर्गा उठी और जाकर उसके पास बैठ गयी। दुर्गा के उठने और अपने पास बैठने की पूरी क्रिया को वह आँखों से तोलता रहा और जब दुर्गा ने बैठकर उसका हाथ अपने दोनों हाथों में ले लिया तो गोविन्द की आँखों में क्षणान्त के लिए एक लपक उठी परन्तु तत्क्षण दृष्टि के माध्यम से वह अपने में लौटता लग रहा था। वातावरण में निःशब्द समयहीनता आ गयी थी। सभी, कुछ अप्रत्याशित घटित होने की सम्भावना में बैठे लग रहे थे। लोगों की साँसें तक सुनायी दे रही थीं। बीच में रखी लालटेन का प्रकाश खजूर की चटाइयों पर सोने के वर्क-सा मँढा लग रहा था। वातावरण में लालटेन के घासलेट [मिट्टी का तैल] की हल्की दुर्गन्ध थी।

— गोविन्द !

दुर्गा ने वाणी से सम्बोधन चाहे अब किया हो परन्तु हाथों से वह यह सम्बोधन बैठने के साथ ही कर चुकी थी जिसे गोविन्द ने सुन लिया था; यह उसके मुख पर न भी सही परन्तु व्यक्तित्व में लिखा देखा जा सकता था। वह वैसा ही श्लथ लगा रहा था जैसी कि मिट्टी, पानी पीकर फूल आती है। दुर्गा ने सम्बोधन को जब स्पर्श की भाषा के बजाय वाणी दी तो गोविन्द के जल में भी जैसे एक थरथराहट उठी। गोविन्द अब दुर्गा को नहीं बल्कि दुर्गा में से देखते हुए ऐसा लग रहा था जैसे वह बिखरे फूल की पंखुरियाँ या काँच के बिखरे टुकड़ों को याद करते हुए बीन रहा है कि कौन-सी पंखुरी या टुकड़ा किधर था क्योंकि जो फूल या झाड़फानूस बिखर गया था जिसे वह स्पष्ट नहीं याद कर पा रहा था।

जैसे पक्षी छू दिये जाने पर अपने पंख और पूंछ तक समेट कर आपकी ओर भय-नेत्रों से देखने लगते हैं लगभग वैसे ही गोविन्द ने दुर्गा की ओर देखा और बोला,

— कौन हो तुम ?

पुत्र का दुर्गा को यह 'तुम' कहना पण्डित उत्सवलाल जोशी को निश्चय ही अप्रिय लगा। वह उसे कुछ कहने ही जा रहे थे कि पण्डित शिवशंकर आचार्य ने उनका हाथ हल्के से दबा दिया। इस बीच दुर्गा ने अपने स्पर्श को जैसे और भी भाषामय बनाते हुए उसे देखा और बोली नहीं बल्कि गोविन्द में जैसे लिखा,

— गोविन्द ! अपनी दीदी को नहीं जानते ?

दुर्गा की दृष्टि आलिंगन में उठी बाँहें हो रही थी। गोविन्द ने एक बार फिर दुर्गा को ऊपर से नीचे देखा। दुर्गा ने यह देखना, अपनी देह पर लकीर की भाँति खिंचते हुए अनुभव किया। यह स्त्री ही करती है कि जिससे वह आकण्ठ ममता अनुभव करती है उसे देह से पीकर, फिर देह से जन्म देकर उसे तब सामने बैठाल कर उसके लिए चिन्ता करती है।

गोविन्द ने अपने पिता से पूछा,

— बाबा ! माँ कहाँ है ?

कई बार वाणी भी आँसू होती हैं। तो क्या गोविन्द, दुर्गा में अपनी माँ ढूंढ़ रहा था? श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य उठीं। यद्यपि वह बहुत स्पष्ट नहीं थी परन्तु गोविन्द का स्पर्श पाते ही वह हठात फूट पड़ीं और ललक कर उसे सीने से सटा लिया।
भाषा, दूरी के लिए आवश्यक होती है। जिस प्रकार की परिस्थिति में वे सब थे उसमें सब कुछ सौंपना जैसा लग रहा था। गोविन्द ने श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य के वक्षस्थल में जिस प्रकार आँखें बन्द करके सिर टिकाया तो लगा कि उसे इसकी कितनी प्रतीक्षा थी। तभी तो वह सम्पूर्ण स्वत्व से रोने लगा था।

॥ अन्तर-प्रकरण ॥

किसी को क्या पता होता है कि वह जिस धूप-धुली, प्रशान्त धरती पर खड़ा हुआ है उसकी शाद्वल, हरीतिमा के ठीक नीचे ज्वालामुखी का वह मुख है, जो किसी कारणवश मौन है ? कौन कह सकता है कि किस दिन वह अपनी मुचकुन्द-निद्रा से जग उठेगा, और उस दिन एक विशाल, बड़े अनार के फौव्वारे-सा उत्तप्त लावा में छूट उठेगा और तब मीलों तक की आपके विश्व इसकी सारी वानस्पतिकता झुलस उठेगी। आप भी एक पदार्थ से झुलस उठेंगे। परिवार, कुटुम्ब और समाज प्रति-सम्बन्धों के तानों-बानों में बुना हुआ ऐसा ही ज्वालामुखी होता है, जो सोया हुआ होता है। जीवन में एकाध बार ही उत्तप्त लावा का सामना करना होता है, नहीं तो थोड़ी बहुत आँच के अलावा प्रायः इसकी माधवी शाद्वलता अपना भरम बनाये रखती है।

सासू-माँ श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल, अपने भाई पण्डित गोवर्धन व्यास के यहाँ सिंहपुरी गयी हुई थी, हमेशा की तरह ही शाम के समय बड़े सदस्य तो घर पर होते ही नहीं हैं बल्कि बच्चे तक सेरियों (गलियों) में खेलते होते हैं। दुर्गा, ममेरे भाई रविशंकर की पुत्री कल्याणी के विवाह के बाद से लौटने पर प्रायः उदासी अनुभव करती होती। वह सोचती, शायद गोविन्द को लेकर ऐसा हो। बड़दा गोविन्द को अपने साथ ले ही गये होंगे, क्योंकि वह, जिजी और बड़दा के गाँव जाने के पहले ही चल दी थी। ममेरा-देवर विश्वनाथ व्यास लिवाने बड़नगर आया था, सो वह चली आयी। वैसे वह विशू [विश्वनाथ को यही कहकर पुकारा जाता था] को दो-चार बार पहले भी देख चुकी थी। खास बात तो कुछ नहीं लगी थी परन्तु अच्छा वह कभी नहीं लगा था। जो एकाध उड़ती-सी बात विशू के बारे में सुनी थी, उसके कारण वह उसके आने पर सदा दूर रहने की चेष्टा में ही रहती। सुना, वह ड्राइवरी सीख रहा था। दुर्गा ने न कभी उसके बारे में पति तक से जानना चाहा और न किसी दूसरे से खोद कर पूछा। वह जानती थी कि विशू अपनी बुआ-माँ, श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल का प्रिय

पात्र है। वह अधिकतर उन्हीं के पास आता-जाता है। घण्टों बतियाता रहता है। सासू-माँ उसको पता नहीं कौन-कौन सा काम कहती रहती जिसे वह इतने टूटे-टूटे रूप में सुनती होती कि उन सबको जोड़ने पर भी कोई पूरा चित्र, पूरा प्रभाव नहीं बन पाता था—बस, सब कुछ खण्डित-सा लगता। परन्तु वह खण्डित भी कोई सुखद-सा नहीं होता, लेकिन वह कह या कर ही क्या सकती थी? सच तो यह है कि उस स्थिति में दुर्गा ही क्यों, कोई भी क्या कर सकता है?

बड़नगर से उज्जैन के रास्ते वह बराबर बच्चों में व्यस्त रही थी ताकि विशू से कम बोलना पड़े। वैसे विशू ने कोई ऐसा आचरण नहीं किया जिससे दुर्गा को कुछ आपत्ति होती परन्तु व्यक्तित्व की भी एक गन्ध हुआ करती है—सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों ही। हमारा अवचेतन ऐसी दुर्गन्ध के प्रति प्रतिक्रिया करता रहता है। जिसका अवचेतन जितना संस्पर्शी होता है वह उसी रूप में प्रकम्पित होता है। वृक्षों में पीपल-पत्र सबसे अधिक सस्पर्शी होते हैं। यदि क्षीणान्त में भी हवा है तो पीपल-पत्र चुप नहीं रह सकते। वैसे ही सामने वाले के व्यक्तित्व में जरा-सी भी अप्रियता हो तो हमारा संस्पर्शी अवचेतन निश्चित ही प्रतिक्रिया करेगा। दुर्गा का अवचेतन रास्ते भर असुविधा अनुभव करता रहा परन्तु वह किसी प्रकार अपने को सहेजे-समेटे रही। विशू की ओर भूल से भी देख लेने पर लगता कि जैसे वह देख नहीं रहा है बल्कि दाँत पीस रहा है। उसके सामने जाने क्यों लगता कि वस्त्रों को और अधिक सटा लिया जाना चाहिए। वस्त्र ऐसे फैले नहीं पड़ने चाहिए। विशू की आवाज में जलेपन था एक ऐसा खरखरापन था जैसे वह बोलते समय गले से दो लकड़ियाँ बजाकर आवाज निकाल रहा है। वह रास्ते भर आश्चर्य करती रही थी कि जिस विशू को उसका पति बिल्कुल भी पसन्द नहीं करता है उसे कैसे लिवाने भेज दिया गया था।

अभी दो-चार बरस ही हुए होंगे इस उज्जैन-बड़नगर-रोड को बने। अभी मोटर या बस चलने का प्रश्न ही नहीं था। हाँ, मात्र एक-दो छोटी मोटरें कभी-कभी इस पर चलने लगी थी। उज्जैन के एक जीन वाले [रूई की फैक्ट्री को 'जीन' कहते हैं] बोहरा [मुसलमानों की एक शाखा जिसमें ज्यादातर गुजराती मुसलमान ही होते हैं] मुहम्मद भाई करीम भाई की एक छोटी फोर्ड इस रोड पर चलने लगी थी। विशू इसी गाड़ी को लेकर इस मार्ग पर आता-जाता था। शायद इसीलिए श्रीमती कृष्णादेवी [illegible] विशू से कह दिया था कि यदि दो-एक दिन में वह गाड़ी लेकर बड़नगर जाने [illegible] तो दुर्गा और बच्चों को लौटते में लेता आए। जब वह गाड़ी लेकर [illegible] खड़ा ही हो गया था तो वह क्या कहती? वह तो अच्छा यह था कि [illegible] सवारियाँ भी थी परन्तु तब भी, दुर्गा जब तक घर नहीं पहुँच [illegible] आश्वस्त नहीं हो सकी थी। लौटकर वह मन में बहुत देर तक [illegible]

को लेकर उलझी रही कि पति को बताए कि नही ? कुछ हो विशू, पति का ममेरा भाई ही तो है । वह भी अपने मन को बारम्बार समझाती रही कि नीची कलमों, उमेठी मूंछो, पट्टेदार बालो और ऊँची बालदार काली टोपी वाले विशू में इस खरखरे, रूखे, कठोर अवयवी व्यक्तित्व के उसे और क्या बुरा लगता है ? लेकिन वह देखता कैसे बाजारूपन से है न ?....हाँ यही बात तो वह पति से कहना चाहती है कि वह दुबारा कभी कही जाए तो विशू को लिवाने न भेजा जाए, तथा घर में, यह भी सूने घर में इस तरह उसका इक्के-दुक्के रूप में आना भी उसे ठीक नही लगता ।

शायद पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को भी अपनी माँ से सुनकर अच्छा नही लगा था। तभी तो वह सुनकर झल्ला उठा था । उस दिन वह सवेरे से अपने दो मित्रों के साथ कालियादह गोठ [पिकनिक] करने गया था । दिन में शायद त्र्यम्बक के जाने के बाद ही विशू आया था । शाम को दिया-बत्ती के समय जब त्र्यम्बक लौटकर आया तो श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल कुछ चिन्तित-सी बैठी हुई थी ।

— क्या बात है जिजी ! अँधेरे में यहाँ तुलसी-क्यारे पर क्यों बैठी हुई हो ?

— कुछ नही रे ।

— तबियत तो ठीक है ?

— मेरी तबियत को क्या हुआ ?

— ऐसे तुम कभी बैठती जो नही । बाबा अभी नही आए ?

— तेरे बाबा कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं इसका क्या मुझे पता रहता है ?

— तब क्या बात है ? चलो उठो ।

— आती हूँ, तू चल ऊपर ।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि माँ किसी चिन्ता में बैठी हुई हैं और वह अपनी चिन्ता बताना नही चाह रही है । त्र्यम्बक ऊपर चला गया । इसी बीच 'कल' बोली और बच्चों की आवाजें सुनायी दी । त्र्यम्बक को आश्चर्य तो अवश्य हुआ कि दुर्गा और बच्चे हठात कैसे आ गये ? इनको लिवाने कौन गया था ? वह ऊपर से ही झँझरी से नीचे देखने लगा । चौखण्डी नीचे गहरे में दिखायी दे रही थी । दुर्गा, माँ के चरण-स्पर्श कर रही थी । बच्चों ने 'दादी-माँ' को घेर लिया था । दरी में लिपटा बिस्तर और बक्सा लिये हुए विशू चौखण्डी में घुस रहा था । त्र्यम्बक का माथा ठनका कि—विशू ??....तो क्या विशू, दुर्गा को लिवाने गया था ? इसे किसने भेजा ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने देखा कि माँ आवाज दबाकर कह रही थी,

— बड़ी देर कर दी विशू ! कहाँ रह गये थे तुम लोग ?

तभी चार बरस की कुन्ती बोली,

— दादी-माँ ! मोटर का पहिया खराब हो गया था ।

तभी श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल बोली,

— अच्छा, अब सब लोग ऊपर चलो । ...मैं तो घबरा रही थी कि किसी से भी बिना पूछे-ताछे तुम्हें लिवा लाने को कह दिया था तो कही ये बाप-बेटे दोनों बिगड़ न

बैठे। मैं समझी तुम समय से आ जाओगे।

— बुआ-माँ! एक तो सड़क खराब, दूसरे भारकसी गाड़ियों के मारे रास्ता चलना मुश्किल, तीसरे पहिया यहाँ से दो मील पर आकर खराब हो गया।....सब ठीक से आ गये न?

विशू की आवाज सचमुच ही इतनी तेज, खरखरी थी कि घर में गूँजी पड रही थी।

— हाँ, अब तू जा विशू! दिन भर का थका होगा।

— मेरा क्या बुआ-माँ!....बच्चों की मुझे भी चिन्ता थी।

— हाँ बेटा! सो तो है ही। अच्छा, अब जा।

और विशू चला गया।

सच तो यह था कि रात होती देखकर श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल स्वयं परेशान हो रही थीं। रास्ते का कुछ ठीक नहीं। दूसरे चम्बल बीच में पड़ती है, कुछ भो लूटपाट हो सकती है। ब्याह-शादी में बहू-बच्चे गये हैं—गहने-कपड़े साथ हैं, वैसे विशू घर ही का है पर....पर क्या? और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लगा कि जिस विशू को सबसे अधिक शह वही दिये हुए है, स्वयं वह भी उसके प्रति आश्वस्त नहीं है। यद्यपि विशू को लेकर पति और पुत्र तक से वह उलझ जाती रही है। किसी को भी उसका घर में प्रायः आना अच्छा नहीं लगता है परन्तु श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ज्यादा कुछ कह देने पर रोने बैठ जाती है कि उनके एक ही एक भाई है और उसके भी एक ही एक लड़का है—तो क्या वह अपनी बुआ के घर भी न आए? जबकि वह भी जानती है कि उसके आने-जाने से ज्यादा उसके व्यक्तित्व से सब को आपत्ति है। पिता-पुत्र दोनो को वह नही सुहाता पर घर में कलह को बचाने के ख्याल से प्रायः तरह दे जाते रहे हैं। इसीलिए दुर्गा और बच्चों को आने में देर हो रही थी तो वह परेशान बैठी थी।

दुर्गा और बच्चे ऊपर पहुँच चुके थे। पति को झँझरी के पास नीचे चौखण्डी में देखते देख कर वह समझ गयी कि पति ने सब कुछ देख लिया है। अभी वह शायद कुछ कहती परन्तु तब तक बच्चे भी आ गये थे और सासू-माँ के आने का पूर्ण सम्भावना थी, सो वह अपने कमरे मे चली गयी। धूर्जटी, पचानन और चन्द्रशेखर तो अपनी माँ के साथ ही भीतर चले गये परन्तु कुन्ती अपने बाबा के पास ही रह गयी। त्र्यम्बक के मुख में जो गहरा तनाव आ गया था वह पुत्री को देखकर कुछ कम हुआ। उसे गोदी में लेते हुए बोला,

— बडनगर में खूब लड्डू उड़ाये?

— तुम भी बाबा एक ही हो।

— क्यों?

— लड्डू उडाये जाते हैं कि खाये जाते हैं?

और पुत्री की निर्दोष हँसती आँखों को देखकर त्र्यम्बक ने कुन्ती को चूम लिया। तभी श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ऊपर पहुँची। आते ही बोलीं,

— जा तो कुन्ती! पानी की घंटी (एक प्रकार की लुटिया) भर ला।

— पानी पिएँगी दादी-माँ !

— हाँ बेटा !

— अच्छा ! !

और कुन्ती अपने बाबा की गोदी से उतर कर पानी लेने चली गयी। कुन्ती के जाते ही त्र्यम्बक माँ से बोला,

— बिशू इन लोगों को लेने गया था ?

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल समझ रही थी कि यह बात किसी को अच्छी नही लगेगी परन्तु उन्हे इसमें कोई दोष नजर नही आ रहा था, दूसरे बिशू बिचारा तो सबको मुफ्त में ही लाया।

— हाँ, आज वह बड़नगर गाड़ी लेकर जा रहा था, तो मैंने कह दिया—क्यों, क्या हुआ ?

— जिजी ! तुम बिना कहे क्यों नहीं कुछ समझना चाहतीं ?

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल उन महिलाओं में से थीं जो टोक दिये जाने पर तो कभी भी नही झुकती थी। बोली,

— मैं समझी नही।

— क्यो झूठ बोल रही हो जिजी !

— हाँ बेटा ! अब तो मैं झूठी भी हूँ। कल से और भी कुछ हो जाऊँगी। ....जिसके लिए जिनगी खपाओ वही यह सब न कहेगा तो कौन कहने आएगा।

— देखो जिजी ! बात मत बढाओ। मैं सिर्फ यही कह रहा हूँ कि बिशू को ज्यादा सिर पर मत बैठाओ, वर्ना पछताओगी।

— क्या पछताऊँगी ? बता तो जरा ?....एक तो वह घर का लडका, दूसरे बहू-बच्चों को गाडी से लाया और तीसरे तुम लोगों की एक पाई खर्च नहीं होने दी। यह सब तो पानी में गया और....

— इन लोगों के आने-जाने में खर्च ही कितना हो जाता ?....

— बेटा ! अभी खर्च तुम क्या जानो ! जब कमाओगे तब पता चलेगा। माँ-बाप सिर पर हैं न—इसलिए धाम की तेजी पता नही है।

— और जिजी ! यह बात मैं साफ कर देना चाहता हूँ कि तुम्हारे लिए बिशू घर का लडका है मेरे लिए नही।

— तेरे मामा का लडका नहीं है ?

— मामा जी की बात अलग है। जरा किसी दिन मामा जी से भी इसके बारे में बात कर लेना। मैं सब जानता हूँ। मेरा मुँह न खुलवाओ।

— बडा मुँह खोलने वाला आया है। जब देखो बिशू को लेकर बाप तो बाप, बेटा भी आँख दिखाता है। ....क्या वह तुम लोगों से कुछ भीख माँगता है ?

— वह क्यों भीख माँगे। उसकी बुआ-माँ बनी रहें, सम्भव है किसी दिन हम लोग ही ....और वाक्य पूरा हो इसके पूर्व ही श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने सिर पीट-पीट

कर रोना शुरू कर दिया। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अभी थोड़ी देर पूर्व ही बाहर से आये थे परन्तु समझ गये कि इस समय बाहर जाना ही श्रेयस्कर है।

पति को गया देखकर कपड़े बदल कर दुर्गा उनके पास आ गयी और बोली,

— चलो, सासू-माँ!

— मैं सब समझती हूँ। आते ही तूने यह आग लगायी है। ... कभी इस त्र्यम्बक ने अपनी माँ के सामने जवाब नहीं दिया और आज यह लड़का मुझे क्या-क्या कह गया।

— अच्छा, अब उठिए।

— चल हट।

और बड़ी जोर से दुर्गा को उन्होंने धक्का दिया। गनीमत हुई कि वह दीवाल से टकरा कर रह गयी। तब तक बच्चे भी आ गये। तीनों बड़े बच्चे तो बाहर जा चुके थे, केवल कुन्ती ही खड़े-खड़े देखती रही। उन्होंने फिर उसी प्रकार रोना शुरू कर दिया था। इस बीच पण्डित महादेव शुक्ल नीचे आ गये थे। उनकी आवाज सुनायी दी।

— क्या बात है! यह कैसा रोना-धोना मचा है?

उस दिन की कहा-सुनी के बाद से बिशू या तो आया ही नहीं होगा या आया भी होगा तो अपनी बुआ-माँ से मिलकर बाला-बाला लौट गया होगा। उस दिन पण्डित महादेव शुक्ल भी श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल पर बहुत बिगड़े थे कि बिशू जैसे अविश्वसनीय आदमी को किससे पूछ कर उन्होंने बहू-बच्चों को लिवा लाने के लिए कहा था? गनीमत यही हुई थी कि इसमें दुर्गा का कोई हाथ नहीं था इसलिए श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल अपने पति और बेटे पर ही फुनफुना कर रह गयी। हाँ, इस घटना के बाद एक तो बिशू ऊपर नहीं आने लगा था, दूसरे नाश्ते की तबक [तश्तरी] लेकर दुर्गा को बिशू के सामने नहीं जाना पड़ता। पहले इस तरह के मौकों पर प्रायः वह तबक लेते हुए दुर्गा की अँगुलियाँ जानबूझ कर ऐसे स्पर्श करता जैसे अनायास ही हो गया था। दुर्गा को समस्त पी जाने वाली दृष्टि से देखने लगता। दुर्गा को लगता कि जैसे एक निर्लज्ज दृष्टि उसकी देह पर से सुई की एक रेखा सी उसे खड़ा-खड़ा चीरती हुई गुजर रही है। वह आद्यन्त सिहर उठती। और ऐसे अवसरों पर जब बिशू कहता होता कि—'हमारी एक ही तो भाभी हैं और वह भी नाराज रहती हैं।" —तो उसे सदा लगता कि शायद दुःशासन ने इसी निर्लज्ज दृष्टि से द्रौपदी को भरी सभा में देखा होगा। वहीं पास में बैठी श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल या तो कतरनों की 'वन्दनवार' बना रही होतीं या कुछ फटा-पुराना सी रही होतीं, बिशू की इस बात पर दाँतों से, तागा तोड़ते हुए कहने लगतीं—"अरे इन बहुओं की नाराजी की भली चलायी तूने रे, घर लड़कों का होता है कि इन परायी लड़कियों का?" —और वह यह कहते-कहते घुटनों पर हाथों से बल

देकर 'हे भगवान' कहते हुए उठ जातीं। दुर्गा को ही नहीं, किसी भी स्त्री को हर बात में हँसने वाले, गिलगिले या मिसिर-मिसिर हँसने वाले से बड़ी घिन छूटती है। या तो ऐसा व्यक्ति भेड़िया लगता है या कीड़े जैसा गिलगिला—छिः !! ऐसे व्यक्ति की दुर्गा को ही नहीं, स्त्री मात्र को न केवल दुर्गन्ध ही आती है बल्कि चौकन्ना बनाती है कि यह व्यक्ति नहीं, हिंस्र पशु है।

उस दिन के बाद से विशू न केवल कम ही आया बल्कि भूल से भी यदि सामना हो गया होगा तो उसने पहचानने की भी प्रतीति नहीं दी होगी। उसके इस व्यवहार से दुर्गा को जहाँ एक ओर मुक्ति जैसी लगी वहाँ उसके तथा सासू-माँ के अत्यन्त ठण्डे व्यवहार में एक ऐसी अविश्वसनीयता की गन्ध अनुभव होती कि वह कभी भी आश्वस्त नहीं हो पाती। आश्वस्त क्या, बल्कि कहना चाहिए कि क्षीण मकड़ी के जाले-सी दुरभि का आभास लगता। परन्तु वह इस प्रकार की काल्पनिक दुरभि के बारे में क्या बता सकती थी ? और किसे ? क्या अपने पति को ? पति को क्या बताती ? और प्रमाण-हीन इस काल्पनिक दुरभि को पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल क्या समझते ? पुरुष और स्त्री की घ्राण शक्ति में मौलिक अन्तर होता है। स्त्री जीवन भर किसी भी दिशा में व्यक्ति से आक्रमण की सम्भावना से ग्रसित रहती है इसलिए प्रत्येक पग धरते हुए, या सामने वाले से बोलते हुए वह कभी निःशंक नहीं होती, जबकि पुरुष के लिए पहाड़ की ओट में तिल देखना तो सम्भव है परन्तु तिल की ओट में पहाड़ देखने की उसकी प्रकृति ही नहीं होती। यह प्रकृति, स्त्री की ही होती है।

दुर्गा ने देखा और मन ही मन समझा कि अब विशू का स्वागत सासू-माँ स्वयं करती है। वहीं नीचे की बैठक में वे दोनों बुआ-भतीजे न जाने क्या-क्या बातें करते रहते हैं। बच्चे वैसे तो कभी जाते ही नहीं और जाने पर भगा दिये जाते। चूल्हे के पास बैठे हुए उसे लगता कि जैसे कोई दबे पाँव चल रहा है और वह रोटियाँ बेलते-सेंकते या छौंक लगाते चौंक पड़ती। रात में जब कभी उसके मुख पर लिखी घबराहट को उसका पति पढ़ पाता और कारण जानने के लिए आग्रह करता तो वह मात्र यही कह पाती —"कुछ नहीं, बस ऐसे ही घबराहट लगती है।" पति उसे आश्वस्त करता होता परन्तु क्या वह आश्वस्त हो पाती ? अपने भीतर कैसी थरथराहट बनी ही रहती। थोड़ी ही देर में पति की नाक बजने लगती जबकि वह, छत की काली लकड़ी के पार देखते हुए न जाने कहाँ होती। वह पति को कैसे बताए कि स्त्री को माना कि बाहर के गहरे सागर में नहीं तैरना पड़ता है परन्तु घर-परिवार के ही कैसे पतले पानी पर चलना होता है। स्त्री का सारा जीवन कुल-कुटुम्ब, सम्बन्ध, रिश्तों की एक शर्त से दूसरे शर्त की अनखुली गाँठों वाली अग्नियात्रा है। स्त्री को कभी खुला आकाश, खुला क्षितिज और खुला जीवन दिया ही नहीं जाता—भले ही अलंकार और साड़ियाँ कितनी ही दे दी जाएँ।

सासू-माँ अपने भाई पण्डित गोवर्धन व्यास के यहाँ सिंहपुरी गयी हुई थी। आज सवेरे ही ससुर पण्डित महादेव शुक्ल देवास महाराज के यहाँ राजकुल में किसी उत्तर-

कार्य के सिलसिले में गये थे। इन्दौर से आये कुछ महमानों को लेकर पति, पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल भैरोगढ़ गये हुए थे। धरधरी बखत होने आयी थी। पूरे घर की चिमनियाँ लालटेन, कन्दील, समइयाँ साफ करके अब वह उन्हे जलाने ही जा रही थी। इस तरह के घरों में अँधेरा न केवल जल्दी ही घिरता है बल्कि काफी सघन घिरता है। पूरे दिन कभी ऐसी उलझन दुर्गा को अकेले होने पर भी नही होती जैसे कि अँधेरे में डूबे, सूने घर में धरधरी वखत होती है। पर घर, घर की दीवालें, सारी मंजिलें कैसे सिर के ऊपर आ जाती है न ? इसलिए वह प्रायः जल्दी ही दिया-बत्ती कर लेती है और जब घर-भर में दिये जला देती है तब बड़ी तुष्टि लगती है। चिमनियों का प्रकाश, अधिकांश तो दीवालों में ही भिद उठता है पर जो भी रहा-सहा होता वह कितना पतला-पतला सा फर्श पर बिछल उठता। प्रकाश के उस पतले जल में चलना कैसा अच्छा लगता वर्ना तो अँधेरे में पैर धँसा पड़ता है। इसीलिए धीरे-धीरे पति से कह-सुन कर घर में जहाँ चिमनियाँ पहले नही जलती थी वहाँ भी अब प्रकाश की व्यवस्था उसने कर ली थी ताकि यदि प्रकाश पूरा न हो तो भी अँधकार तो नही ही हो।

पूरा तिमंजला घर सिर ऊपर आ रहा था। राख और कपड़ा सहेजते हुए जब उसे आगपेटी [दियासलाई] की याद आयी तो देखा कि वह तो ऊपर चूल्हे के पास ही छूट गयी। और उसे हँसी आ गयी कि सासू-माँ को उससे कितनी शिकायत है कि वह एक आगपेटी महीने भर भी नही चलाती। जब वह इस घर में बहू बन कर आयी थीं तब एक आगपेटी पूरे बरस चलानी पड़ती थी। चूल्हा भी कही आगपेटी से जलाया जाता है ? और कवेलू [खपरैल] के टुकड़े पर पड़ौस से वस्ते [आग] माँग लाते थे। आगपेटी सासू जी के कब्जे में रहती थी जिसे वह कपड़े में लपेट कर अपने भण्डारे में रखती थी। बहुओं को ऐसे आगपेटी देते रहें तो फिर घर-गृहस्थी चल चुकी। और अब यह देवी जी आयी है कि हर महीने नयी आगपेटी इन्हें चाहिए। महारानी जी! मालूम भी है कि एक पाई में एक आगपेटी आती है ? खरीदने जाओगी तो आटे-दाल का भाव मालूम होगा। तुम्हें क्या लगा—काड़ी निकाली और घीसी, तो फुर्रर से लौ निकल आयी। लकड़ी जली तो ठीक, नही जली तो दूसरी काड़ी घीस डाली। कमाने वाले से पूछो कि कैसे कमाई होती है।''''और दुर्गा को अपनी सास की इन बातों पर कभी-कभी हँसी आ जाती कि जब वस्ते [आग] लेने न आप जाएँगी, न लेने जाने देंगी तो फिर चूल्हा कैसे जले ? पर किसी दूसरी बहू ने कभी बहस की, जो वही करती ?

आगपेटी ऊपर ही रह गयी इस विचार से ही उसे घबराहट होने लगी। पूरे घर के अँधेरे को पार कर ऊपर जाना और वापस आना—यह सोचकर ही भीतर तक उसे थरथराहट अनुभव होने लगी, परन्तु किया ही क्या जा सकता था ? वह जिस तेजी से ऊपर गयी और उस अँधेरे में ही पूरा घर पार किया, सीढ़ियाँ चढ़ी और उसके बाद चूल्हे के ऊपर वाले आले [ताक] में से आगपेटी उसने जिस प्रकार काँपती उठायी उससे लग रहा था कि भय उसकी अँगुलियों के माध्यम से निचुड़ा . यद्यपि ऐसा पहले भी हुआ है। पहले भी आगपेटी भूली है परन्तु वह .

बल्कि पूरी देह से हाँप रही थी। अभी वह खड़ाऊँ उठाकर उठी ही थी कि विशु ने उस पर झपट्टा मारा। उसे झपट्टे के लिए अपनी ओर आते देखा और दुर्गा ने अपने को पूरा हाथ बनाते हुए खड़ाऊँ उस पर फेंकी और खड़ाऊँ ने उसका सिर फोड़ दिया। एक तो हाथ पहले ही पिरा रहा था, उस पर सिर फट जाने से खून बहने लगा। वह शायद फिर आक्रमण करता परन्तु उसने देखा कि दुर्गा के हाथ में एक और खड़ाऊँ है। अच्छा यही था कि वह यहाँ से जल्द से जल्द निकल जाए और वह दोनों हाथों से सिर का घाव दबाये गुर्राते हुए बोला,

— अच्छा साली, आज बच गयी तो क्या हुआ, कहाँ जाती है ?

और बिशु चौखण्डी से चलकर दरवाजा खोलकर बाहर निकल गया। दुर्गा ने दरवाजा खोलना और बन्द करना सुना कि नही, नही पता, परन्तु बिशु के जाते ही, वह जो पूरे घर में फैली हुई थी अब लौटने लगी। अपने में लौटते ही खड़ाऊँ वाला हाथ झूल आया और खड़ाऊँ छूट कर आवाज करते हुए चौखण्डी के पत्थरों पर गिरी। खड़ाऊँ क्या गिरी, वह स्वयं गिर पड़ी। अच्छा यही हुआ कि उसके हाथ मे चौखण्डी का एक खम्भा था इस कारण वह गिरने पर भी ऐसे नही गिरी कि सिर एकदम ही फट जाए। सिर मे साघातिक चोट आ सकती थी परन्तु वह खम्भे से सटी-सटी गिरी थी। चूँकि सिर चौखण्डी की पथरीली किनार से टकराया था। उसका एक पत्थर सिर में थोड़ा घुस गया। खून निकल आया था। वह इतनी भयभीत थी कि वह जड़ लग रही थी। हाथों की चूड़ियाँ तडक कर फैल आयी थी। चूडियो के तडकने के कारण उसकी कलाइयाँ कट गयी थीं। वह खम्भे से सटी-सटी किस प्रकार गिरी और पत्थर से टकरायी—इस सबकी उसे कोई प्रतीति नही हुई। उसके केश बिखर आये थे। काँचली [चोली] के बन्द, छीना-झपटी में टूट गये थे इसलिए काँचली नीचे लटक आयी थी। फटी आँखों में जैसे भय पूरी तरह समाया हुआ था। पता नही कितनी देर से उसने पलकें तक नही झपकायी थीं। सब कुछ इतना हठात, अप्रत्याशित एवं आकस्मिक के साथ-साथ अविश्वसनीय तरीके से घटित हुआ था कि उसने जो भी, जैसा भी सामना बिशु के सामने किया उस समय वह दुर्गा नही बल्कि अव्यक्ति हो गयी थी। यदि दुर्गा, व्यक्ति बनी रहती तो विशू निश्चय ही अपनी योजना में सफल हो जाता। अव्यक्ति बनकर वह मात्र माध्यम बन गयी। कोई भी किसी के व्यक्ति को तो पराजित कर सकता है परन्तु माध्यम को नही। लेकिन विशू के जाते ही वह फिर क्रमशः अव्यक्ति से व्यक्ति बनने की प्रक्रिया में लौटी ? व्यक्ति रूप में वह दुर्गा थी जो अनेक प्रकार के सम्बन्धो से जुडी है, बँधी है। माध्यम की कोई देह नही होती, संज्ञा नही होती परन्तु व्यक्ति की तो सज्ञा, देह सभी कुछ होती है।

जैसे ही वह व्यक्ति बनी उसका भय भी लौट आया, और वह एकदम चीख पड़ी। और चीखने के साथ ही उसका हाथ अपने सिर पर गया तो हाथों में खून लग गया। जिस समय सकट सामने था उस समय वह प्रति-संकट बन गयी थी। आक्रमणकारी के लिए प्रति-आक्रमणकारी बन गयी थी परन्तु अकेले होते ही वह फिर अबला, बहू, दुर्गा

ग्रौर जाने क्या-क्या बन गयी । वह एक ऐसी विवशता अनुभव करने लगी कि वह अपने को चीरकर फेंक दे''''वह ग्रौर कुछ भले ही हो जाए पर दुर्गा नहीं रहे । यह स्त्री-देह वह कौवो-चीलो के सामने मांस के लोथड़े सी फेंक देना चाहने लगी । इसी का तो सारा बन्धन है न ? यही तुम प्राप्त करना चाहते हो न ?—मेरे लिए तो यह मात्र मांस-पिण्ड है ।''''ग्रौर वह ग्रन्तर से चीखी—"ग्रो, माँ !!"
तभी दरवाजे की 'कल' सुनायी दी । एक क्षण को लगा कि क्या विशू फिर लौट ग्राया है ? उससे कितनी बड़ी भूल हुई कि जब वह गया तो उसने दौड़कर दरवाजा भीतर से नही बन्द कर लिया ?''''नहीं, वह नही हो सकता है''''शायद बच्चे होंगे । लेकिन मान लो बिशू ही हो, तो क्या ? ग्रौर वह फिर ग्रभ्यक्ति, माध्यम बनने के लिए ग्रवचेतन में ही तत्पर हो उठी ।
तभी सुनायी दिया,
— ग्ररे, घर में कोई नही है क्या ?''''बहू !
कौन ? यह ग्रावाज ?''''ग्ररे, यह तो मौसी-सास, श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय हैं । ग्रौर उसे बड़ी जोरो का सही तरह से रोना ग्राया । उस ग्रँधेरे में रोना सुनकर मौसी-सास चौकी,
— कौन रो रहा है ? बहू !
ग्रौर उन्होंने देखा कि बहू चौखण्डी में गिरी पड़ी है । दिया-बत्ती फैला पड़ा था । उनकी समझ में कुछ नहीं ग्राया । उन्होने लगभग लपक कर बहू को सहारा देते हुए पूछा,
— क्या बात है बहू ? गिर पडीं क्या ? दिया-बत्ती सब फैला पड़ा है ।
ग्रौर मौसी-सास के कन्धे पर सिर रखकर दुर्गा ने जिस तरह फूट-फूट कर रोना शुरू किया उसे देखकर उन्हें लगा कि बहू गिरी नहीं है बल्कि स्थिति कुछ दूसरी ही है ।''''
तो फिर ? किसी ने मारा ? किसने ? भाभी भी नही है शायद । तो क्या त्र्यम्बक ने ? परन्तु त्र्यम्बक तो दुर्गा को बहुत मानता है, वह भला क्यों मारेगा ?
मौसी-सास ने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए पूछा,
— दीदी नहीं हैं क्या ?
दुर्गा की हिचकियाँ बँधी थी । दुर्गा उनके सीने में मुँह रगड़-रगड़ कर जिस तरह रो रही थी उस तरह कोई बेटी ही माँ के सीने में मुँह रगड कर रो सकती थी । उन्होंने उसे सिर से थाम सीने से सटा लिया । पहली बार उन्हें लगा कि दुर्गा जैसे बहू नहीं बेटी है ।
— क्या बात है बेटा ! किसने मारा तुम्हे ?
शायद 'बेटा' सम्बोधन सुनकर दुर्गा को माँ की याद ग्रा गयी ग्रौर वह ग्रौर भी विह्वल हो उठी ।
— क्या हुग्रा ? कुछ बता तो''''ग्ररे तेरे सिर से तो खून बह रहा है ?
ग्रौर उन्होंने ग्रपने हाथों में चिपचिपापन लगा ।
— चल, ऊपर चल ।''''

— मौसी-माँ ! ये लोग मेरे पीछे क्यों पड़े हैं ? ...मैंने किसी का क्या बिगाड़ा ?
दोनों हथेलियों में उसका मुँह लेते हुए वह बोली,
— कौन तुम्हारे पीछे पड़ा है ?....क्या दीदी ने कुछ कहा तुम्हें ?
— नहीं, नहीं, मौसी-माँ ! मैं कुएँ में डूब मरूँगी, आग लगा लूँगी... पर अब जीवित नहीं रहूँगी ।

और उस अँधेरे में भी श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को दुर्गा का मुख लगभग डरा हुआ परन्तु विकराल लगा । उन्हें लग गया कि कुछ गम्भीर घटित हुआ है । यह समझते भी देर नहीं लगी कि दीदी घर में नहीं हैं । वह दुर्गा को सहारा देकर ऊपर ले जाने को हुईं तब तक अँधेरा काफी सघन हो गया था ।

— रुको, मैं दिया तो जला दूँ ।....आगपेटी कहाँ है ?

आकस्मिकता के आघात का पहला दौर मौसी-सास के आ जाने से तथा उनसे सटकर थोड़ा रो लेने से कम हो गया था । परन्तु अब तक तो वह पूरी तरह स्वस्थ नहीं थी परन्तु जैसे-जैसे स्वतः हो रही थी उसे वैसे ही वैसे शक्तिहीनता लग रही थी । वह पैरों की राह जैसे सुई पड़ रही थी । आगपेटी की बात सुनकर वह मौसी-सास से अलग हुई और लगभग टूटी देह और खण्डित मनःस्थिति के साथ सीढ़ियों के पास आगपेटी टटोलने लगी । आगपेटी मिली परन्तु उसे खोलकर काड़ी निकाल कर जलाने की भी शक्ति नहीं रह गयी थी । श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय सब समझ रही थीं इसलिए उन्होंने उससे आगपेटी ले ली और झटपट दो-तीन चिमनी, लैम्प जलाकर घर में प्रकाश किया ।

लगा कि घर ने जैसे आँखें खोलीं । तुलसी-क्यारे पर एक दिया रखकर एक हाथ में लालटेन ले दूसरे से दुर्गा को सहारा देते हुए वह उसे ऊपर लिवा ले चलीं । दुर्गा को विश्राम की आवश्यकता थी । कहीं उन्हें यह भी शक था कि यह गर्भवती तो नहीं है ? नहीं, उनका यह संशय निर्मूल था । उसे बिस्तरे पर ले जाकर लिटा दिया और वह जल्दी-जल्दी दिया-बत्ती कर अपनी समझ से बैठक, सीढ़ियों आदि पर रख कर दुर्गा के पास लौट आयीं । दिये के प्रकाश में दुर्गा को देखा तो कनपटी के पास चोट थी । उन्होंने वह जगह धो-पोंछकर जल्दी से उस पर मकड़ी का सफेद जाला लगा दिया ।

दुर्गा इस बीच धाराधर रोये चली जा रही थी । पास में बैठकर उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बोलीं,

— अच्छा, अब बताओ क्या बात थी ?

वह क्या कहे ? कितना कहे ? कैसे कहे ? क्रोध, विवशता, आक्रोश, अपमान न जाने क्या-क्या तो लग रहा था । जो हुआ, उसे क्या वह किसी से कह सकती है ? और यदि नहीं बताए तो क्या इतनी बड़ी बात छुप सकती है ? बाद में लोगों को पता चलेगा तो उस पर क्या-क्या लाछन और कैसी-कैसी टीका-टिप्पणियाँ नहीं होंगी । क्या दुर्गा को निर्दोष माना जाएगा ?....लेकिन इस विशू को कैसे मालूम हुआ कि आज घर में इस समय कोई नहीं है ?....क्या सासू-माँ....? सासू-माँ क्या ? क्या दुर्गा अपने मन का यह

शक किसी पर भी व्यक्त कर सकती है ? क्या उसकी जीभ नहीं काट ली जाएगी। यदि वह अपने शक को किसी पर भी....लेकिन, यदि सासू-माँ का इसमें हाथ है, तो वह दुर्गा से क्या चाहती है ? ...क्या पहली बहू को भी इसी प्रकार....?

और अपने भीतर हाहाकार भर उठा।

ऐसा ही होता है। पहले घटना घटित होती है। इसके बाद वह घटित घटना देह और इन्द्रियों का भोग तथा यन्त्रणा बनती है और सबसे अन्त में विचार। जिस समय घटना घटित होती है उस समय व्यक्ति केवल उसका सामना करता होता है। उस समय वह स्वतः नहीं होता है—अव्यक्ति होता है, इसीलिए किसी भी प्रकार की भावावस्था भी नहीं होती। भावावस्था के लिए व्यक्ति होना आवश्यक होता है। यह भावावस्था बाद की स्थिति है। इस स्थिति में व्यक्ति उस घटना के प्रतिफल को केवल देह और कुछ अंशों में भावना के स्तर पर भोगने लगता है। भावावेश में विचार सम्भव नहीं। जब ये दोनों स्थितियाँ समाप्त हो जाती हैं तब उस घटना का घटित होना तथा स्वयं के साथ उसका सब प्रकार का सम्बन्ध, विचार के स्तर पर कार्य करने लगता है। दुर्गा, घटित और भोगने दोनों की स्थिति भोग चुकी थी। अब विचारों के द्वारा कार्य-कारण एवं प्रभाव और उसकी व्यापक परिणति के विषय में, विचार के स्तर पर भोगने की मनःस्थिति में वह आ रही थी। सामान्य-जनों के लिए तो प्रायः देह से तथा थोड़ा-बहुत भाव के स्तर पर ही भोगना समाप्त हो जाया करता है। इसीलिए अधिकांश को वैचारिक स्तर पर सालता भी नहीं है। साधारण-जन तीव्र प्रतिक्रिया तो कर सकता है परन्तु तीव्र प्रतिक्रिया, विचार नहीं होती। विचार, संस्पर्शी का लक्षण होता है। संस्पर्शी व्यक्ति भी सामान्य-जनों की ही भाँति देह से भोगता है, बहुत-कुछ इन्द्रियगत भोगना भी सामान्य ही होता है परन्तु वैचारिक स्तर पर भोगते समय वह नितान्त एकाकी हो जाता है। घटना, चाहे कितनी ही स्थूल हो या सूक्ष्म, पत्थर ही होती है। हमारे व्यक्तित्व के पोखर-जल में छपाक से गिरती है। प्रशान्त-जल इस हठात की छपाक के साथ ही फट जाता है। पत्थर के अनुपात में जल, व्यतिपात उत्पन्न करता है। ऐसी छपाक होती तो क्षणान्त में ही है परन्तु भीतर उतरते हुए वह पत्थर अन्तर के जल को दबाता ही जाता है, जबकि ऊपर सब सामान्य हो जाता है। उस छपाक के साथ ही उस व्यतिपात के कारण हमारे जल में कम्पन, प्रतिकम्पन और प्रतिकम्पनों की प्रति-प्रतिकम्पनें उठ-उठकर हमारे व्यक्तित्व के सम्पूर्ण जल में दूर-दूर तक, देर-देर तक प्रतिक्रिया करती रहती हैं। ऊपर की यह प्रक्रिया भीतर गये उस घटना के पत्थर के के कारण हमारे सम्पूर्ण स्वत्व को ही खँगाल डालती है। अपनी प्रशान्तता पुनः प्राप्त करने में पोखर पर क्या नहीं बीत जाता है ? हम सब ऐसे ही पोखर हैं। हत्या, बलात्कार जैसे भारी पत्थर का व्यतिपात और किसी का घूर कर देख भर लेना भी वैसी ही छपाकता हमारे जल में उत्पन्न कर सकता है कि हमारी सारी प्रशान्तता छिन्न-भिन्न हो सकती है। यह अन्तर संस्पर्शी होने पर महत्वपूर्ण हो जाता है।

दुर्गा के पोखर में भी घटना का पत्थर नीचे बैठता आ रहा था परन्तु तदनुरूप

में वहाँ-वहाँ से व्यतिपात की कम्पनें, प्रतिकम्पनें अन्दर के जल को आलोड़ती ऊपर के जल को ठेल रही थी । यदि विशू वाली यह घटना मात्र संयोग होती तो घटित होकर समाप्त मानी जा सकती थी इसलिए कि ऊपर से वह समाप्त लगने पर भी समाप्त नहीं लग रही थी । ऐसा भी होता है कि ऊपर से देखने पर तो कई बार समाप्त जैसा लगता है, उस समय वह चेतना के स्तर पर शेष हुई रहती है । परन्तु सच तो यह है कि अवचेतन या अन्तश्चेतन में कभी कोई चीज समाप्त नहीं होती । अवचेतन तो सनातन प्रवाह है । अवधि, चेतना का लक्षण या स्तर है । अवचेतन तो शायद ऐसा सनातन प्रवाह है कि वह अनेक बार जीवन और मृत्यु की सीमा से भी परे होता है । इसलिए अवचेतन या अन्तश्चेतन का यह दबाव कभी-कभी हमारे प्रशान्त दिख रहे चेतना के स्तर या जल को रह-रहकर प्रकम्पित करता है और उस समय हम नहीं समझ पाते हैं कि हम क्यों उदास हो उठे हैं ? या क्यों बेचैनी अनुभव कर रहे हैं ? क्योंकि प्रत्यक्षतः तो कोई भी कारण दूर-दूर तक नहीं हुआ रहता या दिखलायी देता है । सच तो यह है कि दृश्यमान जगत, सृष्टि, क्रिया आदि तो केवल एक प्रतिशत ही है । अदृश्यमान जगत इतना विराट, विशाल तथा सूक्ष्मरूप से नियन्त्रात्मक होता है कि उसकी प्रतीति सामान्य जन को प्रायः नहीं होती । अधिकांश के लिए इस दृश्यमान जगत का व्यावहारिक फैलाव ही इतना होता है कि यही उसे अगम, सर्वस्व आदि लगता रहता है । जबकि मानवीय प्रकृति, विचार, सृष्टि तथा परासृष्टि सब कुछ उस अदृश्यमान शक्ति, प्रकृति या स्वभाव [जो कि विश्वभाव है] से ही परिचालित होते हैं । सम्प्रेषित करने के लिए इसी को लीला, रहस्य आदि कह दिया जाता है ।

दुर्गा, बारम्बार अपने व्यक्तित्व के पोखर-जल में तिर-उतरा रही थी । मौसी-सास जिस प्रकार पूछ रही थी उसमें दुर्गा भला क्या कह सकती थी ? क्या सब कुछ घटित कहा जा सकता है ? सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि जो घटित होता है, क्या वह भाषा में घटित होता है ? क्रिया की कोई भाषा नहीं होती । कौन भाषा ऐसी या इतनी समर्थ है जो घटना को यथातथ्य रूप में दूसरे तक पहुँचा सकती है ? भाषा एक सामाजिक अभिव्यक्ति का माध्यम है जब कि घटना, वैयक्तिक, सम्पन्न-क्रिया है । प्रत्येक मनुष्य के पास सामान्य मानुषी-देह होने पर भी, कुछ होता है जो उस देह को शेष से पृथक पहचान देता है—यह व्यक्तिगत-देह हुई । परन्तु क्या भाषा को इतना व्यक्तिगत बनाया जा सकता है ? नहीं, ऐसा बहुत सम्भव नहीं है । हाँ, केवल यही कहा जा सकता है, परन्तु वह भी कैसे, कि जिस समय दुर्गा आगपेटी लेकर सीढ़ियों से उतर रही थी तब उसे न जाने कैसा लग रहा था कि जैसे किसी अन्धे कुएँ में घड़ा डाला जा रहा हो । अभी अन्तिम सीढ़ी पर पहुँची ही थी कि बाँये हाथ से वह छाया, चिमगादड़ की भाँति झपटी । उसे यह पहचानने में एक क्षण की भी देरी नहीं लगी कि यह छाया, आक्रमणकर्ता कोई और नहीं—विशू ही है । मनुष्य के मुख पर उसके अन्तर में अव्यक्त छुपा बैठा पशु लिखा हुआ होता है । उस दिन बड़नगर से आते हुए रास्ते भर, वह मोटर चलाते विशू को पीठ की ओर से देखते रहने पर भी वह उसकी पीठ

पढ पा रही थी कि यह क्या सोच रहा है।....क्या ? यह तो वह नही समझ पा रही थी कि यह क्या सोच रहा है परन्तु पूरे समय अप्रियता लगती रही। यह तो दुर्गा तथा बच्चों का सौभाग्य था कि उस दिन कुछ भली सवारियाँ थीं। मान लो कोई दूसरी सवारी न होती या दूसरे प्रकार की सवारियाँ होतीं....तो ?....मान लो चम्बल के किनारे या किसी भी एकान्त मे गाड़ी खड़ी करके....कुछ भी सम्भव था। जब मनुष्य पशु हो जाता है तब पशुता भी त्राहि-त्राहि कर उठती है।....कुछ भी वह सोच-कर सकता था।

विवाह के थोड़े दिनों बाद ही से उसे विशू का इतना आना-जाना और बराबर उसके चारो ओर मँडराते रहना नही सुहाता था। किसी न किसी बहाने से देह-स्पर्श का मौका ढूंढना—उसे तब कैसी उलझन होती। परन्तु वह क्या करती, सम्बन्ध ही ऐसा था। किसी से भी क्या कहती ? पानी माँगने पर यदि अँगुली छू ही गयी तो क्या कहर बरपा हो गया ? लेकिन वह कैसे कहे कि जलाने के लिए मात्र एक स्फुलिंग ही काफ़ी होता है। स्पर्श का यह उतना प्रश्न नहीं था, जितना विशू की भावना का था। यह सब तो बहाना था। परन्तु इस मानसिकता को एक बहू, और वह भी इतने निकट के देवर के बारे में, और वह भी आरम्भिक दिनों में कैसे और किससे कह सकती थी ? दुर्गा को हमेशा ऐसा लगता कि वह देखता नही है बल्कि जैसे चीरा लगा रहा हो। पर वह विवश थी क्योंकि सासू-माँ का वह लाडला भतीजा था। विशू के साथ घर में अकेले रहने पर उसे सदा घबराहट हुई है। धरमशाला से भोजन के बाद एकाधिक बार विशू ने उसे रास्ते की भीड़ में जो हल्का-सा धक्का दिया है उसे वह खूब जानती है कि गलती से नहीं हुआ था, वर्ना सोले-मुकुटे में इतनी औरतों में से कभी क्यों नहीं वह दूसरे से टकराया ?

सच तो यह है कि उसके आने पर घर मे एक अजीब-सी गन्ध आने लगती। एक बार जब उसने उड़ते-उड़ते अपने पति के मुँह से अपनी माँ से विशू की शिकायत करते हुए सुना था कि वह बीड़ी पीता है, गांजा भी पीता है....तब से वह विशू की लाल-लाल आँखों की लपक, हिंसता का अर्थ समझने लगी थी। सासू-माँ क्यों ऐसा करती हैं, यह उसे क्यों समझ में नहीं आया कि वह, विशू और उसे कमरे में अकेला छोड़कर उठ जाती हैं। परन्तु रहतीं वह ऐसी या इतनी ही दूरी पर कि उन्हें टोह लगती रहे। पहले वह समझती रही कि उनका ऐसा अनुपस्थित-उपस्थित बने रहना शायद अपनी बहू की रक्षा के लिए है परन्तु क्या यह उसका भ्रम नहीं था ?

चूंकि मौसी-सास इतना पूछ रही थीं, दूसरे जिस अवस्था में उन्होने उसे देखा था उसमें कुछ तो बताना ही था, तीसरे श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय अपनी बहन श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल से सर्वथा भिन्न थीं। दोनों बहनों के स्वभाव में आकाश-पाताल का अन्तर था। एक पूर्व थी तो दूसरी पश्चिम। सासू-माँ जितनी ही गूढ़ थीं, मौसी-सास उतनी ही सरल, बल्कि किसी सीमा तक निश्छल थीं। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल जितनी ही

दूसरों के फटे में पाँव डालने वाली उतनी ही श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय अलग-थलग रहने वाली। किया, तो भला ही किया, नही तो अपना घर भला। इसलिए श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल की न तो अपनी इस छोटी बहन से ही बनती थी और न ही अपने छोटे भाई गोवर्धन व्यास से। पंचांग-जन्त्री तथा धार्मिक पुस्तकों की पटनी-बाजार में एक छोटी-सी दूकान क्या थी कि इसके अलावा पण्डित गोवर्धन व्यास का भी न ऊधो का लेना, न माधो का देना। जीवन ऐसा नियमित था कि उसमें विशेष, कुछ व्यतिक्रम नहीं होता। घर से चले तो दूकान और दूकान से उठते ही श्री जी के मन्दिर चले गये। वहाँ से रात आरती के बाद ही घर पहुँचते। भोजन किया और सो गये। भगवान ने गृहस्थी दी ही कितनी थी कि उसे रोज उलटना-पुलटना पड़ता—पत्नी श्रीमती गंगादेवी और लड़का विश्वनाथ। दोनो बहनों का विवाह हो ही चुका था, बस!! पत्नी गंगादेवी से कभी पटी ही नही। घर में माँ-बेटे एक तरफ थे और दूसरी ओर वह अकेले। इसलिए घर, वह दायित्व-बोध से नहीं आते थे बल्कि परिवर्तन हेतु आते थे। बहनो में श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल बड़ी बहन थी, जिनसे उनकी पत्नी की खूब पटती थी जबकि स्वयं उनकी छोटी बहन श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय से निभती थी। एकमात्र पुत्र बिशू के आवारा निकल जाने से वह इतने दुःखी एवं आत्ममुखी हो गये थे कि उन्होंने पत्नी से तो बातें करना ही छोड़ा था परन्तु लड़के का तो मुँह भी नही देखते थे। तो, बिशु ने ही कौन उन्हें बहुत सम्मान दे रखा था सिवाय इसके कि यदि रास्ते चलते पिता दिख गये और वह बीड़ी पी रहा होगा तो बीड़ी हथेली से ढँक ली होगी। वैसे पिता-पुत्र दोनों को दोनो से कोई अपेक्षा नही थी। वैसे तो बड़ी बहन प्राय रोज उनके यहाँ आती-जाती परन्तु उनसे सामना नही होता क्योंकि उस समय वह दूकान पर होते। उनकी बहन से कहीं अधिक तो जीजा पण्डित महादेव शुक्ल से बनती थी, हालांकि शुक्ल जी का दन्द-फन्दी स्वभाव उन्हें प्रिय नही था। इसलिए वह सिवाय सांसारिकता, सामाजिकता के अलावा किसी प्रकार की वैयक्तिकता या रागात्मकता शुक्ल-परिवार में अनुभव करते थे तो किसी सीमा तक भानजे त्र्यम्बक से और न बोलने पर भी शीलवान लगने वाली त्र्यम्बक की बहू उन्हें गुण-सम्पन्न लगती रही है। दुर्गा को लेकर नर्मदा से तो उनकी राय मिलती रही है परन्तु पत्नी गंगा और दीदी कृष्णादेवी शुक्ल से कभी राय नही मिल सकी। शायद यही स्थिति त्र्यम्बक के साथ उनकी थी कि मामा-भानजे में तो आत्मीयता थी परन्तु भानजे की, मामी से मात्र औपचारिकता के और कुछ नही था।

दुर्गा शायद कुछ बताने ही जा रही थी कि नीचे से सासू-माँ की आहट तथा पुकार दोनो ही सुनायी दी,

— बहू!

दुर्गा यदि अकेली होती और परिस्थितियाँ यही होती तो भी वह उठ खड़ी होती परन्तु मौसी-सास ने उसे बरजते हुए कहा,

— ऊपर आ जाओ दीदी!

वहीं से श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल बोली,

— कौन नर्मदा !....वहू कहाँ गयी ? यह चौखण्डी में क्या रापाटोला [गड़बड] किया पडा है ?

और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल हाँफते हुए ऊपर पहुँची। सीढ़ियाँ चढ़ने में उनका दम फूल आता था। पहुँचते ही उन्होंने दुर्गा को लेटे देखा तथा सिर में पट्टी बँधी देखी तथा नर्मदा को पास में शुश्रूषा करते देखा तो उनका माथा ठनका। उन्हें कुछ और की सम्भावना रही होगी।

— क्या बात है ? यह क्यों लेटी है ? क्या गिर पडी ?

श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने सास-बहू के बीच में मौन रहना ही उचित समझा तथा वह स्वयं भी अभी तक कुछ भी तो नहीं जान पायी थीं। सासू-माँ के पूछने पर दुर्गा को रुलाई तो बहुत अनुभव हुई परन्तु कही वितृष्णा भी हुई। चूँकि मौसी-सास ने कुछ जवाब नहीं दिया तो उठने की चेष्टा करते हुए वह मात्र इतना ही बोली,

— कुछ नही, बस ऐसे ही।

उसे उठने से बरजते हुए श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय बोली,

— तुम उठो नहीं।

— क्यों ? क्या हुआ इसे ? नर्मदा ! बतलाती क्यों नही ?

— मुझे भी तो कुछ मालूम नहीं। मैं जब आयी तब यह चौखण्डी में गिरी पड़ी थी। घर में अँधेरा-घुप्प था।

— हाँ, और क्या। ठोकर लगी होगी।....मैं कहती हूँ थोड़ा जल्दी दिया-बत्ती कर लिया जाए तो क्या हेठी हो जाती है ? पूरा घर जब अँधेरे में हो जाए तब सब लेके माँजने बैठेंगी, तो, यही तो होगा।....अब मैं रोज-रोज, क्या-क्या करूँ ? जरा घर से बाहर निकलो नही कि कोई न कोई काण्ड हो जाता है।

श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय के मन में तो आया कि कहे, कि दीदी ! क्यों यह नाटक करती हो ? तुम जरा-सा घर के बाहर निकलती हो ?....जब से यह दुर्गा आयी है, सारा का सारा दिन आज भागसीपुरा में, तो कल दौलतगंज में, तो सिंहपुरी में पता नही कहाँ-कहाँ चक्कर लगाती रहती हो। और भला करे गंगा भाभी का, ये दोनों ननँद-भाभी मिलकर तो आकाश में भी थेगली लगा आएँ।....परन्तु क्या कहतीं ?

तभी त्र्यम्बक की आवाज सुनायी दी,

— जिजी !

और वह सीढ़ियाँ चढकर ऊपर पहुँचा।

— अरे मासी भी हैं !....इसे क्या हुआ ?

तात्पर्य दुर्गा के लेटे रहने से था। हालाँकि मर्यादा तो यह नही थी कि माँ और मासी के सामने लड़का अपनी बहू की चिन्ता करे, परन्तु हठात उसके मुँह से निकल गया।

— अब भैया ! मैं तो पूछते-पूछते हार गयी। हम चलते हैं, तुम्हीं पूछ लो इससे।

माँ को वह रोज ही दुर्गा से ऐसा व्यवहार करते देखता है और सदा उसे कड़वाहट लगती है। पति को सामने देख दुर्गा ने पीठ घुमा ली और तकिये में मुँह डाल कर रोने

लगी। मौसी-सास का हाथ उसकी देह पर ही था। रोने के कारण दुर्गा की देह मे कम्पन होने लगो। उन्होंने पुनः उसकी पीठ पर हाथ फेरना शुरू किया। अनायास ही उनकी गहरी निश्वास निकल गयी। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल एक सीमा तक तो समझ रही थी परन्तु वास्तव मे क्या घटित हुआ यह वह पकड नही पा रही थी। उठते हुए बोली,

— नर्मदा! तुम इसके पास बैठो, मैं चौखण्डी ठीक कर आती हूँ।

त्र्यम्बक का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। वह समझा माँ जानती है परन्तु बता नही रही है।

— क्या बात है जिजी!

— मेरा सिर!!

और उन्होंने जोरों से अपना सिर पीटना शुरू कर दिया।

— जो देखो मेरी ही जान को आया है। आये दिन एक न एक मुसीबत।....मैं तो पहले ही जानती थी कि जो हैजे को लाँघ कर आ गयी, जिसे घर वाले नही लाँघ पाए वह तो भगवती ही होनी चाहिए।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि उसका यहाँ से चला जाना ही उचित है। तभी पण्डित महादेव शुक्ल की आवाज आयी,

— त्र्यम्बक!

— जी बाबा! आया।

जैसे ही श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल गये तो दुर्गा ने आँचल से आँखें पोंछते हुए मौसी-सास की ओर क्षण भर देखा फिर रोने लगी।

— पागल! बतलाती क्यों नही कि क्या हुआ?....कोई बाहरी आदमी घुस आया था क्या?

और जो बात वह नहीं बता पा रही थी जब वह मौसी-सास ने कुछ आभास रूप में कही तो उसने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

— कौन था? चोर?

— नही।

— तब कौन था?

— मासी माँ! विश्वास करेगी मेरा?

— तू घबराती क्यों है? तू मेरा विश्वास तो कर।

— मासी माँ!....वह....वह....

और उसकी हिचकी बँध गयी।

— वह कौन?....डर मत....मैं तेरी सास नही हूँ बेटा!....तू मुझे मासी-माँ कहती है न?

— मासी-माँ! वह विशू था।

और उसने मासी माँ की गोद में सिर घुसा कर एक बार फिर रोना शुरू कर दिया।

श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय को दुर्गा का विश्वास करने में रत्ती भर भी शंका नहीं हुई। परन्तु ऐसा भी हो सकता है इसकी उन्हें कल्पना भी नहीं थी। और क्षणान्त में उन्हें यह भी लग गया कि हो न हो यह उनकी दीदी की ही योजना हो। लेकिन यदि ऐसा है.... तो कितना भयावह है। वह सुनती आयी हैं, थोड़ा-बहुत देखा भी है कि इन घरों में क्या कुछ नहीं होता है परन्तु उनकी अपनी ही दीदी और वह भी दुर्गा जैसी निरीह बहू के साथ ऐसा कर सकती हैं—की कभी कल्पना नहीं कर सकती थीं। लेकिन सम्भव है कि दीदी को न ही मालूम हो।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल रात भर बिस्तर में पड़ी-पड़ी बेचैन रहीं कि वास्तव में क्या हुआ। बिशू यहाँ आया, इतना तो उनकी योजना के अनुसार ही हुआ था। वह उस समय अपनी भाभी गंगादेवी उपाध्याय के पास ही बैठी हुई थीं। सास की इच्छा थी कि किसी तरह बहू पर मात्र लांछन लग जाने की स्थिति उत्पन्न हो जाए बस, तो या तो वह स्वयं ही किसी प्रकार आत्महत्या कर लेगी नहीं तो उसे 'कुलटा' बताकर कुछ भी ऐसा कर डाला जाएगा जिससे न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।....बड़ा पति को बस में कर रखा है!!....और ससुर भी तो जब देखो तब बहू के गुन गाते हैं।....ठीक है जब बदनामी से उसका मुँह काला हो जाएगा तब देखें कैसे सती-साध्वी बनी रहती है—अरे हाँ नहीं तो, क्या मजाल थी कि यों बेहाथ की हो जाती?....सारी औरतें कहती हैं कि शुक्लजी की बहू तो देवी है, देवी!!....तो वह क्या है? बहू देवी, तो सास चुड़ैल?? ....यही न कहना चाहती हैं सब?....और मैं क्या समझती नहीं हूँ इस नर्मदा की बच्ची को। बड़ी बहन बनती है। सगी बहन और भाभी तो उसकी सगी नहीं और यह कल की आयी छोकरी उसकी सगी हो गयी?....अच्छा, दुनिया कहती है तो कहे, तुम अपने ही भतीजे को बदमाश, लुच्चा, लफंगा, बिटलना [बिगड़ जाना] क्यों कहती फिरती हो? . .मैं पूछती हूँ कि तुमसे क्या बदमाशी की उसने? घर से बाहर वह कुछ करे, तुमसे मतलब?....और मरद चार जगह मुँह नहीं मारेंगे तो क्या तुम मुँह मारोगी? मारो तो जरा मुँह, वो पेट निकल आएगा कि कुएँ में ही कूदना पड़ेगा रानी जी!....और, और ये छिपकली, कैसे उस बिशू को फूटी आँख से देखती है। इसी के कारण त्र्यम्बक अपने सगे मामा के लड़के को, बस चले तो घर नहीं घुसने दे।....मुझे तो घोल कर ही पी गये हैं सब।....लेकिन हुआ क्या? क्या सच ही बिशु कुछ करना भी चाहता था? लेकिन यह तो....यह कुछ छुपा रही है?....क्या यह सब नाटक इसीलिए तो नहीं हो रहा है?....यह नर्मदा की बच्ची उस समय कहाँ से आ गयी?....क्या इसने बिशू को देख तो नहीं लिया?....यह चौखण्डी में खून-खून कैसा था? वह खून में सनी 'इनकी' खड़ाऊँ कैसे थी?....क्या इस दुर्गा की बच्ची ने तो उसे नहीं मारा?

और पूरी रात वह निर्णय, अनिर्णय में बिस्तरे पर पलटती रहीं। उन्हें डर यही था कि समय के गुजरने के साथ स्थिति उनके हाथ से बाहर होती जा रही है। क्योंकि यदि

न्धियों में जो हाल है उसमें बहू होने का अर्थ ही है—सूली पर टँगना। घरों में लड़कों की कोई हैसियत होती भी है? अपना खाओ और चलते दिखो। सास, बहू को चिमटे से दागती है या चिमटी से खाल नोचती है—कोई चूँ नहीं बोल सकता है। परन्तु फिर भी दुर्गा, नहीं चाहती कि घर में उसे लेकर कभी भी महाभारत मचे। इसलिए सब कुछ कह कर उसने पति को सिर की शपथ दिला दी कि वह अपनी ओर से 'बाबा' या किसी से भी कुछ नहीं कहेंगे। त्र्यम्बक को प्राय: झल्लाहट हुई कि पता नहीं यह दुर्गा किस मिट्टी की बनी है कि सहती जाएगी परन्तु कभी माँ या किसी के लिए अपशब्द कहना तो दूर, बुरा तक नहीं सोचेगी। परन्तु शायद इसीलिए त्र्यम्बक के मन में दुर्गा के लिए प्रेम से अधिक कभी-कभी आदर भी होता था? परन्तु त्र्यम्बक को लगा कि इसके बारे में कुछ किया ही जाना चाहिए—क्या? वह बहुत स्पष्ट नहीं था।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने भी तो अपने पति पण्डित महादेव शुक्ल को मात्र यही बताया कि वह मांदी [बीमार] है। दूसरे दिन सवेरे त्र्यम्बक ने बाबा के मुख पर तथा व्यवहार में ऐसी कोई बात नहीं देखी जो विशेष लगती। और यदि त्र्यम्बक को ऐसा कुछ लगा होता तो दुर्गा के लाख मना करने पर भी, सिर की शपथ दिला देने के बाद भी वह बाबा को सारी बातें बताने में नहीं चूकता। परन्तु श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने अपनी ओर से कुछ भी अतिरिक्त बताने में खतरा ही अनुभव किया। उन्होंने मात्र इतना ही बताया ताकि अपनी ओर से कल और भी कुछ बता सकने की स्थिति बनी रहे। शायद इसीलिए त्र्यम्बक भी चुप रह गया कि माँ यदि सावधानी बरत रही है तो उसे भी सावधानी बरतनी चाहिए। माँ की चुप्पी उसे बहुत अर्थपूर्ण लग रही थी। स्थिति जैसी सामान्य दिख रही है या माँ दिखाना चाहती है, वैसी है नहीं। बिना चौकन्ना रहे कल फिर कुछ, अधिक गम्भीर हो सकता है। उसे लगा कि या तो नागेश्वर मासा जी से बातें की जाएँ या फिर फुन्दीलाल काकाजी से सलाह ली जाए। चूंकि नर्मदा मासी, मासाजी को बतला ही देंगी, तो अच्छा है वह फुन्दीलाल काका जी से ही चर्चा कर देखे।

वैसे तो पण्डित नागेश्वर उपाध्याय, पण्डित महादेव शुक्ल के छोटे साढ़ू थे, लेकिन दोनों में विशेष सौहार्द्र नहीं कहा जा सकता था। निश्चय ही दोनो भिन्न प्रकार के व्यक्तित्व थे, परन्तु उन दोनो से सर्वथा भिन्न तो उनकी पत्नियाँ थी, जो सगी बहनें थी फिर भी उनमें किसी प्रकार की कोई समानता नहीं थी। शायद इसीलिए नागेश्वर जी में और महादेव शुक्ल में कोई विशेष रागात्मकता नही थी। हाँ, आपसी व्यवहार में कोई भूल-चूक नही थी। मिलने पर दोनों को ही लगता कि भविष्य में अधिक मिलते रहना चाहिए पर ऐसा कभी हो नही पाता था। छठे-छमासे ही मिलना हो पाता। शायद इसका कारण उनकी पत्नियो की भिन्नता भी हो परन्तु वस्तुतः दोनों के प्रकार ही भिन्न थे। पण्डित महादेव शुक्ल जाति ही नही बल्कि पूरी उज्जैन की सामाजिकता की दृष्टि से सम्पन्न कुल-परिवार वाले थे। लक्ष्मी और सरस्वती की कृपा उनके कुल पर पितामह के समय से रही है। शायद उनका ही एकमात्र ऐसा परिवार था जिसे पैरों में सोना पहनने का सम्मान राज्य की ओर से प्रदत्त था। महाराज के जन्म-दिन तथा दशहरे के दरबार में वह भी सरदारो की पंक्ति में बैठाये जाते थे। उज्जैन के तथा धार-इन्दौर-देवास के सभी मरहठे श्रीमन्त-सरदार उनका सम्मान करते थे। पण्डित सूर्यनारायण व्यास यदि राज-ज्योतिषी जैसा सम्मान पाते थे तो पिता पण्डित त्रिलोचन शुक्ल तथा पण्डित महादेव शुक्ल राज-पुरोहित माने जाते थे। पिता ने तो बम्बई की किसी जहाज-कम्पनी में कुछ रुपया भी कभी लगाया था परन्तु ब्राह्मण से वणिक-वृत्ति हो नही पायी और वह सारा रुपया डूब गया। भला ऐसे सम्पन्न परिवार के पण्डित महादेव शुक्ल से पण्डित नागेश्वर उपाध्याय की क्या समता हो सकती थी? पण्डित नागेश्वर उपाध्याय का तो सारा जीवन संघर्ष में ही बीता। वह कह सकते थे कि कौन सा ऐसा काम है, जो उन्होने नही किया? निम्न मध्य-वर्ग के ब्राह्मण की पूँजी ही क्या

हो सकती थी ? पूजा-पाठ की वृत्ति पर कोई कितना बड़ा महल खड़ा कर सकता था ? अपने पिता से उन्हें जो यजमान-वृत्ति मिली थी उसमें एकादशी तो सम्भव थी परन्तु प्रदोष नहीं। कहने को बड़े भाई अवश्य थे पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय, जो रतलाम राज्य के अन्तर्गत एक संस्थान में कामदार थे, परन्तु उनसे कुछ भी माँगना पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को ही क्यों, किसी भी आत्म-सम्मानी के लिए उचित न होता। रजवाड़ों में छोटे भाई और दासी-पुत्रों की हैसियत में कोई भेद नहीं होता। पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय भी इसी मनोवृत्ति के हो गये थे। उन्होंने जो यह राज्याश्रय अपने बड़े साले पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट [साहब] की कृपा से प्राप्त किया था उसमें वह किसी भी अन्य व्यक्ति की साझेदारी नहीं स्वीकार करते थे। इसका यह मतलब कभी नहीं था कि पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय अपने अनुज पण्डित नागेश्वर उपाध्याय की सहायता नहीं करना चाहते थे परन्तु अनुज को यह स्थिति स्वीकार नहीं थी। यद्यपि वह अग्रज का पूर्ण सम्मान करते थे परन्तु अग्रज से वितृष्णा न हो जाए इसलिए वह केवल व्यवहार का सम्बन्ध ही निभाते थे। शायद आत्मीयता की आवश्यकता एवं अपेक्षा दोनों भाइयों में से किसी को नहीं थी। स्थान-भेद के कारण भी दोनों भाई दो अलग परिवार जैसा ही आचरण करते थे। पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय रतलाम में थे और पण्डित नागेश्वर उपाध्याय के लिए उज्जैन ही भला था। हाँ, भगवान ने पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को अपने रौबदार व्यक्तित्व के अग्रज से कहीं अधिक सुदर्शन देह सृष्टि प्रदान की थी, और कालान्तर में यही उनकी पूँजी सिद्ध हुई। करीब छह फुट के, सुते बदन के, प्रदीर्घ नासिका वाले नागेश्वर का रंग भी कश्मीरियों की भाँति ही गौर था। अपनी इस देह-सम्पदा का बोध, आयु और बम्बई ने उन्हें करा दिया।

आज पटनी-बाजार में जो उन्होंने 'खादी-भण्डार' खोल लिया है उसके पीछे उनका कितना बड़ा संघर्ष निहित है इसे वह यदा-कदा दोस्तों को हँसकर सुना देते हैं परन्तु यह भी ठीक है कि दाँतों तले पसीना भी कम नहीं आया है। उज्जैन में तो विवाह के बाद वह बसे लेकिन इसके पूर्व वह बम्बई-पूना तक छान आये थे।

हुआ यह था कि पिता की मृत्यु के कुछ दिनों बाद एक छोटी-सी बात पर बड़े भाई ने इन्हें खूब मारा-पीटा कि वह आवारा हो गया है। मन्दसौर के किसी मेले में पण्डित नागेश्वर उपाध्याय किसी फोटोग्राफर को देख आये थे कि किस कमाल से फोटो खींचकर पैसा बनाता है। बस, उन्हें भी कैमरा खरीदने की धुन सवार हुई। बड़े भाई से जब पैसे माँगे तो पैसे तो नहीं परन्तु बड़े भाई ने उन्हें मार अवश्य दी। उनके उस किशोर-मन पर यह अंकित हो गया था कि उनका जन्म फोटोग्राफर बनने के लिए ही हुआ है, और बड़े भाई ने जब उस शीशे को ही चटखा दिया तो वह विह्वल हो गये। चूँकि घर में माँ या पिता तो थे नहीं जो उन्हें रोकते, और एक दिन रतलाम स्टेशन पहुँच कर जो गाड़ी खड़ी देखी उसमें ही जा बैठे। न जाने क्यों वह दिल्ली ही जाना चाहते थे, परन्तु ट्रेन के चलने पर उन्हें मालूम हो गया कि ट्रेन, दिल्ली नहीं, बम्बई की ओर जा रही है।

बम्बई पहुँच कर हीराबाग की जिस मारवाड़ी धरमशाला में शरण ली थी वह, मारवाड़-मालवा से आने वाले लोगों की खास धरमशाला थी। यहाँ के मैनेजर की कृपा से कुछ लोग यहाँ स्थायी वास किये रहते थे, उन्ही मे एक हारमोनियम मास्टर थे—मास्टर मदन। कुछ वर्ष पूर्व वह भी इसी प्रकार भाग कर 'थेटर' में गायक बनने आये थे। कभी-कभार गाने को भी मिल जाता परन्तु मुख्यतः उन्हें पाँव-पेटी [पाँव से बजाया जाने वाला दोनों हाथ का हारमोनियम] बजाने का ही काम मिला और वह उसमें पारंगत भी हो गये। 'स्वदेश' का प्रेम ऐसा ही होता है। जब मास्टर मदन को मालूम हुआ कि मालवे का एक लड़का इस धरमशाला में टिका है तो सहज ही मास्टर मदन का का झुकाव हुआ। पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ने भी मान लिया कि इस परदेस में उन्हें अपने ही मालवे का एक अभिभावक प्राप्त हुआ और मास्टर मदन को नागेश्वर में एक शिष्य दिखलायी दिया। यहाँ-वहाँ हाथ-पाँव मारने के बाद पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को लग गया कि फोटोग्राफर बनना उनके भाग्य में नहीं है। तो, मास्टर मदन ने अपनी कम्पनी में कह-सुन कर छोटे-मोटे काम के लिए नागेश्वर को रखवा दिया।

चूँकि वह सुन्दर थे इसलिए थोड़े दिनों में ही कंपनी के मालिकों को लगा कि इन्हें मंच पर भी उतारा जा सकता है। उन दिनों लड़कियों का पार्ट भी लड़के ही करते थे इसलिए उन्हें भी एक नाटक मे सखी का पार्ट दिया गया। सौभाग्य या दुर्भाग्य कि पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को वैसे भी नाटको मे अभिनय की कोई रुचि नही थी। शायद था यदि कोई पुरुष-पार्ट मिला होता तो कर भी लेते परन्तु उनका स्वत्व जाग्रत हो गया और उन्होने इन्कार कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि उन्हें वह कम्पनी ही छोड़ देनी पड़ी।

इस, वर्ष—डेढ़ वर्ष के प्रवास में पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ने अनुभव कर लिया था कि बम्बई के विशाल समुद्र की भाँति बम्बई भी विशाल है। यहाँ व्यक्ति की सम्भावनाओं के लिए अनेक प्रकार के क्षेत्र हैं परन्तु उनके पास न तो विशेष शिक्षा ही थी और न पूँजी ही। कुछ हो मास्टर मदन के पास एक हुनर था, दूसरे ग्रामोफोन कम्पनी में कभी-कभी गाने से भी उनकी आमदनी हो जाया करती थी, परन्तु उनके पास तो कोई ऐसा कौशल या कला भी नहीं थी। जो छोटा-मोटा काम उन्हें इस बीच मिल रहा था उससे वह बहुत दूर तक नही चल सकते थे। पूना ही नही वह वहाँ के 'चित्र-शाला प्रेस पुणे' भी हो आये थे परन्तु न वह मराठी जानते थे और न ही प्रेस का काम। इसके पूर्व कि पानी सिर पर से गुजरे और वह उससे उबर न सकें, अच्छा यही समझा कि होटलो में प्लेट साफ करने से अच्छा है घर लौट जाएँ। और वह एक दिन फिर रतलाम पहुँच गये। बड़े भाई ने उन्हें लौटा देख, कहा तो कुछ नही परन्तु सम्पत्ति का हिस्सा-बाँट करवा कर उन्हें अलग कर दिया। अच्छाई मात्र इतनी ही हुई कि इस हिस्सा-बाँट के पूर्व उनका विवाह अवश्य करवा दिया।

रतलाम से उनका मन उचट चुका था इसलिए पत्नी के कहने पर वह आ गये और तब से वह यहीं बस गये। चूँकि बम्बई में मास्टर मदन के साथ

हुआ था इसलिए हारमोनियम का कुछ काम जान गये थे अतः सोचा कि हारमोनियम ठीक करने का ही काम किया जाए। परन्तु शायद व्यवसाय उनकी जन्मकुण्डली में ही नहीं था। इस बीच वह पण्डित रविशंकर रावल के सम्पर्क में आये। रावल जी गवालियर राज्य में राजनीतिक और सार्वजनिक क्षेत्रों में काम आरम्भ कर रहे थे। एक तो जाति के थे, दूसरे परम आदर्शवादी व्यक्ति थे इसलिए पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को लगा कि समाज-सेवा का काम उनके भी मनोनुकूल है। जब 'सार्वजनिक-सभा' का निर्माण गवालियर राज्य में हुआ और रावल जी महाराज उसके नगर-प्रमुख हुए तो नागेश्वर जी को उन्होंने कार्यालय का काम सौंपा। और तब उन्हें लगा कि वह अपने मन का काम पा गये, परन्तु समाज-सेवा से घर-संसार तो नहीं चला करता, अतः जीवन में पहली बार पत्नी का कहा मान कर 'खादी-भण्डार' खोलने का निर्णय लिया। उन्हें यह काम व्यवसाय न लगकर समाज-सेवा ही लगा।

भला ऐसे आत्मसम्मानी व्यक्ति से पण्डित महादेव शुक्ल की विशेष रागात्मकता नहीं थी तो कोई आश्चर्य नहीं था। हां, श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को इन दोनों पति-पत्नी से विशेष आपत्ति थी। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल तथा श्रीमती गंगादेवी व्यास, दोनों ननँद-भाभी का ख्याल था कि इन लोगों के पास अवश्य ही पैसा है और जिस प्रकार श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल अपने भाई की सहायता [?] करती है उसी प्रकार श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय भी अपने भाई की सहायता क्यों नहीं करती है? एक दिन जब दोनों ननँदों और भाभी में इसी बात को लेकर खूब कहा-सुनी हुई तो श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने सीधे अपने 'दादा' पण्डित गोवर्धननाथ व्यास से पूछ ही लिया कि वह उनसे किस प्रकार की सहायता सोचते हैं?

— क्या तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है?
— दादा! दीदी की तरह हमारी स्थिति तो नहीं है। रावलजी महाराज के कहने-सुनने से कुछ खादी के थान उधार मिल जाते हैं। और अभी खादी कितने लोग पहनते ही हैं? बचता ही कितना है?
— लेकिन नर्मदा! तू मुझसे यह सब क्यों बता रही है? क्या तेरी भाभी ने कुछ कहा तुझसे?
— मैं दीदी और भाभी के ये ताने रोज-रोज सुनते थक गयी हूँ।
— क्या? कैसे ताने?
— कि दीदी तो तुम लोगों की सहायता करती रहती है परन्तु मैं नहीं करती?
— यह तुझसे किसने कहा? दीदी ने कहा कि वह हमारी सहायता करती है?.... नर्मदा! अभी मैं इतना गया—बीता नहीं हूँ कि किसी दूसरे की सहायता लूँ। तेरा बड़ा भाई हूँ। तेरी सहायता करना तो दूर उल्टे तुझसे सहायता लूंगा? किस लिए? भगवान का दिया सभी कुछ तो है। दाल-रोटी चल ही जाती है, और क्या चाहिए? दीदी बड़े घर में है। सम्पन्न है। बहुत अच्छा है। नागेश्वर जी भी अपना काम ठीक-ठिकाने से ही कर रहे हैं।....नर्मदा! मुझे कहना नहीं

चाहिए पर....ये जो तेरी भाभी है न और उनका लाड़ला बिशू....भगवान न करे कि किसी दिन मुझे जाति में नीचा देखना पड़े।

— यह क्या कह रहे है दादा !

— नर्मदा ! जानता हूँ कि ऐसी बातें मुँह से नहीं निकालनी चाहिए। घर की बात ढाँक कर रखी जाती है पर क्या करूँ....!! खैर, तू अपना मन छोटा मत कर नर्मदा ! ये दोनों और हमारी दीदी पता नहीं क्या खिचड़ी पकाते रहते हैं।

जब यही बात श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने अपने पति को बतायी तो वह गम्भीर हो गये। बोले,

— नर्मदा ! इस शुक्ल-परिवार की 'यश-गाथा' को जितना हम जानते हैं न, उससे कहीं अधिक है वह। यह तुम्हारी दीदी, तुम्हारी भाभी और तुम्हारा भतीजा जो कर रहे हैं अभी तुम्हें उसका पता नहीं है। मैं नहीं जानता कि शुक्ल जी को वह सब पता है कि नहीं। ये दोनों महिलाएँ देखना किसी दिन वो गुल खिलाएँगी कि उज्जैन वाले देखते ही रह जाएँगे।

— मैं समझी नहीं।

— तुम्हारा बिशू खूब नाम कमा रहा है आजकल।

— कैसा नाम ?

— वैसा ही नाम जैसा कि गुण्डों का होता है।

— बिशू ?

— हाँ बिशू !! ड्राइवर क्या हो गया है—बिटल गया है।

— सच्ची ?

— नहीं तो क्या झूठ ? मैंने तो यहाँ तक सुना है कि बात बीड़ी-गाँजे तक ही नहीं है बल्कि....

— क्या ? बल्कि क्या ?....बताओ न ?....हे भगवान !.. .जल्दी बताओ।

— सुनोगी ?. ..मांस खाने लगा है।

— झूठ है यह। बिशू ऐसा कभी नहीं कर सकता। ब्राह्मण होकर....

— रावल जी ने मुझे बताया कि उन्होंने खुद उसे एक ईरानी की होटल से निकलते देखा।

— ओ माँ !!

और श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय लगभग रोते हुए वहाँ से उठ खड़ी हुईं।

और भतीजे विशू की चिन्ता में डूबी, बल्कि बौखलायी श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय उस शाम जब अपने भाई के यहाँ पहुँची तो देखा कि घर में कुहराम मचा हुआ है। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल वहाँ मौजूद थीं। उनकी ही आवाज आ रही थी,

— मैं कहती हूँ गोवर्धन ! अब तुम इस पर हाथ नहीं उठाओगे।

विशू को खम्भे से बाँध दिया गया था। पण्डित गोवर्धन नाथ व्यास के हाथ में छडी थी। विशू रो नही रहा था बल्कि उसकी आँखों से अगारे निकल रहे थे। और जैसे ही नर्मदा देवी को देखा तो पण्डित गोवर्धन व्यास ने उसे तीन-चार छड़ियाँ और जमायी। बोले,

— देख नर्मदा ! तेरे भाई के घर में कैसे यशस्वी ने जन्म लिया है।

श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय के सामने यदि यह दृश्य कल हुआ होता तो वह विशू की रक्षा में दौड़ पडती और शायद दादा से कुछ भी कह सकती थीं परन्तु वह अवाक बनी खडी रही। बगल की कोठरी से स्त्रीकण्ठ का 'हाय'-'हाय' स्वर सुनायी दिया। निश्चय ही भाभी थीं। वह चीख रही थीं,

— सारी दुनियाँ मेरे लड़के के पीछे पड़ी है।

तभी पण्डित गोवर्धन नाथ व्यास गरजे,

— हाँ एक तो तुम और एक तुम्हारा लड़का—ये ही दो तो बच गये हैं दुनियाँ के लिए जिनके पीछे लोग पडे है।

— तो फिर हम दोनो को फाँसी दे दो न—छुट्टी हो। जानवर को भी लोग ऐसा नही मारते जैसा अपने लडके को मारा।

— मैं तुमसे तो कुछ नही कह सकता पर इस लौंडे से कहता हूँ कि क्या क्षिप्रा में जल सूख गया चाण्डाल ! जा कर डूब क्यों नहीं मरता ? कैसा नाम निकाला है इसने। ''जानती हो नर्मदा !

तभी लपक कर श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल बोली,

— इस नर्मदा को क्या बताते हो तुम ? रावल जी महाराज को यह सब किसने बताया ?''''घर की बात सारे जग में फैलाते हुए इस नर्मदा को शरम नही आयी ? अब कैसी गाय बनी खडी है। माल [जंगल] में दिन भर चर कर आयी, फिर भी खूँटे पर उदास मुँह लिये खड़ी है।

— दीदी !

— क्या रावली जी को नागेश्वर जी ने नही बताया ? और नागेश्वर जी को तूने नही बताया ? अरे, अपने भतीजे के बारे में ऐसी झूठ बातें फैलाते हुए तुझे शरम नही आयी ?

तभी पण्डित गोवर्धन नाथ व्यास, श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल से बोले,

— दीदी ! इस विशू का जनेऊ भी तोड़कर क्षिप्रा में इसी नर्मदा में बहाया, है न ?

— तुम तो गोवर्धन ! बात का बतंगड़ बना रहे हो।

— यह ब्राह्मण का बेटा है साला !....कमीना ! मास खाने लगा है....ईरानी की होटल में खाता है....बीड़ो-गाँजा पीता है....तो फिर हो जा न मुसलमान....हमारी

जान तो छूटे....समझ लेंगे नही हैं सन्तान....अपना श्राद्ध खुद ही कर लेंगे। तभी सबने देखा कि पण्डित महादेव शुक्ल दरवाजे से भीतर आ रहे हैं। आते ही उन्होने सबको देखा और विशू को इस तरह बँधे देखा तथा पण्डित गोवर्धननाथ व्यास का यह रौद्ररूप देखा तो, पहले तो चौके, तब बोले,

— यह क्या हो रहा है सब ?

हाथ की छड़ी जमोन पर पटकते हुए पण्डित गोवर्धन नाथ व्यास पूर्ण वितृष्णा के साथ बिना कोई उत्तर दिये सीढ़ियो से ऊपर चले गये। पण्डित महादेव शुक्ल ने अपनी पत्नी से पूछा,

— विशू को इस तरह क्यों बाँध रखा है ?

— पूछो अपनी इस लाड़ली साली से, जिसने सारी आग लगायी है।

और पण्डित महादेव शुक्ल ने सबसे पहले तो विशू को खोला। विशू की देह पर, मुँह पर मार के नीले दाग उभर आये थे। बन्धन खुलते ही वह भरभरा कर गिर पड़ा। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने दौड़कर उसे सहारा दिया। कोठरी के दरवाजे के पीछे से तब तक गंगादेवी भी निकल आयी और दोनों स्त्रियों ने विशू को सहारा देकर सहन में झूलती बँगवई [एक प्रकार का झूला, जो कि गुजरातियो के यहाँ होता है।] पर उसे लिटा दिया। गंगदेवी रोती जा रही थीं। उस मौन सन्नाटे में उनका रोना बहुत ही अशुभ लग रहा था।

उपाध्याय-परिवार था ही कितना ? एक मात्र लड़का वासुदेव आगर में मास्टर था। उसके विवाह में ही दुर्गा का 'वाक्यदान' हुआ था। नौकरी करते हुए उसे बारह-पन्द्रह वर्ष हो चुके थे और बराबर बाहर ही बाहर रहा इसलिए यहाँ उपाध्याय-परिवार में ले-देके वही पति-पत्नी बचे। पण्डित नागेश्वर उपाध्याय या तो 'खादी-भण्डार' में रहते या फिर 'सार्वजनिक-सभा' के कार्यालय में। रोज ही रात नौ-दस के पहले घर नही आते हैं इसलिए दो आदमियो की गृहस्थी ही कितनी ? फिर जब किसी का स्वभाव दूसरे के फटे में पाँव न देना हो तो दूसरों की भी आप में कितनी रुचि हो सकती है ? श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय गाहे-बगाहे सिवाय 'दादा' के यहाँ, तो दस-पाँच दिन में एकाध बार दीदी के यहाँ हो आती हैं। लेकिन जब भी गयी हैं मुँह का स्वाद ही बिगड़ा है। दीदी के यहाँ तो वह विशेष रूप से दुर्गा के लिए ही जाती हैं और यह बात उसकी दीदी को प्रिय नही हैं, यह भी वह जानती हैं। दादा के यहाँ तो वह जाती ही तब हैं जब दादा घर पर होते हैं। गंगा भाभी से तो बस मुँह-छुलावन ही होती है। कभी भूल कर भी श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने अपनी भाभी से यह नही पूछा होगा कि यह जो कर्णफूल चमक रहा हैं, क्या नया बनवाया है ? वह जानती हैं न कि तत्काल वह ताने से कहेंगी, 'हाँ, तुम्हारी दीदी ने बनवा दिया।' —कौन इस फजीहत में पड़े। पर कहीं

न जाने का लाभ यह हुआ कि घर पर ही वह बहुत-कुछ लिखना-पढना सीख गयी। और पति ने भी बहुत सी किताबें—'युवराज जनरल लाईब्रेरी' से लाकर दीं। नतीजा यह हुआ कि श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय के लिए दुनियाँ का अर्थ काकियाँ-भाभियाँ न रहकर अनेक देशों, लोगों की संज्ञाओं तक फैल गया। पति आये दिन चर्चा करते कि जर्मन की लड़ाई चल रही है। हमारी अंग्रेज सरकार भी उस लडाई में शामिल है। हमारे देश की सेना भी तुर्की और फ्रास में लड़ने के लिए गयी है। उस दिन उसे सचमुच ही इस लडाई के होने का प्रमाण मिल गया जिस दिन जाति के ही डाक्टर पुरुषोत्तम जोशी भी लडाई में भेजे गये। पहले वह नही समझ पायीं कि लड़ाई में डाक्टर का क्या काम ? परन्तु जब पति ने बताया कि लड़ाई में घायलों के लिए डाक्टर, कम्पाउन्डर नर्स सभी की आवश्यकता होती है तो उसे लडाई का अर्थ और गम्भीरता दोनों ही समझ में आये।

आज वह दिन भर पढ़ती रही थीं, सो उकता गयी थीं। इधर कई दिनों से दीदी के यहाँ न जा पायी थी इसलिए चली गयी, और जाकर जो देखा तो वह आमूल प्रकम्पित हो उठी। उस दिन दादा ने व्यर्थ ही बिशू को नहीं मारा था। उसे सारी बात स्पष्ट हो गयी कि क्यों दीदी जीजाजी के सामने उसे ही दोषी ठहरा रही थी। वह तो अच्छा हुआ कि जीजाजी ने उससे कुछ नहीं पूछा। और क्या पूछते ? क्या उन्हें बिशू की बातें पता नही है ? सारे उज्जैन के लोग जो बातें जानते हैं भला वह जीजाजी से छुपी रह सकती है ? और वह भी इस तरह की बातें ? परन्तु हद है भाई, दीदी का ही यह जिगरा है कि ऐसी सफेद झूठ और वह भी डंके की चोट बोल गयी।.... लगता है कि बिशू के इस काण्ड में जरूर दीदी और भाभी की मिलीभगत है। पर भाभी को ऐसा क्या मीठा है ? क्यों, मीठा क्यो नहीं है ? जरूर ही दीदी ने कुछ क्या, काफी सहायता करने के लिए कहा होगा और माँ-बेटे दोनों तैयार हो गये होंगे। परन्तु दीदी क्या सचमुच ही अपने बेटे की गृहस्थी उजाड़ना चाहती है ?

यही सब सोचते-सोचते वह पति की प्रतीक्षा करती बैठी रही। और जब पति भोजन करने बैठे तो गरम-गरम रोटियों के साथ आज का यह काण्ड भी एक-एक करके परस दिया और पण्डित नागेश्वर उपाध्याय प्रत्येक कोर के साथ इस अनचाहे प्रसंग को भी चबाते रहे।

— मैं तो कहता हूँ नर्मदा ! यह सारी गलती व्यास जी की है।
— दादा की इसमें क्या गलती है ? उस दिन तुम देखते कि उस लड़के को उन्होंने कैसा मारा।
— मारने से क्या होता है ?
— तब किससे होता है ?
— नियन्त्रण करने से होता है।
— दादा भला क्या नियन्त्रण करते ?
— यही तो मैं भी कहता हूँ। सारी जिम्मेदारी भाभी पर डाल दी उन्होंने तो।

— लेकिन कोई माँ अपने बच्चे को इस प्रकार बिगड़ने दे सकती है ?
— इसमें प्रश्न करने की कौन-सी बात है ? क्या प्रमाण सामने नहीं है ?
— फिर भी ।
— फिर भी क्या ? नर्मदा ! जब हम बाहरी लोग गंगा-भाभी के बारे में इतना जानते हैं तो क्या व्यास जी को पता नहीं रहा होगा कि उनकी पत्नी कैसी है ?
— गंगा-भाभी शुरू से तो ऐसी नहीं थीं, जहाँ तक मैं समझती हूँ ।
— ठीक है, ऐसी नहीं रही होंगी तो वैसी रही होंगी ।
— क्या मतलब ?
— मतलब यह कि स्वयं बिगड़ी हुई नहीं होंगी परन्तु बिगड़ने की उनमें सम्भावना रही होगी । तुम जानती हो न कि आदमी बीमार कैसे पड़ता है ? जब स्वास्थ्य कमजोर हो जाता है तो रोग के कीटाणु बाहर से प्रवेश करते हैं ।
— तुम्हारा मतलब यह कि दीदी ने उन्हें बिगाड़ा ?
— मैंने तो एक बात कही । वैसे कहना शायद यही चाहता रहा हूँगा, पर कहा नहीं । कौन उन बड़ी सालीजी के मुँह लगे ? इतने बड़े परिवार की हैं वह कि चाहें तो एक नहीं दस नागेश्वर उपाध्याय की खाल खिंचवा लें ।
— तुम तो दीदी को रजिया सुलताना से भी ज्यादा जालिम बता रहे हो ।
— तुमने गलत-सलत इतिहास पढ़ा, इसीलिए गलत-सलत उदाहरण दे रही हो । इसीलिए बिना गुरू के शिक्षा अधूरी रहती है ।
— तो क्या तुम मेरे गुरू नहीं हो ?
— तुम जैसी शिष्या का तो मैं कभी भी गुरू नहीं हो सकता ।

और पति-पत्नी दोनों हँस पड़े ।

जब श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय खा-पीकर तथा ढाँका-ढूँकी कर आ गयी तो दोनों बँगवई पर रोज की ही भाँति बैठकर बातें करने लगे । नागेश्वर जी अपनी पेवशी में से पान निकाल कर बनाने लगे । प्रतिदिन वह रात के भोजन के बाद नियम से पत्नी को भी पान देते और अपने भी पान जमाकर न जाने कौन-सी सुगन्धित तम्बाकू खाते । जब रोज का यह नियम हो गया और बँगवई के कड़े भी आवाज करने लगे तो नागेश्वर जी बोले,

— तुम्हें शक है, लेकिन मुझे पूरा विश्वास है कि श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल का इसमें पूरा-पूरा हाथ है ।
— मुझे तो ऐसा नहीं लगता । संयोग ही है यह ।
— अच्छा, यह बताओ कि उस बिशू के बच्चे को यह कैसे पता था कि शुक्लजी बाहर गये हैं ! त्र्यम्बक यजमानों के साथ बहुत देर के लिए भैरोगढ़ गया है ?
— तो, यह भी तो कहो कि दीदी उस समय भाभी के पास ही थीं ।
— चलो, पढ़ने से सोचने की इतनी बुद्धि तो आयी ।
— लेकिन दीदी ने ऐसा क्यों किया ?

— तुम्हारी दीदी उन सासों में से हैं जिनका भगवान या आराध्य ही—बहू को सताना होता है। दुर्गा नहीं रहेगी तो तीसरी बहू ले आएँगी। नया दान-दायजा आएगा।
— लेकिन बच्चे बिना माँ के नही हो जाएँगे? त्र्यम्बक की सुखी गृहस्थी नहीं उजड़ जाएगी?
— श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय! तुम्हारे इस कूढ़ मगज दिमाग में यह बात क्यों नहीं घुसती कि यह सोचना तुम्हारी दीदी का काम नही है। बहू उनके लिए पाँव की जूती है। त्र्यम्बक अपनी पत्नी को इतना मानता है, यही तुम्हारी दीदी के लिए सबसे बड़ा काँटा है।
— तो, बिशू क्या दुर्गा की हत्या करने गया था?
— तुम्हें किस गधे ने मनुष्य का जन्म दिया जी?
— क्या कहा?
— मेरा मतलब तुम मनुष्य हो कैसे गयी?—अरे भाई, सीधी सी बात है। बिशू के साथ किसी प्रकार नाम जुड़ जाए इतनी ही कामना उनकी रही होगी।
— बिचारी दुर्गा!! तब तो वह आत्महत्या ही कर लेती।
— हाँ, देवी जी, जब कोई आत्महत्या कर सकता है तो उसकी हत्या क्यों की जाए? और न करती वह तो क्या वह इस लांछन के बाद रह पाती उस शुक्ल-परिवार में?

श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय यह सारा विवेचन सुनकर हतप्रभ ही नही जड हो गयीं। वह बोलीं,

— तो अब क्या होगा?
— घबराओ नही, कुछ नही होगा। त्र्यम्बक मूर्ख नहीं है....हाँ वार खाली गया है तो तुम्हारी दीदी फिर कोई नया 'लाक्षागृह' योजित कर सकती है। परन्तु यह निकट भविष्य में नही होगा।
— तुम जीजाजी से मिलकर क्यों नहीं बातें करते?
— किसी से उसकी पत्नी के विरुद्ध बातें करने वाले को जानती हो शास्त्रों में क्या कहा गया है?
— क्या?
— गधा!!
— तुम्हें तो हर बात में मजाक सूझता है?
— मजाक नहीं, प्राणप्रिया! रस,—मूर्खों की अनन्त कृपा से चारो ओर कैसा रस बरस रहा है!
— अच्छा, अच्छा, अब रहने दो यह नाटक।....औरतों का पार्ट किया करते थे न तभी तो....

और एक पत्नी जिस प्रकार पति को तिर्यक देखती है लगभग वैसे ही श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को देखा और बेगवई से उठ गयीं।

अभी पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय सो ही रहे थे कि कोई नीचे के दरवाजे की साँकल बजा रहा था। एक अर्थ में बहुत सवेरा ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि अभी सवेरे के पाँच बजे थे। पण्डित नागेश्वर उपाध्याय की समझ में नहीं आया कि कौन हो सकता है? खादी-भण्डार या सार्वजनिक-सभा से सम्बन्धित कोई भी हो सकता था। ऊपर के छज्जे में पहुँच कर नीचे देखा। भागसीपुरे में अभी सन्नाटा ही था। सारे घरों की खिड़कियाँ, दरवाजे बन्द थे। बलखाती पतली-पतली गलियाँ, मकानों और चबूतरों के बीच से सुनसान बहता पानी लग रही थी।

— कौन ?

— काकाजी मैं हूँ।

— मैं कौन भैया! कुछ अता-पता तो होगा ही।

— नारायन नाई का लड़का, हरी।

— हाँ, हाँ—अब पहचाना। क्या बात है हरी ?

— गोवर्धन काका ने फौरन आपको बुलाया है।

— क्या बात है ?

— मुझे नहीं मालूम।

— अच्छा, कह देना आते हैं।

और छज्जे से लौटकर जब वह रसोईघर में पहुँचे तो पत्नी चूल्हा सुलगाने के लिए कंडी पर घासलेट डालकर जलाने जा रही थी। पति को देखा तो पूछा,

— कौन था इत्ती सबेरे ?

— तुम्हारे ही यहाँ का हरकारा आया था ?

— हरकारा ?

— न सही हरकारा तो कारिन्दा कह लो।

— क्या सबेरे-सबेरे से मजाक करने लगे।

— लो, मैं सच कह रहा हूँ और तुम्हें मजाक लग रहा है।

— कौन था ?

— नारायण नाई का लड़का हरी आया था।

— क्या कह रहा था ?

— यही कि फौरन बुलाया है।

और सुनकर श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय का माथा ठनका। इतनी सबेरे क्या काम हो सकता है? जरूर कुछ अवांछित हो सकता है। लेकिन क्या ?

— क्या सोचने लगी ?

— बात।

— हाँ, सो तो है ही। मेरा भी मन कुछ कह रहा है। खैर, चलो जल्दी से तुम भी

तैयार हो जाम्रो।

— नहीं, तुम ही हो श्राश्रो।

— अरे वाह, जिसके कारण उन लोगों ने सबेरा खराब किया भला उसे घर कैसे छोड़ सकता हूँ।

श्रौर श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय चलने की तैयारी के लिए उठीं।

पण्डित नागेश्वर उपाध्याय जिस समय पत्नी के साथ अपने साले पण्डित *गोवर्धननाथ व्यास के घर पहुँचे, मुश्किल से सवेरा हुआ था। पटनी-बाजार अभी सुन*-सान ही था। सिवाय क्षिप्रा-स्नान के लिए जाती वृद्ध महिलाओं या इक्के-दुक्के लोगों के बाजार खाली पड़ा था। इस प्रकार खाली-खाली देखने पर रोज की देखी हुई चीजें भी भिन्न लगने लगती है। दिन में यही बाजार लोगों, ताँगों के कारण कैसा भरा-भरा लगता है कि गोपाल-मन्दिर तक यह कैसा चौड़ा है और मकान काफी ऊँचे है, पर कभी ध्यान ही नही जाता। श्रौर फिर दिन भर कसेरो [बर्तन वालो] के यहाँ से बर्तनों की श्रावाजे, लोगो का हल्ला-गुल्ला, रेलम-ठेल ऐसी लगी रहती हैं कि श्रापको सिर उठकर देखने की फुर्सत ही नही होती। मगरमुँहे की गली में अवश्य ही हलवाइयों की भट्ठियाँ सुलगने लगी थी। जलेबियों का खमीर फेंटा जा रहा था। दो-एक लोग जलेबियों के लिए भट्ठियों से थोड़ी दूर खड़े थे। जाड़ो में यही आँच कैसी सुखदायी होती है। फाल्गुन आने तक वातावरण ठण्डा अवश्य रहता है परन्तु आँच लगने लगती है। टूटे-फूटे खण्डहरों में आवारा कुत्ते या गायें सवेरा होने से कोई विशेष प्रसन्न नहीं लग रही थीं। गोल खिड़कियों वाले वारजे से आते-जाते लोगों से लोगों का 'नमोनमः' या 'कसा काय राव साहेब?' 'चांगला' के वाक्य टुकड़े सुनायी पड़ रहे थे।

सिंहपुरी पहुँचने तक पीपल की सबसे ऊँची फुनगी पर शायद किरणें प्रकम्पित पत्तों पर आ गयी थी। व्यास जी ने दरवाजे की 'कल' खोली और घुसे ही थे कि श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय को, जो कि आगे-आगे थी, त्र्यम्बक की आवाज सुनायी दी,

— मामाजी! मै जानता हूँ इस पर आपका कोई अंकुश नही है, पर इससे अधिक सहन करना मेरे लिए भी मुश्किल है।....मैं चाहूँ तो अभी इसे पुलिस के हवाले करवा सकता हूँ।

और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने देखा कि मासी और मासाजी सामने खड़े है। उसने दोनों को प्रणाम किया। चौखण्डी में एक तरफ सिर पर पट्टी बाँधे बिशू बैठा था। सामने महल में दरी बिछी थी जिस पर पण्डित गोवर्धननाथ व्यास तो बैठे ही थे परन्तु दूसरे बैठे हुए व्यक्ति को देखकर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को आश्चर्य हुआ। वह थे पण्डित महादेव शुक्ल के छोटे सौतेले भाई पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल।

पण्डित त्रिलोचन शुक्ल ने प्रथम विवाह क्षिप्रादेवी से ही किया था, जो कि पण्डित महादेव शुक्ल और श्रीमती जमुनादेवी पड्या की माँ थी, परन्तु हुआ यह कि पण्डित त्रिलोचन शुक्ल के एक मित्र पण्डित लज्जाराम झा हुआ करते थे। थे तो वह भी इनकी ही जाति के परन्तु छोटी सम्भा थे। पण्डित लज्जाराम झा वैसे तो उदयपुर के रहने वाले थे परन्तु मालवा मे गत पच्चीस-तीस वर्षों से आ गये थे। उनके बारे में नाना प्रवाद थे, क्योंकि वह और उनकी बहन पार्वतीदेवी के अतिरिक्त किसी तीसरे व्यक्ति को कभी उनके यहाँ नही देखा गया। कोई नही कह सकता था कि पण्डित लज्जाराम झा ने क्यो नही विवाह किया और कैसे उनकी बहन अविवाहित थीं, यदि मालवा में सम्भव नहीं था तो वह अपने उदयपुर क्यों नही लौट गये ? पूरी उज्जैन में त्रिलोचन शुक्ल को छोड़कर न कोई उनका आत्मीय था, न कोई अन्य उनके घर आते-जाते ही थे। इसमें क्या रहस्य था कोई नहीं जानता। परन्तु एक दिन लोगो ने देखा कि पण्डित लज्जाराम झा के घर के सामने हल्की-सी सुगबुगाहट है। लोगों के लिए हल्का-सा तमाशा जैसा ही था। परन्तु सब का,कौतूहल अवसन्नता मे बदल गया जब ज्ञात हुआ कि पण्डित लज्जाराम झा का देहावसान हो गया है। लोग इसका अनर्थ भी कर सकते थे परन्तु पुलिस ने पुष्टि कर दी थी कि नही, मृत्यु पूरी तरह स्वाभाविक थी और चूंकि पण्डित त्रिलोचन शुक्ल ही स्वर्गीय झा जी के एकमात्र अन्तरंग थे, जाति के भी थे अतः उत्तरकार्य उचित रूप से करवा दें। बात आयी-गयी जैसी ही हो गयी। झा जी की बहन पार्वती का अब यहाँ कोई रह नही गया था। पण्डित त्रिलोचन शुक्ल ही अब उनके एकमात्र अभिभावक थे। मित्र की बहन के प्रति कर्तव्य तो था ही। वैसे भी पार्वतीदेवी अप्रतिम न भी सही तो क्षिप्रादेवी के मुकाबले में तो काफी सुन्दर कही जा सकती थी। मित्र की अनाथ बहन की सहायता वह स्वयं विवाह करके ही कर सकते थे। हालांकि जाति के लोगो ने पण्डित त्रिलोचन शुक्ल के दूसरे विवाह पर नही, बल्कि छोटी सम्भा में विवाह करने पर आपत्ति उठायी। शायद आन्दोलन तक हो जाता परन्तु पण्डित त्रिलोचन शुक्ल की सामाजिक हैसियत के सामने सिवाय कानाफूसी के और तो कुछ हुआ नहीं। पत्नी क्षिप्रादेवी तथा परिवार के और लोगों के रोने-पीटने मे उन्होंने इतना अवश्य किया कि अपनी इस द्वितीय पत्नी को इस घर में वह कभी नही लाये। अंकपात मुहल्ले के जिस मकान में झा जी रहते थे वह उन्होने खरीद कर पार्वती के नाम कर दिया, ताकि पत्नी पार्वती सामाजिक तथा आर्थिक रूप में किसी से दबें नहीं। पण्डित त्रिलोचन शुक्ल जो भी कर सकते थे अपनी इस पत्नी के लिए किया परन्तु वह पैतृक सम्पत्ति में से कुछ भी अपनी इस द्वितीय पत्नी को नही दे सके। अपनी आय में से भी वह क्षिप्रादेवी से बचाकर जो ला सकते थे वह पार्वती रहे। पार्वती से उनके दो पुत्र हुए—एक अवन्तीलाल और दूसरे फुन्द जातिवालों ने इतना सामाजिक बहिष्कार कर रखा था कि पण्डित

चाहने पर भी इन दोनों पुत्रों के लिए बड़ी सम्भावालों में से लड़कियाँ नहीं उपलब्ध करवा सके और उन दिनों मालवा में छोटी सम्भावाले लगभग थे ही नहीं। जब पिता के सामने विवाह न हो सका तब भला उनके बाद कैसे हो सकता था ? पण्डित त्रिलोचन शुक्ल की मृत्यु के बाद विधवा पार्वतीदेवी शुक्ल के लिए समस्या दुहरी थी। निश्चित आय का कोई स्रोत नहीं था। बड़ा लड़का अवन्तीलाल शुक्ल जनेऊ बनाकर, लोगों के यहाँ सत्यनारायण की कथा बाँचकर जो दो-चार रुपये कमा लेता वही बहुत था। छोटा कुन्दीलाल अवश्य दबंग था। उसने लाठी के जोर पर अपने पिता पण्डित त्रिलोचन शुक्ल की यजमानी में से यथासम्भव व्यवसाय हथियाया परन्तु सौतेले बड़े भाई पण्डित महादेव शुक्ल ने नीति से काम लिया। इस नीति के कारण ही आज तीस वर्षों के बाद अपनी सौतेली माँ पार्वतीदेवी शुक्ल को तथा दोनों सौतेले भाइयों को उन्होंने लगभग भिखारी बना दिया था। पण्डित महादेव शुक्ल ने अपनी माँ श्रीमती क्षिप्रादेवी शुक्ल को 'बाबा' के सामने रोते हुए, गिड़गिड़ाते हुए देखा है तथा कभी-कभी बाबा, पण्डित त्रिलोचन शुक्ल, माँ को बुरी तरह पीट भी दिया करते थे। माँ की यह यातना वह कभी नहीं भूल सके और इसीलिए बाबा को भी वह कभी क्षमा नहीं कर सके। बाबा की मृत्यु माँ के पहले ही हो गयी थी। पिता के मरते ही जो भी, जैसी भी आर्थिक सहायता अपनी सौतेली माँ—भाइयों को इस घर से जाती थी वह न केवल बन्द करवा दी बल्कि उनकी चेष्टा तो यह भी थी कि वह कानून के द्वारा यह सिद्ध करवा दें कि श्रीमती पार्वतीदेवी शुक्ल, पण्डित त्रिलोचन शुक्ल की विवाहिता पत्नी ही नहीं थीं। ज्यादा से ज्यादा वह रखैल थीं इसलिए ये दोनों लड़के भी उनके भाई नहीं हैं। चूँकि यह सिद्ध करना दुष्कर था कि पण्डित त्रिलोचन शुक्ल ने दूसरा विवाह नहीं किया था इसलिए कोर्ट-कचहरी के बजाय पण्डित महादेव शुक्ल ने नीति से काम लेना ही उचित समझा। जाहिर था कि पण्डित महादेव शुक्ल की अपने इन सौतेले भाइयों से जानी दुश्मनी होती। इस गृहदाह और पारिवारिक कलह में पण्डित महादेव शुक्ल से कहीं बढ़कर योगदान श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने दिया।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को तो बहाना चाहिए था। सच तो यह है कि बहाना न भी मिलता तो भी वह इस कौटुम्बिक-कलह की अग्नि को भला बुझने दे सकती थीं, जिसे उनकी सास ने इतने मनोयोग से प्रज्वलित किये रखा था ? यह बात दूसरी है कि 'सासू-माँ' से उनकी नहीं पटी पर पैतृक-कलह को बनाये रखना तो बहू का पुनीत कर्तव्य है। यह सास का कोई व्यक्तिगत मामला थोड़े ही था। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल चूँकि अपने ससुर के सामने ही विवाहित होकर आयी थीं इसलिए अपनी सासू-माँ, और पति के न चाहने पर भी 'ससुर जी' के सम्मानार्थ 'छोटी सासू-माँ' के घर भी प्रणाम करने जाना पड़ा था। पता नहीं क्यों श्रीमती पार्वतीदेवी शुक्ल को लगा कि सौत क्षिप्रा देवी ने उनका सम्मान करने नहीं बल्कि चिढ़ाने के लिए अपनी बहू को भेजा, तभी तो साथ में कोई नहीं आया। वर-वधू का अकेला चला आना किसी सास के लिए अपमान ही तो है। वधू के चरण-स्पर्श करते समय पार्वती देवी ने अपनी समझ से अच्छी ही

बनारसी साड़ी दी, एक नथ भी दी। महादेव को एक अँगूठी, कुरते के सोने के बटन दिये और ग्यारह रुपयों में खोल भरी। परन्तु क्षिप्रादेवी से कही अधिक श्रीमती कृष्णादेवी को लगा कि छोटी सासू-माँ को बहुत घमण्ड है। अतः दो घमण्डों की टकराहट के साथ-साथ स्त्रियो का वैमनस्य भी इसमें मिल गया था जिसमें पण्डित महादेव शुक्ल की भी सहमति थी। सो, कलह, वैमनस्य, प्रतिशोध का क्षेत्र विस्तृत ही होता चला गया। वैसे भी अवन्तीलाल और फुन्दीलाल न कभी अपने पिता के घर गये होंगे और न ही पण्डित महादेव शुक्ल कभी अपनी 'छोटी माँ' से अपने विवाह के बाद मिलने गये होंगे।

हुआ यह कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बिना किसी को कुछ बताए हुए अंकपात पहुँचे। दिन मे 'फुन्दी काका' से कसेरे की दूकान पर भेंट हो गयी थी। काका यजमानो को बर्तन दिला रहे थे। उसने उन्हें सकेत से दूकान से बाहर बुलाया और बताया कि रात वह घर आएँगे। फुन्दी काका चौंके तो अवश्य कि ऐसा क्या काम आ पड़ा परन्तु वही नही 'अवन्ती काका' और 'छोटी दादी' भी न जाने क्यो त्र्यम्बक और उसकी बहू दुर्गा को पसन्द करते थे। इसका कारण शायद यही हो कि दुर्गा ने त्र्यम्बक को इस मत का तो बना ही दिया था कि इन दोनो काकाओं और 'छोटी दादी' के साथ जो व्यवहार इस घर के लोगों ने आज तक किया वह अमानवीय है। कुछ हो, है तो एक ही रक्त।

मनुष्य की आकृति में आँखें सबसे अधिक सम्पर्शी होती है। अन्तर का बोलना, ओठो के बोलने के पूर्व आँखों से व्यक्त हो जाता है। जब आये दिन त्र्यम्बक इनमें से किसी से रेलवे-स्टेशन पर या क्षिप्राघाट पर या मंगलनाथ पर या भैरोगढ में मिलता तो आत्मीयता ही प्रदर्शित करता, तो दोनों काकाओं को पहले तो अविश्वसनीय लगा परन्तु बाद में रक्त ने रक्त को अपनी ओर आकर्षित किया। यजमानों के लिए भी कभी उसने काकाओ से कोई रार नही मोल लिया। फलतः काकाओ को त्र्यम्बक के प्रति आकर्षण ही नही बल्कि मोह ही होने लगा जबकि पण्डित महादेव शुक्ल के तथा श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल के प्रति उनकी घृणा यथावत बनी रही।

रात को जिस समय पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल पहुँचे तब तक दोनो काका घर नही पहुँचे थे। श्रीमती पार्वतीदेवी शुक्ल ने जब बाहर का दरवाजा खुलते सुना तो वह उस समय चूल्हे के पास रसोई बना रही थी। वही से उन्होने पूछा,

— कौन ?

— दादी-माँ ! मैं हूँ त्र्यम्बक।

— रान्नीघर में आ जा भैया !

और उन्होंने देखा कि दादी-माँ ने जिस तरह सिर बाँध रखा था उससे लग . . था कि वह अस्वस्थ है।

यदि इसे ही घर कहा जाए तो फिर खँडहर किसे कहेंगे ? कहने को . .

था। ऊपर, पहले कभी कमरे रहे हों तो रहे हों अब तो सिर्फ खम्भों पर छत टिकी हुई थी। शायद वरसों से खपरैलें भी बदली नही गयी होंगी। सड़क ओर के दो कमरे ही ठीक-ठीक थे बाकी पीछे की ओर का रसोई घर बहुत जीर्णावस्था में था। रसोईघर से लगा हुआ हिस्सा एकदम खुल आया था। दीवारें अधगिरी हालत में थीं। वही टट्टर की आड़ करके एक शिला रख दी गयी थी। स्नान या हाथ-मुंह धोना सब यही होता था। चूंकि इधर का दरवाजा एकदम खस्ता हाल था इसलिए इसमे से वर्षा का पानी, आंधी-हवा सभी आते होंगे और सब रासोघर चतुर्मास में पूरा गीला हो जाता होगा। रसोईघर के दूसरी तरफ कोने में अंधेरा था। वहाँ जलाने के लिए कंडी-लकड़ियाँ रहती थीं।

त्र्यम्बक ने दीवाल से खड़ा पाट 'दादी-माँ' के सामने बिछाया और जिस निश्चिन्त भाव से बैठा उसे देखकर पार्वती देवी के वृद्ध मुख में न जाने कितने वर्षों पूर्व का बीता हुआ सौन्दर्य एक भभके सा दिप उठा।

— क्या बात है दादी-माँ! सिर क्यों बांध रखा है? तबीयत ठीक नहीं क्या?
— बेटा! बुढ़ापे में तो यह सब होगा ही।
— तो आप हटे, मैं अभी रसोई बना देता हूँ।

आटा वह माँड़ चुकी थीं। सीझती भाजी का ढक्कन हटा कर एक बार खोंचे से चला दिया और उसे ढँक कर त्र्यम्बक की ओर देखने लगी। जिस तरह दादी-माँ देख रही थी उससे लगा कि ऐसे सम्पूर्ण ममत्व-भाव से तो स्वयं जिजी ने भी उसे कभी नहीं देखा होगा।

— क्या देख रही है दादी-माँ!
— भगवान की माया।
— कैसी माया?
— अच्छा छोड़। यह बता बहू कैसी है?
— जो नहीं है उसके तो हाल-चाल पूछ रही है और जो सामने हैं उसका कुछ नहीं।
— तेरा क्या? तू तो घर का है। परायी तो वह है न? बेटा! भगवान कीड़ा-मकोड़ा बना दे पर स्त्री कभी नहीं बनाए।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने देखा कि दादी-माँ की आँखें भर आयी। अभी कुछ वह कहे इसके पूर्व ही वह उठी और रासोघर से चली गयी। वह आगे के कमरों की ओर निकल गयी है, यह वहां के दरवाजे की सांकल खोलने की आवाज से वह जान सका। जब वह लौटी तो तश्तरी में दो लड्डू और थोड़ी-सी सेव लिये हुए थीं।

— आवभगत हो रही है क्या दादी-माँ!
— हाँ भैया! तुम लोग बड़े घर के ठहरे....

दादी-माँ की बात को काटते हुए बोला,

— दादी-माँ! मुझे आप अपने से क्यों काट फेंकना चाहती हैं?
— नहीं रे, काटना कैसा त्र्यम्बक!....अच्छा यह बता तू इसी वखत आया कैसे?

— पाँव से आया और कैसे

और दोनों हँस दिये। दादी-माँ के दिये लड्डू खाकर बोला,

— दादी-माँ ! छोटे काका से मैंने कहा था कि शाम को घर आऊँगा।

— तू और तेरा छोटा काका !! जाने तूने कैसे उस भूत को वस में कर लिया है।

— दादी-माँ ! अपनी माँ के मुँह से भूत, पापी आदि सुनना कितना अच्छा लगता है न ?

— त्र्यम्बक ! बेटा ! हमें, और कुछ नहीं चाहिए....बस तू ऐसे ही आ जाया कर बेटा !
....बिलकुल अपने दादू की आवाज तुझे मिली है....!!

और दादी-माँ साड़ी में मुँह छुपा कर हल्के से रोने लगीं। वह समझा आज अवश्य कुछ हुआ है। नहीं तो दादी-माँ में बहुत स्वत्व है।

— आज जरूर कुछ बात है, जो आप इस तरह विह्वल हैं।

मुँह और आँखें पोंछते हुए बोली,

— कुछ नहीं रे, तुझे जब भी देखती हूँ मन जाने कैसा हो जाता है।

और तभी बाहर से 'माँ' 'माँ' की पुकार आयी। फुन्दीलाल शुक्ल आये थे। द्वार पर ही त्र्यम्बक के जूते देखे, पहचाना और वहीं से बोले,

— त्र्यम्बक आया है न माँ !

— क्या तू ज्योतिष भी जानता है रे फुन्दी ?

रसोईघर के दरवाजे की चौखट चित्र की भाँति में जड़े फुन्दी काका को देखकर त्र्यम्बक ने दादी-माँ से कहा,

— आप भी दादी-माँ ! जरा-सा नहीं समझतीं। यह जानने के लिए भी क्या ज्योतिष जानना होता है ? अरे, वहाँ दरवाजे पर मेरे जूते देखे सो छोटे काका ने बता दिया। ऐसे ही झाँसा-पट्टी—करके ये ज्योतिषी, सीधे लोगों को ठगते हैं।

और तीनों हँसने लगे। इस बीच हाथ-मुँह धोकर दूसरा पट्टा बिछा कर पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल बैठते हुए बोले,

— कित्ती देर हुई आये को ?

— ज्यादा देर तो नहीं हुई। आप कहाँ से घाट आ रहे हैं ?

— नहीं रे, देवासगेट वाली मातुश्री धरमशाला में जजमानों का प्रबन्ध करके सीधा आ रहा हूँ। अभी दादा तो वहीं हैं। तुम्हारे आने की बात मालूम थी इसलिए बीच में कहीं नहीं रुका।....कुछ खाया-पिया कि नहीं ?

— क्या यह आप ही का घर है ? मेरी दादी-माँ का घर है यह।....अरे दादी-माँ ! भाजी जल रही है।

और श्रीमती पार्वतीदेवी शुक्ल चूल्हे के पास बैठकर भाजी चलाने लगी। पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल बोले,

— हाँ, बता, क्या बात है ?

— बात ?....आप भोजन कर लेंगे तो फिर आराम से बताता।

— चलो, ऐसा ही सही। परन्तु क्या तू नही खाएगा ?
— दादी के हाथ का खाना बड़े भाग्य से मिलता है काका ?
— चलो, बेटा न सही तो पोता तो अपना है ?
और श्रीमती पार्वती देवी शुक्ल ने दोनों की थालियाँ लगानी शुरू कीं।

भोजन के बाद रसोईघर में वैसे ही बैठे हुए जब त्र्यम्बक ने विशू वाला सारा काण्ड फुन्दी काका और दादी-माँ को सुनाया तो बडी देर तक सन्नाटा छाया रहा। चिमनी के उस मन्द काँपते प्रकाश में उन सब की छायाएँ गोबर लिपी दीवालों पर चढती-उतरती रहीं, जैसे दीवालें अपने केश रह-रह कर फैला रही हों।
तभी पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल बोले,
— त्र्यम्बक ! तू अब चल। यदि वह उज्जैन में ही है तो उसे कल सवेरे उसके घर लेकर पहुँच जाऊँगा।
— क्या वह अपने घर नही होगा ?
— लगता तो नही, क्योंकि व्यास जी को मालूम हो जाएगा तो वह उसे फाड़ खाएँगे। इसलिए वह घर नही हो सकता।
— आप कहें तो पुलिस में खबर कर दूँ।
— नही, इसमें हम सब की बदनामी होगी। तू चिन्ता मत कर। अब तू जा।
और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को घर से निकलते, सड़क पर जाते हुए पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल देर तक देखते रहे।

पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को आया देख पण्डित गोवर्धन व्यास ने मात्र 'आइए' कहा। श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय सीधे घर में भाभी के पास पहुँची। भाभी पिछवाड़े के दरवाजे पर खड़ी उसी हरी से पहले कुछ पूछ चुकी थी। उन्होंने तो मात्र इतना ही सुना—'जा, जल्दी जा बेटा।' श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने दूर ही से पुकारा,
— भाभी !
और श्रीमती गंगादेवी व्यास ने जैसे पलट कर अपनी छोटी ननँद को देखा तो वह समझ गयी कि इसने हरि से बातें करते सुन लिया है। लगभग सफाई देते हुए बोली,
— पूरी उज्जैन में कहीं कुछ हो, सब विशू के सिर पर। अरे, तुम बडे घर के हो तो क्या दूसरों को जीने नही दोगे ?
— क्या हुआ भाभी ?

— क्या नहो हुआ ?
और नर्मदा को घूरते हुए फिर बोली,
— कोई है जो हमारा भी साथ देगा ?....जब से आया है, पुलिस में दे देने की धमकी दे रहा है ।....मैं सब समझती हूँ यह इस फुन्दीलाल की शह पर हो रहा है ।
— क्या कह रही हो भाभी ?
— मैं जानती हूँ, तुम भी नहीं चाहती कि हमारा बिशू दो पैसे कमा कर अपनी हैसियत बनाए । जानती हो त्र्यम्बक ने अभी तुम्हारे दादा से क्या कहा ?....उसकी माँ से पैसा ऐंठने के लिए मैंने बिशू से यह बदनामी करवायी और इसमे उसकी माँ भी शामिल है ।....कोई माँ भला कोई ऐसा कर सकती है ?....बिशू अपनी भाभी की इज्जत लूटने जाएगा ? और अपने ही बेटे की बहू की इज्जत लूटने के लिए कोई माँ पैसा देगी ?. .मैं सब समझती हूँ....यह उस रण्डो की लगायी हुई आग है ।
— चुप करो भाभी !
— अब कहती हो चुप करो ।....उस दिन उसी समय तुम वहाँ कैसे पहुँच गयी थी ? तुमने न सिखाया होता तो क्या वह दुर्गा की बच्ची इस त्र्यम्बक को यह सब उल्टा-पुल्टा समझा सकती थी ?....किसने देखा कि वह बिशू था ? उस अँधेरे मे उसे दिख भी गया ।....त्र्यम्बक कहता है कि वह बिशू के सिर में चोट उसी खड़ाऊ की है....ठीक है, है तो कर लो जो तुम्हारा मन आए । मैंने भी जीजाजी और दीदी को बुलवा लिया है । हो जाएँ आज एक लकड़ी के दो टुकड़े ।.. .तुम लोगो को हम दोनो ननँद-भाभी का हँसना-बोलना षड्यन्त्र मालूम देता है न ?....तो पूछती क्यों नहीं अपनी दीदी से ?....भला उनसे कोई कैसे पूछ सकता है ? बड़े लोग है न वे । हम छोटे है तो हमें सब दबाते ही जाते है....नहीं, आज सब साफ हो ही जाना चाहिए ।

और पीछे के खुले दरवाजे से पण्डित महादेव शुक्ल और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल आते दिखे । शुक्ल जी तो आगे के दरवाजे के लिए बढ़ गये परन्तु श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल पीछे के दरवाजे से ही आ गयीं । उनके आते ही श्रीमती गगादेवी व्यास ने मुँह पर आँचल ले लिया और जोरों पर रो पड़ी । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने नर्मदा को घूर कर देखा । फिर वह अपनी छोटी भाभी की पीठ पर हाथ धरती हुई घर के भीतर ले चली ।
श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय केवल किंकर्तव्यविमूढ ही हो सकती थी ।
श्रीमती गंगादेवी व्यास को सान्त्वना देते हुए बोली,
— क्या बात है गंगा ?
वह यथावत ही रोती रही । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए पुनः बोली,
— मैं तो रोज-रोज की इस किचकिच से परेशान हो गयी हूँ ।
आँचल से मुँह-नाक पोंछते हुए श्रीमती गंगादेवी व्यास बोली,
— बड़े लोगों से कोई कुछ थोड़े ही कहता है, साँसत तो हम जैसे छोटे लोगों की है ।

— कैसी बातें करती हो गंगा ! तुम छोटी और हम बड़े ?
— और नहीं तो क्या ? लड़के को चोट कैसे लगी यह पूछना तो दूर । सवेरे से अपने उस गुण्डे काका को लेकर चढ़ दौड़ा कि उसकी बहू की इज्जत लेने बिसू गया था और इसके लिए पैसा हमें तुमसे मिला ।
— क्या ?

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने आश्चर्य अवश्य प्रकट किया परन्तु चेहरा फक हो गया था ।

— पूछ लो अपने बेटे से, वो बैठा है । अपने मामा की यह इज्जत की भानजे ने । अब बुढ़ापे में यही सब सुनना बाकी रह गया था । बिसू मोटर खरीदने वाला है टैक्सी के लिए, उसके लिए तुम पैसा दे रही हो हमें । और इसके लिए तुम अपनी बहू की इज्जत लिवाना चाहती हो ।....देख रही हो अपनी बहू के लच्छन ! ! यह तुम्हारे घर में महाभारत करवा कर न रहे तो मेरा नाम पलट देना ।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल पत्थर बनी सब सुनती बैठी थी । तभी पण्डित गोवर्धन नाथ व्यास भीतर आए और नर्मदा से बोले,

— नर्मदा ! इन लोगों से कहो वहीं चलकर पंचायत करें....जीना हराम कर दिया है सालों ने । भगवान जाने कौन से पाप किये थे कि इस नरक में जीना पड रहा है ।

और श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय ने देखा कि दादा की आँखें क्रोध में उबली पड रही हैं ।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने देखा कि त्र्यम्बक बिसू पर गरज रहा था,

— अगर तू ममेरा भाई न होता तो अब तक तेरी लाश क्षिप्रा में होती ।....बहुत गुण्डई का अरमान है न; चल, कहाँ चलता है ?—हरसिद्धि, दशहरे-मैदान.... जहाँ चाहे, जैसे चाहे आ जा ।....तुझे शरम नहीं आयी, अपनी भाभी की इज्जत लेने चला था ? सोचा था न कि वह डूब मरेगी....तुम्हारा क्या बिगड़ता । कुछ पैसों के लिए मेरा जीवन चौपट करने चला था....बतलाएगा कि नहीं....या पुलिस में दे दूँ....किसने तुझे यह करने को कहा था ।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल गुस्से में थर-थर काँप रहे थे । निश्चय ही पिता, मामा, मासा आदि का लिहाज था जो बिसू को गाली नहीं दे रहे थे । तभी श्रीमती गंगादेवी व्यास तमक कर बोलीं,

— ठीक है, तो फिर दे क्यों नहीं देते पुलिस में ? मार-मार कर हालत खराब कर दी लड़के की ।

पण्डित गोवर्धननाथ व्यास एकदम गरजते हुए बोले,

— अब फिर तुम बिसू के मामले में बोली तो मैं तुम्हारा गला दबा दूँगा ।
— हाँ, हाँ, दबा दो गला मेरा भी और इसका भी । देखूँगी कैसे दूसरे तुम्हारा सब

करते-धरते हैं ।

तभी श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल अपनी भाभी के पीछे करते हुए बोलीं,

— त्र्यम्बक !

उन्हें बोलते देखकर सब चौकन्ने हो गये । पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल की ओर संकेत करते हुए बोलीं,

— ये लोग कब से तेरे सगे हो गये ?

— जिजी !

— क्या है ? दुनिया भर को आँखें दिखाता-दिखाता अब माँ को भी आँखें दिखाने लगा । तेरी बहू ने कान भर दिये और तेरे बाप के खून के प्यासे इन काकाओं के पास तू दौड़ा चला गया ?....इतने बड़े लोग बैठे हैं, न शरम, न लिहाज ।

— जिजी ! क्यों मेरी जीभ खुलवाती हो ?

— कुछ कसर बाकी रह गयी है ? तू, तेरी बहू, तेरी यह मासी और तेरा यह काका यही न कहते फिरते हैं कि मैंने दुर्गा की इज्जत लुटवाने के लिए बिशू को पैसा दिया ? मैं चुड़ैल हूँ, डाकन हूँ, पिशाचिनी हूँ....अपने ही बेटे का घर उजाड़ूँगी.... मुझे क्यों नहीं पुलिस में दे देता....इन बिचारों ने तेरा क्या बिगाड़ा है....तेरी वह महरानी तेरी सगी हो गयी और तेरी माँ परायी ? है न ?....हे भगवान !!

और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने जिस प्रकार रोना शुरू किया तथा उनके साथ श्रीमती गंगादेवी व्यास ने भी रोना शुरू किया उसके बाद क्या हो सकता था ?

सब वितृष्ण हो उठ गये ।

जिस प्रकार सवेरे-सवेरे पति गये थे और उसके बाद नारायण नाई के लड़के हरि ने आकर चिल्लाते हुए कहा था कि गोवर्धन काका ने आप लोगों को जल्दी से बुलाया है, उसे देख-सुनकर दुर्गा पहले तो अवचेतन में असुविधा अनुभव करने लगी, उसके बाद वह स्पष्टतः चेतन स्तर पर भी अनमनी हो उठी। बिशू-काण्ड के बाद से घर में एक प्रकार का तनाव सारे सदस्यों में आ गया था। हाँ, ससुर शायद अपनी ही किसी उलझन के कारण स्वतः बने हुए थे। माँ-बेटे में भी सास-बहू का सा ही अबोला चल रहा था। यद्यपि दुर्गा ने अपनी ओर से यथावत व्यवहार ही रखा था। हाँ, पहले दो-एक बार में सासू-माँ उसकी बात का जवाब देती थी तो अब तीन-चार बार पूछने पर पूरा न सही तो आधा-दूधा ही जवाब मिलता, या 'जैसी तुम्हारी इच्छा हो करो' का टका-सा जवाब मिलता। जिसका स्पष्ट तात्पर्य होता कि सासू-माँ बोलना टालती है। परन्तु दुर्गा ने कभी इसका बुरा नहीं माना बल्कि सासू-माँ का इस तरह कटे-कटे रहना उसे खलता। वह सच ही सासू-माँ को खूब प्रसन्न देखना चाहती है। इसीलिए जब वह अकेले में बच्चों से खेलते हुए हँसती होतीं तब दुर्गा को सासू-माँ कितनी सुन्दर लगतीं। कहीं दूर-दूर तक उनके उस गौर-मुख में कोई अप्रियता नहीं दिखती। उनकी नाक की हीरे की लौंग धूप में कैसी खिल आती। सासू-माँ के बाल घुँघराले थे। धूप में उनके चमकते बालों में कैसी लहरें बनतीं। सासू-माँ के पान खाये दाँत उनके हँसते हुए मुख के पतले ओठों में कैसे लकीर से खिंच उठते। कितना उसका मन होता कि ऐसे समय वह भी थाली में दाल बीनती बैठी हुई हो और इस सुख को भोगे। परन्तु जानती है कि जो सिर, अभी बच्चों ने उनका खोल दिया है और बच्चे उन पर लदे पड़ रहे हैं— उसके पहुँचते ही वह गम्भीर होकर सिर ढँक लेंगी और सर्वथा भिन्न हो जाएँगी। फिर भी वह सासू-माँ को अपने बच्चों की ही तरह प्यार करती है! बच्चे भी दिन भर उनके

पास ही घुसे रहते हैं। उनके कमरे में घुसकर लड़-भगड़कर वे लड्डू, मिश्री, खारक [छुहारा] आदि लेकर ही रहेंगे। हाँ, जटी [धुर्जटी के पुकारने का नाम] तो ज्यादा नहीं करता परन्तु पाँचू [पंचानन के पुकारने का नाम] और मन्या [चन्द्रशेखर के पुकारने का नाम] तो इतने बड़े हो चले परन्तु आज भी 'दादी-माँ' 'दादी-माँ' करते उनका नाक में दम किये रहते हैं। हाँ, यह है कि बच्चों से वह कभी कुछ नहीं कहती। कहना चाहिए कि वे लाख परेशान करें परन्तु बिगड़ती तक नहीं हैं। कुन्ती का सारा काम वह अपने हाथ से ही करती है। बच्चों ने छुटपन में उनके बिस्तरे यदि खराब कर दिये होंगे तो भी वह कभी बहू पर नहीं बिगड़ी होंगी क्योंकि बच्चे, बहू के थोड़े ही हैं? आखिर तो उनके अपने त्र्यम्बक के ही हैं। उस त्र्यम्बक के, जो केवल मुखाकृति से ही नहीं, बालों के घुंघरालेपन से भी माँ की प्रतिकृति था।

दादी-माँ के इस लाड़-प्यार ने किसी सीमा तक बच्चों को बिगाड़ा ही है। कुन्ती तो जब बहुत छोटी थी तब दुर्गा के डाटने पर प्रायः कहा करती थी—"सुको, दादी छे वो माल पितवाएँगे कि याद कलोगी।" और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल जिस मोहासक्त भाव से उसे उठाकर सीने से लगाती तो सिर ढँके दुर्गा को रोटियाँ बेलते तथा पति के दाल या शाक परसते भी हँसी आ जाती। परन्तु सम्बन्ध जिस प्रकार उसे खुलकर रोने नहीं देता था उसी प्रकार वह खुलकर प्रसन्न भी नहीं हो पाती थी। और किसी दिन यदि सासू-माँ ने उससे किंचित मुसकरा कर बोल दिया होगा उस दिन दुर्गा को उत्सव जैसा लगा होगा।

बच्चे अभी जागे नहीं थे। वह चूल्हा जलाकर दूध गरम कर रही थी। उसे बराबर लग रहा था कि इस प्रकार इन लोगों के जाने का प्रयोजन क्या उस दिन के काण्ड से तो नहीं सम्बन्धित है? रात में उसे पति के मुख पर न जाने क्यों तनाव लगा था। खाना भी नहीं खाया था। बहुत पूछने पर यही बताया था कि कुन्दीकाका और दादी-माँ ने खिला दिया।

— लेकिन आप वहाँ पहुँच कैसे गये थे?

— क्यों, क्या हम उनके यहाँ नहीं जाते?—बाबा, जिजी न जाएँ।

— यह मैं कब कहती हूँ।

— तो फिर?

— कोई खास बात थी क्या?

— दुर्गा! दुनियाँ भर की चिन्ताएँ लेकर तुम सोच-सोचकर अपना माथा क्यों खराब किये रहती हो?

— मैं आपको चिन्तित नहीं देख सकती।

— पूरी घर-गृहस्थी स्त्री सम्हाले, तो आदमी चिन्ता करना भी छोड़ दे?

— स्त्री चाहेगी तो यही कि उसके पति को कुछ न करना पड़े।
— इसीलिए स्त्रियों की यह दुर्दशा हुई और पुरुष सांड़ बने घूमते हैं।
— अच्छा जी !!....अभी जिजी यह सुन लें तो....
— यही न कहेंगी कि तुमने मुझ पर जादू कर रखा है।....लेकिन क्या यह झूठ है ?
और त्र्यम्बक ने कैसे उसे समस्त भाव से देखा था जैसे पति उसे ग्रहण कर रहा है। ....यद्यपि वह तब भी आश्वस्त नहीं हो पायी थी। सोते हुए मुख में वह बात पढ़ने की चेष्टा करती रही जिसे पति ने कहा था। चिमनी के उस मन्द प्रकाश में पति की प्रलम्ब नाक की परछाईं कैसे उनके गाल पर गिर रही थी। उसे सोते हुए पति का मुख सदा प्रिय लगा है क्योंकि हमेशा यह बच्चों की नींद ही नहीं सोते बल्कि एकदम बच्चे ही लगते हैं।

उसे दूध उफनने की प्रतीक्षा थी ताकि वह तब नीचे जाए और चारों बच्चों को जगाए। घर में जैसी नीरवता थी उसमें गरम होते दूध का सुरसुराना कितना स्पष्ट सुनायी पड़ रहा था। कभी कोई लकड़ी चिटख उठती या चिनगी आवाज करते तिड़-तिड़ाने लगती। वह पूर्ण आश्वस्त थी कि जरूर ये लोग विशू के सम्बन्ध से ही गये हैं। लेकिन ?....क्या....??
और 'कल' खुलने की आवाज के साथ ही आवाज सुनायी दी।
— जटी ! पांचू !....कोई नहीं है घर में क्या ?
वह जवाब देती परन्तु दूध उफनाने चला था। दूध को फूंकते हुए वह कपड़े से पतीली नीचे उतारने लगी। शायद बच्चों ने अपने नामों की आवाज सुन ली थी।
— आइए बुआ-दादी ! आइए।
बुआ-सास श्रीमती यमुनादेवी पंड्या थीं।
— कहाँ है सब ?
— यहीं होंगे दादी !
— तुम लोग सो रहे थे क्या ?....
और यह कहते हुए बुआ-सास ऊपर पहुँची। बहू को चूल्हे के पास दूध गरमाते देख वह रसोईघर में आते हुए बोली,
— कोई है नहीं क्या ?
— आइए।
और उसने उनके लिए आसन बिछाया। चरण स्पर्श करते हुए दुर्गा बोली,
— कुछ देर हुए मामाजी के यहाँ गये हैं।
— व्यास जी के यहाँ ? सवेरे-सवेरे ? क्या बात है !
— पता नहीं।
— त्र्यम्बक भी वहीं गया है क्या ?
— नहीं, वो तो सवेरे ही कहीं गये हैं।....आप कब लौटीं शाजापुर से ?
— रात आयी।

— ब्याह सब ठीक से हो गया ? बरात तो आगर से आनी थी न ?

— हां ! अरे, ब्याह क्या था, बस सब हो गया । लड़की के और कौन था, बिचारी माँ ही है । दूर की ननँद हैं । घर में कोई करने वाला है नही । तब भी भई, लड़के वाले ऐसे भले मिले कि क्या बताऊँ । लड़का भी सुशील है । वही तहसील में है । घर के लोग भले हैं । लड़की सुखी रहेगी ।

— लड़की सुखी रहे और क्या चाहिए ?

— हर माँ-बाप यही चाहते हैं दुर्गा !

तब तक बच्चे हाथ-मुँह धोकर शोर करते ऊपर पहुँचे ।

बच्चो को दुर्गा ने नाश्ता दिया और दो लड्डू बुआ-सास के सामने भी कर दिये । वह बोली,

— यह क्या ?

तभी कुन्ती बोली,

— बुआ-दादी ! भोत अच्छे हैं, दादी-माँ ने बनाये हैं । खाइए तो !!

— तेरी दादी-माँ ने तेरे लिए बनाये कि हमारे लिए बनाए ?

इसका जवाब कुन्ती की समझ में नही आया । वह अपने भाइयों का मुँह ताकने लगी । इस पर सब हँस पड़े । पाँचू बोला,

— अरे मूर्ख ! कहती क्यों नहीं कि घर में बनी चीज सबके लिए होती है ।

— झूठ बात । दादी-माँ तो कह रही थीं कि लड्डू कुन्ती के लिए ही बने हैं ।

तभी मन्या बोला,

— देख रही है बुआ-दादी । यह कुन्ती ऐसी पेटू है कि दिन भर खाती रहती है तब भी इसकी नियत नहीं भरती ।

इस बात पर शायद कुन्ती रोने ही जा रही थी कि बुआ-दादी बोली,

— दादी-माँ ही क्यो, हम भी कहते है कि ये लड्डू कोई और नही खाएगा—केवल कुन्ती ही खाएगी ।

और यह सुनकर कुन्ती की आँखे हठात प्रसन्नता में चमक उठी । पाँचू ने कुन्ती के हाथ का लड्डू छीनते हुए कहा,

— बड़ा लड्डू खाएगी !! ले ले !!

और आखिर कुन्ती रो ही पड़ी । बुआ-दादी ने तब बीच-बचाव ही नहीं किया बल्कि रोती हुई कुन्ती को अपनी गोदी में बैठालकर जब अपने हाथ से लड्डू खिलाया तब जाकर उसका रोना बन्द हुआ । हालाँकि वह देर तक सुबुकती रही ।

बच्चों का नाश्ता हो गया तो वे सब खेलने चले गये । बच्चों के जाने पर बुआ-सास ने दुर्गा से पूछा,

— और सब ठीक है न ?

— जी ।

— तुम्हारा मुँह क्यों उतरा हुआ है ?

— नहीं तो।
— आँखों के नीचे कालो आ गयी। तबियत तो ठीक है न?
— ठीक तो है। ...क्या ठीक नही लग रही हूँ?
— अच्छा, तो अब चलूँ। सोचा, चलूँ पहले सबसे मिल लूँ।
— क्यों, ऐसी क्या जल्दी है?
— घर आठ-दस दिनों से बन्द पड़ा है। झाड़ू-बुहारू पड़ा होगा। उठाना-धरना करना है।
— बुआ-माँ! एक बात बहुत दिनों से पूछना चाहती रही।
— कौन-सी बात?
— कभी फूफाजी यहाँ नही आते। क्यों भला?

सुनकर बुआ-सास का मुख जिस प्रकार अवाक हुआ उससे दुर्गा को लगा कि उसने तो बड़ी साधारण सी बात जाननी चाहिए थी, पर क्या यह बात साधारण सी नही है?.... उसे आश्चर्य प्रायः हुआ है कि सिवाय उसके पति के, न सासू-माँ और न ससुर जी कोई भी फुफिया ससुर पण्डित नारायण जी पंड्या की चर्चा नही करते। क्यों? ऐसी क्या बात है?....उसने स्वयं कभी इस बात पर विशेष ध्यान नही दिया था। आज भी, चूँकि बुआ-सास अकेली बैठी दिख गयी, कोई दूसरी बात वह क्या करे? बहुत दिनों से वही बिशू वाला काण्ड उसे घिरता रहा है। उसने मुँह का स्वाद बदलने के ख्याल से यों ही पूछ भर लिया था।....उसे लगा कि उससे शायद कोई भूल हो गयी। बड़ा पछतावा लगा।

श्रीमती यमुनादेवी चलने को उद्यत हुई थीं कि दरवाजे की 'कल' सुनायी दी।
— ये लोग भी आ गये, लगता है।

बच्चों का जिस प्रकार शोर उठा उससे लगा कि यह बड़ों के होने की सूचना है। सीढ़ियों पर सबसे पहले श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल और उनके पीछे त्र्यम्बक दिखे। बुआ-माँ को देखते ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने बुआ का चरण-स्पर्श किया। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने अपनी ननँद को देखा तो सायास अपने मुँह पर से खिचाव दूर करने की चेष्टा करते हुए पूछा,
— ब्याह से लौट आयीं?
— रात ही लौटे।
— बैठो, मैं कपड़े बदल आऊँ।

और श्रीमती यमुनादेवी पंड्या को अपनी भाभी के आते ही लगा था कि जैसे वातावरण हठात भारी हो आया है। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल के मुख पर अप्रियता लिखी हुई थी। त्र्यम्बक भी कोई खास सहज नहीं लग रहा था। उन्हें वहाँ बैठने में अब और भी अधिक असुविधा लगने लगी। भाभी के जाते ही उन्होंने त्र्यम्बक से पूछा,
— क्या दादा लौट आए?
— हाँ, बाबा नीचे हैं। मैं उन्हें बता देता हूँ।

— चलूं, नीचे ही मिल लूँगी ।
— जिजी भी तो आ ही रही हैं ।
नीचे पहुँच कर देखा कि बैठक में दादा, गाव तकिये के सहारे गम्भीर बने बैठे हैं । उनके बाहर के कपड़े खूंटी पर टंगे हैं । गंजी और धोती में उनकी दुहरी, गौर काया पृथुल लग रही थी । आज पहली बार बहन को लगा कि दादा अब तेजी से वृद्ध हो रहे हैं । मूंछें जब काली हुआ करती थी तो ऊपर के ओट पर उनकी सघनता कैसी भली लगती थी । गंजे सिर पर पगड़ी का लाल निशान का कैसा घेरा बना हुआ है । बांये कान के ऊपर के हिस्से में दो मोती और पन्ने की लटकन वाली सोने की छोटी-सी बाली में दादा किसी राजा से कम थोड़े ही लगते हैं । बचपन में कितना हँसमुख स्वभाव था । हँसते थे तो पूरी आंख हँसने में निचुड़ उठती थी और तब उस खिलखिलाहट पर बाबा कैसा डाँटते थे । दादा की सारी मुखाकृति जिजी की थी परन्तु पीछे से बाल का कटाव बिलकुल बाबा के जैसा है । पीछे से देखने पर तो बाबा का भ्रम होता है ।
सिर के ऊपर दोनो हाथ गुंथे हुए थे और शायद आँखें भी बन्द किये हुए थे । यमुना ने देखा कि आहट सुनते ही उन्होने आँखें खोलीं और यमुना को देखते ही तकिये के सहारे ठीक से बैठते हुए बोले,
— अरे, तुम लोग लौट आए ?
दादा के चरण-स्पर्श करके श्रीमती यमुनादेवी पंड्या बैठ गयी । पण्डित महादेव शुक्ल ने गंजी में से अपना जनेऊ खीचा और जनेऊ में बँधी अपनी चाँदनी की दंतखुदनी से दाँत खोदने लगे ।
— रात आए ।
— सब कार्य ठीक से हो गया न ?
— हाँ, हो ही गया ।
चूंकि वैसे तो यमुना उनसे छोटी थी परन्तु नारायणजी पंड्या उनसे आयु में बड़े थे इसलिए वह उन्हे हमेशा जीजाजी ही सम्बोधन करते थे । बोले,
— जीजाजी की मगेरी बहन हैं न यह तो जिनको लड़की का ब्याह था ।
— हाँ । वहाँ सबको आशा थी कि आप जरूर आएँगे ।
— जाना भी चाहिए था यमुना !....चलो ।
और जिस प्रकार 'चलो' कहकर उन्होंने निश्वास ली उससे लगा कि दादा को कुछ चुभ रहा हैं । वह नही सोच पा रही थी कि भाई से इस बारे में पूछना उचित है कि नही ।
— जीजाजी की इन बहन का नाम तो सावित्री बेन हैं न ?....अवटंक क्या है इनका ?
— द्विवेदी ।
— अच्छा, अच्छा, याद आया....यही हैं न वो पण्डित लोकनाथ द्विवेदी जो सिंगापुर चले गये ?....वो नरसिंहगढ़ वाले सेठ माणिकलाल विजयवर्गीय अपने साथ सिंगापुर ले गये थे ।
— आग लगे इन सिंगापुरी सेठों में । बिचारी सावित्री बेन का घर ही उजड़ गया ।

— वहाँ उन्होंने किसी बर्मी से विवाह भी तो कर लिया न ?....यमुना ! यह जीवन बड़ा विचित्र है। नगे पैर हो तो तपता है और जूते हों तो तब भी तपता है।... आदमी कहाँ भाग कर जाए ?

श्रीमती यमुनादेवी पंड्या समझ गयी कि दादा के पैर, आज शायद जूते में तप रहे , बोली,

— क्या बात है आज तुम खिन्न लग रहे हो ?

पण्डित महादेव शुक्ल हठात चौकन्ने हुए जैसे वह अपने में खो गये थे और तभी उन्हें चेत हुआ कि कोई अन्य भी उपस्थित है, बोले,

— नहीं रे, मैंने तो एक बात कही। तेरे दादा को क्या हुआ ?—कुछ तो नहीं।

और वह हँसे। हँसे अवश्य, पर वह हँसी वैसी ही लग रही थी कि जैसे वर्षा-पानी में जीर्ण हो गयी किसी दीवाल को छू दिया जाए तो उसका चूना झड़ उठे। उनकी हँसी में भी लगभग ऐसा ही शब्द था।

— नहीं, जरूर कोई बात है। ऐसे तो तुम पहले कभी नहीं लगे।

— बात ?....यमुना ! अभी तुम आयी उस समय जाने क्यों यह विचार आ रहा था कि ऐसे लाखों लोग है जिनके लिए प्रत्येक दिन जीना, किसी मरने से ज्यादा दुखदायी है....फिर भी सब जीते हैं....शायद वे उसके अभ्यस्त हो जाते होंगे....और कुछ होते है जिन्हें जरा से में घबराहट होने लगती है।

— तुम किसके बारे में कह रहे हो ?

— किसी के नहीं रे। मै तो बात कह रहा हूँ।....अच्छा, तू बता, क्या किसी खास काम से आयी थी ?

— क्या मैं अपने दादा के पास काम या स्वार्थ लेकर ही आती हूँ ?

— काम तो हो ही सकता है, परन्तु तू और स्वार्थ ? और वह भी....

— वह भी क्या ?

— यमुना !....सच कहना, तू भी मुझे बुरा समझती है न ?

— यह क्या कह रहे हो ?....आज तुम्हें क्या हो गया है ?

— हो ही जाता तो सन्तोष तो होता यमुना !....दुनियाँ में होता कम है, होने की आशंका ही जीवन भर बनी रहती है। और जिस दिन होता है आदमी उसके बाद या तो निर्भय हो जाता है या मुक्ति पा जाता है। यह संसार केवल होने, न होने की सभावना, सारे अपशकुनों की आशंका का ही तो नाम है।....मगर मैं यह सब क्या ले बैठा।....तू ने कुछ खाया-पिया कि नहीं ?

तभी दोनों ने देखा कि श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल चली आ रही हैं। उनको देखकर कोई भी कह सकता था कि वह जल भरा ऐसा मेघ है जो लटका पड़ रहा है, और किसी भी पेड़ की फुनगी यदि उसे छू भर जाए तो अभी सारी पृथ्वी जलमय हो जाएगी। पत्नी को देखकर पण्डित महादेव शुक्ल को स्पष्टतः असुविधा हुई। वह उठ खड़े हुए। धोती दोनों ओर से फिर से कसा और अँगरखा पहनने लगे।

ग्राते ही वह पति से बोली,

— क्या कहीं जा रहे हो ?

— हाँ, हिरवे वकील साहब के यहाँ जाना है ।....क्यो ?

— कुछ नही ।

— कोई खास बात हो तो बताओ, नही तो शाम को कहना ।

— त्र्यम्बक ही कुछ कह रहा था ।

— ग्राज मुकदमे की पेशी है....मेरे पास इन सब फिजूल की बातो के लिए समय नही है ।....दिन भर ये सास-बहुग्रो के बेबात के झगड़े....ग्रादमी काम नही करे क्या ? घर में झगड़े, बाहर झगड़े !!

श्रीमती यमुनादेवी पण्ड्या को लगा कि दादा शायद वस्तुस्थिति को उनके सामने बचाना चाहते हैं । वह उठी और बोली,

— तो मैं चलूं दादा !....ग्रच्छा भाभी फिर ग्राऊँगी ।

— तुमने सुना यमुना ?

— क्या ?

तभी पण्डित महादेव शुक्ल लगभग गरज उठे,

— क्यों इसका भी दिमाग खराब करना चाहती हो ? यह बिचारी तो न तुम्हारे लेने में, न देने में ।....जाग्रो यमुना ! ग्रपनी रोटी तो घी से चुपड़ी चाहिए और दूसरे की पानी से भी नही ।

पगड़ी वह पहन ही चुके थे । दुपट्टा दोनो कन्धो पर डाला ग्रौर छड़ी उठाकर वह ग्रपनी विद्यासागरी पहनने लगे । श्रीमती यमुनादेवी पंड्या की कुछ समझ में नही ग्राया कि भाई तो चाहते हैं कि वह कुछ न सुनें ग्रौर भाभी शायद कुछ बताना चाहती है । ग्रभी पण्डित महादेव शुक्ल बैठक से निकले ही कि श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल बोली,

— तो, मैं त्र्यम्बक से क्या कहूँ ?

— तुम मुझसे पूछ कर सब करती हो क्या ?....जो किया उसे भुगतो । ग्रब त्र्यम्बक लड़का नही है, वह भी घर का मालिक तुम्हारे पति की ही तरह है ।

— मैं लड़के की बात नही कर रही हूँ ।

— तो तुम बहू को घर से निकालना चाहती हो ?....देवी जी ! कानून का चक्कर जानती हो कुछ ? दिन में तारे नजर ग्रा जाएँगे ।....पता नही उस गाय जैसी बहू से न जाने किस जन्म की दुश्मनी है तुम्हारी । जब देखो उसकी जान को ग्रायी रहती हो ।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल फुँकी पड रही थी । उन्हे पति की यह बात घोर ग्रपमानजनक लगी । ग्रौर इसकी ग्राशा कम से कम तीसरे ग्रादमी के सामने तो नही ही थी ।

— ठीक है तो फिर ।

ग्रौर चौखण्डी के पत्थरों ने भी ग्रनुभव किया कि उन्हे रौंद कर कोई गया । पण्डित महादेव शुक्ल ने ग्रपनी बहन से सिर्फ इतना ही कहा,

— तुम चलो, कचहरी से लौटते में तुम्हारे यहाँ आऊँगा।
और वह भी चल दिये।

घर से चलकर गोपाल-मन्दिर चौक तक आये। बाजार खुलने लगा था। अबीर-गुलाल वाले कुंकुम-मेंहदी, अबीर की थालें सजा रहे थे। रंगीन नाड़े झाड़-पोंछकर टाँग रहे थे। नारियल वाला अपनी दूकान के सामने के पटिये को झाड़ू लगाते हुए कोई भजन गाता जा रहा था। गायें या तो बीच में खड़ी थी या बैठी थी। क्षिप्रा से या पूजन करके लौटते हुए लोग गायों का स्पर्श करते हुए आ-जा रहे थे। उन्होंने विद्यासागरी पैरों से निकालकर गोपाल-मन्दिर के सामने खड़े होकर नीचे से ही भगवान का दर्शन किया और तब ताँगा किया।

ताँगे में पीछे की गद्दी से टिके, छड़ी पर दोनों हाथ रखे वह खुली आँखों से देखने के स्थान पर अपने ही भीतर झाँकते बैठे थे। निश्चित ही आज वह दुःखी थे। अपनी पत्नी को लेकर; अपने को लेकर तथा पूरे जीवन पर जब कभी वह सोचते रहे हैं तो उन्हें यदा-कदा कष्ट हो आता था, परन्तु आज तो वह आकण्ठ दुःखी थे। जिस समय यमुना उनके पास आयी थी, उस समय कैसा उनका मन हुआ था कि अपनी बहन को मटाकर एक बार अपने मनःस्ताप को निकाल सकें। परन्तु क्या यह सम्भव था? साठ पार की इस आयु में ऐसा करना किसी के लिए भी सम्भव है? दूसरे यमुना को क्या यह स्वाभाविक लगता? जीवन भर वह कितने अमानुषिक ही रहे। आज भी इस सम्पन्नता के पीछे कितने रिश्तेदार, कितने विवश लोगों की असहायता होम हुई है। परन्तु वह क्या कर सकते थे? स्वयं पिता ने, माता ने और बाद में उनकी पत्नी ने जो संसार बुनकर उनके चारों ओर फैला कर उन्हें दे दिया था उसमें वह कर ही क्या सकते थे? सम्पन्नता का शायद तर्क ही होता है, किसी अन्य की विपन्नता। उन्हें स्वयं ही लगने लगा कि वह समस्या का सामना नहीं करना चाहते बल्कि अपना बचाव कर रहे हैं, कि दूसरा यदि असहाय है तो वह क्या करें? परन्तु वह यह क्यों नहीं तर्क करते कि दूसरा असहाय क्यों हुआ? कैसे बना? इसका उत्तरदायित्व किस पर?—अपना-अपना प्रारब्ध? यह प्रारब्ध की आड़ भी खूब है।....तो, तुम सम्पन्न होने का प्रारब्ध लेकर आये और दूसरे विपन्न होने का, है न? चलो, माने लेते हैं। तो, अपनी सम्पन्नता के लिए तुमने प्रारब्धहीन विपन्नों को खोजना शुरू किया। अब यदि तुम्हारी इस खोज में निकट व्यक्तियों की भी खाल खींच लेनी पड़ी तो तुम क्या कर सकते थे, है न? भगवान तुम्हारे ही हाथों उसी समय तुम्हें सम्पन्न बनाता जा रहा था और उसी समय दूसरे विपन्न होते जा रहे थे।....पिता ने जो सम्पत्ति विमाता पार्वतीदेवी को दी थी वह तुम तक वापस कैसे आयी? वह स्वतः आयी या तुमने उसकी घेरेबन्दी की थी? तुम्हारी सगी बहन के पति पण्डित नारायण जी पंड्या क्यों तुम्हारे घर कभी नहीं

श्राते ?.. .श्राज वह परिवार जिस घोर दारिद्रय, उपेक्षा में पहुँच गया हैं उसका कारण कौन हैं ? क्या कोई भी बिना छल-छन्द के सम्पन्न हुआ है ? तब यदि तुम्हारी सलहज गंगादेवी व्यास भी छलछन्द करके या जैसा कि तुम्हारा ख्याल हैं कि वह तुम्हारी पत्नी को बेवकूफ बनाकर तुम्हारी सम्पन्नता में से थोडा नोंच कर श्रपनी विपन्नता दूर करना चाहती है तो तुम्हे श्रधर्म, नैतिक-पतन श्रादि सब सूझने लगा। क्या श्रपने साले की सारी भद्रता के प्रति कभी कोई श्रादर रहा हैं ? जीवन भर वह गरीब, दरिद्र निष्ठावान ब्राह्मण मर-खप गया परन्तु कभी तुमने इस स्वत्व का कोई सम्मान किया ?....क्या कहीं तुम्हारे भी मन में यह नहीं था कि पत्नी यदि श्रपने भतीजे विशू को मोटर खरीदने का पैसा देंगी तो तुम्हारी चेष्टा यह होगी कि लिखा-पढी कर ली जाएगी ताकि वह मोटर भी तुम्हारी सम्पत्ति हो, न कि गगादेवी, विशू या गोवर्धन व्यास की। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने श्रलग से गलत ढग से खिचडी पका कर जो संकट उत्पन्न किया वह श्रलग बात हैं।

तुम कह सकते हो कि तुम्हारी पत्नी श्रौर तुम्हारी सलहज की सांठ-गांठ का तुम्हे पता नही था। तुम सोचते थे कि यह ननँद-भाभी का कुछ तो भी हैं। वहू दुर्गा पर जाकर चोट होगी यह तुम नही सोच सके। शायद पत्नी भी नही जानती रही होगी कि विशू, उनका भतीजा श्रपनी श्रोर से बलात्कार करने पर भी श्रामादा हो जाएगा। मान लो ऐसा हो जाता, तो ? किसका मूँह काला होता ? परिवार की क्या स्थिति हो जाती ? जाति मे, पूरी उज्जैन में क्या वह मुँह दिखा सकते थे ? वह जानते है कि पत्नी उनकी जिद्दी है, हठी है परन्तु कमीनी नही हैं। तब ?... हो सकता हैं कि पत्नी ने विशू को सिर्फ डराने-धमकाने के लिए ही कहा हो श्रौर गंगादेवी ने श्रपनी ननँद को श्रपनी मुट्ठी मे हमेशा के लिए कर लेने के लिए श्रपने लडके को कुकृत्य कर डालने की प्रेरणा दी हो। या यह भी सम्भव है कि स्वयं विशू की ही यह श्रपनी योजना रही हो।.. .जो हो, क्योंकि यदि वुरी तरह श्राहत हुश्रा है, तो क्या गलत हैं ?—दुर्गा ?....नही दुर्गा कभी भी किसी के विरुद्ध सोच ही नही सकती।....वह तो स्त्री लगती ही नही।.... केवल समर्पण है।....दूसरी कोई भी होती तो वह महाभारत मचता कि मचा भला।.... लेकिन यह इसमें क्या करे ? पत्नी से कुछ नही कह सकते। स्वय वह जो चाहे करे, किसी के कहने पर वह एक पैसा किसी को नही दे सकती। उन्होंने जब भी कभी मनुष्य होना चाहा भी होगा तो पत्नी साक्षात कृत्या बनाकर सामने श्रा खड़ी हुई होगी कि स्वय उनका भी, जो कि उनके पति हैं, उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कर गुजरने का साहस नही हुश्रा होगा। तव दूसरों की क्या वात हैं ?

जैसे ही तांगा देवास-गेट से श्रागे बढ़ा कि पीछे से किसी ने पुकारा,

— पंडितजी ! शुकुल जी महाराज !

श्रौर उन्होंने चौंक कर देखा, लच्छू चौवे था।

लच्छू चौवे, देवास-गेट का न केवल नामी हलवाई ही था, बल्कि उज्जैन का बड़ा पहलवान श्रौर गुण्डा भी था। पूरे मालवा में वह नागपंचमी के दिनों में

की सारी रियासतों में अपने अखाड़े के साथ जाता और कुश्तियाँ लड़ता था। उसके शिष्य दूर-दूर तक जाते थे। उसकी दूकान पर जहाँ बड़ा-सा पीतल का घंटा लटका हुआ है वहाँ, बड़ी-सी मूँछों वाला एक फोटो भी उसका टँगा है जिसमें वह बड़ा-सा साफा बाँधे, होल्कर महाराज द्वारा दी गयी चाँदी की गदा उठाये हुए है। पूरी उज्जैन में उसका आतंक था।

लच्छू चौबे के पुकारने पर शुक्ल जी ने ताँगा रुकवाया और ताँगे में बैठे हुए ही लच्छू चौबे की प्रतीक्षा करने लगे। वह दूध के बड़े से कढ़ाहे के सामने बैठा था। पास की भट्टी पर कारीगर ताजी जलेबियाँ निकाल रहा था। ग्राहकों की साधारण भीड़ थी। उसने वैसे ही बैठे-बैठे कहा।

— आइए महाराज!

— नहीं लच्छू! जरा जल्दी है, फिर कभी।

— अच्छा, रुकें, मैं आया।

और सचमुच ही वह हाथ का काम छोड़कर उनके ताँगे तक आया।

—आइए महाराज! पान तो खा लीजिए।

पण्डित महादेव शुक्ल को लगा कि अब पान न खाने पर लच्छू अपमानित अनुभव कर सकता था। कोने वाली चौरसिया-पान-भण्डार से उसने बढ़िया मालवी पान पण्डित जी को खिलवाया। सुगन्धित तम्बाकू दी और तब बोला,

— पण्डित जी! एक विनती थी।

पण्डित महादेव शुक्ल समझ तो गये थे यह पान यों ही नहीं खिलवाया गया है। साथ ही उन्हें सुगबुगाहट भी थी कि लच्छू चौबे क्या बात करना चाहता है। फिर भी गम्भीर बने, बोले,

— अरे वाह, विनती की क्या बात है। तुम तो घर ही के आदमी हो।

— आप समझ तो गये ही होंगे कि मैं क्या कहना चाहता हूँ।

— समझने में भूल भी हो सकती है।

— भूल, और वह भी आपसे? उज्जैन का सबसे बड़ा नामांकित व्यक्ति भूल कर सकता है?

पण्डित महादेव शुक्ल ने किशोर अवस्था में कभी अखाड़ेबाजी की थी, वह समझ गये कि पहलवान अभी गरमा रहा है। वह हँस पड़े।

— महाराज! आपको तो पता ही है कि इधर देवास-गेट और स्टेशन की तरफ सरकार डेवलपमेंट करने जा रही है। आज से बीस बरस पहले इस देवास-गेट पर सिवाय दो-चार दूकानों के बाकी तो खँडहर पड़े थे। दिन में उल्लू बोलते थे। आपके पिता जी ने हमारी दूकान के बाद से दौलतगंज नाके के मोड़ तक के सारे के सारे खँडहर मरहठों से खरीद लिये थे। जो हालत थी उसमें पौने-पौने बिकने ही थे।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि यह पान तो मँहगा पड़ा क्योंकि दस बज रहे थे और हिरवे साहब अगर कचहरी पहुँच गये तो सब बेकार हो जाएगा। बोले,

— लच्छू इस समय मैं जल्दी में हूँ। फिर किसी दिन....
— घर तो आऊँगा ही महाराज ! इतना याद रखें कि हमें आप अपनी जमीन की ओर की आठ-दस फुट जमीन दे दें तो हमारा काम बन जाए।
— देखो लच्छू, ये जमीन-जायदाद की बातें एक तो राह चलते नहीं होती, दूसरे अब तो कानूनी मालिक त्र्यम्बक ही हैं, उससे बातें कर लो। वह जो करेगा, ठीक ही करेगा।
— वो तो ठीक है महाराज ! पर आपके कान में भी बात डाल दी है।
— अच्छा !!''''ताँगा, जरा तेज चलो।
और घुँघरू बजाता, फुँदे उड़ाता ताँगा उड़ चला।

कचहरी से काम निबटा कर पण्डित महादेव शुक्ल बहन के घर [illegible] पहुँचे। वैसे तो घर ऐन सड़क पर था परन्तु प्रवेश-द्वार गली से होकर था। सड़क की ओर दो छोटी-छोटी दूकाने निकाल दी गयी थीं जिनमें एक सुनार और एक दर्जी की दूकाने थी। दोनों से दस रुपये किराया आ जाता था। जगह ज्यादा नहीं थी, तो कम भी नहीं थी। चार चश्मे का बना वैसे तो तिमंजिला मकान था परन्तु [illegible] था। घर के पिछवाड़े एक बड़े से पीपल के कारण खास कर [illegible] भी पीपल की पूरी छाया दिन भर रहती थी, इसलिए घर में [illegible] थी। धूप न आने के कारण घर में बारोंमास सीलन बनी रहती थी। [illegible] सड़क की ओर खुलने वाली खिड़कियों से प्रकाश, हवा या [illegible] आता बाकी गली की ओर से भी कुछ विशेष हवा या प्रकाश नहीं आता। [illegible] ओर लोगों के घर आ गये थे, जिनकी ऊँची-खड़ी दीवारों ने [illegible] था। गनीमत यही थी कि कोई बाल-बच्चा नहीं था। [illegible] पण्डित मृत्युंजय उपाध्याय ने जिन्हें सब 'साहब' कहते हैं, [illegible] कि वह घर की पूरी व्यवस्था करा लें। 'साहब' का वो [illegible] विद्यावती अपने भाई का तीखा स्वभाव जानती थीं [illegible] अधिक नहीं कहा होगा।

पण्डित नारायण जी पहला [illegible] अपनी विशेष साधना के लिए [illegible] कहीं हो आये थे। प्रतिदिन [illegible] काशी के किसी तान्त्रिक ने [illegible] अपने पूजा घर में कर [illegible] व्यक्तित्व की ओर [illegible] में से उनके बुदबुदाते [illegible] अपने हाथ से [illegible]

क्या चाहिए ? बच्चे हैं ही नहीं जिनके लिए कतर-ब्योंत की जाती है। पति वीतरागी और अब आयु भी नहीं रही—जो पहनो वही ठीक है, क्या एकलई क्या बँगलौरी।''' और दो-चार घरों को छोड़ दो तो किस सगे-सम्बन्धी के यहाँ रोज पहनने को बनारसी धरी है ? बहुतों के घरों में तो अबूट्ये [रसोई का वस्त्र] से ही काम निकल जाता है।

पण्डित महादेव शुक्ल जान रहे थे कि जीजाजी तो घर में होंगे नहीं, सिर्फ यमुना ही होगी। उतरता फाल्गुन था। होली के डांड़े गड़ चुके थे। हवा में भी भनक लग रही थी कि होली आने वाली है। दरवाजे की 'कल' खोलने से आवाज हुई तो ऊपर से झांकते हुए यमुना ने पूछा,

— कौन ?''''अरे दादा !!

आज काफी दिनों के बाद वह यमुना के घर आये थे। यहाँ आने पर उन्हें हमेशा घुसते ही भाँग की गन्ध अवश्य आती है। इस गन्ध से जीजाजी का सम्बन्ध उनके अवचेतन तक में बसा हुआ है। सीढ़ियों पर काफी अँधेरा था।

— दादा ! मैं चिमनी जला देती हूँ, रुको।

— अरे नहीं।

और हँसते हुए छड़ी से आगे की सीढ़ी पर जोर डाल कर चढ़ने लगे। सीढ़ियाँ सँकरी तो थीं ही, साथ ही खड़ी खड़ी-खड़ी भी थीं। जगह कम होने पर प्रायः ऐसी ही सीढ़ियाँ बनायी जाती हैं। ऊपर पहुँचने पर खिड़कियों से आते प्रकाश में पण्डित महादेव शुक्ल को बड़ी राहत मिली। साँस शायद भर आयी थी। बँगवई पर यमुना ने दरी बिछा दी थी। पण्डित महादेव शुक्ल के बैठते ही बँगवई के कड़े आवाज करने लगे।

— बड़ी खराब सीढ़ियाँ हैं न ? हम लोगों को तो आदत है।

— सीढ़ियाँ तो वही हैं यमुना ! हम लोग ही बुड्ढे हो गये हैं।

— लगता है दादा ! अभी जीने से पेट नहीं भरा।

— तेरा भर गया क्या ?

— स्त्री का क्या ?

और वह उठ गयीं। सामने ही आले में एक गिलास में ठण्डई बनी रखी थी। उसे उसने भाई को दिया।

— यह क्या ? भाँग ? मैं पीता हूँ कभी ?

— भाँग नहीं है—ठण्डई है—शुद्ध है एकदम। तुम्हारे जीजाजी ने अलग से पहले बनायी और कह गये हैं कि दे देना।

— और तुम ?

— दादा ! पहले तो तुम ऐसे नहीं थे। क्या हो गया तुम्हें ?

— यमुना !....क्या ही अच्छा होता कि कुछ हो ही जाता।

— अच्छा, अब पी लो नहीं तो और गरम हो जाएगी। ....गरमी तो नहीं लग रही है ?

— गरमी ? अभी से ? ....ऐसा लाड़ तो कभी-कभी जिजी करती थी न ?

और वह हँसते हुए ठण्डाई पी गये। गिलास लेकर यमुना देवी उसे रख आयीं। सामने दरी पर दीवाल से पीठ सटा वह भी आकर बैठ गयीं, और सौंफ-सुपारी की तश्तरी बढ़ा दी।

— सीधे कचहरी से ही आ रहे हो?

— हाँ।

और पण्डित महादेव शुक्ल मुँह की इलायची का छिलका खिड़की से थूकने लगे। यमुना ने इस बीच बराबर भाई का चेहरा ध्यान से देखा कि वह कितना बदला हुआ लग रहा है। ऐसा क्यों? क्यों ऐसा होता है कि वही मुख—सब कुछ जैसा का तैसा होने पर भी किसी दिन कुछ, किसी दिन कुछ, क्यों लगता है? हठात उसे स्मरण आया कि इसी भाई के कारण ही तो उसके पति इनके घर नहीं जाते हैं!....नहीं, यह झूठ है। भाभी ने जो भी किया हो पर भाई कभी भी....

— क्या सोच रही हो?

और दादा के टोकने पर उसे लगा कि वह कहाँ चली गयी थी?

हाँ, वह चली गयी थी। नही, वह कहीं नहीं जा पायी थी, पर उसे जाना चाहिए था। उसके स्थान पर कोई भी दूसरी बहन होती तो स्थिति सर्वथा भिन्न होती। परन्तु यमुना आज भी अपने दादा से भावना के स्तर पर इतनी जुड़ी हुई है कि सब कुछ स्वाहा हो जाने पर भी वह भाई के बिना अपने को अपूर्ण मानती है। उन दिनों पति ने उसके दादा के लिए क्या—कुछ न कहा होगा। उनकी वे लाल-लाल, क्रोध में सुलगी आँखें देखकर वह कैसी भयभीत हो जाती थी। आज की ही भाँति पति तब भी चले जाया करते थे रोज, बल्कि उन दिनों तो वह न जाने कहाँ-कहाँ आसाम-बंगाल, काशी तक जाते थे, और वह इसी घर में शहतीरें गिनते हुए अकेली पड़ी रोती रहती थी, पर वह कभी विश्वास न कर सकी कि उसके दादा ने उसके साथ छल किया होगा—वह कभी भी नही कह पायी, और न कभी कहेगी ही कि भाभी ने एक बार उनके सारे जेवर बदल दिये। वह भी नहीं जानती थी यह बात।

यमुना भूल नही सकती है, परन्तु याद भी करके क्या होगा? एक बार वह और पति दोनों ही लोगों के साथ डाकोर जी, द्वारका आदि गये थे। बैलगाड़ियों से जाना था। महीने-दो महीने कुछ भी लग सकते थे। इतने दिनों बन्द घर में सब कुछ छोड़ा भी नहीं जा सकता था और न साथ में लिया ही जा सकता था। विवाह को भी दो-चार बरस ही हुए थे। पहनने-ओढ़ने का शौक तो स्वाभाविक ही था परन्तु रास्तों में चोर-डाकुओं का डर होता था सो वह सारे गहने-जेवर ले जाकर भाभी को दे आयी। माता-पिता तो उसके विवाह के दो बरस बाद ही चल बसे थे। शायद सब कुछ रख आने की बात उसने दादा को भी नहीं बतायी थी, और इसमें उन्हें बताना ही क्या था?....क्या कभी कोई सोच भी सकता था अन्यथा?....और दो माह बाद लौट कर वह कितने विश्वास और प्रसन्न भाव से भाभी से सारा सामान वापस भी ले आयी थी।

जो उसे विवाह के समय 'चढ़ावे' में माँ ने दिया था उसे शादी-ब्याह में ही पहन लो तो पहन लो, बाकी तो धरा रहता था। हाँ, 'सिंचाई' के समय जो छोटे-मोटे जेवर, अँगूठी, नथ, नाक की कील आदि सगे-सम्बन्धियों से मिले उन्ही से रोज का काम चल जाता था।....वह तो ननँद विद्यादेवी की ससुराल में एक बार ब्याह में गयी और जब उन गहनों को पहनने का मौका हुआ तब ननँद के ध्यान से देखने पर उसे भी शक हुआ "भाभी, ये गहने....क्या असली हैं?"....सुनकर यमुना को गुस्सा तो ऐसा आया कि कह दे कि—"विद्या! जिस घर से मैं आयी हूँ वैसा घर औदीच्यों में दूसरा कोई गुजरात तक हो तो बता दो—परन्तु यमुना का स्वभाव ही नही था कि किसी की ऐसी बातों का जवाब दे। और फिर किसे जवाब दे? अपनी ननँद को? जिसे स्वयं किस बात की कमी है? वह भला ऐसी टुच्ची बात क्यों कहेगी? यह तो अपमान करने जैसा हुआ और विद्या क्यों करने लगी भला? और अपमान करना होता तो चार लोगों के बीच में रस लेते हुए कहती। नही, वह तो उसे एक तरफ ले जाकर चिन्तित हुए बोली थी।....तो क्या विद्या सच कह रही है? और विवाह के बाद स्वयं विद्या ने अपना सुनार घर बुलवाकर कसौटी पर सारे गहने कसवाये तो मालूम हुआ कि इनमें तो ताँबे की मात्रा बहुत ही ज्यादा है। वह अवाक रह गयी थी। हे भगवान! यह कैसे-क्या हुआ? जेवर तो वही है। तब?....नहीं ये जेवर वो नही हो सकते। उसके साथ छल हुआ है। पर कहाँ?—क्या विद्या के घर?....क्या कहा? आये दो दिन हुए नही और कोई पूरे जेवर बदल देगा? विद्या कोई जादू जानती है क्या?....तब?....हाँ, हाँ,....वह नाम क्यों नही लेती जिस पर शक जाना चाहिए....डरती क्यों हो? नही, वह ऐसा कभी नही कर सकते हैं—ठीक है, तब रखे-रखे ही असली, नकली हो गये। हाँ भाई, कलयुग में सब सम्भव है....लेकिन उस नाम को क्यों नहीं लेना चाहती? क्या वह नही कर सकती ऐसा?....क्या बहुत सगी हो उनकी?—तो, और सगा होना क्या होता है? बहन-बेटी से अधिक सगा कौन होता है? भाभी की तुम बेटी नही, ननँद हो। और ननँद, सास की बेटी होती है। ननँद-भाभी में कभी बनी है आज तक? लेकिन क्यों? लेकिन क्यों क्या? सौतेली सास की सारी सम्पत्ति कैसे डकार गयी, पता नही? वह भी तो अपनी ही है। अपना-तुपना क्या होता है? स्वार्थ, स्वार्थ है। लेकिन भाभी के कौन दस-पाँच लड़कियाँ है? स्वार्थ, सम्पत्ति-अर्जन किसी के लिए नही अपने आधिपत्य-भाव के लिए होता है। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल पाँव में सिर्फ एक सोने का कड़ा पहन कर सन्तुष्ट होने वालियों मे है? बस चले तो हम-तुमको ही पहन डालें।.. .तो अब क्या किया जाए? किससे कहे?....विद्या को मालूम हो गया है तो क्या वह किसी दिन अपने 'दादा' को नही बताएगी?....और मान लो वह अपने पति पण्डित नारायण जी पंड्या को धीरे-सुस्ते बता दे, तो वह क्या कहेंगे? वह तो पहले ही 'बाबा' से चिढ़े हुए है कि उन्होने दो विवाह करके सब घपला किया और बिचारी दूसरी पत्नी को निराधार छोड़कर चले गये। कैसे विमाता और उसके दोनों लड़को को पण्डित महादेव शुक्ल, न यजमानी में, न सम्पत्ति में न केवल हिस्सा ही नही दे रहे हैं बल्कि जो कुछ उनके पास

है उसे भी छीनना चाहते हैं। —भला ऐसी धारणावाले पति को जब यह मालूम होगा कि उनकी पत्नी के सारे जेवर सलहज ने बदल डाले हैं, तब तो वह क्रोध में कुछ भी कर सकते हैं। क्या? कहा तो, कुछ भी।

लौटकर जिस दिन उसने पूरी सावधानी बरतते हुए पति को सीधे-सीधे बता दिया कि उसे आशंका है कि उसके जेवर किसी ने बदल दिये हैं, तो पति पण्डित नारायण जी पंड्या ने आशा एवं अपेक्षा के सर्वथा विपरीत अत्यन्त शांति से सारी बातें सुनी और कहा,

— मैं जानता हूँ यमुना! कि तुम्हारी भाभी सब कर सकती है। परन्तु किसी को दोष देने से लाभ? वह चीज ही ऐसी है कि जेवर क्या आदमी बदल दिया जाता है। ....तुम सोच रही होगी कि मुझे सुनकर आश्चर्य होगा, दुःख होगा, है न? ऐसी कोई बात नहीं है। ये जिस घर से आये थे, वहीं चले गये। इसे भगवान की कृपा समझना। बुरा मत मानना, तुम्हे छोड़ वहाँ कोई असली नहीं है—और जब आदमी नकली हो जाए तो पदार्थ असली भी हो, तो क्या अर्थ है उसका? चलो छुट्टी हुई। सब उस महामाया का खेल है।

उसे विश्वास नही हो रहा था कि ऐसा क्रोधी व्यक्ति इतनी शान्ति से इतनी बडी बात को ग्रहण करेगा।

— यमुना! अब तुम कभी अपने दादा से इसकी चर्चा तक नहीं करोगी। मैं तुम्हें शपथ दिलाता हूँ। और दूसरी बात यह, कि तुम मुझसे कभी उनके यहाँ जाने का आग्रह नही करोगी। मैं उनके यहाँ न जाने का संकल्प छोडता हूँ।

बिचारी यमुना देवी सिवाय रो उठने के और क्या कर सकती थीं? परन्तु उस दिन के बाद से अपने पति के लिए इतना पूजा-भाव जीवन भर के लिए आ गया कि वह जीवन का सारा आंधी-पानी हँसते-हँसते झेल गयी।

— सोच रही थी कि आज तुम इतने उदास कैसे हो? मैंने तो तुम्हें हमेशा एक पुरुषार्थी के रूप में ही देखा है, पर आज लगता है कि....

— क्या? आज कैसा लगता है? बता न?....देख यमुना! अब सिवाय तेरे मैं किससे अपने मन की बात कर सकता हूँ?

— मन की बात?

— और क्या?....तू सोचती होगी कि मैंने तेरी भाभी का नाम क्यों नहीं बताया, है न?....हर परिवार की गन्ध होती है यमुना! तुझमें जिजी और बाबा की जो सम्मिलित झलक मुझे दिखती है, तो लगता है कि मैं घर में बैठा हूँ। वह घर जिसमें अपने ही परिवार के केवड़े की सुगन्ध आ रही है। तू नही जानती यमुना! लोग बीत जाने पर कितने याद आने लगते हैं।

श्रीमती यमुना देवी पंड्या के लिए आश्चर्य था यह ! गोल पगड़ी, भरी मूँछें, कान में मोती-पन्ने की बाली, गले में दुपट्टा, अँगरखा और चौड़े लाल पाट की धोती में आद्यन्त गम्भीर, पूर्ण सफल-सम्पन्न व्यक्ति को भी अपनत्व की तलाश हो सकती है।....क्या भाभी ने अपने पति से कोई अन्तरंगता स्थापित नहीं की ? माता-पिता का अभाव, व्यक्ति पत्नी के द्वारा पिलाये जाने वाले आसव को पीकर भूल नहीं जाता वल्कि उसे पूरक-तृप्ति अनुभव होती है। तो क्या दादा को यह नहीं मिला ?

— यमुना ! अब किसी में स्वाद नहीं रह गया है।....तू भी जब आती है तो मैं कैसे औपचारिकता से पूछ लेता हूँ न, कि कैसी हो ?....भला ऐसे पूछने पर कोई और क्या कह सकता है, सिवाय इसके कि—सब ठीक है।....इतने बरस हो गये तेरे ब्याह को, दूसरे के घर गये परन्तु कभी तूने 'सब ठीक है' से अधिक कुछ नहीं कहा होगा।—ठीक ही तो है—मैंने ही कब तेरे सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा ?....ये हमारे-तुम्हारे बीच क्या आ खड़ा हुआ ?....कभी मैंने जानने की कोशिश की कि जीजाजी क्यों कभी नहीं आते ? . वह त्र्यम्बक की बरात में शामिल कैसे हुए, यही आश्चर्य है।....मैंने क्यों नहीं कभी उनसे पूछा ? तुमसे पूछा ? जरूर कोई बात है।....देख न, एक समय के बाद कुछ नहीं होने पर भी जाने कैसा अपराध-भाव लगने लगता है।

श्रीमती यमुनादेवी पण्ड्या को अपने 'दादा' का यह आत्मीय स्वरूप पहली बार देखने को मिला। उसे भी लगने लगा कि जैसे माँ-बाबा दोनों ही उपस्थित हैं बल्कि जैसे उनकी साँसें तक सुनायी दे रही हैं। उसे लगा कि दादा जिस मानसिक क्लेश, परिताप की भावावस्था में हैं उसमें वह किस तरह सान्त्वना दे ?

— दादा ! लेकिन मैंने ही कौन तुम्हारे पास बैठकर बहुत आत्मीयता दिखायी ?
— तू कित्ती छोटी है मुझसे। किसी दिन भी मैंने तेरा सुख-दुःख नहीं जानना चाहा। ....जिसके लिए मैंने कुछ किया....
— दादा ! जो पुरुषार्थ तुमने किया....
— मुझे बहला रही है ? पगली !! मेरे पुरुषार्थ का प्रमाण तो मेरी छोटी बहन का यह घर है ही।....देख रही है न....यहाँ बैठा हुआ कित्ता अच्छा लग रहा हूँ।
— तुम्हारे पुरुषार्थ का क्यों ? जिसका यह घर है....
— यही, यही—यमुना ! यही भेद की वह भाषा है जो हमने पढ़ी, जिसे हम सवेरे से शाम तक खुद आचरण में लाते हैं और अपने बच्चों में भी यही विष बोते हैं। पिता ने बोया, मैंने बोया, तुम्हारी भाभी....जाने दो यमुना !....मनुष्य अपनी पत्नी से, सन्तान से हारता है। सन्तान से तो नहीं पर हाँ तुम्हारा दादा अपनी.... छोड़ यमुना !....अच्छा बता, मेरा कहा मानेगी ?
— पता नहीं तुम क्या कहना चाहते हो।
— यमुना ! ऐसी कोई बात नहीं कहूँगा जिससे तेरे पति के स्वत्व पर आँच आए। क्या जानता नहीं कि जिसने सिर ऊँचा करके किसी के सामने भी न झुकने का जो

मूल्य चुकाया उसे मुझ जैसा व्यक्ति कुछ कह कर क्या अपमानित कर सकता है ? मैं और कुछ नहीं कर सका तो अपमानित तो नहीं ही करूँगा ।

जिस भाई को वह सम्पूर्ण खोया हुआ मान चुकी थीं, आज वह कैसा पानी की तरह छल-छल करता बिछल रहा है । उसे लगा कि वह माँ है और यह वृद्ध, उसका पुत्र ।

— दादा ! मुझे अब और कुछ नहीं चाहिए....तुमसे बड़ा और क्या है ?

— अच्छा, अब हाथ पकड़ कर उठा । घर में तो किसी से कह नहीं सकता परन्तु तुमसे कहता हूँ कि मेरे पाँव के जोड़ बहुत बैठने पर जम जाते हैं । रात में पैरों में चीस उठती है ।

— तो भाभी....

— यमुना ! उस घर में एक स्त्री अवश्य है जो दूसरी यमुना है, पर वह बिचारी न बेटी है, न बहन । वैसे तो बहन-बेटी की भी सीमा होती है परन्तु बहू तो सिर्फ सीमा ही सीमा होती है ।....

पण्डित महादेव शुक्ल आज जिस निश्छल एवं निर्द्वन्द्व भाव से सहज बने बैठे थे उसमें से यमुना को वर्षों बाद उनमें अपने सचमुच के 'दादा' दिखायी दिये । किसी को 'दादा' पुकारना एक बात है और उस व्यक्ति का सच ही दादा होना दूसरी बात है । घिरते अँधेरे में प्रशान्त बैठे 'दादा' अपनी ही प्रतिमा लग रहे थे । वह उठी और जाकर लैम्प जला लायी । अँधेरे में दीवालें तक पास खसक आयी लग रही थी जैसे उन्हें भी इस व्यक्ति को पहली बार सहज मानवीय भाषा में बातें करते सुनना, बड़ा अविश्वसनीय लग रहा था । लैम्प के प्रवेश करते ही वक्ता और श्रोता में दूरी आ गयी । भगवान की दीपारती तथा तुलसी पर दीपक रखकर यमुना जब लौटी तब वह बोले,

— आज वर्षों बाद तेरे पास बैठकर बहुत अच्छा लग रहा है यमुना !....जानती है आज जब तू आयी थी सवेरे, तब तेरी भाभी किस सन्दर्भ को लेकर आयी थी ?

— पता नहीं दुर्गा से भाभी क्यों इतना चिढ़ती है ?

— दुर्गा से ही क्यों ?....क्या जिजी से नहीं चिढ़ती थीं ?....चूँकि वह सास थीं इसलिए खुद भीकती थी और यह बेचारी बहू है इसलिए उसे झिंका रही हैं ।

— उस जैसी बहू को पाकर तो उन्हें खुश ही होना चाहिए ।

— तू क्या जाने सास होना क्या होता है ।

— न सही, परन्तु मैं शायद ऐसा नहीं करती ।

— शायद न ? निश्चिन्त तो तू खुद नहीं है ।....हाँ, तो तुम नहीं जानती हो कि इधर हमारे घर में एक छोटा-मोटा काण्ड हो गया ।

— कैसा काण्ड ?

— वोऽऽ बिशू है न ?....आठेक दिन हुए वह एक शाम आया जब घर में कोई नहीं था । दुर्गा को अकेली देखकर उसे पकड़ना चाहा ।

— सच ??

— और दुर्गा ने बचाव में मेरी खड़ाऊँ उसे मार दी । उसका सिर फट गया ।....घटना

तो इतनी ही है....अब चाहो तो पूरी रामायण लिख लो इस पर।

— लेकिन यह बिशू....

— लेकिन-वेकिन कुछ नहीं यमुना!....यह तुम्हारी भाभी है न, वह जिस डाली पर बैठती है, उसे ही काटना चाहती है।

— मैं समझी नहीं।

— बिशू की माँ से तुम्हारी भाभी की जो भी साँठ-गाँठ हुई हो यह उसी का नतीजा था।

— कैसी साँठ-गाँठ ?

— तुम तो जिरह कर रही हो। अरे भाई, बिशू टैक्सी के लिए मोटर खरीदना चाहता है। उसे तुम्हारी भाभी ने जैसे भी कहा हो, तैयार किया कि वह दुर्गा को डरा-धमका दे तो वह उसकी मदद कर दें।—वैसे यह गंगादेवी का कहना है। तो बिशू महाशय ने सोचा कि लाओ एक कदम और बढ़ा लें।....इसी सब की पंचायत आज सवेरे व्यास जी के घर पर हुई।....पता नहीं पीछे से माँ-बेटे में क्या कहा-सुनी हुई। उसके बाद का तो तुम्हें मालूम ही है।

— बिशू अगर कुछ कर गुजरता तो...

— तो क्या ? बच्चे अनाथ हो जाते, त्र्यम्बक विधुर हो जाता। दुर्गा अपनी जान से जाती और हम-तुम न जाति में, न उज्जैन में कहीं भी मुँह दिखाने के योग्य नहीं रहते।

— लेकिन मैं नहीं समझती कि भाभी ऐसी मूर्खता करेंगी।

— न सही....यमुना! पर जरूर ही तुम्हारी भाभी ने कुछ गंगादेवी से कहा होगा तभी उन माँ-बेटे की यह हिम्मत हुई।

— व्यासजी कुछ बोले ?

— व्यासजी बेचारे क्या कहते ? कोई भला आदमी क्या कर सकता है ?

— तो अब क्या होगा ?

— पता नहीं, परन्तु त्र्यम्बक अवश्य भरा बैठा होगा।

— और दुर्गा ?

— गाय तो छुरी लिये हुए कसाई को भी करुणापूर्ण दृष्टि से ही देखती है।....यमुना! आज मैं इस प्रसंग पर कहना तो क्या सोचना भी नहीं चाहता था। तुम्हारे यहाँ आया तो पता नहीं कितना अच्छा लग रहा था, और खूब सारी मन की बातें करने को मन हुआ।....परन्तु फिर लगा कि मैं शायद यही बात करने से बचने के लिए ही तो कहीं दूसरी-दूसरी बातें नहीं कर रहा हूँ ? और जब तुम दिया-बत्ती करने गयी तब लगा कि यदि तुम्हें मैं नहीं बताऊँगा तो तुम्हें कितना बुरा लगेगा।
—आखिर मुँह का स्वाद बिगड़ ही गया।....खैर, तो मैं अब चलूँ।

और वह सीढ़ियों से उतरते हुए ऐसे लग रहे थे जैसे यमुना की स्मृति में उतर रहे

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल अपने को आहत अनुभव कर रही थी क्योंकि ननँद के सामने पति ने एक प्रकार से उनकी अवमानना ही की थी। आप किसी से बहुत गम्भीर समस्या पर चर्चा करने जाएँ और सामने वाला उस पर ध्यान न दे और चल दे तो वह अवमानना ही तो है। पुत्र ने अपमानित किया, पति ने अवमानना और ननँद यमुना ने भी अपने भाई के बाद रुक कर उनसे दो शब्द सहानुभूति के नहीं कहे—तो यह उपेक्षा ही हुई। वह इन सारी बातों का औचित्य नहीं समझ पा रही थी। उन्हें अपनी बहू पर सबसे अधिक क्रोध था कि यह कैसी मौन बनी हुई है जैसे निरीह है। बिचारी कुछ भी नहीं समझती—पानी को 'मम्मम' कहती है। मान लो, एक बार यह भी मान लिया जाए कि त्र्यम्बक के उसने कान नहीं भरे, उसने माँ का अपमान अपने से ही किया है परन्तु क्या उसने अपने पति को ऐसा करने से रोका? कोने में सिर नीचा किये कैसी टुकुर-टुकुर सुनती रही। उसकी सम्मति भले ही न रही हो पर सहमति थी, यह तो स्पष्ट ही दिख रहा था। दिखाती अपने को कैसी सीधी है परन्तु है एकदम घुटी हुई। और यह मिट्टी का माधो त्र्यम्बक यही नहीं समझ पाता कि उसके कन्धे पर बन्दूक धर कर कौन चला रहा है। एकदम गधा है—गधा!! न मौका देखे, न महल—जब देखो तब आगे बढ़कर आधी रोटी पर दाल लेने को झट तैयार।....पूछो इसी से कि घर की यह बात लेकर अपने इस गुण्डे काका फुन्दी के पास जाने की क्या जरूरत थी? यह फुन्दी बड़ा सगा है न? जो अपने भाई को मार डालने के लिए बरसों घूमता रहा वह आज तुम्हारा सगा हो गया? बात, न फैलती हो तो फैल जाए। मैं पूछती हूँ कि फुन्दी ने उस विशू पर हाथ क्यों उठाया? वह कौन होता है मारने वाला? और अगर विशू ने लिहाज न किया होता और वह भी हाथ छोड़ बैठता तो क्या इज्जत रह जाती? और अगर बात बढ़ जाती और कुछ हो-हुआ जाता—तो?? तुम्हारा क्या, लड़का अपनी जान से जाता।....अरे, तो ऐसा क्या हुआ जो सब लाठी-फरसा लेकर चढ़ दौड़े? डराने ही तो गया था वह?....चलो, हाथ भी पकड़ लिया था, जरा-सा छू ही लिया था तो कौन लाल टूट गये?....घर ही का तो लड़का था, डाट-फटकार दिया जाता।....और यह गोवर्धन, तो जैसे उसका पिता नहीं दुश्मन है। कोई कह भर दे कि इस विशू ने यह कर डाला—बस, बिन सोचे-समझे पिल पड़ेगा लड़के पर। अरे, पूछो, बराबरी का हो गया है, लड़का ही ठहरा, मान लो हाथ ही पकड लें तुम्हारा तो, तुम्हारा तो पानी उतर गया न?—लेकिन यह विशू का बच्चा भी कम खुदा नहीं है।....क्या मुझे मालूम था कि इसके मन में कितना बड़ा चोर बैठा है? यही न सोचा था कि साँप भी मर जाता और लाठी भी न टूटती, पर यहाँ तो साँप मरना तो दूर लाठी टूटी भी तो अपने ही सिर पर।....और क्या!! यदि कुछ सचमुच यह कर बैठता तो कितनी बदनामी होती ....बहू तो डूब ही मरती....पर....लेकिन सारी गलती इस गंगा की ही है। मुझे यह बदनाम करना चाहती रही होगी ताकि मैं हमेशा के लिए उससे दब के रहूँ—अब भाई, किसके पेट में क्या है यह कौन बता सकता है? मैंने तो उन लोगों की सहायता के

ख्याल से सोचा कि, लाओ बिशू किसी हीले से लग जाएगा ।....सोचा होगा न कि इससे वदनामी हो जाएगी तो मैं मारे डर के उनका मुंह बन्द करती रहूँगी....देखें अब पैसा लें....पैसा !!. . दो हजार चाहिए....ले ले मेरी जूती !!....सब मुफ्त को दबाये जा रहे हैं।

दिन भर कोई किसी से नही बोला । पिता के जाते ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल दुर्गा से जो भी कह गये हों परन्तु चौखण्डी में बैठी माँ से एक शब्द नही बोले । वह देखती रही कि पुत्र ने जूते पहने और बिना उनकी ओर देखे बाहर निकल गया । ऐसा भी कोई तिरस्कार करता है ? और वह भी अपनी माँ का ? मान लो इस काण्ड में उनका दोष जितना भी हो परन्तु क्या पुत्र को ऐसा करना चाहिए ?

उन्हें लगा कि वह भीतर कैसे जाएँ ? उन्हे स्वत. ही लगा कि जैसे वह ऊपर-नीचे, घर-बाहर निषेध से घिर गयी हैं । सीढियों पर वह जिस अधिकार भाव से रोज चढती रही है वह तो नही ही रह गया है परन्तु इस चौखण्डी में भी तो बैठा रहना असम्भव लग रहा है । कल तक वह किस तरह महत्त्वपूर्ण अविभाज्य अंग थी परन्तु आज वह जैसे कटा अंग हो ।....नही, कहीं कुछ नही है । यदि इन लोगों से बोलने को मन नहीं करेगा तो वह अपने कमरे में जाकर या पूजाघर में जाकर ठाकुरजी के सामने बैठी रहेंगी पर यहाँ इस तरह बैठे रहना, अपने को ही अनाथ लग रहा था । परन्तु कई बार धरती किसी विशेष अवसर पर अपना गुरुत्वाकर्षण समेट कर हमें जकड़ लेती है । हम चाहते हैं कि हम उठ खड़े हों, अपना पल्ला छुडा ले परन्तु न जाने कैसी अवशता लगती है । तभी तो चौखण्डी में चिपके बैठे-बैठे कब सवेरे से दोपहर हो गयी उन्हे पता नही चला, जब कि वह हर क्षण उठने के लिए लड़ती रहीं । इस बीच दो-तीन बार दुर्गा आग्रह कर गयी, मना भी गयी परन्तु जब हार गयी तो अन्तिम अस्त्र के रूप में पौत्री कुन्ती को भेजा जो अपनी दादी-माँ के गले से झूम पड़ी । एक बार मन तो हुआ कि वह कुन्ती को भी झाड़े-पोंछे परन्तु वह पौत्री थी—पुत्र या पुत्रवधू नही । हाँ, यही हुआ कि बेमन से उन्होने भोजन किया और बिना कुछ बोले-चाले वह अपने कमरे मे जाकर मुँह ढँक कर सो गयी । दुर्गा को भी लगा कि इस समय सासू-माँ को न छेड़ना ही अच्छा है ।

तीसरा प्रहर लगते न लगते श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल बहुत अधिक उद्विग्न हो उठी । दिन भर लगता रहा कि वह इस काण्ड में सभी पक्षो के द्वारा अनपेक्षित ही घेर दी गयी हैं । अब और लेटे रहना सम्भव नही था, सो वह उठी । रोज तो वह जाते हुए बहू से इतना ही कहती थीं—

— बहू ! मैं जा रही हूँ, ध्यान रखना, यहाँ-वहाँ बैठती मत फिरना ।

हालांकि कभी दुर्गा किसी अड़ोस-पड़ोस में कभी नहीं गयी होगी पर सास को इससे वर्ग कहना, आदेश देना उनका अधिकार था और वह दबंगई से उसका पालन करती परन्तु आज उन्होंने बहू के बजाय कुन्ती को नीचे बुलाकर धीरे से सहेजा । दुर्गा

के ऊपर की झँझरी से नीचे झाँकते हुए सब देखती रही कि सासू-माँ ने रेशमी पतली सी शाल से अपने कंधे ढँक रखे हैं और कुन्ती से कह रही हैं—
— अभी आती हूँ, दरवाजा भीतर से बन्द कर ले।
दुर्गा को समझने को था ही क्या। वह जिस तरह रोज जाती हैं तथा आज जिस मुद्रा से गयीं वही बता रहा था कि वह अपने भाई के यहाँ ही गयी हैं।....तो अभी सासू-माँ का पेट नहीं भरा? चलो!!—अनायास उसकी निश्वास निकली। जाती हुई सासू-माँ को ऊपर से देखने पर उसे लगा कि वह गयी नहीं बल्कि गहरे उतरीं।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल जानती थीं कि सिवाय गंगादेवी के घर में और कोई नहीं होगा। और यही वास्तविकता भी थी। जैसे ही दरवाजा खोलकर वह घुसी तो देखा कि बँगवई पर बिना दरी डाले सिर्फ तकिया लगाये, सिर बाँधे गंगादेवी लेटी हैं। दरवाजे की 'कल' की आवाज सुनकर उन्होंने लेटे ही लेटे देखा, तो उस देखने में श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लगा कि रोज जैसी प्रतीक्षा या सोत्साहता के स्थान पर तनाव था। देखकर गंगादेवी ने उठने के बजाय करवट ले ली, जो श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को एक प्रकार की उपेक्षा ही लगी। उन्हें क्रोध तो ऐसा आया कि उल्टे पाँवों लौट जाएँ पर वह पी गयीं। उनका सहसा मन नहीं हुआ कि रोज की तरह जाकर अपनी छोटी भाभी के पास हँसते हुए या आत्मीय भाव से बैठ जाएँ, अतः वह अनिर्णीत स्थिति में चौखण्डी से सटे सहन के एक खम्भे के पास खड़ी सोचने लगीं। इस बीच गंगादेवी को शायद यही लगा कि बड़ी ननँद को उसका ऐसा लेटा रहना बुरा लगता हो, अतः बड़े बोझिल मन से करवट लेते हुए लगभग कराहते हुए बोली,
— आओ, बैठो दीदी!
आँखों से, बँगवई पर जगह है इसका आभास दिया, साथ ही उठने की चेष्टा भी।
— रहने दो। बहुत जगह है।
शायद दोनों को दोनों के तनाव की प्रतीति हो रही थी।
— सिर क्यों बाँधे हो? तबीयत ठीक है न?
— हाँ ऽऽ, तबीयत भी ठीक ही है।
श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लगा कि गंगादेवी का 'हाँ ऽऽ' शायद पक्के गाने के आलाप जैसा है। वह नहीं समझ पा रही थीं कि पूछने पर क्या स्थिति खड़ी हो जाएगी। गंगादेवी में से कोई बात निकाल लाना उन्हें वैसा ही लगा जैसे सकड़े मुँह की शीशी में से तली में जमा हुआ गरी का तेल निकालना। फिर भी, कोई किसी के यहाँ जाने पर कितनी देर तक बिना बात किये रह सकता है? और जब बात नहीं करनी थी तो गये ही क्यों?
— क्या बिरू कहीं गया है?

— मैं समझ नहीं पा रही हूँ कि तुम क्या कहना चाह रही हो गंगा !
— सुनोगी, मैं क्या कहना चाह रही हूँ ?....तुम्हारे इस फुन्दीलाल ने कैसे विशू पर हाथ उठाया ? वह कौन होता था हाथ उठाने वाला ?

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को आक्रमण न करने देने के लिए ही गंगादेवी ने यह पहल की थी क्या ? वह समझ नहीं पा रही थीं कि अपनी बात वह कैसे शुरू करें।

— यह बात अलग है कि फुन्दी को विशू को मारना चाहिए था या नहीं परन्तु क्या यह त्र्यम्बक का काका नहीं है क्या ? बहू की इज्जत पर हाथ डालने पर क्या उसे गुस्सा नहीं आएगा ?
— अरे वाह !! वह कब से सगा हो गया तुम लोगों का ?....कल तक तो पार्वती देवी छोटी सम्भा की थी, रखैल थी ...और आज उसके लड़के काका हो गये ?
— गंगा ! तुमको मालूम है कि तुम क्या बोल रही हो ?
— क्यों ? क्या शुक्लजी ने पूरी जाति के सामने यह नहीं कहा ? कोर्ट-कचहरी तब किस बात की हुई थी ? दुनिया कहे तो कुछ नहीं और आज गंगा ने कह दिया तो मिर्च लग गयी ?
— तुम्हारा दिमाग खराब है।
— ठीक है, विशू को उसके रुपये मिल जाएँ, और हम भर पाए। जिनका भला करो वही आँखें तरेरें, अच्छा न्याय है यह।
— कैसे रुपये ?
— अच्छा जी !! अब कैसे रुपये हो गये ??
— दुर्गा को डराने के लिए कहा था या उसकी इज्जत ले, यह कहा था ?
— क्या विशू ने तुम्हारी बहू की इज्जत ली ?
— चाहा तो था।
— तो तुम भी अपने बेटे-बहू के कहने में आ गयीं ? क्यों नहीं—घुटना पेट की ओर ही मुड़ता है।
— क्या वह नहीं चाहता था ?
— क्या तुम भी ऐसा ही नहीं चाहती थीं ?
— क्या कहा ?
— आँखें तरेरने से गंगा डरेगी नहीं।
— मैंने चाहा कि विशू उसकी इज्जत ले ?
— नहीं तो क्या अपनी बहू की आरती उतारने के लिए उसे रुपयों का आश्वासन देकर भेजा था ?
— रुपये तो मैं वैसे भी देती, वह मेरा भतीजा था।
— भतीजा था, और अब क्या हो गया वह ?

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लगा कि यह स्त्री सचमुच ही प्रपंची है। जानती वह थीं। सब कहते थे परन्तु गंगादेवी ने सदा उनसे विनम्र होकर आत्मीयता ही जतलायी थी।

उन्हे विश्वास था कि वह यदा-कदा जो आर्थिक सहायता देती रहती है उस कारण गंगादेवी कभी उनके सामने सिर नहीं उठाएँगी परन्तु....

— मुझे इस तरह की बातों में कोई रुचि नहीं है।

— कब से ?

— लोग झूठ नही कहते थे....

श्रीमती गंगादेवी व्यास हँस पड़ी। बोली,

— कि गंगादेवी प्रपंची है।

— जो भी तुम समझो।

— समझूँगी क्यों नही, जब आज तुम भी यही समझा रही हो।

— मैं कुछ नही समझा रही हूँ।

— दीदी ! ऐसे पल्ला झाड़कर क्या तुम अलग खड़ी हो सकती हो ?

— इसमें पल्ला झाड़ने की क्या बात है ?

— नही तो विशू को ऐसा क्या मीठा था जो बिचारी दुर्गा पर हाथ उठाता ? क्या वह अपने लिए वहाँ गया था ?

— मैं क्या जानूँ ?

— लेकिन मैं तो जानती हूँ कि तुम दुर्गा से पिण्ड छुड़ाना चाहती रही हो।

— कभी मैंने कहा यह ?

— तुम क्यों कहोगी ? जो करने की क्षमता रखता है, वह कहता नही है।

— तुम मूर्ख हो गंगा ! अपने बेटे की भरी-पूरी गृहस्थी उजाड़ कर मुझे क्या मिलता ? यदि दुर्गा को चलता करना होता तो बहुत पहले ही यह हो गया होता।

— परन्तु यह त्र्यम्बक के कारण नहीं हो सका, इसमें तुम्हारी भलमनसाहत कुछ नही है।

— मुझसे इस तरह जबान लडाते तुम्हें शरम नही आती ?

— शरम की क्या बात है ? हम कोई दबेलदार है क्या ?

— यह तुम कैसी भाषा बोल रही हो ?

— वही जो तुम्हारी आँखो से, बातो से जाहिर हो रही है।....हमें जो कुछ तुम देती रहो तो उसके बदले मे गंगा ने क्या सबकी बुराई मोल नही ली ?....कौन सी बात सुनाऊँ ? तुमने अपनी ननँद के सारे जेवर किसके द्वारा खरे-खोटे करवाए ?—गंगा के द्वारा ही तो।

— तुम बहुत आगे बढ़ रही हो गंगा !

— फाँसी लगवा दोगी ?....ठीक है लगवा देना....पर विशू का हिसाब साफ कर दो। मैं तो खुद अब तुम्हारे फटे में पाँव नही देना चाहती। होगे तुम लोग बड़े। तुम्हारे कारण 'इनमें' लड़ाई, जात-परजात में बदनामी....

— मीठे के लिए ही आदमी जूठा खाता है।

— बड़ी आयी है ऐसा जूठा खिलाने वाली।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लगा कि इस वाचाल के अब और मुँह लगाना ठीक नही। वह उठने को हुई तो गंगादेवी बोलीं,

— जीनवाला सेठ मोटर बेच रहा है परसों। विशू कह रहा था कि....

— मैं रुपये कहाँ से लाऊँ? क्या हमारे घर में पेड़ लगा है जो....

— तो उसने सेंतमेंत में खड़ाऊँ की मार सह ली? उस फुन्दी और त्र्यम्बक की मार ऐसे ही सह गया?

— जो मैंने उसे पाँच सौ दिये थे उसके बाद मैं उसे कुछ नही दे सकती।

— तुमने उसे टैक्सी ले देने को नही कहा था?

— मुझे याद नही।

— सोच लो दीदी!

— तुम मुझे धमका रही हो?

— चाहती तो नहीं हूँ।

— वैसे जो तुम करना चाहो, करना। मैं जानती हूँ कि तुम अपनी करनी से बाज नही आओगी।

— तो वह पाँच सौ रुपल्ली हमें भीख में दिये थे?

— अगर तुम्हे वह भीख लगती है, तो मैं क्या कर सकती हूँ।

— जरा रुको।

और श्रीमती गंगादेवी तेजी से उठी और भीतर चली गयी। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को न क्रोध था, न वितृष्णा, बल्कि एक ऐसा ठण्डापन लग रहा था जिसमें वह जड़ हो गयी थीं।

श्रीमती गंगादेवी एक छोटी-सी लाल थैली लेकर आयी और उसे उलटते हुए बोली,

— गंगा को किसी की भीख नही चाहिए। ले जाओ अपने ये रुपये।

और उसने इस तरह थैली उल्टी कि रुपये यहाँ-वहाँ लुढ़क उठे। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल के पास सिवाय लौट जाने के और क्या था? और वह चल पड़ीं। पीठ ओर से गंगादेवी का लगभग चीखना सुनायी दिया,

— तुम्हारे इन पैसों को जो छुए उसे कोढ़ हो आए....ले क्यों नहीं जातीं इन्हें? सब सत्यानाश कर दिया !!

और श्रीमती कृष्णादेवी दरवाजे की 'कल' उठाकर बाहर हुईं।

॥ बाह्य-प्रकरण ॥

अनन्त के सापेक्ष में समय की संज्ञा, काल है तथा देश के सापेक्ष में काल की संज्ञा, समय है। क्षितिज तक समय है परन्तु क्षितिज के बाहर काल है। जब समय ही अपरिमेय है तब काल और महाकाल क्या हैं, यह कोई नहीं जानता। सच तो यह है कि समय अपने बीतने के लिए किसी की भी स्वीकृति की प्रतीक्षा नहीं करता। तत्व का प्रमाण, स्वयं तत्त्व ही है। हमारे धर्म, विचार और देह सब उसके माध्यम मात्र हैं। वह अनाविल भाव से, अजस्र रूप से बीत रहा है। बिना कोई पद-चिन्ह छोड़े धूप, कैसे निःशब्द वनस्पतियों, जीव मात्र तथा सभी प्रकार की जड़ता और चेतनता पर यात्रा कर रही होती है। केवल वह अपनी ऊष्मा या सुगन्ध समस्त व्यक्तित्वों में भिद कर स्वयं बीत जाती है। इसीलिए बीतने मात्र का क्रियापद है—समय। तत्त्व, वह कोई हो, निरपेक्ष ही होता है। सापेक्ष तो पदार्थ या स्वरूप होता है। यह सापेक्ष समय जब बीतता है तो हमें वैसे ही तराशता चलता है जैसे कि जल अपनी मसृणता में भी, कैसी ही चट्टान क्यों न हो, शताब्दियों तक टकराते-टकराते अन्ततः ढहा कर रख देता है। पदार्थ या स्वरूप पर तत्त्व इसी प्रकार विजय प्राप्त करता चलता है। तत्व, अंश या अंशी को नहीं सम्पूर्ण सामरस्य को लक्ष्य में रखता है। सारे तत्वों की आधार-यात्रा यही है। इसीलिए तत्त्व मात्र का आयाम, काल या महाकाल का अकल्पनीय फलक होता है। कोई नहीं जानता कि आदिम प्रकाश का वह प्रथम, बीज-ज्योति-कण या समय का वह प्रथम बीज-क्षण इतने गणनातीत वर्षों के बीत जाने पर भी महाज्योति या महाकाल तक पहुँचा है कि नहीं। सारे तत्त्व एक-दूसरे को प्रति-प्रयुक्त भी करते हैं। अपनी सृष्टि, स्थिति एवं विनष्टि सभी के लिए। नष्टकर्ता, नष्ट होने वाला तथा इस क्रिया का साक्षी भी केवल तत्त्व ही है। इसीलिए सृष्टि को, समय को, सबको 'लीला' कहा गया है। ये सब उस 'है' के आभास हैं जो 'नहीं है।' वह इसीलिए 'नहीं है' क्योंकि इन्द्रिय-

गम्य नहीं है। इन्द्रियाँ सीमा को ही देख-सुन-कह या अनुभव कर सकती है। घोर प्रकाश और घोर अन्धकार नेत्रों के लिए जिस प्रकार अदर्शित होते है उसी प्रकार दूसरे इन्द्रिय-अनुभव भी है। सृष्टि है, निश्चित ही है; संरचना भी है परन्तु विनष्ट होने के लिए है।

विन्दु की फैलती हुई वृत्तात्मकता ही परिधि है। विन्दु जितना सक्रिय होगा, परिधि उतनी ही विशालतर होती जाएगी। हमारे प्रत्येक आचरण, कर्म या विचार केवल वृत्त का निर्माण ही करते है। यह समाज, विभिन्न लोगों द्वारा निर्मित वृत्तों का एक ऐसा तन्त्र है जो निरन्तर उलझता ही जाता है। ये सारे वृत्त एक-दूसरे को काटने के लिए हो जन्म लेते है, प्रति-आकर्षित करते है। यह प्रति-काटना इनकी प्रकृति है तथा नियति भी है। एक दिन जब मूल-वीज निष्क्रिय हो जाता है तब ऐसी वृत्तहीनता आ जाती है कि न शब्द रहता है, न ज्योति; न प्रतीति रहती है, न प्रक्रिया। विभिन्न पूर्ण उस दिन सम-पूर्ण हो जाते है। उस परा-शून्य में आकार-प्रकार के सारे शून्य विलीन होकर केवल 'महत्' हो जाते है। सीमा जब अस्वीकार बन जाती है, उस दिन वह असीम हो जाती है। इस लीला, इस महाखेल का रहस्य-मूल है—इच्छा। कुछ समय के लिए यह 'इच्छा' ही हमें 'कर्त्ता' भाव सौंपकर, माध्यम बना कर लीला करती है। देश-कालातीत इच्छाओं के वृत्तो की टकराहट ही है जो वस्तुतः पुरुषार्थों की स्फीति है। इतिहास, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, राजनीति सभी तो स्फीति है। प्रशान्त समुद्र में दो बुलबुलों की स्फीति की टकराहट से क्या कुछ भिन्न है? यह लास्य, यह रास प्रतिक्षण सम्पन्न होता रहता है। जिस दिन सब समेटना होता है, उसे ताण्डव या महारास या प्रलय कह दिया जाता है। एक सम्पूर्ण समाप्ति के पूर्व शताधिक खण्डित समाप्तियाँ चलती रहती है।

इच्छा के इस रास में क्या विवेक का कोई प्रयोजन नही है? है, निश्चित है। विवेक, एक प्रति-संकल्प-शक्ति बनता है। इच्छा, वृत्त को न केवल जन्म ही देती है बल्कि अग्रसर होते हुए विकास, फैलाव चाहती है; परन्तु विवेक, वृत्त को समेटने के लिए कहता है ताकि अन्य के लिए प्रति-वृत्त न बने। प्रति-वृत्त का अर्थ है टकराहट। इच्छा को इच्छा से नही बल्कि आत्म-सयम से ही अस्वीकारा जा सकता है। इच्छा की इस अमानवीय प्रकृति को 'अनात्म' होकर पराजित किया जा सकता है। अनात्म होने का अर्थ ही है 'पुरुष' होना। इच्छा या प्रकृति आपको माध्यम तभी तक बना सकती है जब तक आप 'पुरुष' नहीं है। विवेक के कारण अनात्म होते ही आप 'पुरुष' हो जाते है और तब 'इच्छा' आपकी इच्छा पर निर्भर होने लगती है।

इच्छा, वृत्त का यह जो खेल खेलती है उसका प्रयोजन ही यह है कि प्रत्येक वृत्त, वृत्त बनकर फैलता जाए और प्रतिवृत्त बनकर सामने वाले को विनष्ट करे। इस विकास या फैलने में ही वृत्त की विनष्टि निहित है। यह संसार, समाज—अनेकानेक निर्मित होते, उलझते जाते, विनष्ट होते प्रतिवृत्तों का त्रासद वृत्तान्त है। आप विकास कर रहे है तो इस तथ्य में यह सत्य अवश्यमेव निहित है कि जड या चेतन किसका ह्रास या संकुचन तदनुरूप में हो रहा है। जब भी देश के सन्दर्भ में विकास होगा वह इन्द्रियगत

होगा। इन्द्रियगत है तो उसका तद्रूप में स्वरूप होगा। स्वरूप के लिए पदार्थ आवश्यक होता है। जब तक पदार्थ, वस्तु नही बनता उसकी कोई उपयोगिता नहीं। वस्तु, उत्पादन माँगती है। वस्तु के उत्पादन का अनुपात, भोक्ता की आवश्यकताओं के अनुपात से कभी मेल नही खा सकता है इसलिए टकराहट, संघर्ष, क्षरण अवश्यम्भावी है। इसलिए काल के सन्दर्भ में तो निरपेक्ष विकास सम्भव है परन्तु देश के सन्दर्भ में नही। देश की सीमा है, काल की नही। देश, क्षितिज पर जाकर समाप्त हो जाता है जबकि काल वहाँ से आरम्भ होता है। देश, बाध्य है कि अपनी ही परिक्रमा करके अपने ही आरम्भ बिन्दु पर लौटे; परन्तु काल को इस रूप में परिभाषित नही किया जा सकता, क्योंकि वह अनारम्भ है इसलिए कि वह असमाप्त है। समाप्ति, आरम्भ की परणति है न कि अनारम्भ की। इसीलिए व्यष्टि और समष्टि दोनों के लिए सामरस्य की प्रतिश्रुति स्वीकारी गयी। फैलना नही, सकुचन इस देश की सीमा में अनिवार्य है। परन्तु यदि कोई उत्तरोत्तर फैलता ही जाए और कोई बाधित होकर संकुचित होता जाए तो विवेकहीन सकुचन एक ऐसी पराकाष्ठा की स्थिति तक पहुँच जाएगा जब उसकी सारी चेतना विलुप्त हो जाएगी और एक ऐसी घनीभूत जडता आ जाएगी जो उसमें जरा से भी दबाव पडने पर विस्फोट कर उठेगी। अणु में ब्रह्माण्ड की भी प्रतिशक्ति बन सकने की प्रक्रिया का यही रहस्य है। यह विस्फोट क्या है? मुखरित प्रतिशक्ति होना ही तो है। सत्ता या शक्ति जब तक प्रतिसत्ता या प्रतिशक्ति के सम्पर्क में नही आते तब तक संघर्ष नहीं होता। सारे वृत्तों का सन्तुलित विकास व्यवहार ही सामरस्य है। प्रकाश, धूप तभी बनता है जब वह पृथ्वी से टकराता है। सामरस्य का यह महाप्याला, ऐसा लबालब भरा हुआ है कि कब, किसका प्रतिवृत्त इसे छलका कर इसका सन्तुलन, इसकी समरसता को छिन्न-भिन्न कर देगा, कोई नही कह सकता। विवेक कहता है, कि, आओ शून्य में, ऊर्ध्व में विकास की, चेतना की, महत से महत्तर होने की अनन्त सम्भावनाएँ है, तुम्हें केवल पदार्थ-प्रियता ही छोडनी है। इच्छा के इस गुरुत्वाकर्षण के बाहर, देखो 'परा' रूप में विभूतियाँ मौजूद है। इन्द्रियों को नहीं अपनी चेतना को, स्वत्व को, आत्मा को भोक्ता बनाओ। विवेक कहता है—अनुभव करो, साक्षात करो; परन्तु इच्छा कहती है—भोग करो और विनष्ट हो जाओ। अनुभव—एकान्त की भाषा है, अपने ही स्वत्व का आस्वाद है; परन्तु भोग—अन्य के साथ किये गये कपट का आख्यान है, किसी के स्वत्व के अपहरण की विष्ठा है।

यह भोक्ता, कर्ता कौन है? समष्टि रूप में काल है और व्यष्टि रूप में आत्मा। वह सर्वत्र अविवादास्पद भाव से, अनाहूत रूप में आक्षण उपस्थित था, है और रहेगा भी। वह होने के लिए ही, न होता है! वह अनागरिक ही नही बल्कि अनागारिक भी है। जिस देह का सम्बन्ध होता है वह एक अग्नि से प्राप्त हुई थी इसलिए दूसरी अग्नि को सौंप कर फिर अपने प्रकृत रूप में काल या आत्मा विद्यमान हो जाता है। काल या आत्मा का अपना ही कुल है, गोत्र है, प्रवर है, अवटक है, शाखा है। उसके सम्भूत होते ही उसके लिए न कोई प्रजापति है, न अवतार है, न अर्धनारीश्वर है। वह स्वयं अपनी

संज्ञा है, क्रिया है और परिणति है। यह न कार्य है, न कारण है। वह हेतु भी नहीं है इसीलिए मुक्त है। काल रूप में वह किस महाकाल, शक्ति, पराशक्ति, परासत्ता का महायज्ञोपवीत है, जिसके अतीत, वर्तमान और भविष्य, ये त्रि-सूत्र हैं—उसे कोई नहीं जानता। हम काल को जिस 'समय' रूप में जानते हैं वह तो उस महाकाल का मात्र नख-स्पर्श है। वह नख-स्पर्श भी है कि नहीं, इसे भी कोई नहीं कह सकता। क्योंकि जब हम इस दिव्य-स्पर्श की प्रतीति के बारे में कह सकने की स्थिति में आते ही हैं कि तब तक हम उस महासत्ता के अवयवी-भाव हो गये होते हैं। हमारे उपस्थित होने के पूर्व ही 'वह' उपस्थित हुआ रहता है। आश्चर्य उसका नहीं हमारा लक्षण है। 'वह' तो विशेषण हीन एक ऐसी अग्नि है—जिसे यज्ञ के यवों की पवित्र हवि भी स्वीकार है, विवाह के समय की मांगलिक आहुति भी ग्राह्य है और जिस दिन हमारी यह देह आहूत-भाव से समर्पित कर दी जाती है, उस अमांगलिक अवसर पर भी वह परा-भाव में देवत्व, देवत्व में पितरत्व, पितरत्व में ब्राह्मणत्व, ब्राह्मणत्व में महाब्राह्मणत्व और महाब्राह्मणत्व से आगे अघोरी, कापालिक भाव से उस शव का परम आस्वाद लेते हुए हमें मुक्त कर रहा होता है। ऐसा भोक्ता—अपना ही शव है, स्वयं ही चिता है। श्राद्ध और पिण्डदान भी स्वयं ही है। वह भाषा नहीं, अभिव्यक्ति नहीं, भाव नहीं—केवल धूर्जटी है, अभ्यंकर है। वह अहोरात्र केवल घटित होता है जन्म और मृत्यु दोनों ही रूप में।

सब लीला है, उत्सव है। शायद संहार या ताण्डव सबसे बड़ा उत्सव है। व्यष्टि लास्य है, समष्टि ताण्डव है। पर्वतों, सागरों, मरुथलों के विशाल फलक पर षड्ज रूप में संहारोत्सव यदि स्वर साधता है तो व्यष्टि के फलक रूप में किसी आत्मीय की मृत्यु या फूल का झर पड़ना विषाद-वीणी में वह करुण-प्रलाप ले रहा होता है। कगारें जब 'छपाक' करते हुए सदा के लिए विलीन हो जाती हैं तब हमें वह मात्र दृश्य लगती है, किसी आत्मीयता की प्रतीति क्यों नहीं होती? एक सूर्यास्त होता है—क्या उस समाप्ति के साथ अभिन्नता अनुभव करते हैं? जब नहीं—तो फिर इस महाअनुष्ठान में एक व्यक्ति, एक कुल, एक जाति, एक सभ्यता, एक सृष्टि के विनाश का क्या अर्थ? क्या इसके लिए संहारोत्सव का अनुष्ठान सम्पन्न न हो? नदियाँ, पर्वत, तारे, ग्रह, नक्षत्र, आकाशगंगाएँ....सब इस संहारोत्सव के स्वर हैं जो बज रहे हैं। अनासक्त है यह अनुष्ठान। वह संगीतज्ञ हमें बजाकर आगे बढ़ जाता है। संगीत के सृजन के लिए स्वरों की प्रयुक्ति-निःशेषता आवश्यक है।

नदी के जल के लिए पहाड़ की ढलान जो काम करती है, वही काम इतिहास, युद्ध, आदि हमारे लिए, हमारे समाज के लिए करते हैं। इन ऐतिहासिक दबावों, प्रभावों को न आप स्वीकार ही सकते हैं और न अस्वीकार ही। यदि ये बाह्य दबाव आपकी प्रकृति नहीं बदल सकें तो कम से कम स्वभाव और गुण तो बहुत-कुछ बदल ही देते हैं। इस प्रक्रिया में कई सभ्याताएँ, जातियाँ दिग्भ्रमित तक ही नहीं रह पाती बल्कि

मूलतः नष्ट हो जाती है। भारतीय अस्मिता, स्वत्व यदि पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो पाये तो इसके आधारभूत कारण है। भारतीय सृजनात्मक चिन्तन या मनस या अस्मिता की प्रकृति वट के जैसी है। ऊपर बढ़ता है परन्तु निरन्तर अपनी भूमि को भी पकडे रहता है तथा विस्तार का भी ध्यान रखता है। यह त्रिपक्षीय गति सारी भारतीय अस्मिता में रही है इसलिए 'त्रि' का महत्व भारतीयता ने सदा स्वीकारा है। उर्ध्वमुखी, अधोमुखी और पार्श्वमुखी गति ही सर्वतोमुखी सृजनात्मकता है, जिसका उद्‍घोष भारतीय सृजनात्मक मनस ने आरम्भ से ही किया। शायद इसी सर्वतोमुखी प्रकृति ने हमें बचाया भी। पूरे एक हजार वर्ष तक इस अक्षयवट, सिद्धवट, महावट; की जडों को, फुनगियों को निरन्तर काटा गया परन्तु इस वट का वृक्षत्व ऊर्ध्व से अधो और अधो से पार्श्व होते हुए फिर ऊर्ध्व की अपनी प्रक्रिया में संलग्न रहा। इसलिए प्रहारकर्ता इस से लकडियाँ, या ईंधन तो प्राप्त कर सका परन्तु न तो वट का वृक्षत्व समूल नष्ट कर सका और न ही इसकी वानस्पतिक तेजस्विता का साक्षात कर सका। इस्लाम या इसाई-धर्म दो आयामी वानस्पतिक ऊर्ध्वता के वृक्ष थे उन्हें इस त्रिपक्षी ऊर्ध्वता वाले भारतीय-वृक्ष से निरन्तर चिन्तनगत उलझन हुई।

कोई भी व्यक्ति, कोई भी समाज, कैसा ही उन्नत, सृजनात्मक मनस—मूर्त या अमूर्त परिपार्श्व के या भूमि के दबावों, प्रभावों से अप्रभावित नही रह सकता। इसीलिए अपने 'स्व' के प्रति जैसी सतर्कता आवश्यकता होती है वैसी ही भूमि और वायुमण्डल की पवित्रता की भी आवश्यकता होती है। ऊर्ध्वता भी निरपेक्ष नही होती। यह कोई आवश्यक नही कि प्रभावित करने वाला उन्नत या श्रेष्ठ ही हो। मध्य-युग का प्रदीर्घ, एक हजार वर्ष का अन्तराल अपनी अमानुपिकता एव विवेक शून्य जड़ता के कारण भारतीय सृजनात्मक मनस को तो उतना नही परन्तु भारतीय-समाज को खडा चीर गया। भारतीय समाज की पृथुलता पर काफी प्रभाव पडा परन्तु वैचारिक फुनगियां अछूती रही। भारतीय सृजनात्मक-मनस पर प्रभावकारी प्रभाव १६वीं शती के मध्य से आरम्भ हुआ। इस्लाम और इसाई जीवन-दृष्टियाँ आधारभृत सामी-सस्कृत की ही प्रशाखाएँ है। इसलिए इस्लाम के प्रभाव से भारतीय समाज में जो दरारें उत्पन्न हुई उसकी सामाजिक, तथा ऐतिहासिक व्याख्याएँ ईसाइयत ने प्रस्तुत की। इन्ही दरारों को २०वीं शती में साम्यवादी चिन्तन ने आर्थिक-विषमता, वर्गीय-चेतना तथा सर्वहारा के शोपण के स्वरूप में प्रस्तुत किया। भारतीय समाज और भारतीय सृजनात्मक मनस के पराभव को सूत्र रूप में इसी तरह समझा जा सकता है। इस्लाम ने भारतीयता की स्थूलता को एक हजार वर्ष में छिन्न-भिन्न किया तो उसे ही सूक्ष्म स्तर पर पहले ईसाइयत ने और बाद में साम्यवादी-दर्शन ने गत पचास वर्षों में सम्पन्न किया। ईसाइयत हमारे लिए अंग्रेजियत का ही पर्याय रही है।

अंग्रेजों की राष्ट्रीय स्वन्त्रता के लिए औपनिवेशिक मण्डियों की आवश्यकता थी। ये मण्डियाँ यूरोप के बाहर ही थी। अंग्रेजों ने संसार की सबसे बड़ी मण्डी भारत हड़प रखी थी। फ्रान्स, हालेण्ड और पुर्तगाल तो चुप रहे परन्तु जर्मनी के लिए मण्डियाँ प्राप्त

करना जरूरी था अतः दुनिया के सबसे बड़े मण्डीबाज अंग्रेजों से लड़ाई अनिवार्य हो गयी। प्रथम विश्वयुद्ध औद्योगिक उत्पादन से उत्पन्न होने वाले कुतर्कों का प्रारम्भिक संकेत है। यूरोप का उपनिवेशवाद, विशेषकर अंग्रेजों का उपनिवेशवाद न केवल आर्थिक, न केवल राजनीतिक, न केवल धार्मिक और न केवल सांस्कृतिक ही था परन्तु वह दूसरे उपनिवेशवादों के मुकाबले में अधिक सर्वांगीण परिकल्पना था। शायद अंग्रेजी उपनिवेशवाद की इस प्रकृति को स्वरूपित करने में भारत की स्थिति भी कारण रही हो। विश्व के ज्ञान, चिन्तन और सभ्यता के क्षेत्र में भारत की स्थिति सदा अद्वितीय रही है। इस्लाम ने जितना ध्वंस भारतीय समाज का कर दिया था वह अपने आप में पूर्ण था। अब तो भारतीय-सृजनात्मक मनस को अर्थात् भारतीय-अस्मिता के सिद्धवट, अक्षयवट या महावट के ऊर्ध्व वृक्षत्व को खण्डित करने की आवश्यकता थी। बिना ऐसा किये विदेशी प्रशासक कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता था। मैक्समूलर आदि ईसाई विद्वानों के द्वारा जब भारतीय अस्मिता की उच्चता, पूर्णता को सूचना जब ईसाई प्रशासकों को लगी तो वे चौंके। यदि इस आत्ममहत्ता की प्रतीति भारतीयों को होती है, जो कि मध्ययुग में लोप हो चुकी थी, तो प्रशासक अपनी श्रेष्ठता, वर्चस्व स्थापित नहीं कर सकेगा। अतः शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी किया जाए—यह अंग्रेजी उपनिवेशवाद की वह 'मास्टर-की' थी जिसने भारतीय सृजनात्मक मनस को सदा के लिए दास बना दिया। हम अपने स्रोत, भूमि और चिन्तन-वैभव से सदा के लिए कट गये। प्रतिवाद तो दूर कालान्तर में हम भी तथा हम ही अंग्रेजी के प्रवक्ता के रूप में खड़े हुए।

यदि पारम्परिक शिक्षा-दीक्षा रहती तो उसका उद्देश्य बृहत होता। अंग्रेजी शिक्षा, व्यक्तित्व के लिए नहीं नौकरी-प्राप्ति के लिए थी अतः समाज में प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हुई। शिक्षा जब व्यक्तित्व निर्माण के लिए होती है तब प्रतिस्पर्धा नहीं होती। अंग्रेजी ने हमें केवल हमारे स्रोतों से ही नहीं काटा बल्कि हमें अपने से ही घृणा करना सिखाया। भारतीय-समाज का जो सर्वांगीण, समरसतापूर्ण स्वरूप था उसे इस्लाम ने मध्ययुग में खण्डित कर दिया था परन्तु अंग्रेजों, ईसाई-विद्वानों ने तो प्राचीन ज्ञान, ग्रन्थों की ऐसी-ऐसी व्याख्याएँ कीं कि हम स्वेच्छा से अपने वधस्थल तक अपना क्रास उठाकर ले गये। उन विचारे पश्चिमी चिन्तकों ने तो केवल बाधित होकर वध का कार्य सम्पन्न किया।

प्रश्न यह कि ऐसा क्यों किया गया? भारतीय सृजनात्मक-मनस की पूर्ण हत्या की आवश्यकता इस्लाम, ईसाई, साम्यवादी सभी को इसलिए हुई कि यही एकमात्र ऐसी सृजनात्मक-मानसिकता आज तक की सभ्यताओं में रही है जो चिन्तन के स्तर पर न किसी भी मध्यस्थता को स्वीकार करती है और न किसी प्रकार के बाह्य अंकुश को स्वीकृति देती है। भारतीय-सृजनात्मकता ने किसी भी प्रकार की सम्बद्धता—चाहे वह राज्य के नाम पर हो या धर्म के नाम पर हो [मठों के रूप में] को न केवल अस्वीकारा ही बल्कि उन्हें चिन्तन-विरोधी तक माना। साथ ही श्रेष्ठता का दावा किसी एक पर जाकर समाप्त हो जाता है, इसे भी अतार्किक माना। यही वह मूल-बिन्दु है जो संघबद्ध धर्मों, चिन्तकों को बाधक लगता है। व्यक्ति मात्र की सर्वसत्तात्मक प्रभुता तथा अनन्त सम्भावनाओं का

उद्‌घोष करने वाली भारतीय सृजनात्मक-मानसिकता को योजनाबद्ध तरीके से इस २० वीं शती के प्रारम्भ से ही विनष्ट कर देने की योजनाएँ बनी। व्यक्ति की पहचान उसकी भाषा होती है और भारतीय मुख-आकृति को किराये की 'जबान' और भाषा दे दी गयी तो वह वाणी से गूँगा हो गया और व्यक्तित्व से अन्धा। चिन्तन के क्षेत्र में अब हम शीर्षासन करने लगे। भारतीयता, राष्ट्रीयता, जातीयता, परम्परा—सब गाली बना दिये गये। मध्ययुग में अरबी-फारसी ने सस्कृत को कुहनियाया था परन्तु अंग्रेजी ने तो उसका चीरहरण ही कर लिया। यूरोप ने १६ वी शती में जो आधिपत्य संसार पर जमा लिया था तथा मंच से इस्लाम खदेड़ दिया गया था उसकी संपुष्टि पूरी तरह हो इसके पूर्व ही यूरोप में जो राजकीय एव व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा हुई उसके कारण जहाँ वे एक ओर कमजोर हुए वहाँ साथ ही इतिहास में कम्यूनिस्ट-शक्ति उभरी। कम्यूनिस्टों के पास मध्ययुगीन इस्लाम की कट्टरता के साथ-साथ औद्योगिक तथा आर्थिक क्रान्ति का हथियार भी था। इस सदी के मध्य तक इस्लाम के बाद ईसाई राष्ट्रीयता भी सत्ताच्युत होने लगी। परन्तु इस ऐतिहासिक परिवर्तन का लाभ भारतीयता सृजनात्मक-मनस को किसी प्रकार नही मिला, क्योंकि कम्यूनिज्म इस राजनीतिक जडता या संघबद्धता का पर्याय था। अतः भारतीय सृजनात्मक मनस निरन्तर उपेक्षित ही होता चला गया। जिस राष्ट्रीय आन्दोलन से उसे कुछ अपेक्षाएँ थी, जब वह तिलक-गाँधी जैसे राष्ट्रीय व्यक्तियों के स्थान पर नेहरू-टैगोर जैसे छद्म भारतीयों के हाथो में चला गया तो न केवल विदेशी वर्चस्व की ही स्थापना हुई बल्कि भारतीय सृजनात्मक-मनस 'कूपमण्डूक' 'प्रतिक्रियावादी' आदि नामों से इतना गहरा गाड दिया गया कि सारी आशाएँ ही समाप्त हो गयी।

सन् १६१४ के प्रथम विश्व-युद्ध ने यूरोप की औपनिवेशिक राजशक्तियो को उनके जैसी ही दूसरी लोलुप राजशक्तियों के द्वारा जहाँ प्रहार किया वहाँ बोल्शेविक-क्रान्ति ने यूरोपीय-मनस के सामने औद्योगिक क्रान्ति, उत्पादन के ढग तथा उद्योग के स्वामीत्व के सामने ही प्रश्न-चिह्न लगा दिया। उद्योग केवल पूँजी ही नही श्रम भी है, बल्कि श्रम ही प्रमुख है। इस नये प्रकार की साम्यवादी सघबद्धता के सामने यूरोपीय राष्ट्रीय-राजशक्तियाँ निस्तेज हो गयी। यह एक नये प्रकार का ही राजनीतिक-इस्लाम था जिसका निदान यूरोपीय ईसाइयत के पास नही था। पूँजीवादी-व्यक्तिवादिता और भारतीय-व्यक्तिवादिता में आधार-भूत अन्तर था। कम्यूनिज्म यूरोपीय-पूँजीवादी व्यक्तिवादिता को तो काट प्रस्तुत कर सका पर इस भारतीय उदात्त व्यक्तिवादिता का कोई जवाब नही सोच सका। पूँजीवादी व्यक्तिवादिता संग्रह-प्रधान, अपहरण से उत्पन्न, पदार्थिक सम्पन्नता वाली व्यक्तिवादिता थी। राजशक्ति ऐसी सम्पन्नता को विपन्न कर सकती थी, किया भी। जबकि भारतीय सृजनात्मक-उदात्त-व्यक्तिवादिता विग्रह-प्रधान, आत्माहुति पर आधारित अनुग्रहशीला थी अतः इसे पराजित नही किया जा सकता इस सिद्धवट, अक्षयवट, महावट के वृक्षत्व को तीनों आयामों में सर्वथा, समूल करना ही सारी सम्भी तथा यूरोपीय सभ्यताओं, दर्शनों का एकमात्र प्रतिपाद्य

सन् १६१४ की लडाई, 'जर्मन की लड़ाई' अब समाप्ति पर थी। इस्लामी शासक भी विदेशी थे परन्तु कालान्तर में यह यहाँ के जीवन में थोड़े समरस होने लगे थे परन्तु अंग्रेज १४ अगस्त १६४७ की आधी रात तक अपने बँगले के बाहर बुलडाग बैठाले रहा। वह शुद्ध प्रशासक था और वही बन कर रहा इसलिए वह हमें स्वतंत्र नही कर गया वरन् स्वयं गुलामों से मुक्त हुआ। उसने न प्रथम विश्व-युद्ध के समय और न द्वितीय विश्व-युद्ध के समय कभी भी इस देश के एक भागीदार के रूप में नही सोचा। भारतीय दोनों युद्धों में मन से जर्मनी की विजय ही चाहते रहे। अंग्रेज को यह बात सर्वथा विदित थी परन्तु उसे यहाँ से जो चाहिए था—धन, वह उसने प्राप्त किया। जन क्या सोचता है, इसकी चिन्ता जब उसके बुलडाग ने नहीं की तब भला वह गौरांग राजवंशी क्यों करता?

मालवा के भी सारे सरदारों, श्रीमन्तों, सेठों को युद्ध के लिए अनिवार्य चन्दा देना था, सो दिया। दो-चार को 'सर' या 'राव-राजा' पकड़ा दिया और दायित्व शेष हुआ। मेलो-ठेलों में से थोड़े-बहुत रंगरूट भरती कर लिये। हर देशी रियासत के नाम कुछ 'कोटा' था। कुछ पूरा हुआ, कुछ नही और देखते-देखते लड़ाई खत्म भी हो गयी। इस शती के आरम्भ में कौड़ियों का स्थान पाइयों और पैसों ने ले लिया था। अशर्फियाँ और गिन्नियाँ प्रचलन से हट रही थीं। मलका विक्टोरिया के तथा सप्तम एडवर्ड के कलदार रुपये केवल अपने चाँदी के तोले भर वजन के कारण ही वजनी नही थे बल्कि अंग्रेजी सत्ता की उस वजनी प्रभु-सत्ता के प्रतीक भी थे, जिस साम्राज्य में सूर्य भी अस्त होने का साहस नही करता था। अंग्रेजो की इस दुर्दमनीय प्रभुता के लाल रंग से ससार के मानचित्र रँगे हुए हर स्कूल में टँगे हुए थे। हाँ, सत्ता की जूठन के रूप में कुछ बड़ी रियासतों को तथाकथित 'गर्व' अनुभव होता रहा हो। हैदराबाद के निजाम को 'हिज-हाइनेस' नही 'हिज एक्जालटेड हाइनेस' कहा जाता था। कुछ बड़ी रियासतों को सिक्कों और डाक-टिकटों में छूट मिली हुई थी। ग्वालियर-राज्य को एक पैसे के ताँबे के सिक्के, प्रतिरिक्त कार्डों, लिफाफों पर 'सूर्य और दो सर्प' का अपना राजचिन्ह अतिरिक्त छापने का अधिकार मिला हुआ था। होल्कर-राज्य का दो पैसे मूल्य का ताँबे का 'अधन्ना' आकार में भले ही कलदार रुपये के बराबर रहा हो परन्तु मूल्य की हैसियत वही थी जो उनके शासको की आपसी हैसियत थी। इन्दौर में अंग्रेजो का पी० ए० [पोलिटिकल एजेन्ट] 'मालवा-हाउस' में रहता था ताकि मालवे की खींचो भर रियासतों पर निगरानी रख सके। चूँकि मालवा में दो बडी रियासतें भी थी इसलिए इन्दौर के पास 'महू' में अंग्रेजों की जो छावनी थी वह वस्तुतः 'MHOW', अर्थात् Military Head quarters of war का संक्षिप्त रूप थी। मालवा के दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में अंग्रेजी भारत था, जो अपेक्षाकृत आधुनिक था। परन्तु मालवा, राजस्थान, विन्ध्य-प्रदेश तथा उडीसा तक भारत के इस सम्पूर्ण मध्यभाग में देशी रियासतो का पिछड़ा हुआ एक ऐसा कटिबन्ध था

पूरे भारत को दो स्पष्ट भागो में बाँटता था। शायद इसीलिए यह कटिबन्ध, अंग्रेजो का राजनीतिक-विन्ध्याचल था। अंग्रेजों के लिए यह राजनीतिक-विन्ध्याचल आवश्यक था।

मालवा में तब न उद्योग-धन्धे थे, न विशेष नौकरियाँ ही। उद्योग-धन्धे मण्डियो और राज्याश्रयो के अभाव में कुटीर-उद्योग के रूप में भी बमुश्किल तमाम जी रहे थे। पूरे देश में कानपुर और अहमदाबाद में ही कपड़े की मिलें [तब की भाषा में 'पुतलीघर'] थी। चूंकि मालवा और नीमाड की पट्टी में कपास होता था इसलिए 'सर' सेठ हुकुमचन्द जैसे दो-चार मारवाड़ी उद्योगपतियों ने 'मालवा-मिल' 'विनोद-मिल' आदि नामो से कुछ मिलें खोलीं। उज्जैन-इन्दौर के दैनिक जीवन मे तब 'रात-पाली 'दिन-पाली' जैसे औद्योगिक सभ्यता के शब्दों ने प्रवेश पाया। पर यह कपास के ढेर में सुई के जैसे ही थे। मालवा के हृदय को बीच से तराशती हुई एक ट्रेन 'मीटर-गेज' की 'वाम्बे-बड़ौदा एण्ड सेन्ट्रल रेलवे' [बी० बी० सी० आई] जाया करती थी तथा एक ट्रेन 'ब्राण्ड-गेज' की 'ग्रेट इंडिया पेनिनसुला [जी० आई० पी०] के उच्छिष्ट के रूप में और भोपाल-नागदा के बीच उज्जैन को जोडते हुए दो टुकड़ों में चलती थी। एक नेशनल हाइ-वे [राष्ट्रीय मार्ग] 'वाम्बे-आगरा रोड' नाम से यमुना के ऊपर से होता हुआ नर्मदा-ताप्ती को लांघता समुद्र तक जाता था। बीच में मालवा अनिवार्य रूप से पडता ही था। इस मार्ग का प्रयोजन किसी प्रदेश के यातायात को विकसित करना नहीं था बल्कि भारत की राजधानी दिल्ली को भारत के समुद्री-द्वार बम्बई से जोड़ना उद्देश्य था। दिल्ली-बम्बई के बीच दो रेल-मार्गो के अलावा एक सड़क का मार्ग भी सैन्य-सचालन की दृष्टि से आवश्यक था। नही तो मालवा अपनी पठारी गरवट [गाड़ी का रास्ता] पर ही चल रहा था। रेलें अभी भी उपयोग के लिए है यह मालवी-जन की कल्पना मे नही था। दूर से आती हुई क्षितिज में धब्बे सी दिखती ट्रेन जब धड़धड़ाती उसकी बैलगाड़ी के पास से गुजरते हुए धुंआडे की घास और पीले-पीले फूलों को झकझोरती निकल जाती तो मालवी-जन की आँखें फटी की फटी रह जाती।—भला इनमें कौन बैठता होगा?—और आश्चर्य में डूबा मालवी-जन फिर गरवट-गरवटें अपने 'गाम' की ओर बढ़ जाता।—नदियाँ थी, पर पुल नही थे। पुल के नाम पर रपटें थी जो प्रायः पानी में डूबी रहती थी। लोग थे, पर काम नही था। विद्यार्थी थे पर विद्यालय नहीं थे। रीति-रिवाज थे, पर संस्कृति या चेतना नही थी।

उज्जैन, मालवे का दूसरा बड़ा नगर था। कभी मान्दीपन ऋषि का गुरुकुल रहा होगा पर अब शिक्षा के लिए हाईस्कूल ही था जो कि अजमेर-बोर्ड से सम्बद्ध था। चूंकि इन्दौर में होल्कर-कालेज और क्रिश्चियन-कालेज बन चुके थे इसलिए उज्जैन में भी माधव-कालेज की योजना बन रही थी। ग्वालियर-राज्य के लिए भी यह प्रतिष्ठा का प्रश्न था कि उनके राज्य के विद्यार्थी दूसरे राज्य में पढने जाएं। इन्दौर में मिलें स्थापित हुई थी तो यहाँ भी मिलें बनी थी। यहाँ का उद्योग विकसित हो इसके लिए राज्य की ओर से रेलवे के उस पार चुंगी-फ्री एक मण्डी ही स्थापित करने की योजना भी स्वप्नित हो रही थी। वैसे तो उसका नाम 'माधव-नगर' रखा गया था परन्तु जन-साधारण ने

उसे 'फीगज' ही पुकारा। मालवा के साथ एक विशेषता यह भी रही कि यहाँ जमींदारी-प्रथा अंग्रेजी भारत की तरह की नहीं पनपी। यहाँ के नगरों-कस्बों में मध्यवर्ग की ही प्रमुखता रही। अंग्रेजों के सम्पर्क से उत्पन्न चालाक उच्चवर्ग या उच्च मध्य-वर्ग मालवा में नहीं था। कुछ राजवंशी, सरदार, श्रीमन्त तथा सेठ-साहूकार के अलावा बाकी के लोग सिवाय कोट-पाजामा-कमीज और बालदार टोपी के अपने देहाती सगे-सम्बन्धी से किसी अर्थ में भिन्न नहीं थे। इन दोनों बड़ी रियासतों में इन्दौर के अलावा उज्जैन और किसी प्रकार ग्वालियर को शहर कहा जा सकता था। साधारण कोर्ट-कचहरी के अलावा ऐसी सम्पन्नता देहातों में नहीं थी कि आये दिन मुकदमेबाजी होती। इसलिए वकीलों, बाबुओं, अहलकारों आदि का भी वह रौबदाब नहीं बन सका जो अंग्रेजी भारत में था। देहातों में यदि एक सामन [हल] के ही ज्यादातर किसान थे तो शहर में ही कौन बड़े धन्नासेठ थे! कुंकुम-मेंहदी, परचूनी, गधी आदि की ही तो दूकानें थीं। नौकरी, कहाँ थी? जो थी उसमें मरहठे, दक्षिणी-ब्राह्मण, मुसलमान और क्षत्रिय को प्रधानता दी जाती थी। बहुत हुआ तो नाकेदारी, मास्टरी मिल जाती थी। ब्राह्मणों के पास सिवाय पूजा-पाठ यजमानी और सत्यनारायण की कथा बाँचने के अलावा क्या था? गिनती के यदि दो-चार सम्पन्न ब्राह्मण-परिवार थे भी तो उससे समस्त जाति और प्रकारान्तर से ब्राह्मण-समाज का दारिद्र्य थोड़े ही दूर होता था? इसीलिए जब इन देशी रियासतों में राष्ट्रीय आन्दोलन, जन-जागरण का सूत्रपात हुआ तो यह असन्तुष्ट ब्राह्मणवर्ग ही अग्रणी हुआ।

उज्जैन-आगर के बीच 'नेरो-गेज' रेलवे लाइन बिछाने के लिए इस तीस-बत्तीस मील के टुकड़े में पैमाइश का काम बड़े जोरों पर चल रहा था। पतली डंडियों की तिपाइयों पर दूरबीन या वीक्षण-यन्त्र जमाये, सफेद हैट तथा खाकी हाफपैंट में ओवरसियर नाप-जोख करते फिर रहे थे। गिट्टियाँ पूरे रास्ते बिछायी जा रही थीं। लकड़ियों के कुन्दे ठेलों पर लद-लद कर रास्ते के दोनों ओर जमा किये जा रहे थे। कब्जे, बोल्ट न जाने क्या-क्या अगड़म-बगड़म उस पठारी विस्तार में जमा किया जा रहा था। जिस देहाती परिपार्श्व में कभी कोई पक्का मकान नहीं देखा गया होगा अब वहाँ—स्टेशन, सिगनल के केबिन तथा रेलवे के क्वार्टर्स बनाये जा रहे थे। पैदल और बैलगाड़ियों में आते-जाते मालवी-किसान, साधारण-जन के लिए यह एक परम आश्चर्य का विषय था। लोगों की अपनी-अपनी मनोरंजक धारणाएँ थीं। कोई कहता कि सिंधिया महाराज की अंग्रेजों से ठन गयी है और लड़ाई की तैयारी के लिए ही यह रेलवे लाइन डाली जा रही है।

स्टेशन के पार फ्रीगंज में नयी मण्डी, बाजार और बस्ती बसायी जा रही थी। एक प्रकार से इस नयी बस्ती की सारी परिकल्पना सिविल-लाइन्स जैसी ही थी। घंटा-घर, हाइस्कूल सभी कुछ तो बसाया जा रहा था। विनोद-मिल अभी-अभी बना ही था। बोहरे की भी एक मिल खड़ी हो रही थी। उज्जैन के चारों ओर जीनिंग-फैक्ट्रियाँ काफी खडी हो गयी थी जहाँ कपास के ऊँचे-ऊँचे ढेर लगे ही रहते। मिलों के कारण उज्जैन और आसपास के बेरोजगार लोगों को काम-धन्धा मिलने लगा था। वाटर-वर्क्स का काम लगभग समाप्त हो चला था। सारी उज्जैन को पानी का जो घोर कष्ट था अब वह दूर हो चला था। वैसे तो गिनती के ही घरो में अभी तक नल लग पाये थे। परन्तु जहाँ भी थे उसे देखकर निर्दोष मालवी देहाती आँखें चकित रह जाती—तालेवाली टोटियाँ। नल घुमाया नही कि फुत्कारी मारते हुए पानी ऐसा कि आपको ऊपर से नीचे तक भिगो दे। बिजली के तार भी खीचे जा रहे थे। खम्भे गाडे जा रहे थे। घरों के बारजों, छज्जों पर 'ब्रेकेट' लगा कर सफेद चिड़ियों जैसे चीनी के टोपीदार लट्टू लगा कर तार खीचे जा रहे थे। चारो ओर परिवर्तन हो रहा था। दूकानों के पटरों पर गमछा पहने, वैष्णवी तिलक, भस्मी के त्रिपुण्ड्र या देवी की लाल बिन्दी, मुंह में पान और आँखो में भाँग का नशा जमाये उज्जैनी, इसी परिवर्तन को देख रहे थे। कुछ समझ में भी आ रहा था, कुछ टीका-टिप्पणी से बाज नही आ रहे थे। पानी की टोटी में चमडा लगाया जाता है जिससे पानी आता है—तो फिर भिश्ती की मशक का पानी पीने में क्या हरज है ? अरे, ये सबकी जात न ले लें एक दिन तो 'भीमा गुरू' नाम बदल देना समझे ?—ठीक ही तो कह रहे हैं गुरु। ये शक्कर क्या है भाई ? कौन मोरस [मारीशस की बूरेदार चीनी] शक्कर ?—तुम तो हो गये !....अरे ये रवेवाली, बगुले के पंख जैसी सफेद झक !!—शक्कर है और क्या ? शक्कर तो है पर बनती कैसे है। इसे हड्डियों से साफ किया जाता है, समझे कुछ ?—वाह बेटा बंसी ! बात न हुई पतंग हुई। —एक तो तुम लोगों को कुछ पता नहीं दूसरे कोई कुछ बताए तो बकलोल जैसा मुँह फाड दोगे।— झूठ नहीं है, एकदम आँख की देखो है।—सवेरे मे कोई मिला नही क्या ?—और हर कोने पर चार मिले नही कि इस परिवर्तन पर मात्र खीझते हुए, टीका-टिप्पणी करते हुए क्या पंडित जी, क्या सेठ जी, क्या मुखिया, क्या हलवाई सभी मिल जाएँगे।

परिवर्तन शहर, शहर की गलियों, घरों में घुसकर बहने लगा था। विरोध का कोई अर्थ भी नही था। रावलजी महाराज लाख कहते रहे हो कि यह लोगों को भ्रष्ट करने के लिए हो रहा है। रेलें अंग्रेजों ने बनायो ही इसीलिए कि बडे-छोटे सब सटकर बैठेंगे तो लोगों की पवित्रता कहाँ रह जाएगी ? रावलजी महाराज भले ही गुड खाते रहें पर क्या हर आदमी ऐसा कर सकता है ? अच्छा आप खा लें कोई बात नही परन्तु घर आये मेहमान को क्या गुड़ खिलाओगे ?....रावलजी महाराज तो चाय के खिलाफ हैं। अब उनसे कौन कहे, महाराज ! रुपये का आठ सेर दूध हो गया तो क्या आये-गये को भर कोई दूध पिला सकता है ? एक रुपया रोज की भी तो कमाई नही और दूध

अरे, सब भैया की बातें हैं। बड़े आदमियों के चोंचले हैं—खादी पहनो !! बाप-दादों ने आज तक खादी ही तो पहनी थी। मिल के कपड़े में क्या बुराई है गुरू ? जब आदमी पैसा देगा तो क्या वैसा ही माल नहीं खरीदना चाहेगा ?—और क्या !! हींग लगे न फिटकरी, रावलजी की नेतागिरी !!

उस दिन पण्डित महादेव शुक्ल को देवास-गेट पर जो लच्छू चौबे मिले थे तो शुक्ल जी ने उसे कुछ तो टालने की गरज से तथा कुछ अपनी मन स्थिति के कारण कह दिया था कि अब सारा काम त्र्यम्बक ही करता है, उसी से बात कर लो। चूंकि स्टेशन के सामने की सड़क चौड़ी की जा रही थी तथा विकास-योजना को अन्तिम रूप दिया जा रहा था इसलिए लच्छू चौबे का चिन्तित होना स्वाभाविक था। मौके की जमीन कहीं हाथ से न निकल जाए इसलिए उसने पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल से जल्दी बातें कर लेना ठीक समझा।

दरवाजे की 'कल' खुलने की आवाज हुई तो पण्डित महादेव शुक्ल समझे कि कोई यजमान होगा। अभी सवेरा ही हुआ था। नैमित्तिक स्नान-ध्यान आदि से निबट कर वह बैठे थे। सामने पत्नी आकर बैठ गयी थी। वह शायद कपड़े की बन्दनवार सी रही थीं। दोनों आपस में बच्चों के यज्ञोपवीत-संस्कार के बारे में विचार कर रहे थे। धूर्जटी काफी बड़ा होता जा रहा था। पंचानन दस का हो रहा था। यदि चन्द्रशेखर की इतनी जल्दी न हो तो भी इन दोनो का तो अब हो ही जाना चाहिए। न जाने क्यों विशू-काण्ड के बाद से पति-पत्नी में भी कोई खास स्नेह जैसा नहीं लगता था। चाहते तो पण्डित महादेव शुक्ल भी थे कि बच्चों का यज्ञोपवीत कर डालें पर इधर एक तो आये दिन की मुकदमेबाजी, दूसरे त्र्यम्बक ने देवास-गेट पर दो-चार दूकानें बनवाने का खर्चा सामने रख दिया था इसलिए उनका विचार था कि यदि एकाध वर्ष और टाला जा सके तो आसानी होगी क्योंकि वर्षों बाद उनके यहाँ कोई कार्य होगा तो सभी की दृष्टि रहेगी कि देखें, शुक्ल जी के घर कैसा कार्य होता है।

वह बोलना समाप्त ही कर रहे थे,

— ठीक है, त्र्यम्बक से भी सलाह हो जाए।

इसी बीच दरवाजे की 'कल' सुनायी दी थी। उनकी आँखों के ठीक सामने छत में श्रीनाथ जी का एक भव्य चित्र टँगा रहता था जिस पर पवित्रा पड़ी रहती थी। बैठक में घुसने वाले को श्रीनाथ जी का नहीं बल्कि महाकाल का बड़ा सा फ्रेम किया हुआ चित्र दिखता था।

पण्डित महादेव शुक्ल ने देखा कि यह तो लच्छू चौबे हैं तो वह धीरे से बोले,

— अब तुम जाओ। आइए चौबे जी।

लच्छू चौबे सकपकाये जरूर कि वह पति-पत्नी के एकान्त में बिना खाँसे, आवाज दिये

चले आये । खिसियाते हुए बोले,

— क्या करूँ पंडितजी !—अरे भाभी हैं क्या ? प्रणाम भाभी !

और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने घूँघट कुछ और खींच लिया और बिना कोई उत्तर दिये निकल गयीं । उनके जाते ही चौबे जी भी सामने गद्दी पर आकर बैठ गये । एकदम पण्डित महादेव शुक्ल की समझ में नही आ रहा था कि चौबे से क्या बात करें । त्र्यम्बक से उन्होंने संकेत भर किया था तो कैसा जवाब दिया था कि आप चौबे से बातें नही करेंगे ।—तो अब वह क्या करें ?

लच्छू चौबे ने सुंघनी निकाली और दो-तीन बार सूंघ कर दो-एक छीकें ली और तब बोले,

— आपने छोटे पण्डिज्जी से बातें की थी क्या ?

लच्छू चौबे का इस प्रकार पूछना उन्हें सुहाया तो नहीं, पर क्या कहते ?

— मैंने तो आपसे कहा था न कि बात कर लें ?

— हाँ, कहा तो था, पर आ नही पाया । फिर वह दिखे भी नही इधर ।....लेकिन पंडिज्जी ! इसमें वह क्या करेंगे ? आपकी तो छह दुकानें बनने वाली हैं ।

— यह भी तो यही जानता है ।

— नहीं, मुझे सब मालूम है ।—देखिए, यह तो घर ही की बात है ।

— नही, वो सब ठीक है, परन्तु जिसका काम वही करेगा न ?

— क्या वह घर में नही हैं ?

— यही तो मुश्किल है कि वह घर पर कब मिलेगा, कोई कह नही सकता ।

— पता नही आपको पता है कि नही कि आप जो छह दुकाने बनवाना चाहते हैं उनके बीच से एक ऐसी सडक जाएगी कि चार दुकाने एक तरफ रहेंगी और दो एक तरफ । मैंने तो यही सोचा है कि जो दो दुकाने हमारी दूकान की तरफ पडती है वह हमें दे देते तो हमारा भी सारा हिसाब ठीक बैठ जाता ।

पण्डित महादेव शुक्ल के मुख पर स्पष्ट लिखा था कि यह प्रस्ताव उन्हें स्वीकार नही है इसीलिए वह अपने मुँह से कुछ न कह कर पुत्र पर टाल रहे है । उन्हें मौन देखकर लच्छू चौबे फिर बोले,

— तो पंडिज्जी ! रोज-रोज काम का हरजा करके इत्ती दूर दौड़ना भी तो नही हो सकता ।

— ठीक है, तो काम का हरजा करके त्र्यम्बक ही दौड लेगा ।

इस वाक्य से लच्छू चौबे को लगा कि पण्डित महादेव शुक्ल अन्दर ही अन्दर नाराज हैं । अपनी धोती के ऊपर कमर में बँधी रुपयो की नौली बाँधकर लच्छू चौबे आये थे । नौली खोल चुके थे,

पण्डित महादेव शुक्ल ने उन्हें टोकते हुए पूछा, जो कि नौली में से रुपये निकाल कर दस-दस की ढेरी बना रहे थे ।

— यह क्या कर रहे हैं चौबे जी ?

— मैंने सोचा कि लिखा-पढ़ी बाद में हो जाएगी। अभी आप यह दो हजार रखें है....
और आपके कहने से क्या हम बाहर हैं ?
— चौबे जी ! भगवान का दिया सब कुछ है। अभी तो जब बेचने की बात ही नहीं है तब भला कैसे यह पैसा ले लिया जाए ?
— मैं तो यह मान रहा हूँ कि आपके एक नहीं, दो त्र्यम्बक हैं।
— वो अपनी जगह है चौबे जी ! और व्यवहार, व्यवहार है।—आप यदि हमें अपना बड़ा मानते हैं तो हमारी यह सलाह मान लें।
— अरे सलाह की क्या बात है पंडिज्जी, आज्ञा करें।
— माली वाड़े के माँगीलाल भावसार से जिस तरह आपने यह दूकान हथियायी है उससे अब आपको सन्तोष करना चाहिए।
लच्छू चौबे हठात तो कुछ नहीं समझ पाए परन्तु जैसे ही बात समझ में आयी उनके जबड़े कस उठे। लच्छू चौबे को कोई कुछ-कह जाए ? यह असम्भव था, परन्तु पण्डित महादेव शुक्ल से क्या कहते ? वह भी तत्काल सहज होते हुए बोले,
— पंडिज्जी ! आप जानते ही होंगे कि पचास बार उसने ही घेरा तब जाकर मैंने यह दूकान ली।
— छोड़िए, यह आपकी और उसकी बात है।
— नहीं पंडिज्जी ! मैं मानता हूँ कि उसके भतीजे ने माँगीलाल को उलटा-सीधा समझाया था। वह तो खुद अपने दादा की दूकान हथियाना चाहता था।
— तब ये भावसार के मारे जाने में आपका नाम क्यों घसीटा गया ?
— उसके भतीजे की दुश्मनी, और क्या।
— चलिए, आप बच गये।
— आपके आशीर्वाद से बच गये पंडिज्जी !—बस आपकी कृपा बनी रहे तो ऐसी दो दूकानें भी मिल जायेंगी।
तभी दरवाजे की 'कल' बजी और तीन-चार यजमानों के साथ पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने प्रवेश किया। यजमान आकर सामने बैठ गये। पण्डित महादेव शुक्ल जिस भाँति मौन बने बैठे थे उसका स्पष्ट संकेत था कि अब लच्छू चौबे जाएँ। चौबे ने पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की ओर देखकर कहा,
— आप से थोड़े फुर्सत में जरा बात करनी थी। बड़े पंडिज्जी से तो बातें हो गयी हैं....
लच्छू चौबे को बीच ही में टोकते हुए पण्डित महादेव शुक्ल बोले,
— बातें-वातें कुछ नहीं हुई हैं। आप फिर कभी आइए।

प्रायः तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल, दुर्गा के लौटते तक सो जाते रहे हैं। पुन्ना-चौरा करते हो दुर्गा को देर हो जाती है। उसके बाद चौके का मखुआ बहुत रात के

कपड़े पहन कर, सब दूर के दिये बुझाते-करते, सिरहाने नीचे बाबा के पास, सासू-माँ के पास बच्चों के लिए भी पानी रखते देर तो होनी होती ही हैं। जूठे बर्तन सब एक तरफ करना, चूल्हे को धोना-पोंछना, सवेरे के लिए आरम्भिक तैयारी भी रात को ही करके रखनी पड़ती है। नया-नया महाराज-बाडा स्कूल खुल गया है तो बच्चे स्कूल जाने लगे हैं। दुर्गा को यह अनुभव कितना रोमांचक लगता है कि बच्चे स्लेट-पेंसिल लिये, कन्धे पर बस्ता टाँगे स्कूल जा रहे हैं। वह सुन रही है कि मराठी लडकियों की जैसी ही एक शाला हिन्दी लड़कियों के लिए भी खुलने वाली है। उसका कितना मन है कि कुन्ती भी स्कूल जाए तो कितना अच्छा। और क्या, दो-तीन बरस में यह एक बरस की कान्ता भी शाला जाने लगेगी। अभी तो मराठी, दक्षिणी [महाराष्ट्रीय ब्राह्मण] लडकियाँ ही दाइयों के 'शाला चला बाई' बुलाने पर पोलका-पेटीकोट पहन कर स्कूल जाती कैसी अच्छी लगती है! दो चोटियाँ करके कान्ता भी जब जाएगी तो कैसी लगेगी न?

आज दुर्गा को भी सारा काम सहेजने-समेटने की जल्दी थी। सासू-माँ ने 'बाबा' से बच्चों के यज्ञोपवीत के लिए बातें की थी। वह भी पति से परामर्श करना चाह रही थी। जैसे ही सोने के कमरे में घुसी तो दरवाजे पर रखा रहने वाला पंचा [गमछा] आज नहीं दिखा। उसे उलझन हुई। उसके हाथ-पैर चौके में काम करने के कारण इतने ठण्डे हुए रहते हैं कि अपने को ही उलझन होती है। जाडो मे तो 'इनके' लिहाफ में पैर न डाले तो कभी नींद ही न आए—एक दम ठराये [ठंडे] हुए रहते हैं। अगर इस बीच 'ये' सो गये होते हैं तो वह देर तक सोचती पडी रहती कि वह क्या करे? अगर पैर गरम करने के लिए 'इनके' लिहाफ में पैर डाले और कहीं भूल से छू गये तो 'ये' ऐसे चौकेंगे कि बस। इसीलिए वह पचे से पैर रगड लेती है ताकि बिस्तर में जाने के पहले ठीक से साफ भी हो जाएँ और कुछ गरम भी हो जाएँ।

दरवाजे पर दुर्गा को पंचा खोजते देख पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल हँसते हुए बोले,

— जी, वो आपका जरी का दुपट्टा मैंने आज उठा कर फेंक दिया।

— फेंक दिया?

— जी, वो इतना स्वच्छ था कि उसे सिवाय किसी पेरवानी [शादी-ब्याह में दिये जाने वाले वस्त्र] में ही दिया जा सकता था।

— अच्छा जी !!

और वह हँसती हुई दिया बुझाने को हुई।

— पता नहीं तुम्हारी इस आदत से कितना तैल बच जाएगा। रात में छोटा बच्चा जागता है, पेशाब करता है, तुम्हें उठना पड़ता है परन्तु तुम क्या मजाल जो चिमनी जलती रखो।

— तुम्हारा बस चले तो तुम मशाल जलाओ।

— जलती ही है लोगों के यहाँ।

— लोगों के यहाँ न? लोगों के यहाँ तो न जाने क्या-क्या होता है?

— क्या-क्या होता है? जरा हम भी सुनें?

और यह कहते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने दुर्गा का हाथ खींचा।
— अरे, पागल हुए हो क्या ? इत्ती जोर से हाथ खींचा कि मैं गिर पड़ती।
— मेरे होते भला तुम गिर सकती थीं ?
— क्या बात है ? आज क्या भाँग खायी है कहो ?
— तुम पास में हो तो भाँग क्या...
— जरूर आज आपका माथा खराब है।
और वह साड़ी से अन्तिम बार अपनी चूड़ियाँ पोंछते हुए पति के पास बैठ गयी। बच्ची कान्ता एक ओर शान्ति से सो रही थी। बस, अब होली आने वाली थी। रातें अभी भी ठंडी थीं। लिहाफ में पैर डालकर बैठना बड़ा सुखद लग रहा था। पैर गरमाते हुए बोली,
— आज सासू-माँ बाबा से बच्चों के यज्ञोपवीत के बारे में बातें कर रही थीं।
— यह बाबा का विभाग है, वह जानें।
— विभागों का बँटवारा कब हुआ ?
— क्यों भगवान के यहाँ ही यह काम हो जाता है। ससुर का काम खाँसना, पति का काम पैसा कमाना, सास का काम बहू को 'ठीक' किये रहना और बहू का काम सब की नौकरी करना।
— सेवा करना नहीं कहा ?
— सेवा जरा ऊँची चीज हो जाती,
— अच्छा सुनो, आज यह, कोई लच्छू चौबे कौन आया था ?
— हाँ, उज्जैन का नामी पहलवान है, गुण्डा भी है।
— तो बाबा के पास क्या लेने आया था ?
— बाबा से लेने नहीं, दाँव-पेंच लड़ाने आया था।
— अच्छा, पहेली न बूझो, सीधे-सीधे बताओ।
— अरे भाई, देवास-गेट पर हम जो यह दुकानें बना रहे हैं वो इसकी दूकान के पास हैं।
— क्या इस चौबे की दूकान भी है कोई ?
— क्या तुम भी ! उज्जैन में रहती हो या किसी गाँव-देहात में ?
— हम लोग क्या आप लोगों की तरह सड़क पर मुँह उठाकर चलते हैं ?
— देवास-गेट पर चौबे की हलवाई की दूकान है। यह दो दूकानें हमारी चाहता है।
— बढ़ाना चाहता होगा अपना धन्धा।
— जी।
— तो क्या हुआ ?
— तो के बारे में मुझसे क्या पूछती हो, बाबा से जाकर पूछो।
— यह तो ठीक है, पर इत्ती जरा सी बात में चिढ़ क्यों जाते हैं ?
— अभी तक तो नहीं चिढ़ा था पर अब चिढ़ आ रही है।

— घर में आदमी घर वालों से बात न करेगा तो क्या पड़ौसी से करेगा ?
— तुम पूरा पंचाग खोलकर बैठ जाती हो ।
— जाओ, हमें नही सुनना, बस ! हाँ ऽऽ नही तो ।
— दुर्गा ! तुम्हारे इस 'हाँ ऽऽ नही तो' का तो कोई जवाब नही ।
— हटो, तंग न करो । दिन भर की थकान है, नीद आ रही अब । आपसे तो पूछना मुश्किल है । अपने मन से पूरी रामायण सुना देंगे, पर अगर किसी ने पूछ लिया तो....
— बस काटने ही दौड़ूंगा, है न ?

और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने इस तरह दुर्गा को अपने से सटाया कि वह लगभग चीख पड़ी ।

— लगता है, मुझे निकलवा कर ही छोडोगे । अगर सासू-माँ जग रही होंगी, तो आपका क्या....
— तो भाई वो लच्छू चौबे का किस्सा नहीं सुनना ?
— वो लच्छू चौबे गया भाड़ में और मैं चली अपने बिस्तरे पर ।

और वह हठात पति के बिस्तरे से उठ गयी । पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को पता नही था कि दुर्गा हठात उठ जाएगी अन्यथा वह उसका हाथ कस कर थामे रहते, पर वह हाथ अचानक ही उनके हाथ से ऐसे चिकने से फिसल गया कि उसका स्पर्श उनकी अँगुलियो में देर तक झनझनाता रहा । वह हाथ नही बल्कि प्रिया थी; वह हाथ नही बल्कि स्वयं थे जिसमें प्रिया झनझना रही थी ।

दूसरे दिन गाँव से संदेसा ही नही दमनी भी आयी कि माँ की तबीयत ठीक नही है, दुर्गा और बच्चो को बुलवाया है । सबको आने में कष्ट न हो इसलिए दमनी साथ ही भिजवा दी है । बिशू-काण्ड के बाद से श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने ज्यादा तीन-पाँच करना छोड दिया था । अब वह अधिकतर या तो बच्चों-पति के साथ नीचे अपने कमरे में रहती या फिर एकदम ऊपर छत पर खुले में पहुँच कर टहलती रहती । बहू से अबोला तो नही परन्तु काम से काम का सम्बन्ध ही था । बड़ों के बीच सम्बन्धों की दीवालें बनती रहती हैं उन्हें बच्चे अनजाने में ही ठीक करते चलते हैं । दुर्गा को घर-गृहस्थी से ही अवकाश नही मिलता उस पर कान्ता अभी बरस भर की ही थी । तीनों लड़के और कुन्ती दादी-माँ के जिम्मे थे । अच्छा यह हुआ कि जिस समय दमनी का गाड़ीवान चिट्ठी लेकर आया सासू-माँ उस समय मगलारती के दर्शन करने मन्दिर गयी हुई थी । ससुर, पण्डित महादेव शुक्ल तीन दिनो से खाँसी से परेशान थे इसलिए वह सावरकर जी के यहाँ गये हुए थे । पति पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल नाश्ता कर रहे थे । तभी बच्चे शोर मचाते हुए ऊपर आये—

— नानी जी की चिट्ठी आयी !
— मामाजी ने दमनो भेजी !!
आपसे ही में उनमें झगड़ा हो रहा था, कि,
— नानीजी की चिट्ठी आयी !!
— मामाजी की दमनी आयी !!
बच्चों का शोर सुनकर त्र्यम्बक और दुर्गा दोनो चौंके कि बच्चों ने लाकर चिट्ठी अपने बाबा के हाथ में दे दी। सवेरे की धूप पीछे वाली खिड़की से चौके में आ रही थी। फर्श पर धूप की खिड़की बन आयी थी। शुक्ल जी के इस घर की विशेषता यह थी कि इसके तीन ओर खुला पड़ता था जो कि इन मुहल्लों में असम्भव था। परन्तु चूँकि आस-पास के घर भी ऊँचे थे इसलिए दूर तक दिखने का प्रश्न ही नही था। सवेरे के समय लगभग इसी समय आठ से नौ के बीच फाल्गुन के आते-आते धूप का एक टुकड़ा आने लगता। ऐसे ही, जाड़ो में सोने वाले कमरे में सवेरे धूप आती।

वैसे तो समाचार, चीजें, आदमी, गाँव से आते रहते हैं पर चिट्ठी कभी नही आती। दुर्गा दम साधे प्रतीक्षा कर रही थी कि पति चिट्ठी पढ़ ले, तो पूछे कि क्या लिखा है ? चिट्ठी पढ़ने के बाद बोले,
— दादा ने लिखा है कि 'जिजी की तबीयत ठीक' नही चल रही है। हो सके तो दो-चार दिनों के लिए सब हो जाएँ। गाडी साथ ही भेजी है। नीबू का अचार भिजवाया है। इस बार नीबू ज्यादा अच्छा नहीं था।
अभी नीबू के अचार की चर्चा हो-ही रही थी कि नीचे से गाड़ीवान की आवाज सुनायी दी,
— भैया ! यह अचार भी है।
— अच्छा !!
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने जवाब दिया। दुर्गा उठकर नीचे गयी। बच्चे भी साथ ही लग लिये। दुर्गा गयी ही इसलिए थी कि अपने गाँव का आदमी आया है।
गाड़ीवान कालू था, जो कि भगवानसिंह चौकीदार का लड़का था। उसने जैसे ही दुर्गा को देखा तो अचार की काली हँडिया तो नीचे रखी और दुर्गा के चरण-स्पर्श किये,
— दीदी ! पहचाना कि नही ?
— बहुत समझदार हो गया मालूम पडता है। मूँछें निकल आयी तो कालू बदल गया क्या रे ?
और कालू हँसने लगा। सिर पर साफा और कन्धे पर जोट ओढ़े कालू अपनी उमर से ज्यादा ही लग रहा था। नीबू के अचार की गन्ध इतनी तेज थी कि सारा घर गमक रहा था। दुर्गा ने धूर्जटी को अचार ऊपर ले जाने के लिए कहा।
— कालू तुम बैठो, आराम करो। पाँचू, कालू-मामा को नाश्ता-पानी कराना तुम्हारा काम है, समझे ?
तभी कुन्ती बोली,

— नही, कालू-मामा को नाश्ता मैं कराऊँगी।
— और नही तो क्या, कुन्ती बेटी के हाथ से हम नाश्ता करेंगे तभी तो गाँव में खेत घुमाऊँगा, क्या नही तो सेंतमेंत ही ?
और बच्चे हँसने लगे ।

पति को जाते देखकर दुर्गा बोली,
— सुनिए, क्या दो-चार दिनो के लिए आप भी नही चल सकते ?
— कैसे चलूँ, तुम्ही बताओ ?
— कौन दूकानें अभी बननी हैं। जब दूकानें बनेंगी तब तो निकल ही न पाओगे। जिजी की चिट्ठी आयी है। पता नहीं कैसी क्या तबीयत है। गाड़ी भेजी है। दो-चार दिन बाद सब ठीक हो तो तुम लौट आना।
— पर अभी तो बाबा से कुछ बात ही नही हुई, न जिजी से बातें हुईं।
— इसीलिए तो कह रही हूँ कि इसी तरह बातें करना जिसमें आप भी चल सकें। कितने दिन हो गये। आप भी दिन-रात यहाँ के खटरागों में लगे रहते है। वहाँ की खुली हवा में मन भी बदल जाएगा। जिजी-दादा भी प्रसन्न हो जाएँगे।
— अच्छा, देखो।....कालू का सब ठीक से प्रबन्ध कर देना।
— तो, अब आप ही सारी बातें कर लेना दोनों से।

वर्षों बाद दुर्गा, पति और बच्चों के साथ जिस निश्चिन्त भाव से अपने गाँव जा रही थी उसमें वह आद्यन्त प्रसन्न फूल लग रही थी। सासूमाँ की तो इच्छा थी कि धूर्जटी या पचानन में से कोई एक रह जाता परन्तु बच्चे तो दौड़कर पहले जाकर गाड़ी में बैठ गये थे। भला वे रुकने वाले थे ? उज्जैन में बँधे-बँधे रहते उकता गये थे। न कहीं बाहर जाना, न आना। रोज-रोज किसके यहाँ आओ-जाओ, और कितना ? गाँव में कुछ हो—खुली धूप, हवा तो है। शहर में तो धूप भी ठंडी हो जाती है। गलियों और मकानो के मारे क्या मजाल जो धूप कभी सेरी में भी पूरी तरह आए। स्कूल में आती होगी धूप तो वहाँ खेलो कि पढ़ो ?—बस, उसके बाद कहाँ जाओ ? और शाम भी तो कैसी जल्दी हो जाती है। बच्चे किसके यहाँ जाएँ ? त्रिशूल-काण्ड के बाद से गंगा-मामी भी तो अब नही ही आती। नर्मदा-मासी जरूर बच्चों को कलेजे से लगाये रहती हैं परन्तु बच्चे, बड़ों से बड़ी जल्दी ऊब भी जाते हैं न ? खा-लिया, पी-लिया, लाड हो गया—अब क्या हो ? इसलिए बच्चे फिर चलो, चलो, करने लगते हैं। साथ ले जाओ तो बैठने नही देंगे और अकेले गये नहीं कि पैर नही टिकेंगे। कब गये, कब आये, पता ही नही चलेगा। बच्चे कहीं आवारा न हो जाएँ इसलिए सेरी में खेलने जा नहीं सकते।

ठीक ही तो है। घर से निकलो तो मगरमुँहे की गली पार करो और पटनी-बजार आ गया, ताँगा-घोड़ा, साइकिल सभी तो हैं, कहीं कोई कुचल ही जाए। इसलिए घर के कपड़ों की तरह बच्चों को भी टाँगे रहो और टँगे बच्चे ऐसे बोझ हो जाते हैं कि उठाये भले।

पूरे रास्ते बच्चे एक-दूसरे को छेड़ते-परेशान करते रहे। जो देखो वही गाड़ी हाँकने पर तुला था। 'कालू मामा ! हम' 'कालू मामा ! हम' के मारे बिचारे कालू की नाक में दम था। वह डर रहा था कि उचक कर कोई नीचे न गिर पड़े। अभी पैर बैल तक पहुँचता है नही पर हुमका लगाएँगे, पूँछ को उमेठने के लिए झुके-झुके पड़ रहे हैं, फिजूल में ही बैलों को आर [कील लगी हाँकने वाली लकड़ी] किये जा रहे हैं तो बैल भागेंगे ही। अच्छे-खासे बैल चल रहे हैं पर रस्सी को खींच-खींच कर बैलों को परेशान कर रहे हैं। दमनी को उलटते क्या देर लगती है ? पर इन बन्दरों को कौन समझाए ?

दमनी की पीछे की झूल उठाये त्र्यम्बक और दुर्गा बातें करते हुए अपने में लीन थे।

— याद है दुर्गा वह पहली यात्रा ?
— मनुष्य सुख भूल जाता है परन्तु दुःख नही।
— नहीं दुर्गा ! मनुष्य सब कुछ भूल जाता है। मनुष्य बड़ा कृतघ्न होता है।
— तभी तो वह कृतज्ञ भी होता है। दोनो ही बातें एक जैसी ही हैं। जिस क्षण बीतता है उस क्षण लगता है न कि यह जीवन कितना असार है।
— जीवन का असार लगना भी तो जरूरी है दुर्गा !
— हाँ, मन समझाना है सब।
— क्या तुम इसीलिए किसी बात में रुचि नही लेती हो ?
— कौन सी बात में रुचि नही लेती ?
— यह जो बाबा और मैं काम-धन्धा बढा रहे हैं उसमें कभी तुमने हाँ-ना कुछ नही की।
— पुरुषों की बातों में मैं भला क्या बोलूँ ?
— यह तो तुम कह ही सकती हो कि किया जाए, कि नही।
— मैं जानती हूँ मेरा क्या क्षेत्र है।
— अच्छा यही बताओ, तुम्हारा क्या क्षेत्र है ?
— सबकी सेवा करना, और क्या ?
— यह तो निर्भर दृष्टिकोण है। अपनी आत्म-निर्भरता की बात करो।
— स्त्री और आत्म-निर्भर ?
— क्यों ? स्त्री क्या पर-निर्भर होने के लिए ही बनी है ?
— यही तो दुनियाँ की रीति है।
— दुनियाँ की रीति गयी चूल्हे में, अपनी बताओ।
— अरे वाह, हम क्या दुनियाँ से अलग है ? अपनी बात भी लोकसम्मत ही होनी

चाहिए। संसार व्यवहार है, विचार नहीं।

— यह बात कही तुमने अपने दादा की समझदारी जैसी।

— दादा ने अपने विचारों को व्यवहार रूप दिया है। गोविन्द को आखिर उन्होंने एक तरह से नया जीवन दिया न? वह कहा भी करते हैं कि दुर्गा! कभी अपने से बाहर, अपनी सीमा से बाहर झाँक कर देखो, सुख ही सुख है। जब हम केवल हम ही बने रहना चाहते हैं तब उससे बड़ा कोई दु:ख नहीं।

— सच तो यह है दुर्गा! कि मेरा भी मन कोई खास इस सबमें नहीं लगता पर क्या किया जाए?

— हाँ, यह तो है ही।

और दुर्गा ने निश्वास ली। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि दुर्गा और कुछ सोचने लगी है।

— तुम शायद और कुछ सोचने लगी।

— कुछ खास तो नहीं।

— फिर भी।

— न जाने क्यों बिशू वाली घटना को मैं कभी भूल नहीं पाती।

— मैं समझता हूँ कि तुम शायद कभी भूल भी नहीं सकोगी।

— मुझे न जाने क्यों दुश्चिन्ता लगती रहती है।

— कैसी?

— ऐसा लगता है न कि जैसे बिशू....

— बिशू क्या? बतलाओ?.. .क्या वह फिर....?

— नहीं, वह फिर नहीं दिखा कभी, पर लगता है जैसे,....अभी शेष नहीं हुआ।

— तुम तो पागल हो।

— जरूर हूँगी।

— तुम्हारा भी जवाब नहीं। तुम प्रतिकार करना जानती ही नहीं। कोई तुमसे कुछ कह दे, सबसे सहमत हो जाओगी।

— कोई की बात नहीं जानती, पर घरवाले कोई नहीं होते। और प्रतिकार....क्या सच ही बहुत बड़ी बात होती है?

— और नहीं तो क्या?

— तो जिन्हें प्रतिकार करना नहीं आता उनका जीना बेकार है क्या?

— मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम बेकार जी रही हो।

— अच्छा, यह बताओ कि अगर प्रतिकार करना निरर्थक लगे तो व्यक्ति क्या करे?

— तुम्हारी तरह से घुटे, और क्या?....अरे वो देखो खजूर पर नीलकंठ। दाहिने हाथ नीलकंठ दिखना शुभ होता है।....लगता है गाँव भी आ गया।

और दुर्गा ने दोनों हाथ जोड़ लिये। नीलकंठ का नाम सुनते ही सारे बच्चे चिल्ला पड़े,

— नीलकंठ?

— कहाँ है नीलकंठ ?

— बाबा ! हम भी देखेंगे ।

— माँ ! हम को दिखाओ ।

और दमनी में लगभग भूचाल आ गया । त्र्यम्बक को लगा कि दुर्गा ने नीलकंठ क्या कहा, जान आफत में आ गयी । बोले,

— वो देखो खजूर है न ?

— कौन सी वाली ? बड़ो वाली कि छोटी वाली ?

— बाबा ! ये पाँचू तो गधा है । मुझे बताओ ।

धूर्जटी ने बड़े बनते हुए पूछा । तब तक मन्या बोला,

— मैंने देख लिया, मैंने देख लिया ।

इस पर कुन्ती बोली,

— हमको नहीं बताओगे मन्या दादा !

मन्या कुन्ती का सिर घुमाते हुए बोला,

— वो देख, वो ऽऽ

— कहाँ ? हमको दिख ही नहीं रहा है ?

और तब तक नीलकंठ खजूर पर से उड़ा । उसके उड़ते ही सबने देखा और बच्चे तालियाँ बजाने लगे । तब तक कालू बोला,

— सम्हलना भैया, खाल आ गया ।

दुर्गा बोली,

— खाल आ गया कालू ?

— वाह दीदी ! गाँव का खाल भी भूल गयीं ?

— नहीं रे, मैं नहीं भूली, तुम्हीं लोगों ने भुला दिया ।

खाल में नाम मात्र को ही जल था पर जितना भी था एकदम साफ था । बैलों को शायद प्यास तो अधिक नहीं थी पर अपने गाँव का जल, प्यास न होने पर भी पीने को मन तो कर ही आता है । कहीं किसी को जंगल में से पुकारने की आवाज आ रही थी । बैलों ने भी सुनी शायद तभी तो थूँथ से पानी टपकाते हुए आवाज की दिशा में टोहने लगे ।

बैल पानी भी पी चुके थे । उन्हें भी सवारियों से कहीं अधिक घर पहुँच कर जुआ उतार कर सुस्ताने को मन कर रहा था तभी तो एक ही हल्ले में दमनी को बैल ऊपर खींच ले गये । थोड़ी ही दूरी पर गाँव, गाँव के पेड़ दिख रहे थे । कोने में केवड़ा-स्वामी की झण्डी फहराती दिख रही थी ।

अलसवेरे चले थे । तीसरा प्रहर होने आया था । रास्ते में एकाध जगह रुक कर बच्चों को कुछ खिला-पिला देने की बात भी हुई पर बच्चों ने गाड़ी में ही खाना-पीना कर लिया । वह नानी-मामा के पास जल्दी से जल्दी पहुँच जाने के लिए बहुत व्याकुल थे । जैसे ही घर की ओर दमनी मुड़ी और धीरे हुई धूर्जटी और पाँचू जैसे ताक

में थे, पीछे से कूद पड़े और दमनी पहुँचे इसके पूर्व ही शोर करते हुए दौड़े। इन लोगों का शोर गाँव के लिए बहुत था। कई लोग घरों से निकल आये, और देखते-देखते खबर फैल गयी,

— दुर्गा आयी ! दुर्गा आयी !! दुर्गा आयी !!!

बाहर के बड़े फाटक के सामने पत्थरों का मार्ग उतार जैसा बना था। इसके दोनों ओर दो ऊँचे चबूतरे थे। इन चबूतरो के सिरो पर दीवालो के पास गाडियो के टूटे पहिये खड़े थे। बड़े से फाटक से घुसते ही बाँये हाथ एक पडसाल है। इस पड़साल से लगी हुई वह जगह है जहाँ गाय-बैल बँधते हैं। फाटक के बाँये हाथ बीज के लिए बखारियाँ [मिट्टी की कोठियाँ] बनी हुई हैं। बैलों, गाड़ियों तथा खेती का सारा सामान—काम में आने वाला, न काम में आने वाला, सभी रखा रहता है। खुले आँगन में पहुँचते ए' पशुशाला के सामने ही घर के कमरे हैं। पिता के जमाने में तो जैसे गाँव के दूसरे घर होते हैं वैसा ही यह भी था परन्तु पण्डित शिवशंकर आचार्य ने धीरे-धीरे घर की रूप-रेखा बदल दी थी। कमरे के बाहर दो बड़ी-बड़ी बखारियाँ अनाज भरने के लिए अभी भी खड़ी थी। इन दोनों के बीच दरवाजे जैसा बन जाता था। बाँयें हाथ एक छोटी सी कोठरी थी जिसमें कभी पीसना होता था इसलिए चक्की लगी हुई थी। दो-एक छोटी चकियाँ भी थी। भीतर का कमरा सब तरफ से घिरा था केवल सामने के दरवाजे से ही प्रकाश आता था। यही पर पुराने दिनो में गाँव की तरह ही रसोई-पानी होता था। जाड़ों में स्त्रियाँ यहीं सोती थी। इस घर के पास ही छोटा-सा दो कमरों का एक घर और था जिसे अब पूरी तरह बदल दिया गया था। उसे गिराकर दुमंजिला बनवा दिया गया था तथा ऊपर-नीचे मिलाकर चार कमरे बनवा दिये गये थे। फर्श, दीवालें थी तो कच्ची ही परन्तु सफाई एवं बनावट की दृष्टि से बहुत सुखद स्थान कर दिया गया था। घर के पीछे जहाँ पहले अव्यवस्थित तरीके से कुम्हड़े, लौकी, गिल्की [नेनुआ] की बेलें या ऐसी ही सब्जियाँ उगा ली जाती थीं, अब उसे भी व्यवस्थित कर दिया गया था। जगह तो बहुत थी परन्तु पिता अकेले थे वह बिचारे कितना-क्या करते ? पण्डित शिवशंकर आचार्य तो इस बीच वाले मकान को भी ठीक से बनवा देना चाहते थे ताकि माँ को अधिक आराम मिले परन्तु माँ इसमें कोई परिवर्तन नही चाहती। कमरे के दरवाजे पर जो गणेश जी की मूर्ति चौखट के बीच में बनी है उसकी उन्होंने प्रथम दिन पूजा की थी। इस घर की दीवाल में नवरात्रि की माता की पूजा बनी हुई है, भला वह दीवाल तोड़ी जा सकती है ? और फिर माँ की स्मृतियाँ है। वह कहा करती है कि आज चालीस बरस से छाछ मथने की रस्सी और मथानी तक वही है। अपने रहते वह इस घर में रत्ती भर नही बदलने देगी। दूसरी सारी और जगह है, बना लो, जहाँ चाहो, जैसा चाहो बना लो, पर इस घर को न छूना। यह घर, श्रीमती

गोदावरी आचार्य को अपनी ही नहीं, पुरखों की देह लगती, इसीलिए खूब ही लीप-छाप कर, तेल-पानी कर साफ-झक रखती थीं।

श्रीमती गोदावरी आचार्य सारा उठाना-धरना समाप्त कर तोते के पिंजरे में दाना-पानी देकर तथा हाथ धोकर लोटे से पानी गटक ही रही थीं कि बच्चों की आवाज आयी,

— नानी-माँ देखो कौन आया ?

— नानी-माँ देखो कौन आया ?

और सच ही नानी-माँ एक क्षण तो चकित हुई परन्तु जैसे ही समझा, उन्होंने लोटा रखा। जल्दी से मुँह के पास के आँचल से मुँह पोंछा और बच्चों को गोद में लें तब तक दोनों बच्चों ने उन्हें घेर लिया और उनके चारों ओर चक्कर काटने लगे। बच्चों को लेने के लिए उनके हाथ फैले हो रहे और वह घूमती रही।

— अरे तो क्या तुम दोनो ही आये हो ?

पर धूर्जटी और पाँचू किसकी सुनते ? तब तक उन्होंने देखा कि बाहरी फाटक से दौड़ते हुए मन्या और कुन्ती भी आ रही हैं।

— नानी-माँ ! हम आ गये।

— नानी-माँ ! हम आ गये।

और निहाल होते हुए श्रीमती गोदावरी आचार्य ने बढ़कर चन्द्रशेखर और कुन्ती को अपने से सटा लिया। उनकी आँखें भर आयीं। तब तक दुर्गा, कान्ता को गोदी में उठाये भीतर आती दिखी। वह अपने को छुड़ाते हुए बोली,

— छोड़ो, बच्चो ! छोड़ो, देखो, ये कौन आया ?

और दुर्गा ने कान्ता को माँ को थमा दिया। माँ मूलधन को भूल गयीं और ब्याज को ही बारम्बार चूमने लगी। थोड़ी देर पहले तक बरसों से शान्त पड़ा घर बच्चों की आवाज से गूँजने लगा। बच्चे, कृष्णा गाय को आश्चर्य से देख रहे थे और गाय भी जुगाली करना भूल कर देख रही थी। तभी श्रीमती गोदावरी आचार्य को बेटी का स्मरण हुआ। नतिनी को गोद में लिये हुए ही बेटी को देखा और पता नहीं क्यों इतनी बड़ी अनाहूत उपलब्धि पर उन्हें जोरों का रोना फूट आया। एक से नतिनी और दूसरे से बेटी को सटाये उन्हें कैसी तृप्ति हो रही थी जैसे इसी सुख के लिए स्त्री—देह, परिवार और मन के सारे कष्ट भोगती है। कालू के साथ पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल मय सामान के चले आ रहे थे। उन्होंने आते ही प्रणाम किया। कालू को स्नेह से झिड़कते हुए श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य बोली,

— कालू ! सामान की ऐसी क्या जल्दी थी, जरा बगीचे तक चला जाता और अपने दादा को बहन के आने की खबर ही दे आता।

कालू सामान उतारते हुए बोला,

— काकी माँ ! आप क्या समझती हैं कि कालू इतना बुद्धू है ? हरखराम का भतीजा जा रहा था तो मैंने उसी को दौड़ा दिया।

श्रीमती गोदावरी देवी बोली,

— तभी तो कहूँ कि कालू से भला यह गलती कैसे हो सकती है ?....बेटा, यहाँ नहीं उस नये घर में सामान रख ।....और तुम लोग तो सारा बिस्तरा लाद कर लाये ?....क्या, यहाँ किसी चीज की कमी है क्या ?

— कमी की बात नहीं जिजी !

— हाँ रे, यहाँ रजाई कहाँ, गोदड़े हैं ?

— नही ऐसी बात नहीं ।

सास की बात पर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने सफाई देने की चेष्टा में कुछ कहना चाहा तब तक सबने देखा कि पण्डित शिवशंकर आचार्य हँसते हुए आ रहे हैं । मामा को देखकर सारे भानजे-भानजी उनकी ओर लपक गये । कुन्ती को उन्होंने उठाकर कंधे पर बिठा लिया । तीनों लड़के उनके आस-पास घिर गये । उनका चलना मुश्किल हो रहा था । त्र्यम्बक ने प्रणाम किया और फिर बच्चो को टोकते हुए बोले,

— यह क्या करते हो तुम लोग, मामा जी गिर जाएँगे ।

— कह दो बच्चो, मामा जी गिरने वालों में से नहीं हैं ।

— और क्या हमारे मामा जी शेर हैं ।

कुन्ती की इस बात पर सब हँस पड़े । कालू इस बीच सारा सामान रख गया था । दुर्गा सामान सहेजने के लिए बढ़ते हुए बोली,

— दादा ने तो घर की कायापलट ही कर दी ।

बच्चों को देखते हुए पण्डित शिवशंकर आचार्य बोले,

— अरे तो शुक्ल जी लोग शहर से आने वाले थे कि मजाक है ?

तब तक पाँचू बोला,

— मामा जी मैं तो ऊपर सोऊँगा ।

— ठीक है, जिसकी जहाँ मर्जी आए सोए, पर हम तो अपनी कुन्ती बेटी के पास सोएँगे, है न ?

— हम लोग तब छत पर सोएँगे ।

पण्डित शिवशंकर आचार्य हँसते हुए बोले,

— और क्या, शहर वालों को तो बिना छत के खुलापन ही क्या, है नही ? पर कुन्ती ! अभी रात में इतनी ठण्ड होती है कि रात में बाहर सोओगी न, तो....

चन्द्रशेखर टोकते हुए बोला,

— मैं बताऊँ मामा जी !

— जरूर कोई शैतानी की बात होगी, है न कुन्ती ।

— यह मन्या दादा है बहुत बदमाश है मामा जी !

पण्डित शिवशंकर आचार्य हँसते हुए बोले,

— दादा भी और बदमाश भी—चलो ठीक है ।

चन्द्रशेखर इस बीच चिढ़ गया था, बोला,

— हमारा सारा मजा ही चौपट हो गया।
चौंकते हुए शिवशंकर ने पूछा,
— क्यों ? क्या हुआ ?
— मजाक रह गया।
— चलो, फिर सही।
और बच्चे भी अब अपने तरीके से व्यक्तियों के बाद स्थान से परिचित होने के लिए टूट भागने की सोच ही रहे थे कि तोते की आवाज सुनायी दी। कुन्ती चौंकी,
— तोता ? मामा जी ! तोता है यहाँ ?
— हमारा तोता तो तुम हो। तुम्हारी नानी जी का तोता वह—वो देखो ?
और सारे बच्चे आश्चर्य कर रहे थे कि तोते जैसी चीज अभी तक उन्हें क्यों नहीं दिखायी दी। असल में तोता अभी भीतर से बाहर लाकर टाँगा गया था, तो बच्चे देखते कहाँ से ?

बाहर खाटों पर दरी बिछाकर बैठने का प्रबन्ध कर दिया गया था। शाम हो चली थी। पण्डित शिवशंकर आचार्य सोच रहे थे कि त्र्यम्बक कहेंगे तो बगीचे तक ले जाएँगे, वैसे सम्भव है गाड़ी की यात्रा से थकान आ गयी हो और आज न जाना चाहें। सब लोग आकर बैठ गये। सामने की खाट पर माँ-बेटी बैठी थी और दूसरी खाट पर साले-जीजा थे।
दुर्गा ने पूछा,
— अब तुम्हारी तबीयत कैसी है जिजी ?
— अब बेटा ! बुढ़ापे का शरीर है, कुछ तो लगा ही रहेगा।
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— न हो तो वैद्यराज जी सावेरकर जी को, न तो फिर जोशी डाक्टर साहब को दिखा दिया जाए।
— अरे तुम लोग अब कब तक चिन्ता करोगे ?—और दवा-दारू गलते शरीर के लिए होती है क्या ?
— क्या जिजी ! आप भी यह गलता शरीर, ढलता शरीर ले बैठी हैं। दवा, शरीर नहीं देखती। क्यों दादा ! मैं गलत कह रहा हूँ ?
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की बात पर पण्डित शिवशंकर आचार्य बोले,
— अब आप लोग ही देखें।
तभी दुर्गा को गोविन्द का स्मरण हो आया, बोली,
— गोविन्द नहीं दिखा दादा !
— उसे तो अभी शायद मालूम भी न हुआ होगा। मुझे तो आधे रास्ते में तुम लोगों का समाचार मिला तो सीधा चला आया।
— उसका सब ठीक चल रहा है ?
— ठीक ? दुर्गा ! मुझे तो लगता है कि यदि उसे उचित शिक्षा मिल सके तो वह बहुत

कुछ कर सकता है।

— उत्सवलाल जी मामा जी आये थे क्या उसे देखने ?

— वह विचारे क्या कहेंगे ? वैसे मैंने 'साहब' को पत्र दिया कि क्या धार में इसके पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध हो सकता है ? वहाँ कालेज है न ?

— कालेज की पढ़ाई का खर्चा भी तो बहुत होगा।....उज्जैन में भी तो बन रहा है कालेज।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— दादा ! आप चाहें तो गोविन्द को उज्जैन भेज दें।

— इस साल वह प्राइवेट हाईकूल की परीक्षा दे रहा है। इसीलिए वह बगीचे में ही रहता है। भोजन करने शाम को आता है और रात वहीं रहता है। वैसे उसके बारे में मुझसे क्या पूछती हो, जिजी से पूछो।

श्रीमती गोदावरी बार-बार भीतर जा रही थी, बाहर आ रही थी। अभी आकर बैठी ही थी कि यह चर्चा चल पड़ी, बोली,

— सच्ची दुर्गा ! कोई पुण्यात्मा है जो भटक गयी है। अब तू उसे देखे तो देखती ही रह जाए। ऐसा सुशील है कि क्या बताऊँ। सच दुर्गा ! उस वातावरण में यदि यह लड़का रह जाता तो कैसा पाप पड़ता न ?

— अच्छा, तो आप लोग सब तैयार हों, मैं बगीचे से आता हूँ अभी। गोविन्द सोच रहा होगा कि आज मैं इस समय कहाँ रह गया।

श्रीमती गोदावरी आचार्य सहेजते हुए बोली,

— आज मत देर करना, समझे ?

— अरे आज तो घर में बाल-गोपाल-मण्डली आयी है। भगवान ही जब घर आएँ हों तो वहाँ क्या करूँगा ?

उनकी बात पर सब हँस दिये। पण्डित शिवशंकर आचार्य जा चुके थे।

अँधेरा धीरे-धीरे होने लगा था। हवा भी थोड़ी ठण्डी हो चली थी। माँ ने सहेजते हुए कहा,

— तुम लोग चलकर भीतर बैठो, मैं लैम्प ले आती हूँ।

— लैम्प ?

दुर्गा के आश्चर्य पर माँ बोली,

— तेरा दादा तो तेरे लिए यहाँ पूरी उज्जैन ही लाकर रख देना चाहता है। कहता है वे लोग, बड़े लोग हैं। चिमनी ठीक नहीं, लैम्प चाहिए।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— जिजी ! जो बड़ा हो, वह जाने। मैं तो जुआर की रोटी और वह भी वहीं चौके में खाऊँगा। और जमाई की तरह केसरिया भात खिलाने हो, तो मैं चला।

श्रीमती गोदावरी आचार्य को लगा कि त्र्यम्बक और दुर्गा में पूर्ण समरसता है। उन्होंने

आँखों ही आँखों में ठाकुर जी को प्रणाम किया। और वह हँसते हुए चली गयीं। आज वह ऐसी प्रसन्न थी जैसे सच ही जमाई, वह भी सुपात्र, पहली बार ससुराल आया हो।

पण्डित शिवशंकर आचार्य ने बहुत चाहा कि खाने का प्रबन्ध उस नये घर में ही किया जाए परन्तु त्र्यम्बक तैयार ही नहीं हुए अतः वहीं रसोई में ही सबका प्रबन्ध हुआ। जब जिजी ने बताया कि त्र्यम्बक जुआर की रोटी ही खाना चाहते हैं तो शिवशंकर बोले,

— अफीम की भाजी नहीं ?

— हाँ दादा ! बरसों से अफीम की भाजी नहीं खायी।

— कल ही मँगवाते हैं। यह कौन नियामत है ?

— तो रबड़ी-पूड़ी ही कौन नियामत है ?

— नियामत वस्तु में नहीं, व्यक्ति में होती है।

गोविन्द जिस प्रकार शान्ति से मौन बना खाना खा रहा था उससे यह नहीं लग रहा था कि वह उपेक्षा अनुभव कर रहा है बल्कि जैसे वह यहाँ था ही नहीं।

तभी श्रीमती गोदावरी आचार्य ने दुर्गा से कहा,

— ए दुर्गा ! यह तेरा दादा ही साधू महाराज नहीं है, यह छोटा भाई भी दो कदम आगे ही है।

दुर्गा ने रोटी परसते हुए कहा,

— गोविन्द ! तुम परीक्षा देने तो उज्जैन आओगे ही।

पण्डित शिवशंकर आचार्य बोले,

— इसका केन्द्र धार में है। 'साहब' भी चाहते हैं कि यदि यह प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास कर लेता है इसे आनन्द-कालेज धार में ही आगे पढ़ाया जाए।

— तो ठीक है, परीक्षा देकर उज्जैन आ जाए।

— हाँ, कुछ दिनों के लिए बड़नगर भी जाना चाहिए इसे।""वैसे दुर्गा ! एक विचार यह भी है कि गोविन्द बड़नगर से लौट आए तब जिजी को लेकर हरिद्वार हो आया जाए।""क्यों त्र्यम्बक ! कैसा रहेगा यह ?

— हाँ, हरिद्वार की तो कई दिनों से आपके मन में भी है""पर दादा ! वहीं रह मत जाना कहीं।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की बात पर सब हँस पड़े। पण्डित शिवशंकर आचार्य बोले,

— तुम लोगों के मारे कोई कुछ भला काम कर सकता है भला ?""हाँ त्र्यम्बक ! हरिद्वार तुम लोग नहीं चल सकते ? सबका साथ रहेगा।

— नहीं दादा ! मेरा निकलना तो मुश्किल लगता है।

— क्यों ? कोई खास बात ?

— असल में देवास-गेट के पास जो जमीन पडी हुई थी, वहाँ कुछ दूकाने बनवाने का विचार है।

— सुना, वहां तो बड़ा विकास होने वाला है। फ्रीगंज भी तो बन रहा है।

— वहां भी अपने कुछ प्लाट है। क्यों दादा! आप लोग वहां कुछ जमीन क्यों नही ले लेते?

— अरे भाई, हम लोग ठहरे किसान, शहर में जाकर क्या करेंगे? यहीं जब दाल-रोटी चल जाती है तब शहर में भटकने से लाभ? और त्र्यम्बक! ससार का विस्तार उतना ही करना चाहिए जितना कि आपके कब्जे में रह सके। बहुत फैलाओ तो उलझन भी तो फैलती है।

तभी श्रीमती गोदावरी आचार्य ने पुत्र को टोकते हुए कहा,

— अच्छा अब तुम लोग उठो। बातें फिर हो लेंगी,

माँ के बोलने पर ही सबको उनकी उपस्थिति अनुभव हुई। चूल्हे की पीली आँच फर्श पर प्रलम्ब हो आयी थी। कभी-कभी यह प्रलम्बता फर्श पर घूमती या लिपती-सी लगती। तवे के चारों ओर से निकली आँच का जो वृत्त था उसमें माँ का डूबा-डूबा सा दिखना बडा ही चित्रात्मक लग रहा था।

इस समय घर के व्यक्तियों पर ही नही बल्कि व्यक्तियों, वस्तुओं तथा समय—इन सबकी सम्मिलित सम्पूर्णता, समग्रता में भी एक ऐसी तुष्टि, एक ऐसा सुख अपनी समस्त सुगन्ध के साथ उपस्थित लग रहा था कि जुआर की रोटी पटरस लग रही थी।

हाथ-मुंह धोकर गोविन्द, पण्डित शिवशकर आचार्य से बोला,

— तो, अब मैं चलूं''''जीजाजी! सबेरे दर्शन होगे' 'दादा! आप सबेरे खलिहान नही जाएँगे, मैं ही होता हुआ आऊँगा।

— ठीक है, जिजी से पूछते जाओ, कोई काम तो नही है?

— जी अच्छा।

बच्चे बिस्तरो में कुनमुनाते सो गये थे। खिड़कियों से दूर तक की प्रशस्तता, चाँदनी के कारण निखर आयी थी। चाँदनी और कुहरे में डूबा दृश्य, वास्तविकता से कितना भिन्न लग रहा था। प्रत्येक मौसम की स्थान और व्यक्तियों पर अपनी पकड़ कितनी मजबूत होती है इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। जाड़ो में हम ही ठिठुरे-ठराये नही होते है परन्तु यदि पेड, पत्थर, नदी, वनस्पति आदि बोल पाते तो पता चलता कि खुले में जाड़ों में भोगना क्या होता है। यही हाल गर्मियों में होता है। लू-आंधी सहते खडे रहना, अपना ही जल तप कर उड़ते देखना तथा उस खुले आंच हुए वातावरण में साँस लेने में भी कितनी कठिनाई होती होगी यह नदियों, वृक्षों से कोई पूछ पाता, तब पता चलता।....और वर्षा? बस, भगवान बचाए उसमे तो। ऊपर से जल,

नीचे से जल, जल टपकाते अपने ही पत्ते, अपनी भीगी छाल, बस, भीगे खड़े हैं, उस पर बाढ़ आ गयी तो बेचारे पेड़, खेत, खलिहान कहाँ जाएँ ? या तो डूबे पड़े हैं, या गले-गले डूबे उस बाढ़-जल में खड़े हैं।

इस समय ऋतु का सन्धिकाल है। एक ऐसी मादकता है जिसे चाँदनी भी और दृश्य भी—दोनों ही आनन्दभाव से भोगते हैं। अतिशयता कहीं नहीं है। गाँवों में व्यक्ति भी प्रकृतिवत व्यवहार करते हैं परन्तु शहरों में प्रकृति भी नागरिकों की तरह रहने को बाध्य होती है। लैम्प का प्रकाश कोने में था। बिस्तरों में लिहाफ पैरों पर ओढ़े सब बैठे थे।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— जिजी ! अब की गर्मियों में जटी और पाँचू का यज्ञोपवीत करने का बाबा का विचार है।

— तो इस मन्या का भी कर दो न ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य बोले,

— तब तो हरिद्वार जाना हो चुका।

दुर्गा को हँसी आ गयी, बोली,

— लो, उस समय ध्यान ही नहीं आया जब हरिद्वार जाने की बात चल रही थी।

— देखा जिजी !

पण्डित शिवशंकर आचार्य की बात पर माँ बोली,

— क्या ?

— भगवान और संसार में देख रही हो न वैर ? संसार ऐसा मायावी है कि जरा भी उससे हटने की सोचो कि कोई न कोई दन्द-फन्द लेकर मौजूद हो जाएगा।

— तेरे लिए तो सब दन्द-फन्द है। जिसका संसार हो क्या वह ऐसा सोच सकता है ?

— जिजी ! तुम तो ऐसा कह रही हो कि जैसे मेरा कोई संसार ही नहीं है—माँ, लड़की, जमाई, ये बाल गोपाल....ये सब क्या है ?

— अच्छा, अच्छा, अब मेरा जी मत जला—बड़ा नाती-पोतों वाला आया है।

दुर्गा बोली,

— जिजी ! बेकार मत जला करो। तुम्हारी तबीयत यही सब सोचते खराब होती है।

— तो, बता मैं क्या करूँ दुर्गा ? अब यह तो जब से गोविन्द आया है उसी में मगन है।

— तुम भी तो उसे बहुत मानती हो।

— दुर्गा ! त्र्यम्बक ! तुम्हीं लोग समझाओ कि पराया, पराया ही होता है।

— जिजी ! सच बताना क्या किसी दिन उस लड़के ने तुम्हें यह भान भी होने दिया कि तुम उसकी माँ नहीं हो ? या वह हमारा-तुम्हारा अविभाज्य अंग नहीं है ?

— दुर्गा ! तेरा यह दादा तो हर बात को ऐसी बड़ी बना कर कहेगा कि उसे मानो तो मुश्किल और न मानो तो छोटापन लगे।

— अच्छा जिजी ! आज ही इस बात का निर्णय हो जाए कि तुम गोविन्द को मेरे

कहने से लायी या तुम अपने से लायी।

— मैं सब समझती हूँ। तू यह भी तो जानता है कि मेरा दिल इतना छोटा नहीं है परन्तु तेरी तरह एकदम विशाल भी तो नही है। मैं उसे स्नेह करती हूँ, पर वह मेरा पुत्र या पोता या नाती तो नही है न?

— अच्छा जिजी! यह बताओ कि सम्बन्ध महत्वपूर्ण है या भावना?

— भैया! ये तेरी बडी-बडी बातें मेरी तो समझ में आती नही।

— यह झूठ है जिजी! तुम जानती हो। भले ही इस तरह भाषा में न जानती हो या कह न पाओ। आखिर हम में यह आया कहाँ से? तुमसे ही तो पाया है।

— दुर्गा! त्र्यम्बक! देख रहे हो न मेरी साँसत?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— जिजी! दादा की बात सही तो है। सम्बन्ध भी होता है परन्तु भावना का होना बहुत आवश्यक है।

— मान लो माँ! मेरा पुत्र होता तो वह और कौन सी सेवा करता जो गोविन्द नही करता है?

— अरे मूर्ख! पुत्र, पुत्र होता है। वह वंश चलाता है। वह हमारा श्राद्ध करता है। वह अग्नि न दे, जल न दे तो हमारा उद्धार कैसे हो?

— एक तो माँ! पुत्र हो तो वह योग्य भी हो और वह सब इतना करे, परन्तु मान लो न करे तो?

— सारी बातें तू पहले से ही सोच लेता है कि पुत्र कपूत होगा, वह यह नही करेगा, वह फलां नही करेगा।—अच्छा भाई, दिमाग मत चाट मेरा। मैं तो बहुत पहले ही हार माने बैठी हूँ तुमसे।

— तुम भी जिजी!—सारी बातें जैसे मैं अपने लिए कर रहा हूँ क्या? बात गोविन्द की चल रही थी।

दुर्गा बोली,

— दादा! आपकी सारी बात मान लें तो भी क्या भावना के द्वारा उस व्यक्ति को कोई सम्बन्ध का नाम या पद तो दिया नही जा सकता।

— *दुर्गा! यदि तुम किसी को पुत्र जैसा मान लो, तो क्या वह पुत्र नहीं है?*

— समाज की दृष्टि में?

— समाज की दृष्टि में भी वह पुत्र हो जाएगा यदि आप उससे पिता की तरह व्यवहार करते हैं।

तभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— तो क्या आप गोविन्द को अपना पुत्र मानते हैं?

— क्षमा करना त्र्यम्बक! मेरे लिए तुम भी, दुर्गा भी, ये सारे बच्चे जैसे पुत्रवत हैं, वैसे ही गोविन्द भी है।....मैं यहाँ एक ग्रामीण पाठशाला खोलने की सोच रहा हूँ।

— पाठशाला?

—हाँ त्र्यम्बक ! उसमें अक्षर-ज्ञान के साथ-साथ ग्रामीण लोगों को अपने-अपने पारम्परिक कर्म कैसे भली तरह किये जाएँ ही सिखाना चाहता हूँ। पोथी का ज्ञान सबको एक सीमा तक ही दिया जाना चाहिए। ज्यादा तो अपने श्रम का ज्ञान ही दिया जाना चाहिए। समाज में चिन्तक एक ही होना चाहिए बाकी सब कर्त्ता होने चाहिए। आजकल की पढाई, नौकरी पर जाकर समाप्त हो जाती है।

पण्डित शिवशंकर आचार्य बोलते हुए सबसे अधिक वृद्ध लग रहे थे। माँ ने माथे पर हाथ लगाते हुए कहा,

— लो घर के बाद गाँव आया गाँव के बाद किसी दिन पूरा देश आ जाएगा।

हँसते हुए पुत्र ने जवाब दिया,

— नही माँ ! न तो इतना बडा पुरुषार्थ है, न सामर्थ्य है, न ज्ञान है और न इच्छा ही। अपने गाँव के ही सारे लोग साफ-सुथरे, सुखी, आत्म-निर्भर हो जाएँ और इसमें यदि मेरा कुछ भी योगदान हो सके तो मैं समझ लूँगा कि मेरा मनुष्य जन्म धारण करना सार्थक हो गया, आगे हरि-इच्छा !!

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— दादा ! रावल जी महाराज ने तथा कुछ और लोगों ने ग्वालियर-राज्य में सार्वजनिक-सभा नाम से एक संस्था बनायी है। नागेश्वर मामाजी उसमें काम करते हैं। वह तो देश-सेवा ही है। आप क्यों नही उनके साथ मिल कर काम करते ?

— मैं उन लोगो की संस्था के बारे में क्या जानता हूँ ? और अपना घर झाड-बुहार कर साफ रखने के लिए दूसरों की ओर नही ताकना चाहिए। सब यदि छोटी-छोटी सेवा करने का संकल्प ले-लें तभी बात बनेगी। सब की सेवा करने की बात कई बार किसी की सेवा नही करना भी बन जाती है।

श्रीमती गोदावरी आचार्य बोली,

— तुम से तो पार पाना मुश्किल है।

— क्या मैंने किसी का तिरस्कार किया, क्यों त्र्यम्बक ?

— नहीं दादा ! पर, एक बात है, यह गाँव आप जैसे के लिए छोटा क्षेत्र है।

पण्डित शिवशंकर, आचार्य हँस पडे, बोले,

— त्र्यम्बक ! किसी भी आदमी को, किसी भी काम को छोटा मत समझो। किसी का तिरस्कार मत करो। भला करने में हानि भी उठानी पड़े तो वह भी लाभ ही है।

— दादा ! इतने आदर्श के साथ क्या घर, परिवार चलाया जा सकता है ?

— त्र्यम्बक ! घर-परिवार, अपना संकल्प सबका तालमेल बैठालने वाला व्यक्ति ही अर्थवान होता है। केवल घर-परिवार चलाने वाला, सम्पत्ति जमा करने वाला मनुष्य नही रह जाता। वैसे ही केवल अपने संकल्प को ही महत्त्व देने वाला भी मनुष्य नहीं रह जाता। हम लोग तो साधारण लोग है। केवल प्रयत्न कर सकते है। सत्प्रयत्न का भी बहुत महत्त्व होता है।....अच्छा, अब तुम लोग भी दिन भर

गाड़ी में आये तो थक गये होगे, आराम करो ।
दुर्गा बोली,
— दादा ! एक बात कहूँ ?
— एक नहीं दुर्गा ! जितनी बातें कहना चाहो, कहो ।
— हम लोगों को छोड़कर कहीं, कभी भी जाएँगे तो नही ?
और वह हठात रो पडी । पण्डित शिवशंकर, आचार्य ने पास मे बैठी दुर्गा का सिर अपने से सटाते हुए कहा,
— पागल ! बहन कहूँ तो तू है, बेटी कहूँ तो तू है ।....एक बात याद रख दुर्गा ! तुझे और माँ को जो अन्देशा मेरे बारे मे सदा रहा है न, वह शायद कभी ठीक रहा हो, पर मै तुम सब के माध्यम से अपने भीतर के नारायणत्व को खोजना चाहता हूँ । तुझे सुखी देख कर दुर्गा ! तू नही जानती मैं भगवान से कितनी—प्रार्थना करता हूँ ।....
सब आसन्न थे, परन्तु सुखी भाव से ।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल वस्तुतः अपने विवाह के बाद ससुराल दो-एक बार भी मुश्किल से ही आए होंगे । प्रायः तो इन लोगों से उज्जैन में ही कभी 'काज-करियावर' में भेंट हो ही जाती थी । ससुराल में कभी कोई ऐसा पारिवारिक कार्य भी नही हुआ कि आना पडता, अतः पहली बार ससुराल, सास और साले के व्यक्तित्व से परिचित हो सके । गाँव में विशेष कुछ था ही नही । देवी का एक थान [स्थान] था तथा हनुमान जी का एक मन्दिर था । गाँव के बाहर अब केवड़ा-स्वामी और आचार्यों का बगीचा था । दो-तीन घर ब्राह्मणों के थे । एकाध राजपूत का भी घर था । बाकी किसान, जिनमें अधिकांश कुर्मी थे । कुछ बढई, दो-एक लुहार तथा कुछ अन्त्यज लोगों के घर थे, जो गाँव बाहर थे ।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को पहली बार किसी गाँव-खेडे में रहने का मौका हुआ था । यदि अन्य कोई अवसर ऐसा आया होता तो वहाँ रात काटना भी मुश्किल हो जाता पर परिवार साथ था तथा दादा को जिस रूप में निकटता से देखने का अवसर मिला उससे जीवन का एक भिन्न प्रकार का विचित्र अनुभव हुआ । वैसे वह लौकिक आचार-व्यवहार में किसी से कम नही थे परन्तु यहाँ आने पर जब उन्हें अपने बारे में दादा की सारी बातों के परिप्रेक्ष्य में सोचने का मौका मिला तो लगा कि इस लौकिक आचार-व्यवहार के बाद भी उनमें का मनुष्य अभी शेष है । पत्नी दुर्गा की सारी बातें इन्हें याद आने लगी कि कैसे इसके मन में किसी के लिए भी कभी अशुभ विचार तक नही आता । यह बिशू को माफ नहीं कर सके हैं परन्तु दुर्गा, हालांकि उसे भूल नही पायी है परन्तु अपनी ओर से वह उस पशु को क्षमा कर चुकी होगी । आज यदि वह सच्चे मन से दुर्गा

से परिताप कर ले तो यह उसी सहज स्नेह से उसे फिर अपना लेगी। त्र्यम्बक को इन दोनों भाई-बहन में गहरी संस्कारिता दिखी।

शाम को पण्डित शिवशंकर आचार्य, त्र्यम्बक को लेकर केवड़ा-स्वामी पहुँचे। यहाँ की बावडी की स्थिति अब बहुत बदल गयी थी। सारा टूटापन दूर हो चुका था। पानी भी निर्मल हो चुका था। मन्दिर में अवश्य दो-चार लोग पूजा-पाठ के लिए आये हुए थे। अभी आरती का समय नही हुआ था। ये दोनों आकर बावडी की जगत पर बैठ गये। एक-दो दिन मे ही त्र्यम्बक को लग गया था कि दादा बहुत नियमनिष्ठ हैं। त्र्यम्बक से भी कहा कि हाथ-मुँह धोकर तैयार हो जाएँ। प्रक्षालन करके दादा ने अपनी 'सन्ध्या' की। तब तक रात्रि का आरम्भ होने लगा। दादा पद्मासन में ही बैठे थे और बहुत प्रभावकारी लग रहे थे। उनके गले की रुद्राक्ष-माला कंधे पर की धोती की सफेदी में खिल आयी थी।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— इन तीन दिनों में मैंने यही पाया है दादा! कि गोविन्द सच ही बहुत संस्कारी लड़का है।

— कोई खास बात ?

— खास बात से संस्कारी लगना कोई संस्कारी लगना नही होता दादा!

— जानते हो त्र्यम्बक! तुमने अनजाने ही एक बहुत बड़ी बात कह दी।

त्र्यम्बक हँसते हुए बोले,

— अनजाने क्यों कहा ? क्या जानकर मैं ऐसी बात नही कह सकता ?

— जानकर तुम ही क्या, कोई भी इतनी बड़ी बात नही कह सकता।

— खैर, यह तो आपने मेरा मन रखा। अच्छा, बात बताएँ।

— साधारणता के द्वारा ही जो असाधारणता व्यक्त हो वही वास्तविक असाधारणता है।....सोचो इस पर....यह केवल बात नही है, एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है।.... त्र्यम्बक! अभी आते हुए हम जिस टोकरी बनाने वाले के घर गये थे, वह बिचारा अछूत जाति का है।

— मैं पूछना चाह रहा था कि इसकी उमर अस्सी से कम की नही होगी, इसे इस उमर में भी काम करना पड़ता है।

— इसका लड़का जर्मन की लड़ाई में पता नहीं कब-कहाँ-किसने भिजवा दिया और उसके बाद से उसका कोई अता-पता भी नहीं। यह इतनी अच्छी टोकरियाँ बनाता है कि बस। यह पेशा उसकी जाति के दो-एक घरों मे ही है। इसके मर जाने के बाद यह कला मर जाएगी।

— इस तरह तो पता नही क्या-क्या विलुप्त हुआ होगा।

— इसीलिए तो चाहता हूँ कि लोग एक-दूसरे की सहायता करना सीखें। यदि हम यह जान जाएँ कि समाज नामक देह के हम अवयवी हैं, हम स्वयं पूर्ण नही हैं बल्कि दूसरे हमें अपनी उपस्थिति से पूर्ण बनाते हैं, तो पृथकत्व का भाव नही रहेगा।.... हाँ....तुम कुछ गोविन्द को लेकर कह रहे थे।

— दादा ! वह जिस भाव से सहज है, वह स्वयं मुझे अद्भुत लगता है।

— कहीं सहज से तुम्हारा मतलब आत्मस्थ तो नहीं है ? वह पगला जब चाहे अपने में डूब जो जाता है।

— भले ही डूब जाता हो, परन्तु वह उसकी अपनी ही क्रिया होगी, प्रतिक्रिया नही।

पण्डित शिवशंकर आचार्य त्र्यम्बक की बात सुनकर सोचने लगे कि सच ही दुर्गा भाग्यवान है; सास के कारण जो भी शारीरिक, मानसिक यन्त्रणाएँ कभी भोगनी पड़ी हों, शायद आज भी-थोड़ी बहुत होंगी, परन्तु उसे त्र्यम्बक जैसा समझदार पति प्राप्त हुआ। वह अनेक बार त्र्यम्बक से मिले हैं परन्तु दो-चार औपचारिक बातों के कभी कोई बात का अवसर ही नही आया होगा। शायद पिता और माता की छत्रछाया में त्र्यम्बक कभी खुलना पसन्द भी नही करते। उन्हे सच ही बहुत प्रसन्नता हुई कि जिस गोविन्द के बारे में वह अपने मन में अनेक प्रकार के निर्णय लेना चाहते रहे उसे और लोग भी पसन्द करते हैं—यह परम सन्तोष की बात थी। चाहते तो वह यही थे कि उसकी परीक्षा के पूरे समय वह भी धार रहते परन्तु यह शायद सम्भव न हो पाए। होली में अब दिन ही कितने रह गये हैं। अगले सप्ताह इसे धार चला जाना चाहिए। शायद गोविन्द के लिए उन्हे सबसे अधिक चिन्ता करनी पड़ती है क्योंकि गोविन्द को देखकर ही उनकी समझ में आया कि व्यक्ति, व्यक्ति से अव्यक्ति कैसे बनता है। पठन, कब मनन और चिन्तन बनता है। कभी-कभी साथ में ले जाकर आनन्द शंकर मामा जी से उसकी कठिनाइयाँ दूर करवा दी होंगी। स्वयं मामा जी को लगता है कि यह पढ़ता नही बल्कि अनुभव करता है।

— चला जाए ?

— बैठिए दादा ! आपके साथ ऐसा बैठना कहाँ होता है।

इन दिनो का आकाश भी ऐसा अप्रतिम नील होता है कि तारे खूब गहरे तक खिले पड़ते हैं। गाँवों की यह विशेषता होती है कि सन्नाटे के विभिन्न प्रकार आपको मिलेंगे। नही, खाल में एक विशेष प्रकार की ऐकान्तिकता मिलेगी। जरा सा ध्यान देने पर जल, धरती पर जैसे कुछ लिखता था, ऐसा लगेगा कि पूछने पर दोनों हाथ पीछे करके साफ अस्वीकार कर देगा कि, कहाँ ? ऐसे पचासों मानवीय सन्दर्भ घर-आँगन में बिखरे मिल जाएँगे हठात बोलकर, घटित होकर ग्रामीण सन्नाटे की विविधता की प्रतीति करा देंगे।

— आज जानते हो गोविन्द क्या बोला ?

— क्या ?

— आज मैं, दीदी से खूब बातें करना चाहता हूँ।

पण्डित शिवशंकर आचार्य और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल एक-दूसरे को मात्र देखने लगे।

और सच ही गोविन्द, दुर्गा और माँ से बातें करता चौके में ही बैठा था। शाम के भोजन की तैयारी हो रही थी। अभी थोड़ी देर पहले तक सब बाहर बैठे बातें करते रहे थे।

दुर्गा बोली,

— तो तुम्हारी परीक्षा की सारी तैयारी हो गयी ?

— हाँ, तैयारी हो ही गयी।

— हो ही गयी क्यों कह रहे हो ?

— इसलिए कि तैयारी तभी मानी जानी चाहिए जब परीक्षाफल अच्छा हो।

गोविन्द की बात को दुर्गा बहुत ध्यान से सुन रही थी। दुर्गा को लगा कि गोविन्द केवल बातों के लिए बातें नहीं करता। वह बातों के द्वारा स्वयं को सम्प्रेषित करता है।

— आगे क्या करना चाहते हो ?

— यह काम दादा का है। अभी मैं इस योग्य नहीं हूँ कि सोचूँ कि मुझे क्या करना चाहिए।

— अच्छा गोविन्द ! यह बताओ कि माँ की याद आती है ?

गोविन्द दुर्गा की बात सुनकर हल्के से चौंका, फिर बोला,

— दीदी ! याद क्यों नहीं आएगी ? परन्तु क्या मुझे माँ का लाड, प्यार, छत्रछाया सब नहीं प्राप्त है ? माँ क्या होती है दीदी ? जिसकी आँखों में आपको लेकर चिन्ता आ जाए, वही तो माँ है। पूछो न जिजी से सामने ही तो बैठी हैं।

श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य आटा माँड़ रही थीं।

— दुर्गा ! मुझे तो यह घर मठ लगता है। तेरा दादा तो संन्यासी था ही, यह पिद्दी सा गोविन्द भी बड़े ज्ञान-ध्यान की बातें करता है।

गोविन्द हँसते हुए बोला

— दीदी ! जिजी को तो हर आदमी ज्ञानी-ध्यानी लगता है।

— कोई हो तभी तो लगेगा ! —बड़नगर में बाबा नहीं कहते कि पढ़ो, मत पढ़ो या....

— नहीं, कुछ भी नहीं कहते। वह शायद दादा को मुझे सौंप चुके हैं इसलिए दीदी ! कई बार तो वह मेहमानों जैसा मुझसे व्यवहार करते हैं।

— तुम कभी उनसे बातें नहीं करते ?

— दीदी ! पिता-पुत्र का सम्बन्ध बातों का नहीं होता, शायद बीच में माँ का रहना बहुत आवश्यक होता है।

दुर्गा को लगा कि गोविन्द अपनी आयु से कहीं अधिक गम्भीर बातें करता है।

— दादा से बातें होती हैं ?

— दादा भी तो पितृवत ही हैं। वह मार्ग दिखाते हैं, चलना मेरा काम है। बातें कर सकने की योग्यता भी पहले प्राप्त करनी होती है।

तभी दुर्गा हठात अपनी माँ से बोली,

— यह गोविन्द तो खूब समझदार होता जा रहा है, इसके विवाह का कुछ प्रबन्ध करना पड़ेगा, क्यों जिजी ?
श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य चूल्हे को फूंक रही थी, बोलीं,
— मुझे तो लगता है कि एक ही मण्डप में इन दोनों के लग्न करने पड़ेंगे।
माँ की बात में कहीं दर्द था, परन्तु व्यंग्य भी था, सो दुर्गा हँस पड़ी। जाहिर था कि गोविन्द कुछ खिसिया उठा था। तभी बच्चे शोर करते हुए अन्दर आए। कुन्ती बोली,
— गोविन्द मामा ! हमें केवड़ा-स्वामी घुमाने कब ले चलोगे ?
— आज तो देरी हो गयी, कल ले चलेंगे।
— कल-कल करते तो चार दिन हो गये।
— तो एक दिन और सही।
— कल जरूर से।
और तभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और पण्डित शिवशकर आचार्य की आवाज सुनायी दी।
— लो, वे लोग भी आ गये।
श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य ने दुर्गा की बात सुनी तो बोलीं,
— गोविन्द ! देख तो बेटा ! उन लोगों के हाथ-मुँह धोने के लिए पानी-गलना सब है कि नही।
भीतर आते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,
— जिजी ! हम लोगों के हाथ-मुँह धोने की चिन्ता न करें। हम लोग केवड़ा-स्वामी से निवट-निवटाकर आ रहे हैं।
— तो फिर भोजन लगाया जाए ?
दुर्गा की बात पर त्र्यम्बक बोले,
— तुम यहाँ भोजन कराने वाली कौन होती हो ? जिजी कहें।
तब तक पण्डित शिवशंकर, त्र्यम्बक की बात सुन चुके थे, बोले,
— हाँ भाई, सास-जमाई का मामला है, हम लोगों को भी शायद कुछ मिल जाए। ....क्यों माँ ! कल अपने बगीचे में ही लड्डू-बाफले की रसोई बने।
— बगीचे में रसोई का ध्यान चार दिन बाद आ रहा है ?
— नहीं, ध्यान तो कभी से था, असल में आज गोविन्द की सारी तैयारी हो गयी तो उसे कोई बाधा, असुविधा नही होगी, नही तो....
और सबने अनुभव किया कि पण्डित शिवशंकर आचार्य मे सम्बन्ध और भावना सबका यथोचित ध्यान बना रहता है।

बगीचे मे रसोई के प्रति उत्साह बच्चों मे सबसे अधिक था इसलिए उसे उत्सव भी उन्ही लोगो ने बनाया। यही तय हुआ कि हाली-मवाली रसोई का सारा प्रबन्ध, सामान बगीचे में कर देंगे। भीमशंकर पुजारी की माँ को सहायता के लिए बुलवा दिया

गया, क्योंकि इस गाँव से उत्तर में पाँच मील पर डूँगरी [पहाड़ी] की एक शृंखला मिलती है, जिसके ऊपर से मीलों तक चम्बल, उसके खादर और खूब सारा दृश्य दिखलायी देता है। सब लोग गाडी में वहाँ तक जाएँगे और लौटने में खाल के किनारे-किनारे जल की माधुरी देखते हुए लौटेंगे। उसी समय बच्चों को केवड़ा-स्वामी भी दिखा दिया जाएगा। पण्डित शिवशंकर आचार्य ने तो चाहा था कि माँ भी चलें। भीमशंकर पुजारी सब बना रखेंगे। लड्डू-बाफले की रसोई के लिए भीमा पण्डित बड़नगर तक जाने जाते हैं, परन्तु माँ ने स्वीकार नहीं किया। बहुत चलने से उनका दम फूल आता है।

सवेरे नाश्ता-पानी बिना किये ही सब लोग चल पड़े थे। पण्डित शिवशंकर आचार्य का विचार तो था कि वहीं डूँगरी पर चलकर सूर्योदय देखा जाए और तब नीचे आकर खाल के किनारे कुछ नाश्ता-पानी कर लिया जाएगा। जिस समय ये लोग डूँगरी पर पहुँचे, सूर्योदय हो ही रहा था। डूँगरी के नीचे ही वनस्पति विरल हो चली थी। छोटे कद की झाडियों का सिलसिला थोड़ा डूँगरी अवश्य चढ़ता दिख रहा था परन्तु आधे रास्ते के बाद से तो झाडियाँ समाप्त हो जाती थीं। चट्टानें नहीं बल्कि कँकरीलापन अधिक था। ऊपर से देखने पर ही समझ में आ रहा था कि डूँगरी जैसे विभाजन रखा था। डूँगर के उस पार वनस्पति अपेक्षाकृत गायब हो रही थी। वनस्पति से युक्त धरती का अपना सौन्दर्य तो जग-जाहिर है परन्तु वनस्पति से हीन धरती का उदास-वैभव भी अविस्मरणीय होता है। जिस डूँगरी पर ये लोग खड़े थे वह चम्बल का अन्तिम खादरी भाग था। यहाँ से धरती, उत्ताल तरंगों युक्त समुद्र जैसी लग रही थी। यही सिलसिला, बजड़ धरती, बीहड़ कांठा यमुना तक चला गया है। चूँकि धरती एकदम वृक्षहीन थी इसलिए दूर-दूर तक कोई अवरोध नहीं था। बाद्य का तार झनझनाने के बाद हठात कैसा सुन्न होकर थिर हो जाता है—बस, यह खादर धरती भी ऐसी ही सुन्न लग रही थी। धरती का वनस्पतियुक्त होना कितना आवश्यक होता है इसे तभी समझा जा सकता है जब किसी घुटमुण्ड मस्तक के व्यक्ति की भौंहें भी साफ कर दी जाएँ तो वह कितना अप्रिय अशुभ एवं भयावह लगता है। संन्यासी के रुण्ड-मुण्ड की भाँति सपाट धरती कैसी अविश्वसनीय लग रही थी। सघन बाजार में जैसे आप खो गये हैं तो आप कैसे भयाक्रान्त हो उठते हैं, वैसे ही सपाटता में आप एकदम खड़े कर दिये जाएँ तो उस समय जैसा आक्रान्त अकेलापन आपको लगेगा, वह भी भय की पराकाष्ठा ही होगा। उस समय ऐसा ही लगेगा कि पूरी धरती पैरों की राह पहले आपकी खाल खींच रही है, उसके बाद आप पर से देह खींच लेगी और आपको शून्य में उछाल कर फेंक देगी।

सूर्योदय हो रहा था। धरती की सपाट, चिकनी, पतली पट्टियों पर किरणें बिछली पड़ रही थी, जैसे पिघले स्वर्ण की लहरें उठ रही हों। कैसा आश्चर्य है कि प्रत्येक क्षण सूर्योदय ही सूर्यास्त है और प्रखर मध्याह्न भी। सूर्य, सूर्य है; अस्त, उदय और मध्याह्न तो हमारा अक्षांश है, सूर्य का नहीं। सूर्य का न कोई अक्षांश है न देशान्तर। वह तो मात्र तेजस की सूर्योदय के समय आकाश में कैसी हलकी सी प्रकम्पनता होती है जैसे आकाश एक देह है और उसमें कुछ घटित हो रहा है, तभी तो हलकी सी थरथराहट

हो रही हैं। क्या यह वैसी ही नहीं है जैसी कि दूध गरम होने लगता है तो उस पर हल्की सी मलाई की पर्त थरथराने लगती है। शायद प्रातःकाल का आकाश ही ब्राह्मण लगता है। इस प्रातःकालीन आकाश के साथ न जाने क्यों स्नान का बोध रहता हो है। शायद हमारा यह संस्कार है, नही तो क्या दूसरों को भी ऐसा ही लगता होगा? जो हो प्रकृति विराट होने पर ही माधवी लगती है। यह प्रकृति का ही गुण है कि न तो किसी सीमा को मानती है न आपको अपनी सीमा में रहने देती है। कितना शून्य, परा-ब्रह्माण्ड पार स्थित सूर्य से आपका तादात्म्य हो रहा होता है। दिन की अन्य वेलाओं मे तो सूर्य की ओर देख भी नही सकते परन्तु प्रातःकाल आप दृष्टि से कितनी सुदूर-अकल्पनीय दूरी तक पहुँच जाते हैं, कभी इस पर सोचने से ही अद्‌भुत लगने लगता है। आपका सूर्य के साथ कैसा अविच्छिन्न सम्बन्ध है। वह हम सब में प्रकाश के बीज, अक्षर रोपित करता है। एक सनातन प्रवाह, ज्योति का सोपान है हमारे और सूर्य के बीच जिसे अनुभव ही किया जा सकता है पर जिसे किसी को दिखाया नहीं जा सकता है। क्षितिज के समानान्तर, आयतन के विशाल परिवृत्त में यह कैसा अक्षुण्ण प्रकाश का स्वर्ण-जल, पवित्र सूर्य मनानन से वितरित करता आ रहा है। यदि सूर्य का यह अमृत धरती को प्राप्त न हो तो न वनस्पतियाँ, न जैविकता कुछ भी तो नही होगा। एक ऐसा अन्धकार जिसकी कल्पना या जिसका उदाहरण भी अन्धकार नही बन सकता। करोड़ों नक्षत्रों की दैदीप्यमानता भी नष्ट हो जाएगी। प्रकाश ही सृष्टि की जिह्वा है। क्या उस दिन की कल्पना की जा सकती है जब सूर्योदय ही समाप्त हो जाएगा? हम इस आदित्य के वर्चस्व की अनुकम्पा के प्रति भाषा के स्तर पर आभारी न हों परन्तु हमारा होना, धरती का बना रहना सब उस सूर्य के प्रति कृतज्ञताएँ ही हैं।

उन सपाट डूँगरों पर रह-रह कर सफेद पत्थरों के ढेर, ऊपर से रखे हुए ऐसे लग रहे थे जैसे किसी ने मक्खन के गोले रख दिये हों। बच्चे इस डूँगरी के भी इन सफेद पत्थरों में से कुछ बीन रहे थे। केवल धूर्जटी और गोविन्द एक तरफ खड़े हुए कुछ बातें कर रहे थे।

— गोविन्द मामा! इस उजाड़, बंजर धरती मे भी तो लोग रहते होंगे?

— लोग कहाँ नही रहते? आर्कटिक से लेकर सहारा तक में लोग रहते हैं।

— सचमुच में किताबें कितनी अजीब, आश्चर्यजनक बातों से भरी हैं।

— धूर्जटी! यह पृथ्वी तो आश्चर्यजनक है ही, इससे भी कही मोहक यह आकाश है जिसके बारे में मनुष्य कितना कम जानता है।

धूर्जटी अभी था तो बारह-तेरह का ही परन्तु बच्चों में सबसे अधिक गम्भीर वही था। स्कूल में भी वह पढ़ने से ही मतलब रखता था। यहाँ जब से आया है तबसे बड़े मामा की बातें बहुत ध्यान से सुनता है। कोई-कोई बात उसे न जाने कहाँ ले जाती है

— मामा! आप मेट्रिक के बाद क्या करेंगे?

— शायद आगे पढने जाऊँ।

— शायद क्यों कह रहे है?

— यदि दादा चाहेंगे तो जाऊँगा, नही तो नहीं ।
— बड़े मामा तो कह रहे थे कि ग्राप ग्रागे पढ़ने जाएँगे धार ।
— तो तुम बड़े लोगों में बैठकर यही जासूसी किया करते हो ?
ग्रौर गोविन्द हँस पड़ा । बच्चे ढेर से पत्थर बोन लाये थे । पाँचू ने ग्राते ही कहा,
— माँ ! देखो संगमरमर ले ग्राया हूँ ।
— यह संगमरमर है क्या ?
दुर्गा ने उसके लाये पत्थरों में से एक उठाते हुए कहा ।
— यह संगमरमर नही है ?
पाँचू की बात पर पण्डित शिवशंकर ग्राचार्य बोले,
— नही, इस पत्थर में ग्रभ्रक मिला हुग्रा है इसलिए यह चमकता है ।
दुर्गा बोली,
— चाँदनी मे ये चमकते हुए कैसे लगते होंगे न ?
— दुर्गा ! *सचमुच पूर्णिमाग्रों में यहाँ इतना सुन्दर दृश्य होता है* कि यहाँ से जाने का मन ही नही करता । प्रभु ने ग्रपनी ग्रोर ग्राकर्षित करने के लिए कैसा-कैसा ग्रनुष्ठान कर रखा है कि बस, परन्तु हाय रे मनुष्य; रोएगा, खीजेगा, पर जाएगा उसी सांसारिक कूप-मण्डूकता में ही ।
— दादा सब ग्रापकी तरह हो जाएँ तो फिर हो चुका ।
— क्या हो चुका ?
— यह घर-ससार, ग्रौर क्या !
— क्यों त्र्यम्बक ! कैसा लगा यह ?
— न यह ग्रच्छा है, न बुरा ।
— तब क्या है ?
— एक ग्रनुभव है
— तुम ठीक कहते हो त्र्यम्बक ! यहाँ कभी ग्रकेले ग्राग्रो तो दूसरा ही ग्रनुभव होता है ।
— वह कैसा ?
— जैसे कि कोई उपस्थित है । सामने बैठा लगता है, होता नही है कोई, बस लगता है कि कोई है ।
पण्डित शिवशंकर ग्राचार्य कहते हुए एकदम चुप हो गये । उनके मुख पर प्रातःकालीन धूप पूरी तरह लिखी लग रही थी । उनकी कनपटी के पास हल्की सफेदी का ग्राभास देखकर दुर्गा चौंकी । उसे लगा कि दादा क्या सचमुच ही बहुत बड़े होते जा रहे हैं ?
— दादा ! मैं कई बार सोचती हूँ कि मैं भी कुछ लिखी-पढी होती । कुछ ज्ञान ग्राता ।
— यह ठीक है दुर्गा । कि पढने-लिखने का ग्रपना मतलब होता है । तुम जैसी संस्कारी को लिखना-पढ़ना ग्राता तो ग्रच्छा ही था परन्तु तुझे ज्ञान नहीं है, यह किसने कहा ? त्र्यम्बक ने ?

— हमारे घर में तो किसी ने भी नहीं कहा होगा। बल्कि बाबा तो समझते हैं कि उनकी बहू बहुत योग्य है।
— अपनी प्रशंसा सुनना चाह रही थी न, तो सुन लिया ?
— मजाक छोड़ो दादा ! मैं अनेक बार सोचती हूँ कि सासूमाँ के साथ कैसा व्यवहार करूँ कि वह मुझे अपनी बेटी की तरह ललक कर प्यार करें।
— इसके लिए उनकी बेटी बन जाओ।
— बेटी कैसे बना जाता है ?
— इतना भी नहीं जानतीं ? अपने को बस दे दो उन्हें। तुमने पत्नी रूप में अपने को त्र्यम्बक को सौंपा तो क्या तुम अहीता नहीं हुई ? बस, वैसे ही ससुर और सासूमाँ को बेटी के रूप में सौंप दो और निश्चिन्त हो जाओ''''दुर्गा ! गलती अपने में खोजो। सामने वाले को यदि यह अनुभव कराने जाओगी कि गलती उसकी है तो विषमता उत्पन्न होगी। अपने को झुका लो। झुकने वाला कभी पराजित नहीं होता।

त्र्यम्बक और दुर्गा दोनों मंत्र मुग्ध-भाव से पण्डित शिवशंकर आचार्य को सुन रहे थे। धूप के उस विस्तार में दूर कहीं-कहीं धुएँ की पतली परतें हवाहीनता में तिरते हुए थिर थीं। शायद वहाँ कोई आबादी हो। इसी सपाट बंजड़ता में भील-भिलाले रहते हैं। सारी सभ्यताओं से दूर इन वनवासी भील-भिलालों का अपना ही आदिम संसार है। आकण्ठ रूखा संसार—भाषा, भाव, रहन-सहन सभी दृष्टियों से। मकई-ज्वार के मोटे-मोटे रोट, तथा बहुत हुआ तो नमक-प्याज की सब्जी। मीलों दूर किसी नाले-पोखर से मिट्टी के घड़े में पानी ले आए और हाट-बाजार में जाकर अनाज के बदले जरूरत का तैल, गुड़ खरीद लाए, तो बहुत है। अपने ही त्यौहार, अपने ही देवी-देवता। किसी प्रकार की सभ्यता का कोई खटराग नहीं। जो जंगल में मिला—कन्दमूल हो या मांस-मछली हो। बस, इस तरह पीढ़ियाँ-दर-पीढ़ियाँ नंगे आकाश, बरसते मेघ, तपते सूर्य को सहते बीत गयीं। यदि अज्ञानवश लोग प्रकृति से एकरस हैं तो भी प्रकृति अपनी तरह से इनकी चिन्ता करती है। ज्ञान का इनके लिए कोई अर्थ नहीं है। प्रकृति को जानने के लिए ज्ञान होता है, प्रकृति बन जाने के लिए नहीं।
— चलो, अब चला जाए।
और चलने का नाम सुनते ही बच्चे दौड़ने लगे। उन्हें मना किया गया परन्तु पेड़ पर पक्षी बैठे हों और पेड़ झकझोर दिया जाए तो क्या पक्षी बैठे रहेंगे ?....नीचे उतरते हुए उन्हें दूर पर खजूरों का एक झुरमुट दिखायी दिया जिसके आगे पेड़ों का क्रम कहीं हल्का तो कहीं सघन चला गया था। वहीं खाल था जो कि गाँव तक जाता था। नीचे उतरते हुए, चीजें जो ऊपर से छोटी लग रही थीं; अब बड़ी होने लगी थीं।
खाल का वह उद्गम था। वहाँ पानी घेर कर ग्वालों, गड़रियों ने पत्थर रख कर एक कच्चा-पक्का कुण्ड बना लिया था जिसके कारण पानी जमा होता था। पानी इतना स्वच्छ एवं निर्मल था कि पीने को मन कर आता था। प्रसन्न मन सबने नाश्ता किया

और पेट भर उस झिरो [जल-कुण्ड] का पानी पिया। खजूरों में खजूरें आ चली थीं पर अभी कच्ची थीं। बेर भी अभी बहुत छोटी-छोटी कच्ची थी। खाल के किनारे चलने में एक अजीब ठंडेपन का अनुभव होता। वैसे तो अधिकांश पक्षी चले गये थे परन्तु कुछ वहीं आस-पास ही मँडराते घूम रहे थे। हाँ फाख्ताएँ जरूर इस झाड़ी से उस झाड़ी पर फुदकते या तो आवाज करती उड़ती फिर रही थीं या फिर खजूर या किसी पेड़ पर बैठे हुए दृश्य को वाणी दे रही थीं। बया के घोंसले खजूरों में लटके हुए स्पष्ट लग रहे थे कि इस समय इनमें कोई नहीं है। धरती पर पेड़ों की छायाएँ उतर कर घास पर, धरती की दरारों पर ऐसी लग रही थी जैसे पेड़ों ने अपनी देह उतार कर धरती पर सूखने के लिए फैला दी हो। इक्के-दुक्के आम या पीपल या इमली, वृक्ष से अधिक आकाश मापने का काम करते लग रहे थे। लेकिन डूँगरों के दूर होते ही धरती जिस तेजी से वनस्पतिवती होने लगी थी वह भी कम आश्चर्य नहीं था। जैसे-जैसे गाँव नजदीक आने लगा, केवड़ा-स्वामी-की सुगन्ध बहुत दूर पहले से ही आने लगी।

बच्चे जब केवड़ा-स्वामी पहुँचे, बावड़ी में चड़स [मोठ] चल रही थी। कुछ देर तक तो बच्चे चड़स का आना-जाना देखते रहे। कैसे ढेर सा पानी हलर-हलर करता जगत के पत्थरों पर से रपटता नाली में जाता है और फिर वही पानी दूर-दूर तक जा रहा होता है। चड़स खींचते बैल और बैलों को हाँकता वह आदमी सब कुछ बच्चों को अजीब लग रहा था। जब चड़स नीचे से ऊपर आती तो चरखी कैसे तेज-तेज चलते हुए आवाज करती। चड़स की जिस रस्सी से बैल बँधे थे उस पर वह आदमी झूलते हुए दूर तक जाता, और जब चड़स का बडा सा चमड़े का डोल सारा पानी गिरा देता तो बैल और वह आदमी वापस लौटते और वह डोल फिर झूल जाता।
बच्चों ने कभी इसकी आशा नहीं की थी परन्तु उस समय तो वे सचमुच पगला उठे जब उनसे पूछा गया कि कौन-कौन इस जगत में बैठकर इस झरने जैसे पानी में नहाना चाहता है? चूँकि कान्ता को दुर्गा, जिजी के पास ही छोड़ आयी थी, बाकी तीनों लड़के और कुन्ती ही तो थे। सभी तैयार हो गये। गोविन्द और धूर्जटी को घर से सबके कपड़े ले आने के लिए कहा गया। दुर्गा के नहाने का प्रश्न ही नहीं था इसलिए सबके कपड़े गोविन्द-धूर्जटी को देकर वह बगीचे जाने के लिए चल दी।
बच्चों को सम्हालकर नहलाने का दायित्व त्र्यम्बक पर आना ही था। बच्चे बावडी की जगत पर डोल के ऊपर आने की प्रतीक्षा में कपड़े खोले खडे थे, और डोल आया—और झिरझिराता जल बच्चों के पैरों, घुटनों को भिगोने लगा। बच्चे जगत पर अध-लेटे होकर पानी में छपर-छपर करने लगे।

भोजन एकदम तैयार था। जिस समय ये लोग बगीचे पहुँचे दोपहर होने को आयी थी। बगीचे के विशाल पीपल के नीचे पत्रावली लगा दी गयी थी। श्रीमती गोदावरी आचार्य ने जिस सांगोपांग तरीके से सारी व्यवस्था की थी उससे स्पष्ट था कि प्रत्येक व्यवस्था के पीछे उनकी भावना के साथ-साथ उनका स्पर्श भी था। पण्डित शिवशंकर आचार्य ने बगीचे में जिस प्रकार कुटिया आदि बना रखी थी, वह सचमुच ही स्पृहणीय थी। थोड़ी सी भी हवा चलती तो चिलबिल करती छायाएँ ऐसे हिलतीं जैसे कोई बड़ा सा पारदर्शी परदा हिल रहा है। मिश्रित खुली सघनता थी। धूप की स्वर्णिमता और वनस्पति का हरापन दोनों मिलकर ऐसे मसृण कोमल लग रहे थे जैसे ढीली बुनावट की रस्सी की झँझरी हो। श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य ने बहुत चाहा कि सबको परसकर, खिलाकर ही खाएँ परन्तु त्र्यम्बक नहीं माने। झरे पत्तों से भरी धरती, पेड़ों के ऊपर बुंदकियों में दिखता नीला आकाश और लगती, न लगती धूप की गरमी देह को छूती कैसी भली लग रही थी। सियाला [शीतकाल] निश्चित बीत चुका था परन्तु अब चैत्र लगने ही वाला था, पर लगा तो नहीं था न? फाल्गुन और चैत्र जैसे सुखद मासों की मिथुन-जोड़ी आश्विन और अग्रहायण की ही होती है। ये ऐसी मिथुन-ग्रन्थियाँ हैं कि सारे मास इनके चारों ओर चक्कर काटते हैं। फाल्गुन की वनस्पति की सम्पूर्ण चित्रात्मकता, सुगन्धमयता तथा रंगमयता का बोध होता है परन्तु चैत्र तो बस, जैसे एक ही वर्ण जानता है—पीत सरसों। समस्त धरती, आक्षितिज पीत, लहराती सरसों का समुद्र हो उठती है। हवा में कैसी मादक गन्ध भर उठती है। पूरे अन्तर में हवा कैसे आवाज करते हुए अकेली घूमती होती है जैसे प्रत्येक गाछ की देह को, उसकी वल्कलता को थाप देकर बजा रही हो। गिरे पत्ते कैसे खड़-खड़ आवाज करते हवा के पीछे नाचते हैं। और हवा भी कैसे ठिठोली करती अभी धरती पर घूम रही होती है कि हठात प्रशाखाओं तक पहुँच कर, फुनगियों को झकझोरती हुई—यह जा, वह जा; और सारा वन-प्रान्तर सकते में आ जाता है कि, यह क्या हुआ? किसके कारण अच्छी खासी हवा यों उड़ गयी? सारे वृक्षों के मुख पर कैसा आसन्न प्रश्न-चिन्ह लिखा पड़ता है न?....और चैत्र चाँदनी जैसी अकलंक चाँदनी तो वर्ष में कभी होती ही नहीं। स्वच्छ नीलाकाश में जितनी भी गहराई सम्भव हो सकती है, सभी तो होती है। उस नील कमनीयता को जैसे मलमल को धोकर पहना दिया गया है। मलमल है, आभास भी देती है, पर छुओ तो जैसे सुगन्ध। सुगन्ध के स्वरों वाली बाँसी यदि प्रिया हो तो वह चैत्र चाँदनी होगी। चैत्र चाँदनी को कहीं छुओ, गगन के समस्त गुम्बद में वह स्पर्श ऐसा कोमलतम प्रतिध्वनित हो जाएगा कि सुदूर के ग्रहों-नक्षत्रों तक को यह प्रतीति हो जाएगी—कि आप चैत्र चाँदनी का स्पर्श करना चाहते थे।

धूप, चाँदनी का पुल्लिंग रूप है यह फाल्गुन-चैत्र में ही समझ में आता है। अभी इन दिनों की धूप में चलने पर भी पूरी देह पर से जैसे जल निचड़ने की आप्यायना अनुभव होती है। पाखियों का कलरव तो था ही। जंगली तोते बहुत जोरों पर चीख रहे थे। बच्चे उन तोतों का हरा-हरा फड़फड़ाना बड़े ध्यान से देख रहे थे। फिर भी

इस सारी शब्दता के होते हुए भी ऐसी स्पष्ट शान्ति लग रही थी जैसे कि यदि पासियों का यह बोलना न होता तो शान्ति असह्य होती। शायद इसीलिए लोग घरों में तोते पालते हैं। मनुष्यों के बोलने से शांति भंग होती है परन्तु प्रकृति और पाखी उस शान्ति को मानवोचित बनाते हैं। त्र्यम्बक को आज पहली बार लगा कि ऐसे शान्त वातावरण में रहकर व्यक्ति सच ही उदात्त ही बन सकता है। दादा को यदि संसार नही मोहता तो कुछ अनैसर्गिक नही है। यदि मोहता तो ही आश्चर्य था। यहाँ आकर व्यक्ति अपने को प्राप्त करता है जबकि संसार में वह अपने को भूलता है।

कल सब चले जाएँगे, यह विचार ही श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य को मँथे दे रहा था। इन सबके आ जाने के कारण वह अपनी बीमारी बिल्कुल भूल चुकी थी। उनके किसी व्यवहार से यह नही लग रहा था कि वह ऐसी बीमार थी जिसे सुनकर ये लोग उन्हें देखने आये थे। गत पाँच-छह दिन कब, कैसे उत्साह से बीत गये, पता ही नहीं चला। वर्षों-वर्षों बाद इतने निश्चिन्त मन से अपनी ही देह से उत्पन्न प्रजा को अपने चारों ओर हँसते-बोलते देखने का सुख कैसा अदम्य है। इसी सुख के लिए मनुष्य क्या-क्या नही सहन करता है। स्वयं उन्होंने कैसी पहाड़ जैसी जिन्दगी काटी है। दुर्गा के विवाह के समय जो उन पर गुजरी उसका साक्षी और भोक्ता दूसरा कोई था तो वह शिवशंकर ही था परन्तु वह पुत्र ही तो था। न वह माँ था, न पत्नी। दुर्गा के जाने के बाद जो कटाव, सुन्नता आ गयी थी उसे वह किसे कहती? पुत्र से यदि कुछ कहतीं तो उसके कारण स्वयं उसका दुःख और बढ़ जाता। और स्त्री के लिए पत्नी और माँ होना क्या होता है यह किसी भी दिन क्या पुरुष समझ सकेगा?

सब बिस्तरों में घुसकर बैठ गये थे। कान्ता उनकी गोद में थी। कुन्ती उनसे सटी पड़ रही थी। पुत्र, पुत्री, जमाई और नाती सब उन्हें घेरे बैठे थे। गोविन्द, दुर्गा के पास बैठा हुआ कैसा लग रहा था जैसे दोनों माँ-बेटे हों। श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य हँस पड़ी।

— आप हँसी क्यों जिजी?

त्र्यम्बक ने उनसे पूछा। वह हँसी थी 'माँ-बेटे' वाली अपनी बात पर, पर वह बोली।

— भगवान की लीला पर हँसी आ गयी।....तुम सब लोग आ गये तो कैसा त्योहार जैसा हो गया। कल से फिर वही....

— जिजी! आप भी कैसी बातें करती हैं। आप जब लिखें हम लोग आ जाएँगे।

— बेटा! जरूर हम लोगों ने कोई बहुत बड़ा पुण्य पूर्व-जन्म में किया था तभी तो....

और चरम प्रसन्नता के इस क्षण में श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य को चरम दुःख याद आ गया। उनके आँसू निकल आए। तभी कुन्ती बोली,

— बाबा! तुम बहुत बुरे हो। नानी जी को रुला दिया।

अपने लुगड़े [सादी धोती] से आँसू पोंछते हुए वह बोलीं,
— कोई बाबा से ऐसा कहता है भला ?....और बेटा ! बाबा तो बहुत अच्छे हैं ।
— नहीं नानी जी, बाबा से अच्छे तो दादू हैं ।
— लगता है अपने दादू की बहुत दुलारी हैं । और दादीमाँ !
— हमारी दादीमाँ भी भोत अच्छी हैं ।
— पर शायद यह तेरी माँ ही कुछ गड़गड़ है न ?
— माँ को तो नानी जी ! दिन भर काम । और जब देखो—चल कुन्ती ! यह कर, चल कुन्ती ! पढ़ने बैठ । प्यार तो भूल कर भी नहीं ।
कुन्ती की बात पर सबको हँसी आ गयी । श्रीमती गोदावरी आचार्य बोलीं,
— और बाबा प्यार करते हैं कि नहीं ।
— बाबा घर पर रहते ही कब हैं ?....अच्छा नानी जी ! आप दादा की जनोई [जनेऊ] में आएँगी कि नहीं ?
— तुम बुलाओगी तो आएँगे ।
— हमारे लिए क्या लाएँगी ?
— जो तुम कहो ।
— पर नानी जी ! यहाँ तो कुछ मिलता नहीं ।
— अरी तुझे इससे क्या मतलब कि यहाँ मिलता है कि नहीं । तू अपनी बात बता ।
— माँ ! बता दूँ ?
श्रीमती गोदावरी ने लाड़ से डाटते हुए कहा,
— बड़ी माँ वाली आयी । मुझे बता न ?
— नहीं, माँ घर चलकर डाटेंगी ।
दुर्गा हतप्रभ भाव से बोलीं,
— इसे बोलना क्या आ गया है कि जान आफत में किये रहती है ।
— अगर घर जाकर डाटें न, तो तू मामा जी को चिट्ठी डाल देना । तू बता, तुझे क्या चाहिए ?
— किरमिच का जूता ।
श्रीमती गोदावरी आचार्य को एकदम हँसी आ गयी, दूसरे भी हँसने लगे । कुन्ती की कुछ समझ में नहीं आया कि उसने ऐसी कौनसी बात कह दी जिस पर नानी जी हँस रही हैं । उसे भचकचायी देखकर श्रीमती गोदावरी आचार्य बोलीं,
— वाहरे पगली !
— क्यों ?
— माँगे भी तो जूते ।
— नानी माँ ! सफेद किरमिच के जूते इत्ते अच्छे लगते हैं मुझे ।
— और धूर्जटी, पाँचू, मन्या तुम लोग बताओ, क्या लोगे ?
मन्या समझदार बनने का प्रयत्न करते हुए बोला,

— माँगना बहुत बुरी बात होती है।
— घर में कहना, माँगना नहीं होता, समझे ज्ञानी महाराज !
और मन्या झेंप गया। श्रीमती गोदावरी देवी बोलीं,
— कल तुम सब चले जाओगे तो घर कैसा लगेगा ?
दुर्गा माँ की बात पर बोली,
— दादा तो दो-चार दिन में लौट ही आएँगे।
— नहीं, बात तुम्हारे दादा की नहीं है। तुम सब चले जाओगे, गोविन्द भी घर चला जाएगा।
और श्रीमती गोदावरी आचार्य ने जिस प्रकार निश्वास ली उससे लगा कि प्याला लबालब भर चुका है। एक बूंद भी अतिरिक्त हो सकती है। जरा सी भी हवा से ऐसा प्रकम्पन आ सकता है कि जल छलक सकता है। अनायास सबके मन भर आए।
श्रीमती गोदावरी कहते हुए उठीं,
— जैसी प्रभु की इच्छा।
और सब सोने के लिए व्यवस्थित होने लगे।

घर पहुँचते ही दुर्गा ने जब देखा कि सासूमाँ अपने कमरे में लेटी हुई हैं तो वह समझी कि शायद उनकी तबीयत खराब है। खिड़की के पास उनका पलंग लगा हुआ था। पैरों तक मलवान लिये वह जिस ढंग से आँखें बन्द किये लेटी थी उससे स्पष्ट था कि आँखें भले ही बन्द हों, पर वह सो नहीं रही थी। सोती आँखें दूसरी तरह की ही होती हैं और बन्द आँखें पलकों के भीतर भी जाग्रत लगती हैं। दुर्गा ने जाकर चरण-स्पर्श किया। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को पता चल चुका था कि सब लौट आये हैं। बच्चों ने दौड़कर ऊपर-नीचे घर मथ डाला था। दादू और दादी माँ तक पहुँच कर अपनी उपस्थिति घोषित कर चुके थे। दुर्गा के चरण-स्पर्श करते ही सासूमाँ ने गहरी निश्वास ली, जैसे इस निश्वास लेने को वह दुर्गा के जाने के बाद से ही बराबर प्रतीक्षा कर रही थीं। दुर्गा के जाने को लेकर वह घर में काण्ड उपस्थित कर सकती थीं परन्तु पति और पुत्र के सामने उनकी एक न चली फलस्वरूप गाँव जाने के समय जब दुर्गा आयी थी तब भी इसी तरह कमरे में लेटे हुए अकेले ही विदा दी थी। दुर्गा ने दो-तीन बार पूछा था—'जाऊँ सासूमाँ!'—और सासूमाँ ने दुर्गा के जाने के प्रति केवल उपेक्षा ही बरती थी, और आज जब लौटी है तब भी सासूमाँ वैसे ही लेटी हुई हैं जैसे इस बीच वह बराबर ऐसे ही लेटी रही हैं। दुर्गा को कुछ अजीब सा लगा कि वह क्या कहे?

— आपकी तबीयत तो ठीक है न सासूमाँ!

— तबीयत तुम्हारी माँ की खराब थी, न कि सासूमाँ की।

दुर्गा खिसिया गयी, पर बोलना था ही,

— आप लेटी हैं न इसलिए।

— हाँ, भला बताओ यह लेटने की उमर है मेरी?

दुर्गा को लगा कि सासूमाँ बहुत आक्रोश में हैं। वह एकदम तरह देकर जा भी नहीं सकती थी। तभी ससुर जी की आवाज सुनायी दी,

— त्र्यम्बक तुम और बहू एक बार अपने मामा जी के यहाँ हो आना।
दुर्गा को हठात लगा कि ससुर जी ने मामा जी के यहाँ जाने के लिए क्यों कहा ? क्या कोई खास बात ? क्या ? और सासूमाँ के इस तरह लेटने से तथा ससुर जी की इस बात से कोई सम्बन्ध है क्या ? परन्तु सासूमाँ तो जब नाराज रहती है, जो कि प्रायः रहती ही है, इसी तरह अबोला किये रहती है, या लेटे रहती है। बाहर दरवाजे की 'कल' की आवाज से वह समझ गयी कि ससुर जी जा चुके हैं। एक बार सोचा कि क्या सासूमाँ से इस बारे में पूछना ठीक होगा ? पर पूछना, बर्र के छत्ते में हाथ डालना भी तो हो सकता है। हालांकि अब सासूमाँ अपनी बहू को यन्त्रणा दे सकने की स्थिति में नहीं रह गयी थीं। बहू भी तो माँ बन चुकी थी, साथ ही समर्थ पति की पत्नी भी हो गयी थी अतः सासूमाँ किस बलबूते पर अपना कड़ा नियन्त्रण चलातीं ?
— मामा जी के यहाँ कोई खास बात सासूमाँ !
बिल्कुल अनपेक्षित ढंग से सासूमाँ ने आग्नेय नेत्रों से उसे देखा जैसे, जो भी कुछ घटित हुआ है उसमें दुर्गा का ही हाथ है। उसका पूछना, भूल से गरम-गरम तवा छू जाने जैसा हुआ। हाथ जलना ही।
— जब तक तू उस घर को चबा नहीं जाएगी, मैं जानती हूँ तुझे चैन नहीं आएगा।
दुर्गा आसन्न थी। इतना स्पष्ट था कि कुछ अघटित घटा है, पर क्या ? यह वह नहीं जानती। वह सासूमाँ के इस अप्रत्याशित, अनपेक्षित व्यवहार तथा लांछन से आहत ही हुई। वह चलने को हुई,
— उठा ले भगवान ! अब नहीं सहा जाता।
और वह कलाप करने पर उतर आयी। पैरों पर की अलवान मुँह तक ढँक कर वह रुदन करने लगीं। वहाँ से उठ जाना ही समुचित था और वह रोती हुई सासूमाँ को छोड़ उठ गयी।

श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल ने ही अपनी यह स्थिति कर ली थी कि उन्हें दुर्गा के आने-जाने के बारे में अब पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ही बताते थे। पहले श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल यह तय किया करती थीं कि दुर्गा को किसके साथ, किसके यहाँ जाना है। प्रायः तो वह दुर्गा को अपने ही साथ ले जाती थीं। ऐसा कभी नहीं सम्भव था कि पुत्र अपनी बहू को लेकर कहीं आये-जाये, परन्तु कोई क्या करे जब स्वयं ही कोई अपना अधिकार काम में ही नहीं लाए। शुरू-शुरू में तो श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल ने दुर्गा को साथ न ले जाना चाहा तो किसी के यहाँ पहले चली गयीं और वहाँ से अन्यत्र, जहाँ जाना होता था। और जाना होता ही कितना था और कहाँ था ? यही बारेसी, शादी-ब्याह, जनेऊ-मुक्ता [मृत्यु-भोज] आदि। किसी के यहाँ यों ही उठना-बैठना तो श्रीमती कृष्णा देवी सदा से स्वयं करती रही हैं उसमें भला बहू का क्या काम ? —और जब इसी प्रकार के

छोड़कर सास को देखने चला गया ! —हे भगवान ! कैसा जमाना आ गया—अब सासुएँ अपने जमाइयों की प्यारी हो गयी—ले आओ अपनी माँ को भी इसी घर में —सब समझ रही हूँ मैं तुम्हारा खेल, समझी न ? जब तुम्हारी ढेरों बहुएँ आएँगी और वो नाकों चने चबवाएँगी तब पता चलेगा ।

तभी नीचे से बच्चों की आवाजें आने लगीं, हालाँकि बच्चों को नहीं जाना था—

— जाओ न माँ !

— बाबा को देरी हो रही है ।

— जाऊँ न ?

— क्या मैंने तुम्हें रोका जो बार-बार पूछ रही हो ?

और वह वितृष्ण हो चल दी ।

रास्ते में पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने पिता से जो सुना था वह बता दिया कि मामा जी उज्जैन छोड़कर नाथद्वारा चले गये हैं । गुसाईं जी महाराज ने उन्हें वहाँ मन्दिर में काम दे दिया है । मामा जी का यहाँ मन तो लग नहीं रहा था । दूकान भी कोई खास नहीं चल रही थी तथा विशु और मामी ने उनका जीवन नरक कर दिया था, अतः वह बहुत दु:खी हो गये थे । हम लोग जब गाँव गये उसी दिन मामा जी बाबा-माँ के पास आए और बतला गये कि वह नाथद्वारा जा रहे हैं । दूकान किराए पर दे रहे हैं ताकि उसके किराये से मामी का खर्च चलता रहे । उसी दिन शाम को मामी बहुत दिनों के बाद घर आयी थी और न जाने क्या-क्या वाही-तबाही बक गयी । तभी से माँ बहुत उद्विग्न हैं ।

'कल' खोलकर जिस समय ये पण्डित गोवर्धन व्यास के घर में घुसे, एकदम सन्नाटा था । ऐसा सन्नाटा जिसमें मक्खियों का भिनभिनाना तक सुनायी देता है । तीसरा प्रहर था । शायद श्रीमती गंगादेवी व्यास कमरे में आराम कर रही थी । जैसे ही उन्होंने 'कल' की आवाज सुनी वह बोली,

— कौन ?

श्रीमती गंगादेवी व्यास भीतर के कमरे में थीं, वह जल्दी से उठकर आयी । श्रीमती गंगादेवी नाटे कद की थीं । रंग उनका खुला हुआ था । इस आयु में भी वह सुन्दर ही लगती थीं । परन्तु उनके व्यक्तित्व में चालाकी स्पष्ट लगती थी । आवश्यकता से अधिक सतर्कता से अपने कपड़ों की चिन्ता से लगता कि वह प्रत्येक क्षण अपने को छुपाये रखने में विश्वास करने वाली महिला थी । आप कभी भी उनके सामने सहज नहीं हो सकते । वह कब, किस क्षण किसके बारे में टुच्ची बात कर देंगी, पता नहीं चलेगा ।

इन लोगों को आया देखा तो हठात उनके मुख पर एक दूसरा चेहरा इतनी तेजी से लगा कि त्र्यम्बक और दुर्गा दोनों ने अनुभव किया । दुर्गा ने मामीमाँ के चरण-स्पर्श किये ।

— आओ !

और दालान में उन्होंने चटाई बिछा दी । अपने लिए वह एक आसन ले आयीं तो दुर्गा

भीतर गयी और एक और आसन अपने लिए लाकर मामीमाँ के पास ही, थोड़ी आड़ लेकर बैठ गयी।

— तुम लोग कब लौटे ?

— आज ही।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को बैठने के साथ ही लगने लगा कि जितने जल्द हो चल देना चाहिए। अतः उन्होंने मामी के बोलने की प्रतीक्षा न करते हुए कहा,

— बाबा ने बताया कि मामा जी का नाथद्वारा में हो गया। गुसाईं जी ने खुद बुलवाया है। यह तो बहुत अच्छा हो गया। अब आप भी मामी ! थोड़े दिनों में वहीं चली जाइए। ठाकुर जी की सेवा और दर्शन का भगवान ने कितना अच्छा मौका दिया है।

श्रीमती गंगादेवी व्यास को समझते देर न लगी कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जल के ऊपर ही छपाक करके रह जाना चाहते हैं। उन्हें गुस्सा तो बहुत आया कि बहुत चालाक बनता है।

— दुर्गा ! तेरी माँ की तबीयत कैसी है ? क्या हुआ है ?

— पेट में कुछ गड़बड़ी है। दादा शायद उनको यहाँ लाकर अस्पताल में दिखाएँ।

तब तक श्रीमती गंगादेवी उठते हुए बोलीं,

— अब घर में भी कोई नहीं कि तुम लोगों के लिए....

— अरे मामी ! आप बेकार में परेशान होती हैं। घर में कहीं यह आगत-स्वागत होता है ?

— अब कैसा रिश्ता भैया और कैसा सम्बन्ध ?....तुम लोग बड़े लोग ठहरे और हम लोग....

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल समझ गये कि श्रीमती गंगादेवी पेशबन्दी कर रही हैं। उनका बिल्कुल भी मन नहीं था कि वह यहाँ आएँ परन्तु बाबा का आदेश था। वह किसी तरह माथा-उतारनी करने आये थे। उन्हें पता था कि यह मामी अब अपने पति की खाल उतारने पर आ जाएँगी और फिर वही पुराना राग कि उनके और उनके पुत्र के पीछे पूरी दुनिया पड़ी है। उनके परिवार पर अब यह जो अमंगल छाया हुआ है उसका कारण त्र्यम्बक और दुर्गा हैं। वह यह सब सुनते-सुनते तंग आ गये थे। आज तो बहुत बड़ी औपचारिकतावश आ गये थे पर इसके बाद वह कभी नहीं आएँ यही इच्छा हो रही थी। सारे घर, वातावरण में जैसे अपशकुन की गन्ध आ रही थी। मामी की आँखें; और दिनों की अपेक्षा आज अधिक भयावनी लग रही थी जैसे कि गुरगुराती बिल्ली की आँखें हों। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि मामी की बात को जरा भी छुआ तो यह तो उनके बिछाये जाल में फँसना होगा। वह बोले,

— अच्छा मामी ! इस समय तो चलें, फिर आऊँगा। अभी तो ठीक तरह से सामान भी नहीं खोला, समेटा। सोचा कि पहले आपसे मिल आएँ।

और श्रीमती गंगा देवी व्यास को लगा कि त्र्यम्बक सचमुच ही चालाक निकला। पण्डित

त्र्यम्बक शुक्ल उठ खड़े हुए जिसका तात्पर्य था कि दुर्गा भी उठे।

— अरे तो तुझे जहाँ जाना हो जा न, बहू को तो थोड़ी देर को मेरे पास छोड़ जा।

— असल में मामी ! इनके ही दादा ने इन्हें कहा है कि जाकर आज ही महाकाल में संकल्प कर आएँ। आज सोमवार है न ? नहीं तो मुझे क्या था ?

हालाँकि दुर्गा की समझ में सहसा तो नहीं आया कि यह संकल्प की क्या बात है, परन्तु तत्काल ही समझ ले गयी कि पति ने बहाना बनाया है। मामी के चरण-स्पर्श करते हुए वह बोली,

— अच्छा मामीमाँ ! आज्ञा लूँ।

— हाँ भैया ! जब इस घर में मामा ही नहीं हैं तो मामी को कौन पूछे ?....मैं ही तो बुरी हूँ और दूसरा बुरा वह बिशू है—बाकी तो सब दूध के धुले हैं—।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को इतनी वितृष्णा हो रही थी कि साधारण औपचारिकता निभाना भी उनके लिए कठिन हो रहा था। जैसे वह आँच पर खड़े हैं और वह यहाँ अब जरा भी नहीं ठहर सकते। और बिना कोई बात का जवाब दिये वह बाहर निकले।

जब तक बाहर नहीं निकल आये उन्हें न जाने क्यों ऐसा लग रहा था कि पीठ और से मामी की दृष्टियाँ उन्हें छेद रही हैं। उन्हें बराबर इतने समय ऊपर से नीचे तक ऐसा ही रोमांच हो रहा था जैसा कि जू उतारते हुए काँसे की जल भरी थाली का स्पर्श साधारण धातु का नहीं लगता। वह स्पर्श आप में गहरे उतरता ही चला जाता है। बाहर निकलते ही उन्हें लगा कि इस घर के भीतर की धरती जैसे उनके पैरों में चिपकी चली आयी है, जो कि अपवित्र है, जिसे पैर झटकार कर झाड़ देना बहुत आवश्यक है।

वहाँ से निकलते ही दुर्गा बोली,

— कुछ देर तो बैठे होते।

— मुझे वहाँ लाश की दुर्गन्ध आ रही थी।

— आप तो हद करते हैं। जब ऐसा ही बैठना था तो गये ही क्यों थे ? अब मामी सासूमाँ से क्या कहेंगी ? आपका क्या। मुसीबत तो मेरी है।

— दुर्गा ! तुम सोच नहीं सकती कि मुझे कितना खराब लग रहा था।

— यदि ऐसा ही था तो आपको जाना नहीं था।

— मुझे क्या पता था कि जीवित मनुष्य में सड़े हुए मुर्दे से भी अधिक दुर्गन्ध होती है।....सारा मजा खराब कर दिया।

— और यह संकल्प वाली बात क्या थी ?

— कुछ नहीं, केवल बहाना था उठने के लिए।....अच्छा चलो मासीमाँ के यहाँ चलते हैं।

पण्डित नागेश्वर उपाध्याय घर पर होंगे इसकी आशा ही नही थी। हाँ मासी-माँ होंगी यही सोचकर ये दोनों आये थे। दरवाजा भीतर से बन्द था। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने आवाज लगायी। ऊपर खिड़की से जब वासुदेव ने झाँका तो दोनों को ही आश्चर्य हुआ। वह लपक कर नीचे आया और चरण-स्पर्श किया। उसे थपथपाते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— तुम कब आए वासुदेव ?

— तीन दिन हुए।

और उसने भाभी का भी चरण-स्पर्श किया।

— भाभी ! पहचाना मुझे ?

— बरसों में कोई आए तो भला कैसे पहचाने कोई ?

— तो अपने देवर की चिन्ता करने आप ही कहाँ आगर आयीं ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने टोकते हुए कहा;

— अरे तुम लोग यों ही दरवाजे पर खड़े हुए लड़ते रहोगे या भीतर भी चलोगे।.... बहू-बच्चे भी तो आये होंगे।

— नही दादा ! उनके ननिहाल में मृत्यु हो गयी इसलिए वह नरसिंहगढ़ गये हैं।

दुर्गा ने पूछा,

— मासीमाँ कहाँ हैं ?

— वो यही पड़ौस में गयी हैं। आप बैठिए तो।

और वासुदेव अपनी माँ, श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय को बुलाने गया। मुश्किल से दो मिनिट भी नही हुए होंगे कि वासुदेव और मासीमाँ आ गये। आते ही वह बोलीं,

— त्र्यम्बक ! आज मैंने तुझे और दुर्गा को याद ही किया था। सोच रही थी कि न होगा तो जाकर तलाश कर आऊँगी कि तुम लोग आए कि नही।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जिस मनःस्थिति मे मामी के यहाँ से आये थे उसके बाद मासी को देखकर उन्हें बहुत अच्छा लग रहा था। मासी बहुत सुन्दर तो नही कही जा सकती थीं परन्तु हमेशा ऐसी प्रसन्नता का आभास देतो जैसे अभी-अभी स्नान करके तैयार होकर आयी हैं। हमेशा लगता कि वह नहीं आयी बल्कि फाल्गुनी धूप आयी है। कानों में पाँच तारों वाले मोती के बुन्दे, नाक में कील मासी को व्यवस्था देते लगते। नागेश्वर मासा जी के कारण घर-आँगन, कभी-कभी पहनने के लिए मासी खादी की साड़ी पहन लेती थी। वह मजाक में कहती भी हैं कि खादी पहनने वालों को तो अंग्रेज बेकार ही जेल में भेजती हैं, खादी की साड़ी पहनना तो बेड़ियाँ पहनना जैसा ही है।

त्र्यम्बक और दुर्गा को देखकर वह प्रसन्न लग रही थी। ऊपर के कमरे में जाती हुई धूप का एक टुकड़ा फर्श पर लिखा पड़ा था। बहुत ही प्रसन्न भाव से सबको सामने बैठालते समय वह वैसी ही लग रही थीं जैसे अपनी थाली पूरी तरह सजा कर अब भोजन करने जा रही हैं। बोली,

— दुर्गा ! तुम्हारी माँ का क्या हाल है ?

— ठीक है। पेट में बराबर दर्द रहता है तो दादा चाहते हैं कि जिजी को यहाँ अस्पताल में दिखा दिया जाए।

—हाँ, ठीक तो है। और तेरा कैसा चल रहा है त्र्यम्बक!—अरे हाँ, तुम लोग मामी से मिले कि नहीं?

— वही से आ रहे हैं,

— देखो न, क्या स्थिति है, न निगलते बनता है, न उगलते।

— पर मासी! क्षमा करें। मामाजी को इस सीमा तक पहुँचाया किसने?

— यही तो रोना है। मामी यह समझती है कि दुनिया भर के लोगों ने उनके पति को उनके और उनके लड़के के विरुद्ध भड़काया....

— और मामाजी लोगों के कहने से भड़क गये, है न?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जोरों से हँस पड़े। उनके इस प्रकार के हँसने से सब अवाक हो आए।

— अब भैया! हम या कोई भी कुछ कहने से रहा।

— मासी! यही हाल रहा तो कोई उनके यहाँ झाँकने भी नही जाएगा। समाज में आप तो सब को गाली दें और लोग गालियाँ खाकर भी आपकी दो लातें सहें—क्या है ऐसा मीठा?

— लगता है, तू बड़ा नाराज है।—इधर कुछ खास हुआ है क्या?

— छोड़िए मासी! आपके पास बैठकर कुछ अच्छी बातें करने आये हैं, न कि ये सब कूड़ा-करकट। मासाजी ठीक हैं?

— तेरे मासाजी तो रतलाम गये हुए हैं।

— कब?

— आज आठ दिन हो रहे हैं।

— कोई खास बात?

— अरे क्या खास और क्या बेखास? घर-घर वही रोना—पैसा है तो, और पैसा नहीं है तो। अभी तुम लोग जब आये तब मैं जिनके यहाँ गयी थी, अपनी जाति के तो नही है—श्रीगौड़ है—तीन भाई हैं, तीनों भँगेड़ी। सिवाय घाट और यजमानी के कोई दूसरा काम नहीं। बड़े वाले की बहू आग में जल मरी, बीच वाले का ब्याह ही नहीं हुआ। घर सम्हालने को छोटे की बहू है। अब बताओ जब तुम कमा कर लाकर नही दोगे तो घर की औरत क्या धरती खोद कर निकाल कर दे? और कहाँ तक? यजमानी में कमाई नही है तो दूसरा कोई धन्धा कर लो। आज तीन दिन से उनके घर में चूल्हा नहीं जला। अपने तो बाहर कहीं खा-पी आते हैं पर वह बेचारी बहू क्या करे? एकाध बार पहले भी जब ऐसा हुआ और उसने पड़ौस से कहीं आटा माँगा तो उस बहू को तीनों भाइयों ने मिलकर मारा कि हमारे घर की इज्जत पर बट्टा लगाती घूमती हो।....वह बेचारी ऐसी साँसत में रहती है कि क्या करे। तुम्हारे मासाजी ने भी उन तीनों भाइयों को समझाया,

डाटा-फटकारा—पर ढाक के वही तीन पात। आज जब मुझे मालूम हुआ कि वह दो दिन से घर में भूखी पड़ी है तो मैं गयी।—एक ओर जब मैं मामी को देखती हूँ और दूसरी तरफ इस बहू को तो, मेरा तो दिमाग खराब हो जाता है त्र्यम्बक !

— पर मासी ! क्या करेंगी ? यह मनुष्य स्वभाव है कि आप दुःखी हो, दूसरे को दुःखी करे।

— लो, मैं भी कैसी हूँ।

— कैसी क्या ? जाओ नहीं मासी !

— उठने तो दे।

— नहीं, आप नहीं जाएँगी।

— अच्छा तो बहू ! भण्डारा खोलकर तू ही एक प्लेट में रख ला बेटा !

दुर्गा उठी, साथ-साथ ही वासुदेव भी उठ गया।

— वासुदेव के बच्चे-बहू तो सब कुशल से हैं न ?

— बहू के मैके में कोई मर गया है तो नरसिंहगढ़ गयी है। बाकी सब ठीक है। वासुदेव की ससुराल वाले सच ही बड़े भले लोग हैं।

— अरे तो मासी ! लालजीरामजी राजवैद्य का भी तो खानदान है।

— अरे बेटा ! खानदान-वानदान में क्या धरा है। तेरे मासाजी के बड़े भाई कामदार साहब का क्या कम नाम है ? पैसा, यश, क्या नहीं है ? दुर्गा के ममेरे भाई की लड़की कामदार साहब के लड़के को दी गयी है।

— तो फिर ?

— तो फिर क्या ? वो नाम निकाला है कि निकाला भला। पूरी रतलाम में थुड़ी हो रही है।

— क्यों ? ऐसा क्या हुआ नया ?

— अरे वो उनकी एक रखैल थी न उसी की बात है।

— अरे मासी ! एक तो यह कोई ऐसी बात नहीं कि लोग नहीं जानते थे, दूसरे ठाकुर-जागीरदारों के यहाँ तो यह सब होता ही रहता है—कामदार साहब भी अपने ठाकुर साहब से क्या कम हैं ?

— तू तो ऐसे कह रहा है जैसे तेरे लेखे यह कुछ है ही नहीं।

— मैं समझा पता नहीं कामदार साहब ने शेर मारा कि चीता।

— उन्होंने तो नहीं पर वह रखैल ही अब चीता नहीं, शेर मारना चाहती है।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल इस बीच दुर्गा द्वारा लाये गये मगद के लड्डुओं में से एक उठाते हुए बोला,

— यह हुई बात।

और लड्डू खाने लगा। श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय अपने इस भानजे को देखती ही रह गयी। पहले तो यह कभी ऐसा विनोदी नहीं था। न जाने कब गम्भीर हो जाता है और न जाने कब विनोदी हो जाता है, पता ही नहीं चलता।

— वह कहती है कि उसे कामदार साहब की जायदाद में से आधा हिस्सा मिलना चाहिए।
— लेकिन वह जायदाद का करेगी क्या ? कोई बाल-बच्चा तो उसके है नहीं।
— भाई-बन्द तो हैं। हमारा जेठानी पति से नाराज होकर धार अपने भाई 'साहब' के पास चली गयी हैं।
— और पुत्र, पण्डित वसन्तीलालजी उपाध्याय क्या कहते हैं ?
— वह बिचारा क्या कहे ? बाप की इन हरकतों के कारण किसी के सामने सिर ऊँचा नहीं कर पा रहा है।
— तो मासाजी क्या बीच-बचाव करने गये हैं ?
— जेठ जी ने बुलवाया था। वसन्ती की भी चिट्ठी आयी थी कि काकाजी आप जल्दी से जल्दी आइए।
— कहो मासी ! है न आनन्द इस संसार में।
— आनन्द नहीं, खोपड़ा है।
— पैसा !! पैसा !!—सबको पैसा चाहिए। हर सम्बन्ध के बीच में पैसा है।
— क्यों रे, वो देवास-गेट वाली दूकानों की क्या बात है ? वो लच्छू चौबे तेरे मासाजी के पास भी आया था।
— आदमी चाहे, वह गृहस्थ हो चाहे अकेला हो, चाहे संन्यासी हो चाहे पहलवान हो—सबको पैसा चाहिए। लच्छू चौबे को माँगीलाल भावसार के बाद अब पण्डित महादेव शुक्ल से टकराने की सूझी है।
— क्यों भला ?
— वही पैसा, मासी ! देवास-गेट पर विकास हो रहा है। बाबा ने वहाँ जो जमीन खरीद रखी थी अब वहाँ छह दुकानें बनाने का विचार है। उसमें हो यह रहा है कि बीच में सड़क ऐसी बन रही है कि चार दूकानें एक तरफ आती है और दो दूकानें दूसरी तरफ। इन दो दूकानों से लगी हुई दूकान है लच्छू चौबे की। वह चाहता है कि उसे ये दोनों दूकानें मिल जाएँ—पैसे से मिल जाएँ तो ठीक, नहीं तो फिर....
— नहीं तो क्या गुण्डागर्दी ?
— चलो गुण्डागर्दी कह लो मासी ! दो छोटे जब लड़ते हैं तो वह गुण्डागर्दी होती है और जब दो बड़े राजा-महाराजा लड़ते हैं तो वह युद्ध कहलाता है—मूल में वही है—पैसा !!
— तो फिर जीजाजी ने क्या तय किया ?
— तय की क्या बात है मासी ! एकाध दिन में फुन्दी काका की तरफ जाना है। उन्हीं की देखरेख में दूकानें बनवानी हैं।
— अच्छा एक बात बता कि फुन्दी काका से तेरा यह मोल-जोल क्या दीदी को पसन्द है ?

— मासी ! जिजी को यह सोचना चाहिए कि जिन्दगी भर उन्होंने सभी लोगों के साथ ज्यादतियाँ की पर हर बात की सीमा होती है। मुझे लगता है कि जिजी के कहने से ही बाबा ने छोटी दादी और दोनों काकाओं को परेशान किया है। अब अगर मैं और कुछ नहीं कर सकता तो कम से कम मानवीय व्यवहार तो कर ही सकता हूँ। अब अगर यह भी उन्हें बुरा लगता है तो बताओ मासी! कोई क्या कर सकता है ?

— और क्यों रे, बच्चों के यज्ञोपवीत का क्या हुआ ?

— अभी तो पता नहीं मासी !....बाबा भी अजीब आदमी हैं।

— क्यों ? ऐसा क्यों कहता है ?

— मुझे ऐसा लगता है कि वह जीवन भर यह सोचते ही रह गये कि अपनी पत्नी की गलत बातों का विरोध कैसे करें ? पिता के सामने बोलने का कुछ प्रश्न ही नहीं था। दादीमाँ ने जो शत्रुता अपनी सौत और सौत के लड़कों से आरम्भ की उसे जिजी ने अपने स्वार्थ के कारण बखूबी निबाहा। बाबा मूलतः सदाशयी व्यक्ति थे परन्तु संकल्पवान नहीं रहे। इसी कमजोरी का दुरुपयोग हमारी माताजी ने भरपूर किया। क्षमा करना मासी ! स्त्री यदि ईर्ष्या करने पर आ जाए तो सब को भस्मीभूत कर सकती है। पता नहीं, स्त्री का शील-हरण तो दूसरा करता है परन्तु उसका विवेक-हरण तो वह स्वयं ही करती है।

— बहुत ज्ञानी हो गया है, लगता है।

— मासी ! 'साहब' के बारे में तो नहीं जानता क्योंकि सुना ही सुना है, सो वह अवश्य ही ज्ञानी होंगे पर कभी आप दुर्गा के दादा से बातें करिए।

— सुना तो मैंने भी कि शिवशंकर जी सच ही विशिष्ट लगते हैं।

— कोई तपोभ्रष्ट पुण्यात्मा है मासी माँ ! जो शायद अपना अन्तिम भोग भोगने आयी है।....एक बात है....मामी के यहाँ से जितना खराब मन लेकर आया था उतना ही अब मन शान्त है....चलो, अब चला जाए।

बात का अन्तिम हिस्सा निश्चय ही दुर्गा से कहा गया था। उठते हुए बोले,

— अरे वाह पण्डित वासुदेव ! तुमसे कुछ बातचीत भी नहीं हो पायी।

— आऊँगा दादा !

— अभी तो हो न ?

— तीन दिन और हूँ।

— मासाजी तब तक लौट आएँगे मासी ?

— देखो। और न भी लौटें तो भी वासुदेव को तो पहले नरसिंह गढ़ जाना है और तब सागर जाएगा।

— अच्छा मासी ! चलें।

— आना बेटा, हाँ !!

अंकपात वाले घर में जिस समय पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल पहुँचे दिया-बत्ती हो चुका था। इधर वह गत एक माह से नहीं आ पाये थे। हमेशा मन में अपराध भाव लगता कि वह सप्ताह में एक बार भी नियमित ढंग से नहीं जा पाते हैं जबकि दादीमाँ को सच ही उनकी प्रतीक्षा रहती है।

उसे आशा थी कि इस समय दादीमाँ अकेली होंगी। वह उनसे बातें करेंगे और तब तक फुन्दी-काका आ ही जाएँगे। परन्तु आशा के विपरीत जब वह दरवाजा खोल कर घुसे और आवाज दी,

— दादीमाँ!

— कौन त्र्यम्बक? चला आ।

उत्तर में फुन्दी-काका की आवाज सुनकर वह थोड़ा चौंके। प्रायः फुन्दी-काका इस समय घर नहीं होते हैं। साथ ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा कि उन्हें अवचेतन में असुविधा हो रही है। वह धड़कते दिल से कमरे में पहुँचे। दादीमाँ बिस्तरे में थी। फुन्दी काका खजूर के पंखे से हवा कर रहे थे। सामने चटाई बिछी थी। वह बैठ गये और पूछा,

— क्या बात है काका?

— आज आठ दिनों से बुखार उतर ही नहीं रहा है।

— किसकी दवा चल रही है?

— दवाई तो दो-तीन दिन से सावेरकर जी की शुरू की है।

— बड़े अस्पताल में जोशी जी को नहीं दिखाया?

शायद श्रीमती पार्वती देवी शुक्ल सो रही थी। बातचीत से उनकी नींद खुल गयी। वह बहुत ही धीरे स्वर में बोली,

— कौन है फुन्दी?

— त्र्यम्बक है जिजी !
— त्र्यम्बक, आ गया ?
दादीमाँ के सिरहाने खिसक कर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने उनके सिर को छुआ और कहा,
— हाँ, दादीमाँ !....अब कैसी तबीयत है ?
— तबीयत का क्या बेटा ! चला-चली का वखत है ।
— कैसी बात करती है !....असल में दादीमाँ ! मैं भी नहीं था यहाँ ।
— हाँ, फुन्दी से कहा था कि तुझे बुला लाए । गाँव गया था न ? तेरी सास कैसी है अब ?
— ठीक ही है ।....काका ! मैं जाता हूँ अस्पताल । अभी गाड़ी लेकर आता हूँ । दादी माँ को अभी जोशी जी को दिखाते हैं ।
— नही रे, मुझे कहीं मत ले जाओ, अब । मुझमें अब जरा भी शक्ति नहीं है ।
परन्तु पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल नहीं माने और तेजी से निकल पड़े । सामने ही एक ताँगा दिख गया । वह पहले तो घर गये । बाबा अपनी सन्ध्या-पाठ-पूजा करके बैठक में अकेले ही बैठे थे ।
— बाबा !
पुत्र को लगभग बदहवास देखा तो थोड़े विचलित होते हुए पण्डित महादेव शुक्ल बोले,
— क्या बात है ? परेशान लग रहे हो ।
— दादी माँ की तबीयत बहुत खराब है । मैं अस्पताल जा रहा हूँ ।
— क्या हुआ उन्हें ?
— आज आठ दिनों से बुखार उतर ही नहीं रहा है ।
— दवाई तो हो ही रही होगी ।
— उस दवाई से कोई लाभ नहीं हो रहा है ।
— हुँम !!
— आपको जाना चाहिए बाबा !
— मुझे जाना चाहिए, क्यों ?
— इसलिए कि वह आपकी भी माँ हैं ।
— बहुत बोलना सीख गये हो ।
— बाबा ! मरते हुए व्यक्ति से सांसारिक द्वेष नहीं निभाया जाता ।
— तुम्हारी इन दादीमाँ ने और तुम्हारे इन काकाओं ने बड़ा हमारा नाम ऊँचा किया न ?
— तो फिर आप जाइए, पालिये इस जहर को । मैं जा रहा हूँ ।
— तुम कहीं नहीं जाओगे ।
— बाबा ! वह तो मेरी दादीमाँ हैं मगर कोई भी इस स्थिति में होता तो भी मैं जाता पर आपको और जिजी को कभी दर्द नहीं हुआ अपने व्यवहार पर ?

पता नहीं इस बीच श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल कब धीरे से आ खड़ी हुई थीं बोलीं,

— अपने बाबा से जबान लड़ाते शर्म नहीं आती ? अरे हम दबते हैं तो दबाता ही चला जाता है ? तेरी वह दादीमाँ बड़ी सगी हैं ।

— जिजी ! भगवान से तो डरो ।

— क्या किया हमने जो डरें ?

— क्या नही किया है तुमने जिजी ?

— जरा सुनूं मैं भी ।

पण्डित महादेव शुक्ल झल्लाते हुए उठे और बोले,

— तुमने घर नरक कर रखा है ।

श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल पति की इस बात को सहसा नहीं समझ सकी, बोली;

— नरक ? किसने कर रखा है ?

— कोई मर रहा है और तुम्हें लड़ने से फुर्सत नहीं । जाओ त्र्यम्बक ! जाते क्यों नहीं जोशी जी को बुलाकर लाओ ।

और वह स्वयं कपड़े पहनने लगे । पंडित त्र्यम्बक शुक्ल पिता के इस हठात परिवर्तन पर अवाक हुए और चल दिये ।

त्र्यम्बक के जाते ही पण्डित महादेव शुक्ल तैयार हुए । पत्नी श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लगा कि आज पहली बार पति ने उन्हें इस प्रकार अपमानित किया । वह फुँकी पड़ रही थी ।

— क्या जो कुछ मैंने किया वह सब अपने मन से ही किया ?

— देखो, यह समय बहस का नहीं है । भूल मेरी थी ।

— तो क्या अब उन लोगों के दरवाजे जाकर नाक नीची करवाओगे ?

— इसमें नाक नीची की क्या बात है ? वह भी मेरी माँ है ।

— आज के पहले भी तो थीं । पहले यह दर्द क्यों नहीं हुआ ?

— यदि भूल ठीक करने का मौका आदमी को मिले तो उसे छोड़ना नहीं चाहिए ।

— कैसे अपनी भूल ठीक करोगे, जरा मैं भी तो सुनूं ?

— चल कर देख लो न ।....बहू से कहो तैयार हो जाए ।

— तुम लोगों को जाना हो जाओ और कोई नहीं जाएगा उन चाण्डालों के घर ।

— देखो, नाराजगी का मतलब यह नहीं कि तुम किसी को वाही-तबाही बको ।

— अब मैं वाही-तबाही बकने वाली हो गयी ?

— अच्छा बाबा ! मैं तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ ।....तुम्हें न जाना हो, न जाओ । बहू को भेज दो ।

— मैं अपनी बहू को नहीं भेज सकती ।

— हमारी उनसे लड़ाई हो सकती है। त्र्यम्बक और उसकी बहू से उन लोगों की लड़ाई तो दूर बल्कि प्रेम भाव है।....देखो, समय नहीं है।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल पति की बात मानने के लिए विवश थीं, क्या करती ?

जिस समय बहू, बच्चों को लेकर पण्डित महादेव शुक्ल अकस्मात् पहुँचे तब तक पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल नही पहुँचे थे। बच्चों को बता दिया गया था कि जरा भी शोर नहीं करना है। कुन्ती और कान्ता घर पर ही दादीमाँ के पास रह गयी थीं। लोगों की आहट पाकर फुन्दी लाल बाहर निकले। दरवाजे के सामने ही पडसाल के खम्भे पर एक चिमनी जल रही थी। बाकी का घर अँधेरे में डूबा हुआ था। श्रीमती पार्वती देवी शुक्ल जिस कमरे में लेटी थी वहाँ एक लालटेन जल रही थी और उनके दोनों पुत्र उदास भाव से बैठे थे। दोनों ने जब पण्डित महादेव शुक्ल को देखा तो वे चौंके। उनकी समझ में नही आया कि क्या कहें! क्या करें? फुन्दी लाल ने उठने की चेष्टा की तो हाथ से उन्हें बरजते हुए वह श्रीमती पार्वती देवी शुक्ल के सिरहाने जाकर बैठ गये। दुर्गा और बच्चे कमरे में सिमटे खड़े थे।

श्रीमती पार्वती देवी शुक्ल चेतना में थी। उन्हें यह तो प्रतीत हो गया कि कोई आया है पर व्यक्ति को पहचानने में कठिनाई हो रही थी। पण्डित महादेव शुक्ल ने देखा कि वह नही पहचान पा रही है तब बोले,

— छोटी माँ! पहचाना नहीं? महादेव।

श्रीमती पार्वती देवी शुक्ल का सुनना, समझने मे परिवर्तित हो इसके पूर्व ही बोलीं,

— कौन? महादेव?

— हाँ, कैसी तबीयत है?

— तू कहाँ से भूल पड़ा रे?....सारी जिन्दगी हो गयी तेरा रास्ता देखते-देखते रे।

और उनकी वृद्ध, बुझती आँखों में जल भर आया। पण्डित महादेव शुक्ल का गला भर आया।

— छोटी माँ! तुम्हारे इस बेटे ने तुम्हें बहुत कष्ट दिया न?....माँ!!

और वह बच्चो की भाँति बिलख पड़े। उन्होने पार्वती देवी का सिर अपनी गोद में ले लिया और वह उस पर झुके हुए थे। वह बोली,

— नही रे, चलते-चलते जो सुख तू दे रहा है, भगवान जानता है मेरा सारा दुःख शेष हो गया रे। भगवान हो मुझे मेरे पापों का दण्ड देता रहा। भला तेरा जैसा निर्मल बेटा कैसे ऐसा हो सकता था?....चल, तू आ तो गया।....नही तो अगले जनम में फिर मुझे तेरी माँ बनना पड़ता....अच्छा, अब तू अपने हाथ से मुझे धरती पर सुला और गंगाजल-तुलसी मेरे मुँह में रख।

तभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल, डाक्टर जोशी के साथ हड़बड़ाते पहुँचे। पिता जिस प्रकार

दादीमाँ का सिर गोदी में लिये थे उससे उनकी आँखें भर आयीं। तभी उन्होंने देखा कि दूसरी ओर कोने में दुर्गा तथा बच्चे भी हैं।

— क्या त्र्यम्बक आ गया ?

— दादीमाँ! डाक्टर जोशी आये हैं।

— नहीं बेटा! अब मुझे कोई दवाई नहीं चाहिए। तुम सब मेरे नजदीक आ जाओ। बड़ी बहू नहीं आयी न ?....महादेव! मैं बड़ी हूँ, पर उससे कह देना कि अगर मेरी कोई भूल हुई हो तो क्षमा कर देना।

— नहीं, माँ! नहीं, यों न कहो। जो चाहे दण्ड दे लो माँ! पर ऐसे प्रताड़ित न करो।

और पण्डित महादेव फूटे पड रहे थे।

— अच्छा अवन्ती! कुन्दी! तुम्हारी ही चिन्ता थी। अब तो पिता तुल्य बड़ा भाई आ गया, अब मुझे छुट्टी दो न!....त्र्यम्बक! अपनी बहू के साथ मेरे सामने आ जा बेटा....जल्दी कर....

और उन्होंने अपने गले का हार उतार कर दुर्गा के गले में पहना दिया।

— अच्छा मैं जा रही हूँ, समझी बहू!....हे भगवान! श्रीकृष्ण शरणं मम्! श्री कृष्ण शरणं मम् !! श्रीकृष्ण शरणं मम् !!!

और हाहाकार से घर भर उठा।

जाति में, पूरी उज्जैन में किसको आशा थी कि पण्डित महादेव शुक्ल अपनी इस विमाता के लिए ऐसे विह्वल होंगे। पूरे रास्ते शव-यात्रा में उन्होंने दाह वाली अग्नि उठायी। लोगों ने लाख कहा कि अवन्ती या कुन्दी में से कोई दाह-संस्कार करे परन्तु नहीं, पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने दाह-कर्म किया। सूतक के दिनों का सारा कर्म-काण्ड, दशा, त्रयोदशा भी पण्डित महादेव शुक्ल ने अपने ही घर से किया। हाँ, श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल ने कोई व्यवधान नहीं उत्पन्न किया। कम से कम इन दिनों के लिए अवश्य ही अवन्ती और कुन्दी वहाँ आ गये थे। हालांकि जिस कमरे में मृत्यु हुई थी वहाँ दीपक जला तथा रात में सोने के लिए जब कुन्दी ने आग्रह किया तो साथ में त्र्यम्बक भी रहे।

जैसा नुक्ता [श्राद्ध-भोज] हुआ और जैसी लायण [श्राद्ध के अवसर पर दिये जाने वाले बर्तन] पूरी जाति के लोगों को दी गयी उसकी कल्पना ही नहीं थी किसी को। उज्जैन के सारे अन्नक्षेत्रों में साधु-महात्माओं को, ब्रह्मचारियों के आश्रमों को, भिखारियों को भोजन-वस्त्र दिया गया उसे देखकर सब चकित थे। ऐसा तो राजा-महाराजा के समय भी नहीं देखा-सुना होगा। हाँ, सब कुछ के बाद भी पण्डित महादेव शुक्ल को यह श्रेय था कि पुत्र ने जो कहा, दुर्गा ने जितना-जैसा-जिसको देना-लेना चाहा उसमें कोई अड़ंगा नहीं अटकाया। साथ ही उन्होंने हर बात में पत्नी श्रीमती कृष्णादेवी

शुक्ला को इस बात के लिए उत्साहित ही किया कि जैसे उन्हीं के कथनानुसार हो सब हो रहा है। दुर्गा ने एक कील भी यदि किसी को दी होगी तो सासूमाँ से पूछ कर ही। वह समझ चुकी थीं कि पति शायद प्रायश्चित कर रहे हैं और अब वह निमित्त हैं। पहले उन्होंने शत्रुता करने में पति को निमित्त बनाया था।

श्रीमती यमुना देवी पड्या ने श्राद्ध के भीड़-भड़क्के में अपने भाई की इस हठात उदारता पर हल्के से टोका भी,

— यह क्या कर रहे हैं दादा ?

— यमुना ! प्रायश्चित। हो जाए तब है।....सब कुछ मनुष्य अपने ही सन्तोष के लिए करता है। पहले इन भाइयो और विमाता से शत्रुता की थी तो वह भी तो अपने लिए और अब जो कुछ हो रहा है वह भी अपने लिए....देख रही हो न संसार का यह मायावी खेल।....जिसका जो कुछ है अब सब दे देना चाहता हूँ यमुना !. ..अब कोई स्वाद नही रह गया यमुना ! शरण तो यह धरती ही देगी.... इसके लिए यह कतर-ब्योत ? यह पिशाच-व्यवहार ?....शिव !! शिव !!....बस तेरी यह भाभी ही ऐसी गाँठ है जिसे खोलने में अँगुलियाँ दुख गयी यमुना !....नहीं तो मैं इतना बुरा नही था, अमानवीय भी नही था.. .

— कौन तुम्हे कहता है यह सब ?

— कोई किसी को पिशाच नही कहता यमुना !....जब आस-पास के लोग दरिद्र हों और तुम सम्पन्न बने घूमो तो पिशाच होना और क्या होता है ? ऐसी सम्पन्नता कोढ़ है यमुना ! कोढ़ !!

श्रीमती यमुनादेवी पंड्या को अपने भाई में प्रायः सद्गुण दिखे है, परिवर्तन भी कभी-कभी अनुभव किया है परन्तु इस प्रकार विकलता के साथ वह अपने को बदलेंगे इसकी कल्पना नही थी।

जब सारा उत्तरकार्य हो चुका तो पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल और कुन्दीलाल शुक्ल ने औपचारिक रूप से अपने बड़े भाई पण्डित महादेव शुक्ल से विदा माँगी। बैठक मे सब थे। सवेरे का समय था। करीब पन्द्रह दिनो की दौड़-धूप के बाद आज जाकर कही शान्ति थी। सबके सिर घुटे हुए थे। श्रीमती कृष्णादेवी बैठक से सटे कमरे की ड्योढ़ी में बैठी थी तथा उनके पीछे आड़ में दुर्गा बैठी थी। पण्डित महादेव शुक्ल अपनी परिचित मुद्रा में गाव से पीठ टिकाये हुए थे। विषाद और प्रसन्नता का अद्भुत सम्मिश्रण उनके मुख पर था। एक ओर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल तथा सामने दोनों भाई बैठे थे। यह शुक्ल परिवार की अजीब पारिवारिक गोष्ठी थी।

पण्डित कुन्दीलाल शुक्ल बोले,

— दादा ! अब सारा कार्य तो हो गया।

— भगवान की कृपा है फुन्दी !
— एक बात तो यह कहनी है दादा ! कि जैसा कार्य हुआ है उसका कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था।
— फुन्दी ! तू मेरी प्रशंसा या मैं तेरी प्रशंसा करूँ, यह कोई अच्छी बात है ?
— नहीं दादा ! व्यवहार, व्यवहार है। मैं तो यह कहना चाहता था कि सारा हिसाब हो जाता तो जो कुछ आप आदेश देते हम भी अपना हिस्सा दे देते।
— फुन्दी ! तू सुनना ही चाहता है न, तो सुन। मैंने जिन्दगी भर तुम लोगों के साथ अन्याय किया। माँ को कष्ट दिया. ..क्या तुम लोग मुझे ऊपर उठने का मौका नहीं देना चाहते ?
पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल हठात नहीं बोल पाये, फिर भी,
— दादा ! कैसी बातें करते हैं आप ? जिजी कहा करती थी कि प्रारब्ध का भोग भोगना ही पड़ता है। किसी को दोष देने से लाभ ?
— अपने को समझने के लिए फुन्दी यह भी एक भाषा है, मानता हूँ कि यह बहुत बड़ी भाषा है। लाखों लोगों को सनातन से इस भाषा के द्वारा बल मिला है पर क्या यह एकदम सही है ?
— अब दादा ! आप से बातें कर सकें इतनी तो हमारी बुद्धि नहीं।
पण्डित अयन्ती लाल शुक्ल की बात पर पण्डित महादेव शुक्ल बोले,
— हो सकता है यह प्रारब्धवश हो ऐसा हुआ हो पर मैंने भी तो इस बीच कर्म किया और कर्म को कोई कैसे नष्ट कर सकता है ? आज का कर्म, कल का प्रारब्ध है। इसलिए कल मुझे भी तो इन्हीं कर्मों का फल प्रारब्ध के नाम पर भोगना पड़ेगा।.... अच्छा, छोड़ो, यह बताओ कि तुम कहना क्या चाहते हो ?
— कि हिसाब हो जाना चाहिए।
— मान लो मैं कहूँ कि मैंने एक पाई का हिसाब नहीं रखा, तो ?
पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल बोले,
— तो आप आदेश कर दें कि हमें कितना देना चाहिए।
— फुन्दी ! अगर हिसाब ही करना है तो फिर आज तक का हिसाब होना चाहिए।
— क्या मतलब ?
— यही कि बाबा के समय से लेकर आज दिन तक जितना भी तुम लोगों का हम लोगों पर निकलता है उसकी पाई-पाई का हिसाब होना चाहिए।
— यह कैसे हो सकता है ?
— हम-तुम करना चाहें तो आज हो सकता है। पण्डित त्रिलोचन जी शुक्ल ने दो विवाह किये। अर्थात् उनकी जायदाद के दो हिस्से होने चाहिए थे ताकि तुम लोगों को एक हिस्सा मिल पाता।
— दादा ! यह सब बेकार की बातें हैं। गड़े मुर्दे खोदना है यह तो।
— तब तुम्हीं बताओ।

— हमें तो बस आप इस नुक्ते के सिलसिले में कितना देना है, वह मालूम हो जाए।
— क्यों ?
— इसलिए कि यह माँ के श्राद्ध की बात है।
— क्या वह तुम दोनों की ही माँ थी ?
दोनों भाई एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। पण्डित महादेव शुक्ल बोले,
— अवन्ती ! फुन्दी ! तुम देख ही रहे हो कि अब मेरी आयु काफी हो गयी है। त्र्यम्बक....
— दादा ! त्र्यम्बक की बात न करें, वह हमारा बेटा है।
— तो पराया मैं ही हूँ, और यह तुम्हारी भाभी है न ?....त्र्यम्बक बेटा और उसकी बहू—बहू !....तुम दोनों मेरे बेटे के समान हो अवन्ती ! फुन्दी !....भूल आदमी से होती है।
उनकी आँखें भर आयी थीं। धोती के खूँट से उन्होंने आँखें पोंछी। वे दोनों भी लगभग रुँआसे हो गये। तभी श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल बोलीं,
— अवन्ती ! फुन्दी ! मेरी बात का विश्वास करोगे ? तुम्हारे दादा का दोष यदि है तो इतना ही कि जो इनके मन में था वह कह नहीं पाए। मुझे तुम लोग दोष दोगे तो वह सही दोषारोपण होगा।
— नहीं भाभी ! जब जो होना होता है, वह होता है। आप लोगों का आशीर्वाद बना रहे। दादा और आपने इतनी बड़ी बात कह दी कि हम कुछ कह ही नहीं सकते।
पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल की बात के तत्काल बाद ही पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल बोले,
— अब यही कहना था दादा ! कि अब आज्ञा लें।
— कहाँ ?
— घर। इतने दिनों से देखा-भाला नहीं।
— क्या यह घर नहीं है ?
— नहीं दादा ! अब उस घर से हमें अलग न करें, न जाने कितना-क्या जुड़ा है उस घर से।
पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल की बात पर श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल बोलीं,
— फुन्दी ! न यह बात मैं कह रही हूँ, न तुम्हारे दादा। तुम्हारे त्र्यम्बक की बहू कह रही है कि आप जरूर जाएँ, वहाँ रहें परन्तु आज के बाद से दोनों वखत भोजन यहीं करेंगे।
पण्डित फुन्दीलाल सचमुच ही रो उठे,
— दुर्गा ! बेटा ! ऐसा क्यों बाँध रही है हमें—ऐसा तो माँ ने ही बाँधा था हमें, अब तू इस तरह....
और सब उठ गये।

नुक्ते के इस कार्य में पण्डित शिवशंकर आचार्य को आना था ही। गोविन्द की परीक्षाएँ हो चुकी थी। उसे बडनगर भेज दिया गया और उन्होंने सोचा कि यह अच्छा मौका है कि इस बहाने माँ को जोशी डाक्टर को भी दिखा दिया जाएगा। वैसे शायद श्रीमती गोदावरी आचार्य तैयार न होती परन्तु लड़की के घर काम था, तो भला कैसे न जाती ? वैसे उन्हें भी आश्चर्य था कि जिस विमाता से पण्डित महादेव शुक्ल की कभी नहीं पटी भला उसका उत्तरकार्य, नुक्ता आदि कैसे कर रहे हैं ? सोचा कि लोक-लाज में आदमी बहुत से लौकिक कार्य करने के लिए बाध्य होता है, अतः यह भी उनमें से ही होगा। परन्तु जब उन्होंने सब अपनी आँख से देखा तो आश्चर्य हुआ।

श्रीमती गोदावरी आचार्य अपनी ननँद श्रीमती श्यामा देवी त्रिपाठी से बातें कर रही थीं,

— मनुष्य कैसा बदलता है न श्यामा !

— भाभी ! लेकिन ऐसे बदलने का भी क्या। बिचारी पार्वती देवी जिन्दगी भर दरिद्रता में रही और अब उनके नाम पर शुक्ल जी ने यह जो पूरी उज्जैन को जिमा दिया, कपड़े-लत्ते बाँटे, लायण दी तो उससे मरने वाले को क्या मिला ? मरने वाला तो मर गया और अब वाहवाही शुक्ल जी लूट रहे हैं।

— लेकिन कोई खाली वाहवाही के लिए इतना थोड़े ही करेगा। ....सचमुच शुक्ल जी का मन बदल गया हो, क्या यह नहीं कहा जा सकता है ?

— देखें अब वह अपने सौतेले भाइयों से कैसा व्यवहार करते हैं, उसीसे मालूम हो जाएगा।

तभी घर के सामने ताँगा रुकने की आवाज हुई। श्रीमती श्यामा देवी ने खिड़की से झाँक कर देखा और बोली,

— लो, दुर्गा और त्र्यम्बक आये हैं।

उनके भीतर आते ही श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य बोली,

— बड़ी लम्बी उमर है तुम लोगों की।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल सामने दरी पर बैठ गये।

— सारा काम-धाम हो गया ?

श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य के प्रश्न पर वह बोले,

— हाँ, हो गया जिजी ! ....दादा नहीं दिख रहे हैं, कहीं गये हैं क्या ?

— कह रहा था कि डाक्टर जोशी जी से टाइम ले आए।

— अरे तो इसके लिए दादा को जाने की क्या जरूरत थी ?

— वैसे भी दिन भर घर ही में रहा।

— दोपहर में सोचा जरूर था कि चलें, तो कुछ हिसाब-किताब वाले आ गये। —तो जिजी ! ऐसा करता हूँ कि मैं दादा को जोशी जी के यहाँ से ले आता हूँ।

— अरे तो तुम वहाँ जाओगे, आ जाएगा वह।

— नहीं, मैं जाऊँगा तो काम जल्दी हो जाएगा।

— ठीक है, जल्दी आना।

श्रौर पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल चले गये। श्रब दुर्गा श्रौर वे दोनों ही रह गयीं। जिजी ने ही कहा,

— क्या त्र्यम्बक को कहीं श्रौर भी जाना है क्या ?
— नही तो, कह रहे थे कि दादा को फ्रीगंज श्रौर देवास-गेट वाली जमीन दिखाने ले जाएँगे।
— इसीलिए त्र्यम्बक चला गया। ....तेरी सास का क्या हाल है ?
— सब ठीक है।
— ये जो तुक्ता-तुक्ता हुग्रा तो, वह तो बहुत बिगडी होंगी।
— कुछ खास तो नही। सच तो यह है जिजी ! कि बाबा में बहुत परिवर्तन श्रा गया है।
— क्या इसीलिए यह सब हुग्रा ?
— मुझे दादा की ही वह बात नही भूलती कि प्रत्येक मनुष्य में श्रच्छे मनुष्य की संभावनाएँ होती हैं।
— पर इसमे हाथ तो त्र्यम्बक का ही है।
— मनुष्य का क्या जिजी ! भगवान जो चाहता है, वही होता है। श्राज जैसा व्यवहार बाबा ने श्रपने दोनों भाइयों से किया उसका कोई विश्वास नही करेगा।
— कैसा व्यवहार ?
— उन लोगों ने कुछ हिसाब-किताब माँगा।
— कैसा हिसाब ?
— उत्तरकार्य में जो कुछ हुग्रा उसका।
— बहुत खर्च हुग्रा होगा न ?
— यह तो राम जानें। बाबा ने कहा कि उन्होंने तो कोई हिसाब-किताब रखा नही श्रौर क्या वह उनकी माँ नही थी ?
— यह सब तेरी सास के सामने हुग्रा ?
— मैं भी वही थी....पर जिजी ! जो हुग्रा बहुत श्रच्छा हुग्रा। मुझे तो लगता है कि सासूमाँ में भी परिवर्तन श्रा रहा है, भले ही धीमे-धीमे सही।
— पर एक माँ ही थी उन भाइयों की, श्रब कौन बैठा है ?
— जिजी ! फिर दादा की बात श्राती है कि सम्बन्ध से भी बडी बात है भावना। 'इनके' मन में श्रपने काकाश्रों को लेकर बहुत भाव है श्रौर वे लोग भी ऐसा ही मानते हैं इसलिए ऐसा लगता नही कि उन्हें श्रकेलापन लगे ? बाबा तो उन्हें श्रंकपात वाले घर भी नही जाने देना चाहते थे।
— हाँ, पर उस घर से उनकी स्मृतियाँ जो जुडी हैं।
— इसी बात पर तो बाबा चुप हो गये परन्तु श्रब वह दोनों बसत घर श्राकर ही खाएँगे, यह तय हुग्रा है।
— खून श्राखिर बोलता ही है। श्रौर दुर्गा ! तेरी सास को भी तो सोचना चाहिए कि इन दोनो भाइयों के कौन बैठा है ?

— जिजो ! या तो मनुष्य अपने विवेक से सीखे, नहीं तो समय तो, सिखा ही देता है। विवेक से सीखने पर आदमी को दुःख नहीं होता और समय जब सिखाता है तो आदमी हाय-हाय करता है। —सीखना तो पड़ता ही है।

सहसा श्रीमती गोदावरी आचार्य को अपने पति पण्डित श्री रमण आचार्य की याद आ गयी। अपने पुत्रों से तो उनकी विशेष कभी बनी नहीं परन्तु दुर्गा को लेकर वह कितने तुष्ट थे। प्रतिदिन रात में दुर्गा को पढ़ाते। कथा-भागवत सुनाते। उनमें क्या बताया गया है, यह सब स्पष्ट करते। उन दिनों वह समझती थी कि बाप-बेटी दोनों समय नष्ट कर रहे हैं। कभी-कभी वह झल्ला भी पड़तीं कि एक दुर्गा ही है जो उनकी थोड़ी-बहुत सहायता करती है, उसे भी अपने पास बैठालकर ऐसे पढ़ा रहे हैं जैसे इसे पगड़ी-दुपट्टा पहनकर दुनिया चलानी है—अरे लड़की की जात, हो गया, बाराखड़ी आ गयी, रामायण महाभारत पढ़ना आ गया। ये धरम-करम की बड़ी-बड़ी बात सीख कर क्या करेगी? परन्तु वह कहती तो किससे कहती? उनके लिए तो बेटी ही बेटा थी। ....पर क्या नहीं थी? समय के साथ दुर्गा कैसी निखर आयी है न? यदि यह सिर्फ चौका-बासन, झाड़-बुहारू ही करते हुए बड़ी हो जाती तो आज जैसी समझदारी, ज्ञान-ध्यान की बातें कर रही है, तब क्या कर पाती? क्या तब यह अपनी सास के साथ ऐसा ही व्यवहार करती? वो किचाँयध मचती कि बस। सास भी दुर्गा पर इसीलिए तो ज्यादा कुछ न कर सकी—क्योंकि दुर्गा सामान्य बहुओं जैसी नहीं थी। होती तो अब तक सास ने पार भी लगा दिया होता। पति को वश में करना उतना मुश्किल नहीं परन्तु ससुर और दोनों काका-ससुर भी दुर्गा को ही मानते हैं। श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य को अपनी पुत्री पर अभिमान हुआ। दुर्गा के विवाह के प्रारम्भिक दिनों में वह कितनी चिन्तित रहा करती थी कि उनकी पुत्री अभी समझती ही कितना है और सास कहीं उनकी पुत्री का अमंगल न कर दे। राम-राम करते वे दिन बीते। जब भी कुछ सुनायी पड़ता तो उनका कलेजा कैसा मुँह को आ जाता। विशू वाले काण्ड को लेकर तो वह कितना रोयी-कलपी है। रात-रात भर नहीं सो पायी है परन्तु जिस प्रकार लड़की और जमाई ने सारी स्थिति सम्हाली उससे उन्हें विश्वास आता गया कि दुर्गा अब कैसे ही गहरे जल में तैर सकती है। कभी किसी रिश्तेदार ने दुर्गा को लेकर उन्हें टबूका [उलाहना या शिकायत] नहीं मारा। और मजा यह कि दुर्गा ने बाहर वाले तो दूर, कभी अपनी माँ तक से अपनी सास की कोई बुराई नहीं की होगी। तभी तो शिवशंकर बराबर कहता था कि माँ, हमारी दुर्गा, तो साक्षात लक्ष्मी, अन्नपूर्णा है। देखना, वह एक दिन बहुत नाम कमाएगी —भगवान करे शिवा की बात सच हो। अरे, हमें क्या करना, वह सुखी रहे, बस। और घर गृहस्थी में कुछ खट्-खट् तो लगी ही रहती है। समझदारी इसी में है कि या तो किसी के हो जाओ या किसी को अपना बना लो। दो बोल बड़ों के सुन ही लिये तो क्या घिस गये? और बड़े हैं तो कहेंगे ही। अब तुम छोटे होकर सुनना भी नहीं चाहो, तो यह कैसे हो सकता है? और कोई बाहर का तो आकर कुछ कहता नहीं है, तब फिर? दुर्गा ने जिस तरह अपनी गृहस्थी पर पकड़ कर रखी थी उससे श्रीमती

गोदावरी देवी आचार्य को परम सन्तोष था।

और तब तक पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल, पण्डित शिवशंकर आचार्य को साथ लेकर लौटे। आते ही पण्डित शिवशंकर आचार्य बोले,

— कल सवेरे जोशी जी ने बुलाया है जिजी ! घर ही पर।....वह तो रिश्तेदार निकले। श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य हँसते हुए बोली',

— तुमको तो कभी दुनियां की समझ नही आएगी, ज्ञान कितना ही हो।—वो तो....

— उन्होंने सब बता दिया जिजी !....और दुर्गा ! क्या हाल हैं ?

— ठीक है दादा ! आपके आशीर्वाद हैं।

— तेरी तो बड़ी जय-जयकार हो रही है।

— मेरी ?

— अरे नही तो क्या मेरी ?

— तुम्हारी हो तो समझ मे भी आये। मुझ घर-गृहस्थन का क्या ?

— जिजी ! इसने तो बताया नही होगा कि कैसे इसने अपने दोनों काका-ससुर को बांध लिया।

— नही, यह बात बचा गयी।

तभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— जिजी ! जब वे काका लोग अपने घर जाने की जिद करने लगे तो इसने जिजी के माध्यम से कहलवाया कि आज के बाद से दोनों काका अब यहीं खाना खाएँगे। और जिजी ! कुन्दी काका तब कैसे विह्वल हुए कि ...बोले कि ऐसे तो हमें कभी माँ ने बांधा था....और अब तू।

श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य की आँखें भर आयी। बेटी सुलक्षणा है यह तो वह जानती थी परन्तु ऐसी उदारमना भी होगी इसकी प्रतीति नही थी। सचमुच गुणों और व्यवहार में दुर्गा क्या अब पुत्री रह गयी थी केवल ? परन्तु ऐसे समय प्रायः माता-पिता डिठौना लगाने जैसा ही बोलते है ताकि सन्तान को किसी की क्या अपनी ही नजर न लग जाए,

— क्या हुआ इसमें, करना ही चाहिए इसे ऐसा। क्या काका लोग पराये होते हैं ?.... और त्र्यम्बक ! मन छोटा करते चले जाओ तो आदमी फिर केवल अपना ही स्वार्थ देखने लगता है।

फूफा पण्डित वैकुण्ठ नन्दन त्रिपाठी के लौटने का समय हो गया था।

पिछले दिनों पारिवारिक झंझटों, दौड़-भाग में पता ही नही चला कि कब होली आयी और कब बीत गयी। और वर्ष तो होली के दूसरे दिन सवेरे होली-पूजन करने भी जाते थे, इस वर्ष वह भी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल नही कर पाए। असल में मन से वह

उद्विग्न रहते। माँ को लेकर वह प्रायः दुःखी हो जाते थे। अच्छी-खासी गृहस्थी चल रही होती कि वह बहुत छोटी सी बात पर, कहना चाहिए किसी टुच्ची बात पर वो कलह उत्पन्न कर देंगी कि आपका खाना-पीना हराम हो जाएगा। कई बार वह सोचते कि, चलो उनके पास तो यह एक रास्ता है कि ज्यादा मन खराब हुआ तो जूते पहने और पटनी बाजार में किसी की दूकान पर जाकर बैठ गये। बहुत हुआ तो महाकाल चले गये, मंगलनाथ चले गये। इतनी दूर न भी गये तो घाट पर ही जाकर बैठ गये पर बिचारी दुर्गा क्या करे? कैसे वह दिन-रात का कलह सहन करती है और उस पर भी कभी सन्तुलन नहीं खोती। असल में माँ को तो कभी-कभी लड़ने की हुबिस छूटती है। दुर्गा लाख न लड़े परन्तु माँ को तो लड़ना ही है। अब आज इस बात के कहने का क्या अर्थ था? उसने तो मात्र यही सुझाव दिया था कि यदि देवास-गेट वाली जमीन के पीछे सच्चू चौबे पड़ा है तो इसे किसी दूसरे के नाम पर दिखा दो और कह दो कि यह हमारी है ही नहीं। इस इत्ती सी बात का अर्थ माँ ने यह निकाला कि बहू यह जमीन अपने भाई के नाम करवाना चाहती है। अब कौन माँ से बहस करे कि पण्डित शिव-शंकर आचार्य स्वयं ही समर्थ हैं। यदि उन्हें उज्जैन में जमान चाहिए तो वह खड़े-खड़े आज ही खरीद सकते हैं। उन्हें हमारी जमीन की जरूरत होगी? कोई भाई अपनी बहन की जमीन चाहेगा? और वह भी शिवशंकर जी जैसा भाई? जिन्हें किसी से किसी भी बात की अपेक्षा नहीं। परन्तु माँ को कौन समझाए? असल में उनके मन में दुर्गा को लेकर ग्रन्थि है। वह अपने मन में जानती है कि व्यक्ति के रूप में दुर्गा का व्यक्तित्व उनसे बड़ा है, उदार है, सहिष्णु है, परन्तु वह इसे स्वीकार नहीं सकती है। उन्होंने उस दिन भावनावश भले ही काकाओं को स्वीकार लिया हो परन्तु वह मात्र कलई भर है। कलई से ऊपर एक भ्रम आ जाता है, धातु में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता। इसी-लिए थोड़े दिनों बाद कलई छूटने पर भीतर का पीतल या तांबा फिर झाँकने लगता है।

चूंकि पण्डित शिवशंकर आचार्य कई बार कह चुके थे कि वह पण्डित नारायण जी पंड्या से मिलना चाहते हैं। वैसे तो दिन में ही नारायण जी पंड्या मंगलनाथ जाते हैं, और शाम को हरसिद्धि तथा महाकाल के दर्शन करते हैं परन्तु आज उन्होंने क्रम उलट दिया था। दोपहर के भोजनोपरान्त के आराम के बाद वह ठण्डाई तैयार कर रहे थे जिस समय पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और पण्डित शिवशंकर आचार्य पहुँचे।

उस घर का ठण्डापन, अँधेरा तथा खड़ी सीढ़ियाँ देखकर पण्डित शिवशंकर आचार्य को पहली बार लगा कि शहरों के मकान कैसे होते हैं। वातावरण में भाँग की गन्ध स्पष्ट आ रही थी। इनके पहुँचते ही पंड्या जी बोले,

— आइए महाराज!

पंड्या जी की श्वेत केशी मुद्रा तथा त्रिपुण्ड्र पर रक्त तिलक बहुत ही भव्य लग रहा था। भाँग छन चुकी थी अभी प्रसाद लेना बाकी था। वैसे कभी भी, न तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और न ही पण्डित शिवशंकर आचार्य भाँग का सेवन नहीं करते थे। पंड्या जी ने गिलास बढ़ाते हुए कहा,

— लीजिए महाराज !
— आप लें, मैं तो कभी नहीं लेता ।
पण्डित शिवशंकर आचार्य के इन्कार करने पर पड्या जी बोले,
— महाराज ! यह प्रसाद है । नशा तब करेगा जब इसे आप भाँग मानेंगे, नहीं तो गंगाजल है ।.... अच्छा लीजिए, कम किये देता हूँ । — लो त्र्यम्बक ! तुम भी लो ।
पण्डित शिवशंकर आचार्य को लगा कि तर्क व्यर्थ है और उन्होंने प्रसाद समझ कर ही पान कर लिया । तब तक बुआ, श्रीमती यमुना देवी पंड्या तश्तरी में पान-सुपारी आदि ले आयी थीं । उन्होंने श्रीमती यमुना देवी को प्रणाम किया ।
— आज बहुत धन्य भाग्य हमारे कि आप पधारे ।
— बुआ जी ! आप मुझे आप क्यों कहती हैं ?—हाँ, आज के पूर्व न आ सका इसका दोषी मैं अवश्य हूँ । आप बड़ी हैं क्षमा कर दें । भविष्य में ऐसी भूल नहीं होगी ।
श्रीमती यमुना देवी पड्या ने आज के पूर्व कभी शिवशंकर से कोई विशेष बात नहीं की थी । प्रणाम-आशीष हो गया, बस । पर आज देखा तो सच ही कितना सौम्य लगा ।
— डाक्टर जोशी जी को माँ को दिखा दिया ?
— हाँ बुआ जी ! उन्होंने बतलाया कि गड़बड़ी तो कुछ नहीं दिखती । दवाइयाँ बता दी हैं । भोजन में सावधानी रखने को कह दिया है ।
— हाँ, भैया ! बुढ़ापे का शरीर है । घर में कोई बहू होती तो कुछ आराम भी मिलता ।
पण्डित शिवशंकर आचार्य समझ गये कि वार्ता खतरे के बिन्दु तक आ गयी है । तत्काल पंड्या जी से बोले,
— तो चलें फूफा जी ?
पण्डित नारायण जी पंड्या तो कन्धे पर गमछा ले चुके थे । वह एकदम तैयार थे ।
— चलिए महाराज !
श्रीमती यमुना देवी पंड्या बोलीं,
— तो कल माता जी के साथ आइए न भोजन करने ? हमारा भी कुछ अधिकार है ।
— कैसी बात करती हैं आप ? आप आदेश करें ।

-

बुधवारे से होते हुए ये लोग सीधे मंगलनाथ वाली सड़क पर आ गये । गर्मियों का अभी कोई प्रश्न ही नहीं था । खासकर जब कि तीसरा प्रहर बीत चुका था । क्षिप्रा की इस ऊँची कगार पर वृद्ध पेड़ों ने जैसे अपनी न केवल विशाल प्रशाखाओं में ही बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व में धरती का ठण्ढापन समेट रखा था । कद्दावर इमलियाँ, उन्नत पीपल, विशाल बरगद और हरी झाडियों का लम्बा सिलसिला, सबके सब शाम की धूप में वास्तविक की वनस्पतियाँ लग रहे थे । वनस्पति लगने से तात्पर्य था कि उनमें से गन्ध आ रही थी तथा हवा में औषधता लग रही थी । शहरों के खुलेपन में ऊपर के आकाश

का जितना भी योगदान रहे, प्रकृति कहीं नहीं होती। खुले में प्रकृति आपके वस्त्रों से, आपके रोम-रोम से ऐसे आत्मीय ढंग से बातें करती है कि जैसे आप उसके सर्वप्रिय अतिथि हैं। प्रकृति कभी कपट-व्यवहार नहीं करती। वह जब भी व्यवहार करती है, सम्पूर्णता के साथ ही करती है। साथ ही प्रकृति अपने को सौंपने में भी कोई संकोच नहीं करती। जैसी है, वैसी ही वह प्रस्तुत हो जाएगी, निःसंकोच।

मंगलनाथ के नीचे के घाट पर पहुँचकर पण्डित नारायण जी पंड्या बोले,

— हाँ महाराज! क्या विचार है?....हाथ-मुँह धोना है?

— आपका जो नियम है वह करें।

पण्डित नारायण जी पंड्या अपने नियम में लग गये। जब वह स्नान कर रहे थे तो उन्होंने दोनों से पूछा कि विचार हो तो स्नान कर लें, दिव्य जल है। शायद स्नान की इच्छा इन लोगों की हो आयी थी। स्नान के बाद पण्डित शिवशंकर आचार्य को लगा कि 'प्रसाद' कुछ प्रभाव दिखा रहा है। उस सारे वातावरण में उन्हें एक ऐसी शान्ति अनुभव हो रही थी जैसी कि स्वामी जी के आश्रम में कभी लगी थी। क्षिप्रा का शीतल जल, स्पर्श में ही स्वाद देता लग रहा था। क्षिप्रा यहाँ मोड़ लेती है। उस पार बड़ी दूर तक अरण्य की सी निर्जनता फैली हुई थी। शायद सन्ध्या-पूजन के लिए पंड्या जी ऊपर मंगलनाथ के मन्दिर चले गये थे। पण्डित शिवशंकर आचार्य को घाट पर बैठना बहुत ही अच्छा लग रहा था। वह लगभग ध्यानस्थ थे।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— स्थान सुन्दर है न दादा?

— सुन्दर ही नहीं जाग्रत भी है। जिस व्यक्ति, जिस समय और जिस स्थान पर आपको उदारता अनुभव हो, समझ लो कि वह व्यक्ति पुण्यात्मा है, वह समय पुण्य-क्षण है और वह स्थान पुण्य-तीर्थ।

— दादा! प्रायः सोचता हूँ कि क्या इस अध्यात्म की भाषा का व्यवहार और आचरण जीवन में सम्भव है?

— किस नतीजे पर तब पहुँचे।

— मुझे तो कठिन ही नहीं, असाध्य लगता है।

— कोई कारण?

— शायद इसका कारण यह हो कि आप इस भाषा का प्रयोग भले ही करें परन्तु सामने वाला तो इससे अनभिज्ञ है।

— व्यक्ति को अपना कर्तव्य करना चाहिए न कि दूसरे के आचरण से अनुशासित होना चाहिए। तुम्हारी तरह ऐसा यदि प्रकृति भी सोच ले तो मरुथल में तब वनस्पति ही न हो। फूल खिलने ही बन्द हो जाएँ। और त्र्यम्बक! भगवान की व्यवस्था और हमारी व्यवस्था में मौलिक अन्तर है। भगवान ने सृष्टि को अपना ही गुण, स्वरूप और क्रिया दी है। सर्वांग सम्पूर्ण किसी एक को बनाना न उसकी इच्छा है और न अपेक्षा ही। फूल को सुगन्ध दी पर पंख तो नहीं दिये। आम को फल दिये पर

पोपल को सी वासुदेविक पवित्रता तो नही दी। कमल को वर्ण दिया है तो बबूल-नीम को औषधता दी है। नदी को धरती दी परन्तु उच्चता तो पर्वतों को ही दी। *सिन्धु को विराट-विशाल बना दिया परन्तु गंगा की महिमा तो न दी।* भगवान की सामरस्य मूर्ति है प्रकृति। सबका प्रयोजन है अपना-अपना। यही स्थिति मनुष्य मात्र के साथ है त्र्यम्बक! मनुष्य मात्र में ईश्वर का वास है। मनुष्य का अच्छा या बुरा, क्रूर या निर्मम स्वरूप केवल ऊपरी खोखल है। उस खोखल से मत टकराओ। नारियल, कांचलो [नारियल का ऊपरी कड़ा भाग] नही है। मनुष्य को अवसर दो कि वह अपने दिव्य-स्वरूप को जाने। टकराने पर तो हवा जैसी चीज भी कान को लगती है, धरती जैसी धारयित्री माँ भी चोट पहुँचाती है। प्रतीक्षा करो कि उस मनुष्य की मनुष्यता तुम्हारे सामने उद्घाटित हो। उसे नहीं, अपने को बदलो। कोई भी पूर्ण अच्छा जिस प्रकार नहीं होता उसी प्रकार पूर्ण बुरा भी कोई नही होता। सामने वाले को प्राप्त करने के बजाय अपने को सौंपने की कामना करो। अर्पित मत करो, अपने को अर्जित हो जाने दो। क्रियाओं में सबसे बड़ी क्रिया है—समर्पण।. .त्र्यम्बक! मुझे कितना सुख होता है जब मैं सुनता हूँ कि दुर्गा अपनी सास के प्रति पूर्ण समर्पिता है।....मैं जानता हूँ, यह कठिन है परन्तु हमें मालूम होना चाहिए कि प्रकृति, भगवान, मनुष्य की सबसे अधिक परीक्षा लेते हैं इसलिए इन दोनों को भी मनुष्य से ही अपेक्षा है। जब मनुष्य ही उस दैवीय अपेक्षा के अनुकूल या समकक्ष नहीं होता तो दण्ड भी सबसे अधिक पाता है। इसीलिए मनुष्य को सृष्टि में सबसे अधिक चेतना के आयाम उसने प्रदान किये। शेष प्रकृति एक आयामी है, दो आयामी है तो तीन आयामी है। मनुष्य को यह शक्ति दी ही इसलिए कि उसमें फूल की सुगन्ध, नदी की करुणा, शैलों की उच्चता, सागर सा वैराट्य—सब कुछ हो। वह जीव मात्र ही नहीं, रचना मात्र का प्रतिनिधि बने। इस अपेक्षा से जरा भी कम मनुष्य प्रकृति को, भगवान को स्वीकार नही। अभी तो हम मनुष्य तक भी नही पहुँचे हैं—बाकी की सृष्टि तो हमारे व्यक्तित्व के स्पर्श से अछूती पडी है।....त्र्यम्बक! मनुष्य-योनी का दायित्व बहुत ही बडा है। इसके बाद, मनुष्य से पृथक कुछ नही है। इसीलिए वेदों में उस परमतत्व को केवल 'पुरुष' कहा है। ईश्वर, भगवान आदि तो बहुत बाद की पौराणिक संज्ञाएँ हैं। मनुष्य को वही 'पुरुष' होना है। प्रकृति तो प्रत्येक क्षण हमारे ऐसे 'पुरुष' होने की प्रतीक्षा में नाना शृंगार प्रसाधन किये आक्षण तत्पर है और हम हो हैं कि हमे अपना वंश, कुल, गोत्र, प्रवर, कुछ भी ज्ञात नहीं। ब्राह्मण या चाण्डाल, ये सारी संज्ञाएँ देह की नही हैं आत्मा की हैं। जातियो का यह मिथ्या जाल तो सामाजिक स्वार्थवश हैं। जिस मनुष्य की आत्मा 'पुरुष' भाव से युक्त हो जाती है, वही ब्राह्मण है। जन्म से तो शिशु भी ब्राह्मण है, पर क्या वह ब्राह्मण है? अपने को अपनी आत्मा बनाओ। उसी दिन सर्वात्मभाव आ जाएगा। सारे जातिगत, देशगत, कालगत बन्धन हट जाएँगे। सासारिक प्रपंच बने ही इसलिए हैं कि तुम्हारी परीक्षा बराबर ली जा

रही है। एक बार परीक्षित हो जाओ, दीक्षित हो जाओ बस उस दिन अक्षत हो जाओगे।

सूर्यास्त हो चुका था। आकाश में बड़ी देर से लालिमा रुकी पड़ी थी। एक ऐसा सन्नाटा था जिसमें दूर तक के पक्षियों का कूजन तक सुनायी पड़ रहा था। ऐसा लग रहा था कि केवल पक्षी ही नहीं लौटे थे बल्कि दिन भर पेड़ नदी, सारा का सारा परिदृश्य जो आकाश में, प्रकाश में ऊर्ध्व होकर चला गया था वह भी धीरे-धीरे लौट रहा है। अब पेड़ पूर्णरूप से पेड़ हो गये हैं, नदी, आद्यन्त नदी हो गयी हैं। सूर्यास्त के साथ ही सब लौट आते हैं। शायद फूलों की गन्ध भी दिन भर के बाद लौट आयी होगी। व्यक्ति भी अपनी इन्द्रियों के माध्यम से सबके बाद लौटता है इसलिए उसके अन्दर सूर्यास्त सबके बाद होता है। मनुष्य के सोते ही तब आकाश का नक्षत्र-लोक जाग्रत होने लगता है। प्रकाश और अन्धकार, सुषुप्ति और जाग्रति, चेतना और जड़ता सब इतने समरसरूप में योजित हैं कि जब भी इनमें व्यतिपात होता है तब प्रलय होता है।

तभी पीछे से पदचाप सुनायी दी। पण्डित नारायण जी पंड्या दुर्गा-पाठ करते हुए आ रहे थे।

— या देवी सर्वभूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः

और वह जिस प्रकार मुसकराते हुए अपने अभूत वेष में थे वह साधारण नहीं था। आते ही बोले,

— जाइए भगवान मंगलनाथ के दर्शन कर आइए।

— वह तो चलते समय कर ही लेंगे फूफाजी !....आपका सत्संग कहाँ मिलता है ?

वह पलथी मार कर बैठ गये, बोले,

— सत्संग ? अरे महाराज ! अपनी आत्मा से बड़ा सत्संग और कहाँ है ?....और आप तो स्वयं जाग्रत व्यक्ति हैं।

— फूफा जी ! 'दुर्गा सप्तशती' में जो 'कवच' है उसका क्या रहस्य है ?

आकाश में संध्या-तारा के अतिरिक्त भी कुछ तारे निकल आये थे। जाड़ों में आकाश सिकुड़ उठता है परन्तु गर्मियों का आकाश खूब फैला-फैला लगता है। पता नहीं जाड़ों वाली वह गहन नीलिमा क्या हो जाती है। गर्मियों के आकाश की नीलिमा बड़ी पारदर्शी होती जबकि जाड़ों वाली नीलिमा में डूबते ही चले जाओ, का भाव रहता है।

— सचमुच 'कवच' अद्भुत है।—एक बार मैं जब बहुत पहले कामाख्या गया था तो वहाँ एक तान्त्रिक से भेंट हुई थी। वह शायद बंगाली थे। देवी के दर्शन करके मैं बाहर निकला तो वह भीतर जा रहे थे। उन्होंने कुछ क्षण मुझे देखा तो मुझे रोमांच हो आया। उस समय मेरी आयु भी यही कोई पच्चीस के आस-पास रही होगी। मैं मन्दिर से निकल कर नीचे ब्रह्मपुत्र के किनारे आकर बैठ गया। अनजाना प्रदेश था। भाषा भी नहीं समझता था। उत्साह में चला तो गया था परन्तु भाषा की कठिनाई के कारण लगा कि आना नहीं चाहिए था। फिर यहाँ के बारे में कई

प्रकार के प्रवाद भी सुने थे। लेकिन उस दिन उस अनजानी भूमि में बड़ा अकेलापन लगा। अभी मैं यही सब सोच ही रहा था कि वही बंगाली तान्त्रिक दूर से आता दिखा। वैसे भय तो नहीं पर असुविधा होने लगी। मैं भी इष्टदेव का स्मरण करते हुए भवितव्य की प्रतीक्षा करने लगा। आते ही उन्होंने टूटी-फूटी हिन्दी में पूछा कि कहाँ का निवासी हूँ? कैसे आया हूँ? क्या देवी दर्शन करना ही मात्र प्रयोजन था या और कुछ भी? मैं उन्हें निर्निमेष देख रहा था। उनकी उस दिव्य जटा में मैं से उनकी आँखें सुलगी पड़ रही थीं। मैंने कहा, महाराज! दर्शन भी एक प्रयोजन था और आप जैसे सन्त-महात्माओं का दर्शन भी। धीरे-धीरे उनके नेत्रों में करुणा झलकने लगी।—हाँ, तो मैं कह रहा था कि उनके आश्रम पर भी गया। वह किस्सा बहुत लम्बा हो जाएगा। हमारी बात का प्रयोजन है—कवच। उनका आश्रम थोड़े जंगल में था। वह मुझे ले गये। उन्हें जब विश्वास हो गया कि मेरी थोड़ी गति है तब उन्होंने जो व्याख्या की वह मुझे बहुत तार्किक लगी थी। मैंने देखा कि वह बहुत ही अध्ययन करते थे। न जाने कितने ग्रन्थ थे उनके पास।—हाँ, तो जो व्याख्या की वह कुछ इस प्रकार की थी कि मनुष्य की एक तो यह प्रत्यक्ष सत्ता है, देह-सत्ता, दूसरी अप्रत्यक्ष सत्ता है—आत्म-सत्ता। यह आत्म-सत्ता ही वास्तविक सत्ता है। यही व्यक्ति का विश्वात्मन स्वरूप है। 'कवच' की इतनी विराट कल्पना इसी आत्म-सत्ता वाले चेतन व्यक्तित्व के लिए है। समस्त देवियों को अपने में अनुभव करना तथा दिग-दिगन्त में अपने को चराचर में फैला कर उसकी सुरक्षा के लिए देवियों का आह्वान असाधारण है। जब मनुष्य को अपने इस विश्वात्मन स्वरूप का बोध, प्रतीति हो जाती है तब यह सृष्टि, प्रकृति मात्र उपादान भर हो जाती है। कन्धे पर जिस प्रकार उपवीत या उपवस्त्र पड़ा रहते हुए भी निरर्थक होता है उसी प्रकार यह सृष्टि, प्रकृति भी होती है। कर्ताभाव नष्ट हो जाता है, केवल संज्ञा रह जाती है। ऐसे जाग्रत व्यक्ति का स्पर्श नहीं किया जा सकता। बिजली का झटका लगता है। इसलिए वास्तविक सन्त-महात्मा अपना स्पर्श किसी विरल को ही करने देते हैं—क्या सूर्य का, अग्नि का स्पर्श किया जा सकता है? क्या तारों को छुआ जा सकता है? हवा को कोई पकड़ सकता है? केवल आप उस शक्ति को अनुभव कर सकते हैं। वह भी उसी रूप और मात्रा में जितना कि वह चाहता है। होते हुए भी नहीं होता है। आकाश है तो, पर कितनों को आकाश के होने की प्रतीति बराबर रहती है? अनवरत भगवान है, सर्वत्र है फिर भी मनुष्य निम्न कार्य करता है। अन्धे के लिए सूर्य भी अन्धकार है। कवच की प्रतीति हो जाने के बाद आप परम तत्व हो जाते हैं। ऐसा परम तत्व जो अदृश्य होता है। अदृश्य इसलिए कि देखने के लिए सीमा चाहिए। असीम को कोई कैसे देख सकता है? केवल असीम हुआ जा सकता है; उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता।

और पण्डित नारायण जी पंड्या हठात चुप हो गये। पण्डित [illegible] ६

— फूफा जी ! फिर बंगाली महात्मा से आप दुबारा कभी मिले ?

— दुबारा ?—अरे न जाने किस पुण्य से उन जैसों का दर्शन एक बार ही हो गया, बहुत हुआ ।

— कभी तन्त्र पर आपसे विशद जानने की इच्छा है ।

पण्डित शिवशंकर आचार्य की बात पर पण्डित नारायन जी पंड्या हँस पड़े।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल, पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल पर रहा। पण्डित फुन्दीलाल ने मठों, अखाड़ों, आश्रमों से साधु-सन्तों और बटुकों को आमंत्रित तथा एकत्रित करने का भार ले लिया। 'थारेमी' की सारी देख-रेख पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल, श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल और श्रीमती श्यामादेवी त्रिपाठी पर रही।

सिद्धनाथ के घाट से सटा जो सघन मैदान है उसमें दरियाँ-जाजम बिछा दी गयी। उतरते चैत्र की दोपहर थोड़ी गरम होने लगी थी, परन्तु इस मैदान के छतनार खुले मैदान में गर्मी अनुभव हो, इसका प्रश्न ही नही था। वैसे भी मालवा में खुलेपन में गर्मी नही होती, खासकर छायादार स्थान तो जेठ में भी सुखद ही होते हैं। ऐसी छतनार, सघनता वाली छाया में जलाशयों को सी मीठी ठण्डकता होती है। ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की फुनगियाँ भले ही गरम हवा झेलती होंगी पर वही हवा जब नीचे आती है तो उसका अंग-स्पर्श बहुत ही मधुर होता है। पसीना नाम मात्र को भी नही होता। जब नदी या जलाशय या शाद्वल हरीतिमा आपके चारों ओर हो, भीगा हरियाला विस्तार हो तो हवा भीगे कपड़े सी ही लगती है।

सिद्धवट का पूजन सांगोपांग किया गया। श्रीमती गोदावरी देवी ने चाँदी का पूरा 'पत्र' चढाया। उसके बाद पण्डितों-शास्त्रियों के द्वारा पूर्ण वैदिक यज्ञ सम्पन्न करवाया गया। पूरी दोपहर भर यज्ञ-धूम मंत्र-ध्वनि से वातावरण गूंजता रहा। ऊपर की पड़साल में भोजन का प्रबन्ध हो रहा था। रसोई के लिए भट्टियाँ थी ही, गीत गाती हुई स्त्रियाँ पूड़ियाँ बेलती रही। बच्चे दरी-जाजमों पर कूद-फांद कर रहे थे। रंग-बिरंगी भूषाओं में स्त्रियों ने उस आरण्यकता को रूप, अलंकार और खिलखिलाहट की भाषा प्रदान कर रखी थी। नथ और काजल अँजी आँखोंवाली बहुओं का हँसना-बोलना, फूल का जल बन कर खिलखिलाने जैसा लगता। स्त्री हाथों का स्पर्श पाकर पेड़, स्त्री-चरणों में दबकर दूबें कैसी कृतार्थ लगती। स्त्री, ऐसा इत्र होती है जिससे मन सुवासित होता है, वसन नही। वस्त्रों वाले इत्र तो उड़ जाते हैं परन्तु मन को सुवासित करने वाला वह स्त्री-इत्र शायद कभी नही छूटता, जन्म-जन्मांतर तक नही। उत्तरोत्तर वह गन्ध, मादक ही होती जाती है। सचमुच का स्त्री-इत्र, लेकिन होता भी दुर्लभ है, अधिकांश तो कपड़े पर दाग छोड़ देने वाले इत्रों की भाँति मन को भरमा देता है। जो अपनी अनुपस्थिति में भी सर्वांग उपस्थित लगे, जैसे बीत गये संगीत की स्मृति कभी नही बीतती, वैसे ही नथ और काजली अँजी आँखों वाला स्त्री-इत्र कभी नही बीतता!—स्त्रियों की ही यह विशेषता होती है कि जैसे वे निरन्तर बोल रही है—नदी की भाँति। यदि वे चुप भी है तो, या तो उनके नेत्र बोल रहे होंगे, या अलंकार और नहीं तो उनसे सम्बन्धित कोई प्रसंग, आप में झाला जैसा बजता होगा। इसीलिए स्त्री का अर्थ ही है—भाषा। स्त्री एक ऐसी माधवी-भाषा है—जो उत्सव भी है, फूल भी है, पाखी भी है, एकान्त भी है,

प्रसंग भी है, कोलाहल भी है, आलिंगन भी है और आपकी अंगुलियों के बीच से अभी-अभी गुजरे रेशमी आँचल का ठंडा स्पर्श भी है। पर वह भाषा आपको आद्यन्त चीर देती है। जैसे सारे मृग, कस्तूरी मृग नहीं होते वैसे ही सारी स्त्रियाँ, स्त्री भी नहीं होती। स्त्री, देह या नहीं, भाव का नाम है। स्त्री ऊर्ध्व का सोपान है, अध की सीढ़ी नहीं। स्त्री यदि उपस्थित है तो वह सीढ़ी है परन्तु उसकी स्मृति, सोपान है।

यज्ञ-धूम, मन्त्र-ध्वनि के बीच, अपने बन्द घरों से निकली बहुएँ, भाभियाँ, ननदें कैसी कनेर के फूलों सी यहाँ-वहाँ आते-जाते दिख रही थीं। ऐसे ही उन्मुक्त वातावरण में स्त्री अपनी सम्पूर्णता में प्रस्फुटित होती है। ऐसे ही क्षणों में, स्त्री में एक साथ फूलों का वर्ण, पाखियों की उत्फुल्लता, नदी की मलोड़ती ग्रीवा और अगरबत्ती की सुगन्ध के तैरते वलय-सभी कुछ तो होता है। जो स्त्री आद्यन्त स्त्री है, आकण्ठ नारी है—तब वह अलभ्य फल है, देववृक्ष कल्पतरु है, मात्र काम्या है अन्यथा तो वह गले में बँधा ऐसा पत्थर होता है जो उत्तरोत्तर कीचड़-काँदों से भरी पेंदी में ही डुबाकर ही रहती है। पुरुष सत्ता है, स्त्री क्रिया। वह पुरुष के वाक्य का आलाप है। पुरुष और स्त्री का मिथुन-मिलन ही सागर-मन्थन है जिसमें से सबको अपनी-अपनी पात्रता के अनुसार लक्ष्मी, ऐरावत, धन्वन्तरी, विष आदि प्राप्त होता है। अधिकांश के भाग्य में तो इस मन्थन के बाद भी खारा सागर-जल ही होता है।

जैसे-जैसे प्रहर ढल रहा था, लोग जमा होते जा रहे थे। अधिकांश पैदल ही थे। सोले-मुकुटे [रेशमी वस्त्र] तथा लोटे-घंटियाँ लिये स्त्री-पुरुष दो-दो, चार-चार के रूप में आ रहे थे। लोगों के आने-जाने से वहाँ की शान्ति, भाषा में अनूदित हो रही थी। अधिकांश गोल चकरी वाली पगड़ियाँ, दुपट्टे तथा नयी पीढ़ी के लोग गुजराती काली टोपी में दिख रहे थे। वटुक-ब्रह्मचारी, साधु-महात्मा कपड़े के जूतों में या लकड़ी की चट्टियों में चले आ रहे थे। उनके वेषों से ही स्पष्ट लग रहा था कि वह किस सम्प्रदाय, मठ के हैं। अधिकांश पीत या भगवा एकवस्त्र में थे। सम्पन्न लोग अवश्य ताँगे से उतरते। पालकी या शिविका का प्रचलन अब समाप्त हो चला था फिर भी कोई वृद्ध सज्जन या अति सम्भ्रान्त घर की महिलाएँ अवश्य ही शिविका में होतीं। गैस आ चुके थे। प्रबन्ध यही था कि आरम्भिक दो पंगतें सूर्यास्त के समाप्त होने तक हो जाएँ तो महिलाओं और बच्चों को पैदल लौटने में आसानी हो। भाँग के शौकीनों ने घाट के पत्थरों को धो-पोंछकर स्वच्छ कर लिया था और भाँग का आयोजन किया जा रहा था। शिप्रा में वैसे तो यहाँ बहुत पातलें [सूस जैसा जलचर] हैं परन्तु भीड़-भाड़ के समय वे सब किनारे से हट जाती हैं परन्तु इक्के-दुक्के आदमी पर आक्रमण कर बैठती हैं। इनकी यहाँ इतनी संख्या है कि यदि ये आदमी को घसीट लें जाएँ तो पाँच मिनिट में उसे चट कर जाएँ। परन्तु इसके बाद भी लोग नहाते ही हैं। इस समय भी शहर से चलकर आये लोग गर्मी और पसीने के कारण स्नान भी कर रहे थे। लोगों ने अपनी-अपनी धोतियाँ या तो पत्थरों पर या डालियों में सूखने के लिए फैला दी थीं।

पड़साल में राँगोली, पत्तलें, अगरबत्तियों का प्रबन्ध हो चुका था। लोग पंगत में

बैठने लगे थे। पण्डित महादेव शुक्ल को साथ में लिये पण्डित शिवशंकर आचार्य अभ्यागतों को चन्दन लगा रहे थे, उनके आगे पान और दक्षिणा रख रहे थे। और जब यह सम्पन्न हो गया तो दोनों के प्रार्थना करने पर 'नमः पार्वतीपते हर-हर महादेव' हुआ और भोजन आरम्भ हुआ। स्त्रियों वाली पंगत में यही कार्य श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लेकर श्रीमती गोदावरी आचार्य ने सम्पन्न किया। उसके बाद वे लोग सब घाट पर निकल आयी। हल्का अंधेरा होने को था। शामें कभी हठात नहीं होती, क्रमशः ही होती हैं, परन्तु एक बिन्दु पर पहुँच कर हमें लगने लगता है कि शाम हठात ही हुई है। उस गोधूली के धुंधलके में प्रकाश, तितलियों की भांति थरथराने लगता है। पूर्ण बीतने के पूर्व प्रकाश, जैसे आहत पक्षी सा पेड़ों पर, झाड़ियों पर पंख फड़फड़ाता लगता है। भूल से जो प्रकाश का आभास झाड़ियों में, मैदान पर, घाटों में रह गया है उसे प्रकाश, जैसे समेटने के लिए ही रुक गया है वर्ना तो वह कभी का जा चुका था।

सिद्धवट से सटे जिस घाट पर श्रीमती कृष्णा देवी, श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय, श्रीमती यमुना देवी पंड्या आदि के साथ दुर्गा बैठी हुई थी वहाँ गहरी कगार है। वैसे शिप्रा में सामान्यतः गहरा पानी नहीं है परन्तु जहाँ-जहाँ पठारी कगारें हैं वहाँ-वहाँ पानी स्वाभाविक रूप से गहरा हो जाता है। यहीं पास में ही जो प्राचीन भैरोगढ़ दुर्ग है वह यहाँ बनाया ही इसलिए गया था कि यहाँ कगारें खूब हैं। मध्यकाल में सुरक्षा का यही ढंग होता था। कभी इस स्थान के चारों ओर विशाल बस्ती रही होगी इसका प्रमाण चारों ओर के प्राचीन खण्डहर, प्रस्तर बतलाते हैं। प्रमुख दुर्ग अब कारागार बना दिया गया था। महलों के खण्डहर, यहाँ की बूढ़ी खण्डित दीवारें, टूटे-फूटे मन्दिर इसके साक्षी हैं कि अवन्तिका कभी इधर ही प्रमुख रूप से थी। अब किस युग में यह प्राचीन अवन्तिका नष्ट हुई या नष्ट कर दी गयी इसका कोई इतिहास नहीं मिलता परन्तु शिप्रा ने इस प्राचीन अवन्तिका को जिस प्रकार इसे अपने वलय में लिया हुआ है उससे लगता है जैसे यह नगर ही कभी महाकाल था और उनके गले में शिप्रा, नागमाला सी सुशोभित थी। भैरोगढ़ से लेकर महाकाल तक की प्राचीन नगरी अब खण्डहर है। नयी उज्जैन के सारे रंग-ढंग, मकानों का शिल्प सब उत्तर-मध्यकाल का है। सती-दरवाजा, क्षीर-सागर जैसे दो चार ऐतिहासिक स्थान जो कभी प्राचीन अवन्तिका की बाहरी सीमा में रहे होंगे आज वे नगर के मध्य में हैं। निश्चय ही अफगान-काल, मुगल-काल और मरहठों के युग में इस नगरी को वर्तमान स्वरूप मिला होगा। वर्तमान मन्दिरों, घरों का शिल्प ही पेशवाई-स्थापत्य की सूचना देता है। प्राचीन अवन्तिका के नष्ट होने में प्रकृति का हाथ सम्भव नहीं लगता क्योंकि शिप्रा ने कभी विकराल बाढ़ का स्वरूप नहीं ग्रहण किया। हाँ, मुसलिम शासकों की कुदृष्टि अवश्य ही इस प्राचीन नगरी पर रही और वह क्रमशः नष्ट होती गयी। यह प्रक्रिया बौद्धों, तांत्रिकों के युग से ही आरम्भ हो चुकी होगी। जो हो, शताब्दियों से उज्जैनवासियों को कभी अपने स्वत्व की पहचान, खोज की आवश्यकता ही नहीं हुई। किसी दीवाल, वह भी प्राचीन, का ढहना, इतिहास का ढहना होता है और इतिहास का ढहना, जातीय स्मृति के विध्वंस का आरम्भ होता

हैं—इस बात की प्रतीति कितनों को होती है ? गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ की समाधी, मुसलमानों के द्वारा 'तकिया' में परिणत कर देने का क्या सांस्कृतिक अर्थ होता है, जब यह भाव नष्ट हो जाता है तब उस जाति, लोग, युग के लिए किसी चीज से कोई फर्क नहीं पड़ता । भाषा जैसा सशक्त माध्यम, व्यक्तित्व का स्वरूप भी दाँतों के बीच से गुजरी हवा भर होता है । मृत के लक्षण और कुछ नहीं होते । जीवित मनुष्य को न विकराल प्रकृति, न अमानवीय तत्व, न नृशंस इतिहास कोई नहीं मार सकता परन्तु मृत व्यक्ति, जाति को ढहते क्या देर लगती है ?

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल उठीं । घाट की सीढ़ियाँ जो पानी में थीं उनमें से एक पर पैर रखा ही था कि शायद कोई पातल बहुत देर से घात लगाये बैठी थी । उसने पानी में डूबा उनका पैर मुँह में दबाया । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने पैर को झटका दिया तो बाकी की अँगुलियाँ तो छूट गयी परन्तु छोटी अँगुली के पास की अँगुली उसके मुँह में ही रही । पातल ने एक जोर का धक्का दिया । क्षणान्त में यह सब हुआ था । संकट अनुभव होते ही वह जल में गिरीं और चीखीं । उनके जोरों पर चीखते ही अभी कोई कुछ समझे इसके पूर्व ही पातल जैसे उन्हें पैर की राह घसीट रही थी । सारा पुरुष वर्ग पड़साल के यहाँ था । सहायता के नाम पर यही चार-पाँच महिलाएँ थी । हठात दुर्गा ने अपनी सास की विषमता समझी और वह जल में कूद पड़ी और लपक कर सास का उठा हुआ हाथ पकड़ कर घसीटा । दुर्गा ने बचपन में कभी तैरना सीखा था । इस बीच पातल को लगा कि उसका शिकार अकेला नहीं है अतः जब दुर्गा ने उन्हें झटका दिया तो पातल उस अँगुली को आधी काट कर ले गयी । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को दुर्गा किसी प्रकार घसीटते हुए घाट तक ले आयी । इस बीच ऊपर खबर हो चुकी थी । लोग भाग कर आये । वे समझे कोई क्षिप्रा में गिर पड़ा है, परन्तु जब श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल के पैरों से खून बहता देखा और जब लोगों को पता चला कि पातल उन्हें घसीट कर ही ले जा रही थी तो एक प्रकार से हाहाकार मच गया ।

पण्डित महादेव शुक्ल, पण्डित शिवशंकर आचार्य आदि दौड़कर आये । पातल का काटना कहीं जहरीला न हो जाए इसलिए तत्काल श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को अस्पताल ले जाया जाए । आयोजन में कोई व्यवधान न हो इसलिए चुपचाप और तत्काल श्रीमती कृष्णादेवी को लेकर कुछ लोग चले जाएँ । अभी कोई कुछ कहे इसके पूर्व पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा दोनों उन्हें लेकर ताँगे से चल पड़े । श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य ने साथ में जाने का आग्रह किया परन्तु यह सम्भव नहीं था ।

कोई भी घटना सीमित ही होती है परंतु उसकी आसन्नता अधिक भयावह लगती है। घटना से अधिक उसकी संभावनाएँ मन को अधिक शंकालु बनाती हैं। घटना एक ही होती है पर उसकी व्याख्याएँ प्रत्येक की अपनी होती हैं। भोक्ता के के लिए वे सारी व्याख्याएँ समग्र जैसी हो जाती हैं। इसीलिए घटना का दर्द सीमित होने पर भी आसन्नता हमारे सारे व्यक्तित्व को निरन्तर थरथराती होती है। कब, किसको पातल ने घसीटा था और तब किसके सारे शरीर में विष व्याप गया था और सब कैसी यन्त्रणा से उसकी मृत्यु हुई थी—सान्त्वना देने आया व्यक्ति यह सब सहानुभूति की दृष्टि से ही कहता है पर उसका हर शब्द कैसे स्क्रू की भाँति आप में भीतर ही भीतर छेद कर रहा होता है, इससे वह महाशय अनभिज्ञ रहते हैं। आधी अंगुली ही बच गयी है, भगवान न करे उसमें विष फैले, नहीं तो पंजा काटना पड़ सकता है। इन डाक्टरों-कम्पाउन्डरों की लापरवाही से पंजा क्या पैर तक काटना पड़ जाता है—राम !! राम !!—और आप दिन में हजार बार हर व्यक्ति से ऐसी संभावनाओं को सुनते-सुनते अन्तर तक प्रकम्पित हो उठें, तो क्या आश्चर्य है ?

आश्चर्य की बात तो यह होती है कि हर प्रकार की घटना के बारे में सहानुभूति के लिए आये आगन्तुक के पास श्रुत या अनुभूत ऐसा ज्ञान होता है कि उसे सुनकर आपको लगता है कि आप ही संसार के सबसे अज्ञानी व्यक्ति हैं। और यह भी कि यदि आपने उनसे परामर्श कर लिया होता तो और कुछ भले ही आप पर घटित होता यह तो कभी हो ही नहीं सकता था। अब यदि श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लोगों ने जीवन का घोर अंधकारपूर्ण भविष्य प्रस्तुत कर दिया तो यह उनका दुर्भाग्य ही होगा। उनके पैर में सूजन आ गयी थी। डाक्टर-कम्पाउन्डरों की जो भी राय हो कि रक्त-संचार में रुकावट आ गयी है, मांस-पेशियों में तनाव आ गया है। रोज ड्रेसिंग करवाने

से महीने-पन्द्रह दिन में पैर की सूजन कम हो जाएगी परन्तु सहानुभूति के लिए आये लोगों को लगता था कि पातल के काटने से विष के व्यापने के कारण ही यह सूजन आती है।

प्रति दिन पालकी में बैठाल कर श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल को दुर्गा अस्पताल ले जाती। आरम्भ में उन्हें बुखार भी हो आया था। उन आरम्भिक दिनों की स्थिति को देखकर श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य और पण्डित शिवशंकर आचार्य को अपराध भाव लगने लगा था कि न यह अनुष्ठान होता और न यह दुर्घटना घटित होती। परन्तु एक सप्ताह के बाद जब बुखार बिल्कुल छूट गया तो लोगों की चिन्ता कम हुई। श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य और पण्डित शिवशंकर आचार्य यही सोच रहे थे कि वे आखिर कब तक उज्जैन में रुके रहे?

एक दिन श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल ही बोलीं,

— मैं जानती हूँ गोदावरी बहन! आप क्या सोच रही हैं।

— अपनी चेती होत नही, प्रभु चेती तत्काल।

— ऐसा आप क्यों सोचती है? होनी थी सो हुई।

— भगवान ने लाज रख ली, नहीं तो हम तो कहीं मुंह दिखाने के योग्य नहीं रह जाते।

श्रीमती गोदावरी देवी की इस बात पर श्रीमती कृष्णा देवी बोलीं,

— पता नही भगवान ने शायद शिक्षा देने के लिए ही यह किया हो।

— कैसी शिक्षा?

—वह मेरे लिए अपने प्राणों की बाजी लगा सकती है, यह मुझे नहीं मालूम था।

— दुर्गा ने जो कुछ किया, वह कौन बड़ी बात है?

— नही गोदावरी बहन! मुझे उस क्षण गज-ग्राह की बात याद हो आयी और सचमुच वह भगवान बन कर आयी।

दुर्गा अपनी सास की दवाई लेकर आयी थी,

— सासूमाँ! आपकी दवाई।

दुर्गा ने देखा कि सासूमाँ ने उसको बात सुनकर जैसा उसे देखा उससे वह विचलित ही हुई। ऐसा तो वह कभी नही देखती। उसे लगा उससे कुछ भूल हुई है,

— आपको और कुछ चाहिए था क्या?

— बेटा! जो मुझे मिला, उसके आगे अब और कुछ नही चाहिए।

दुर्गा ने देखा कि श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल की आँखें छलछला आयी है। वह गत दिनों में बराबर यह अनुभव करती रही है कि उसकी सास में कुछ परिवर्तन आया है। सिर दाबते हुए जब सासूमाँ उसके हाथ पर अपना हाथ रख देती है तब उसे लगता कि जैसे वह कुछ कह रही है। क्या?—यह वह नहीं समझ पायी परन्तु ऐसा पहले कभी नहीं हुआ होगा। देखना, और लिखने जैसा देखने का अन्तर दुर्गा समझती है। अब सासूमाँ उसको लेकर उसके पति को जिस तरह झिड़कती उसमें उसे शंका होने लगती कि यह क्या है? वह बड़ी देर से पंखा कर रही होती तो सासूमाँ पुत्र को झिड़क देतीं

२२

कि—तुमसे यह तो नही होता कि थोड़ी देर को तुम ही पंखा झल दो। अब प्रायः सासूमाँ के मुँह से यह निकल पड़ता कि 'यह क्या-क्या करे ? बच्चे बड़े हो गये हैं, अपना-अपना सब को करना चाहिए।' दुर्गा भले ही असमंजस में हो-परन्तु त्र्यम्बक अपनी माँ के इस परिवर्तन को समझ रहा था। उसे दुर्गा की बात बराबर याद आती कि प्रतीक्षा करो कि सामने वाला मनुष्य की भाँति आचरण करे। कई बार पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल झल्ला पड़ते कि आखिर कब तक प्रतीक्षा ? तो प्रायः दुर्गा, पति के सीने के बालों में अँगुलियाँ चलाते हुए, पलकें उठा कर बड़ी देर तक मात्र देखती होती, और फिर झचोटे जाने पर मात्र इतना कहती—क्या बहुत जल्दी है ? अपने सीने पर त्र्यम्बक को अनेकों बार पत्नी दुर्गा का पलकों में डूबा-डूबा देखना ऐसा रखा मिलता जैसे सीने के बालों में कोई पत्ती उलझी रह गयी हो या फिर पानी की बूँदें।

माँ का दुर्गा के प्रति परिवर्तित होता स्वरूप उन्हें न केवल अच्छा लगता बल्कि उन्हें माँ के व्यक्तित्व का यह विस्तार लगता। वह जानते हैं कि माँ ममतालु है उनके प्रति, तो वह क्यों नही दुर्गा के प्रति भी ऐसी ही होती हैं, जबकि दुर्गा उन्हें प्रसन्न रखने के लिए क्या नहीं करती है ? स्त्री की यह सीमा भी होती है कि नाल के परिवृत्त तक ही वह उदार होती है। उसके बाहर वह नही देख पाती — न सद्गुण, न दुर्गुण। परन्तु पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ही क्यों, कौन पुरुष नही जानता है कि स्त्री की स्वीकृति पाने के लिए उसकी देह के माध्यम से गुजरना होता है। जो जितना अधिक उसकी देह से जुड़ा हुआ होता है वह उसके उतने ही निकट होता है इसीलिए सन्तान, पति से भी अधिक निकट होती है। ग्रहण वह पति को करती है परन्तु सन्तान उसका फल है। कोई अन्य व्यक्ति, सम्बन्ध उसके निकट हो सकता है परन्तु समग्र वह केवल सन्तान के प्रति ही हो सकती है और होती भी है।

प्रतिदिन ताँगे में ले जाकर बिठालने का, उतारने का काम भले ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल करते रहे हों परन्तु शेष सारी देख-भाल, सेवा — परिचर्या तो दुर्गा ही करती थी। प्रारम्भिक पन्द्रह दिनों के बाद जब डाक्टर ने कह दिया कि अब किसी प्रकार का संकट नहीं है तब जाकर पति और पुत्र भले ही निश्चिन्त हो गये हों परन्तु दुर्गा की सतर्कता में कोई कमी नहीं आयी। श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल मन से भले ही जान चुकी थीं कि उनकी बहू जैसी सुलक्षणा बहू कोई दूसरी नही हो सकती परन्तु जब यही बात आने-जाने वाली महिलाएँ कहती तो उनका मन फिर ऐंठने लगता। लोगों द्वारा दुर्गा की प्रशंसा पर वह मौन ही रह जाती। उन्हें बल्कि लगता कि दुर्गा यह सब प्रदर्शन के लिए ही करती है। तो क्या वह कूदी भी प्रदर्शन के लिए थी ? कोई प्रदर्शन के लिए अपने प्राण किसी के लिए संकट में डाल सकता है ? यदि दुर्गा ने नहीं बचाया होता, तो क्या होता ! वे हजारों पातलें उन्हें देखते-देखते चट कर जाती। और क्या ऐसा होता नही है ? कई बार ऐसा सुना गया है।....पर इसमें दुर्गा क्या कर सकती है ? यदि लोग चर्चा में दुर्गा की प्रशंसा करते हैं तो इसमें उसका क्या हाथ ? — वह हर बार अपना मन समझाती कि नही, बहू सच ही गुणी है। और ऐसे क्षणों में बहू को सीने से

सटाकर रो उठने को मन करता परन्तु न जाने क्यों वह ऐसा करना चाहने पर भी कर नहीं पाती थी। आधी-आधी रात तक सिरहाने बैठकर सिर दाबना, पैरों में तैल मलना, दवा देना, पंखा करना — सभी काम तो करती होती, उस पर से पूरी गृहस्थी चलाना तब भी कभी कोई भूल-चूक नहीं — वह दुर्गा से आखिर क्या चाहती हैं ?

शायद उन्हें लगता कि ऐसा मान लेने पर तो दुर्गा का व्यक्तित्व सबसे बड़ा सिद्ध हो जाता है। ससुर को क्या, यदि बहू बुरी है तो, और अच्छी है तो। पति के लिए अपनी पत्नी प्रिय होती ही है और खासकर जब कोई दुर्गा जैसी पत्नी हो, पर श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल तो जिस दिन ऐसा मान लेंगी उस दिन क्या वह नगण्य नहीं हो जाएँगी ? क्या ऐसी स्थिति को वह कभी सहन कर सकती हैं ! वही क्यों क्या, कोई भी सास सहन कर सकती है ?

घटना को पूरे दो माह हो चुके थे। अब पैरों की पट्टी, दवा आदि के लिए तीसरे-चौथे कम्पाउन्डर आता। आज भी कम्पाउन्डर के जाते ही दुर्गा ने सासूमाँ को ठीक से स्नान करवाया। माथा नहवाया, कपड़े बदले। तभी दरवाजे की 'कल' सुनायी दी। ये दोनों समझीं कि कोई आया होगा परन्तु वह कोई नहीं बल्कि श्रीमती गंगादेवी व्यास थीं। इस बीच वह कभी नहीं आयीं और आज हठात उन्हें देखकर दुर्गा से अधिक श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल का माथा ठनका। दुर्गा सासूमाँ को तकिये के सहारे बैठालकर उनके बासी कपड़े समेट कर ऊपर चली गयी।

श्रीमती गंगादेवी व्यास चुपचाप आकर बैठ गयीं। दुर्गा ने उन्हें प्रणाम किया तब भी वह कुछ नहीं बोलीं। श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल ने अनुभव किया उनकी यह छोटी भाभी न जाने कैसी लग रही थीं। कैसी से तात्पर्य ? तात्पर्य-वात्पर्य कुछ नहीं, बस, अच्छी नहीं लग रही थीं। उन्हें बराबर उनका बैठना, उनकी ओर देखना भी सुखकर नहीं लग रहा था। एक ऐसा सन्नाटा था जिसमें पता नहीं श्रीमती गंगादेवी व्यास को जो भी लग रहा हो परन्तु श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल को बिल्कुल भी अच्छा नहीं लग रहा था। वह नहीं समझ पा रही थीं कि वह क्या, कौन सी और कहाँ से बात शुरू करें, जबकि यह काम आगन्तुक का था।

अगत्या उन्हें ही मौन तोड़ना पड़ा,

— तबीयत तो ठीक-ठाक है न गंगा ?

श्रीमती गंगादेवी व्यास ने जिस समय यह बात सुनी उस समय वह नीचे देख रही थीं परन्तु बात सुनकर तत्काल उनकी ओर नहीं देखा बल्कि थोड़ी देर के बाद अपनी आँखें उठायीं और घूरती बैठी रहीं। श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल को इस घूरने से और भी असुविधा होने लगी। बोलीं,

— नाथद्वारे से कोई चिट्ठी-पत्री आयी इधर ?

इस बार श्रीमती गंगादेवी की घूरती आँखों में एक ऐसा तिरस्कार उभर आया, जो हँस रहा हो। आँखों से हँसते हुए तिरस्कार असहनीय होता है। यदि ऐसा ही व्यवहार, अपमानजनक व्यवहार करना था तो फिर आने की क्या आवश्यकता थी ? क्या किसी ने बुलाने के लिए पीले चावल भेजे थे ? उन्हें लगा कि अच्छा यही है कि गंगा से बात ही न की जाए। यदि यह देवी जी न आयी होतीं तो भोजन करके वह शायद सोती।

तभी दुर्गा मूंग की दाल और थूली [दलिया] ले आयी। सासूमाँ के सामने एक चौकी लगा दी और उस पर थाली रख दी। सासूमाँ के सामने भोजन रखते दुर्गा बोली,

— मामीमाँ ! आप भी भोजन करें।—लाऊँ थाली ?

पता नहीं किस बात पर श्रीमती गंगादेवी व्यास हठात हँस पड़ीं। निश्चित ही उस हँसी में प्रसन्नता नहीं बल्कि कराह लग रही थी। परन्तु ऐसी कराह का कारण ?....कम से कम से दुर्गा की समझ में नहीं आया। हँसते हुए श्रीमती गंगादेवी का आँचल गिर पड़ा। सिर खुल आया। आज पहली बार श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल को अपने छोटे भाई पण्डित गोवर्धन व्यास की पत्नी श्रीमती गंगादेवी व्यास का व्यक्तित्व अप्रिय लगा। अनैसर्गिक हँसी में खिले पड़े दाँत, आँखों में फाड़ खाने वाला भाव, सबसे भय लगने लगा।

अभी कोई कुछ कहे तब तक श्रीमती गंगादेवी व्यास बोली,

— तो इसने तुम पर भी जादू कर दिया दीदी ?

बात इतनी अनपेक्षित थी कि श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल तथा दुर्गा दोनों ही सन्नाटे में आ गयीं। श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल का मन तो हुआ कि भले ही यह अपमानित करना हो पर इन्हें जाने के लिए कह दिया जाए, परन्तु मनुष्य चाहते हुए भी बहुत सी बातें नहीं कर पाता है।

— मेरा घर, परिवार बरबाद किया है, तो याद रख मैं भी किसी डाक्कन से कम नहीं हूँ....अभी क्या है, अभी तो यह पैर ही था....एक दिन ऐसा सर्वनाश होगा कि घर में दिये जलाने वाला भी न होगा।

और वह हठात उठ खड़ी हुई और वैसे ही खुले सिर में जोरों से हँसते हुए, पर आँखों से जैसे चीरते हुए एकदम तीर सी निकल गयीं। सास-बहू अभी कुछ समझे-बूझें इसके पूर्व ही श्रीमती गंगादेवी व्यास आँखों से ओझल हो गयी। दोनों सकते में थीं। दुर्गा अपने भीतर थरथरा उठी, शायद वह गिर ही पड़ती परन्तु श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल अपना रोना न रोक पायीं।

मनुष्य वह कोई हो, यही सोचता है कि परिवर्तन, बाधाएँ, अवरोध, पतन आदि सब दूसरों के लिए ही है। उसके लिए तो सदा अनुकूल वातावरण ही रहेगा। केवल वही अद्वितीय है। वह अपने पुरुषार्थ से सब कुछ जय करता चला जाएगा। वह और उसका पुरुषार्थ सदा यथावत रहेंगे। जब तक धरती विनम्र होकर झुकती जाती है नदी, पुरुषार्थवती बनी प्रबल वेग से चट्टानों, कगारों के बीच से अपना मार्ग बनाती बढ़ती ही जाती है; परन्तु यह एक प्राकृतिक नियम है कि इस प्रवाह, इस पुरुषार्थ का तर्क भी यह है कि साथ ही वह मिट्टी भी आयी हुई रहती है, जो क्रमशः एकत्र होती चलती है और एक दिन वह नदी अपनी समस्त सत्ता के साथ शेष हो जाती है। पुरुषार्थ के बल पर जो लौकिकता अर्जित हुई रहती है, एक सीमा के बाद उसी में से वे कुतर्क भी जन्म लेने लगते हैं जो पुरुषार्थ को नगण्य करने लगते हैं। मृत्यु कोई बाहर से आयी हुई साघातिकता नहीं होती है, वह जन्म और जीवन की अविभाज्यता ही है। परिणति, उतार, समाप्ति भी अनिवार्यताएँ हैं। परन्तु हमारी सबकी यह विशेषता है कि हम ये सारी बातें दूसरों के लिए मानते हैं। हम सब अपने को राजा परीक्षित की भाँति सुरक्षित समझते हैं।

कामदार साहब, पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय ने जो यश, सम्पत्ति, सम्पन्नता तथा सामाजिकता अर्जित की थी वह निश्चित ही स्पृहणीय थी। वह व्यक्ति नहीं बल्कि उदाहरण जैसे लगते थे। अत्यन्त साधारण ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने पर भी जिस अध्यव्यवसाय, लगन, परिश्रम और धैर्य से जो अर्जित किया था वह अनुकरणीय था, परन्तु जल कब गहरा हो गया है इसका विवेक प्रायः लोगों में नहीं होता, विशेषकर सफल व्यक्ति में तो यह विवेक रह ही नहीं जाता। पता नहीं जीवन के उत्तरकाल में मनुष्य की यह पुरुषार्थ-क्षमता, कुशाग्र-बुद्धि न जाने कहाँ विलुप्त हो जाती है। प्रायः विवेक, सहता

में परिणत हो जाता है और तब व्यक्ति हठवर्मी या दम्भी हो जाता है। साधारणतः लोग वचन से भी दम्भी हो जाते हैं परन्तु कामदार साहब वचन से तो नहीं किन्तु अन्तर्मन से अवश्य हो गये थे। जीवन भर जिस अनैतिक सम्बन्ध को वह अपरिभाषित रूप में, ढाँके-मूँदे रहे; लोगों ने भले ही उस बारे में कानाफूसी की हो परन्तु कभी किसी का साहस खुलकर कहने का नहीं हुआ, वही अब उनकी अदूरदर्शिता के कारण उनके सारे पारिवारिक परिवेश, आत्मीय सम्बन्धों, लौकिक व्यक्तित्व को भी दूषित करने लगा था। और इसका प्रयोजन क्या था ? वह जिस प्रकार के मिष्टभाषी, नीतिज्ञ, कार्यपटु व्यक्ति थे उसमें वह चाहते तो यह विषम स्थिति, पारिवारिक संकट आसानी से टाल सकते थे। अलगाव की सीमातीत कटुता को निश्चय ही बचाया जा सकता था। जब परिवार के अन्य सदस्यों ने जीवन भर इस बारे में कोई प्रतिक्रिया नहीं की तब स्वयं कामदार साहब को यह सब करने की क्या पड़ी थी ? परन्तु प्रकृति, आपको ही आपके विरुद्ध काम में लाती है।

वस्तुतः पाखियों की उडान, वनस्पति की ऊर्ध्व-यात्रा, मानवीय-प्रगति सब उस तात्विक गुरुत्वाकर्षण से निरन्तर सघर्ष करते रहने का ही नाम है जो सर्वदा, सब समय, सर्वत्र कार्यरत है। जब तक हमारे 'स्वत्व में, संकल्प में उस गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध जाने की शारीरिक, मानसिक और वैचारिक शक्ति होती है तब तक समय और काल के फलक पर हम कार्य-वृत्त बनाते चलते हैं। प्रत्येक वृत्त एक ऊँचाई की प्राप्ति के बाद अनिवार्यतः अपनी भूमि की ओर लौटने को बाध्य होता है। पतन, उत्थान की; मृत्यु, जीवन की एक मात्र सखा-छाया है। जिस प्रकार हम पतन की भूमि पर उत्थान निर्मित करते हैं उसी प्रकार मृत्यु की आधारभूत भूमि पर ही जीवन चल रहे होते हैं। मृत्यु के प्रशान्त जल की उछली लहर ही जीवन है। कैसी ही उत्तुंग, उत्ताल लहर हो अगत्या अपने आधार-जल, तात्विकता को लौटती ही है। आश्चर्य, पतन या मृत्यु नहीं बल्कि उन्नति और जीवन है। जिस विवेक के बल पर व्यक्ति सब कुछ अर्जित करता है तथा जीवन-समर में अपनी स्थिति सुदृढ़ करता है सबसे पहले वही विवेक लड़खड़ाने लगता है। यद्यपि व्यक्ति समझता है कि अब भी उसका विवेक वैसा ही सही है। सही या गलत की स्थिति या निर्णय बाह्य परिस्थितियों पर ही निर्भर करते हैं, परन्तु सफलता एक ऐसा आसव होता है कि व्यक्ति अपने को अपना ही नहीं बाह्य परिस्थितियों का भी नियामक समझने लगता है। शायद प्राकृतिक नियम है कि व्यक्ति के पतन के लिए उसकी मति भ्रष्ट हो और प्रकृति जिस उदार भाव से आपको यश सम्पन्नता, सफलता देती है उसी प्रकार निर्मम होकर आपके पराभव को भी संयोजित करती है।

पण्डित वसन्तीलाल उपाध्याय ने आग्रह करके पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को बुलवाया था। शायद पण्डित नागेश्वर उपाध्याय अपने बड़े भाई पण्डित मनोहरलाल

उपाध्याय के इस पारिवारिक संकट में नही पडना चाहते थे परन्तु भतीजे से अधिक भाभी श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय की सौम्य मूर्ति का ध्यान आते ही वह प्रायः विचलित हुए हैं। कामदार साहब ने अपने छोटे भाई से यदि सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार नहीं किया होगा तो अवमानना भी नही की होगी। एक ऐसा ठण्डा, असम्पृक्त व्यवहार जैसा कि कामदार साहब अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के साथ करते हैं, वही तो अपने अनुज के साथ भी अग्रज का था। पत्नी को कामदार साहब ने पद, सम्मान, लौकिकता सभी दे रखे थे परन्तु प्रत्येक बात का निर्णय स्वयं अपने हाथों में रखा था, इसलिए पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को अलग करते समय भाभी केवल मर्माहत ही हो सकी, उस स्थिति में परिवर्तन नही करा सकीं। इसलिए कभी उन्होंने अपने संकट के समय देवर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को कष्ट भी नहो दिया। शायद भाभो की इस मौन विवशता, शालीनता के कारण ही जब बसन्ती का पत्र आया कि, काका आप चले आइए, तो उन्हें लगा कि यह भतीजे का स्वर नहीं है बल्कि भाभी की आर्तता है। जिस प्रकार जीवन भर पति की अवहेलना उन्होंने झेली वह असहनीय ही थी। समस्त लौकिक सम्पन्नता के बीच आप निरन्तर उपेक्षा, अपमान, तिरस्कार अनुभव करें तो व्यक्तित्व में कैसी हताशा, विपन्नता आ जाती है कि आपका अपने पर से ही विश्वास उठ जाता है।

व्यक्ति जब उत्तरोत्तर इस प्रकार की हताशापूर्ण स्थितियों में डूबता जाता है तो वह वैसा ही होता है जैसे कि कोई मन्दिर निरन्तर किसी नदी के पेटे में धँसता ही चला जाए। कैसी घुटन होती होगी, परन्तु इससे निष्कृति क्या है? श्रीमती गायत्री-देवी को विवाह के प्रथम दिन ही यह प्रतीति हो गयी थी कि वह तो मात्र एक सामाजिक सम्बन्ध बनकर आयी है वास्तविक की प्रिया या पत्नी तो कमला ही है, जिसे भले ही लोग रखैल कहें।

उन्हें ठीक से याद है कि उनके बडे भाई, दादा पण्डित मृत्युंजय भट्ट अर्थात 'साहब' को यह सम्बन्ध स्वीकार नही था परन्तु पिता पण्डित माधवजी भट्ट ने सोचा कि जवानी में ऐसा होता ही है परन्तु कालान्तर में सब ठीक हो जाएगा। माना कि पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय स्वयं तो ठाकुर-जमीदार नहीं थे परन्तु उन लोगों के सम्पर्क में रहते थे, वैसा ही आचरण भी था तथा कामदार तक हो गये थे। तब इस प्रकार का विलासी जीवन कोई अस्वाभाविक भी नहीं था। विवाह के बाद सब ठीक हो जाएगा। और फिर भावी जमाई में गुण कितने थे। जिस प्रकार की सम्पन्नता इतनी कम आयु में ही अर्जित कर ली थी क्या वह गौरव की बात नही थी? स्वयं 'साहब' स्वीकार करते थे कि कामदार साहब में जो गुण हैं वे विरल ही हैं। लौकिक दृष्टि से एक कोठी, एक हवेली तथा चौक में पाँचमंजिला एक बिल्डिंग के अलावा बीसियों दूकानें भी हो गयी थी। व्यवहार के स्तर पर वे इतने मधुर व्यक्ति थे तथा इतने व्यवस्थाप्रिय कि आप केवल चकित ही हो सकते थे। कब, किसका, किस मन-सम्वत, किस माह में पत्र आया था तथा क्या उत्तर गया या वह उनकी आलमारियों में सजिल्द मौजूद होता। सारी फाइलें वर्ष, माह, दिन के हिसाब से चमड़े की जिल्दों में बँधी हुई

थीं। साथ ही सौ-दो सौ व्यक्तियों के मेहमान के रूप में ग्रा जाने पर खाने-पीने, ठहरने, ग्रोढने-बिछाने का प्रबन्ध भी सदा तैयार रहता।

कामदार साहब शहर बाहर की कोठी में परिवार के साथ रहते थे परन्तु कमला तथा दूसरे नौकर-चाकर सब किले के पास वाली हवेली में रहते थे। चौकवाली बिल्डिंग वैसे तो मेहमानों के लिए थी परन्तु एक प्रकार से कामदार साहब का वह ग्रपना कार्यालय था। कोठी से चौकवाली बिल्डिंग तक वह ठीक समय से बग्घी में जाते। मौसम के हिसाब से बन्द गले के लम्बे कोट के कपड़े में ऊनी, टसर, मक्खनजीन ग्रादि का परिवर्तन हो सकता था। परन्तु इटालियन गोल टोपी, लम्बी कलमें, तंग पांयचे की पतलून वाला लम्बे कोट का सूट बारहों मास वह पहनते थे। उनके गौरवर्ण, तथा मूर्तियों जैसी निष्पलक मुद्रा में ग्रत्यन्त राजस भाव टपकता था। दोनों हाथों को चाँदी की मूठवाली छड़ी पर टिकाये बग्घी में बैठे कामदार साहब सबके ग्रादरणीय पात्र थे। जीवन के ग्रारम्भ में भले ही उन्होंने भी राजपूती ढंग के गलमुच्छे रखे थे परन्तु बहुत जल्द वह कर्जन स्टाइल की साफ मूँछों में रहने लगे। उन दिनों मूँछों को न रखना भी बहुत बड़ी बात हुग्रा करती थी। लोग प्राय: कामदार साहब से घबराते थे। प्रायः दूकानदार लोग ग्रौर राहगीर बग्घी देखते ही सड़क पर खड़े हो जाते ग्रौर प्रणाम में झुक जाते थे। रतलाम महाराज को यह गौरव तो वर्ष में दो-चार बार ही शोभा-यात्रा के समय मिलता होगा परन्तु ग्रमेठी के इन कामदार साहब को यह प्रतिदिन उपलब्ध था।

स्त्री ग्रौर सब कुछ भूल सकती है परन्तु विवाह के तत्काल बाद जो उसे एकांत-व्यवहार पति के द्वारा मिलता है वह ग्रमिट होता है। उस समय स्त्री, जल नहीं, धरती भी नहीं बल्कि चट्टान की भाँति उस प्रभाव को सदा-सदा के लिए ग्रंगीकार कर लेती है। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय उन ग्रारम्भिक दिनों के व्यवहार को कैसे भुला सकती थी ? वह जिस सात्विक वातावरण से ग्रायी थीं, उसके बाद हठात ऐसा विलासी जीवन देखने को मिला तो ग्राद्यन्त सिहर उठीं। पति ग्रौर पत्नी का सम्बन्ध एकान्त की माधवता के साथ-साथ पवित्रता का भी होता है, यही वह जानती थी परन्तु यहाँ ग्राकर स्थिति सर्वथा भिन्न पायी।

जिस शयन-कक्ष में उन्हें ले जाया गया था वहाँ पति ग्रनेक दासियो से घिरे बैठे थे। पति ने उठकर उनका स्वागत भी किया था, परन्तु वह जिस भाव एवं ढंग से उठे उसमें उन्हें प्राकृतिकता नहीं लगी। वैसे भी कमरे में सुगन्ध के ग्रतिरिक्त कुछ ग्रौर भी गन्ध थी जिसे वह नहीं जानती थी। पति के पार्श्व में एक महिला बैठी हुई थी। वह इन ग्रौरतों का प्रयोजन नहीं समझ पायी थी। सुना ग्रवश्य था कि कामदार साहब के यहाँ ग्रनेक दास-दासियाँ हैं। ग्रब वह कुछ को देख भी रही थी परन्तु इस समय

यहाँ ये सब क्यों हैं ?
वह हतप्रभ खड़ी ही थीं कि पति ने कहा,
— गायत्री ! तुम इन्हें नहीं जानती होगी ।
पति ने पार्श्व में बैठी स्त्री के लिए 'इन्हें' का प्रयोग किया था ।
— यह कमला हैं । तुमसे बड़ी हैं । मैं चाहता हूँ तुम इनका सदा सम्मान करो ।
इस बीच कमला उठ खड़ी हुई और उसने गायत्री देवी को ले जाकर पलँग पर बैठाल दिया । गायत्री देवी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि पति की इस बात का तात्पर्य क्या है ? कौन है यह कमला ?
— अब तुम लोग जा सकती हो ।
हाथ का प्याला उन्होंने तिपाई पर रख दिया । उनकी इस बात का तात्पर्य यह था कि जो दासियाँ वहाँ थी, वे चली जाएँ और वे चली भी गयीं । कमला भी जाने को उद्यत हुई ।
— कमला ! मैं गायत्री से कुछ छुपाना नही चाहता । इन्हें जो कुछ मालूम हो वह हम से ही पता हो जाए तो ठीक है ।
कमला, जो कि गायत्री को थामे हुई थी, बोली,
— हुजूर ! हम तो आपके पाँव की जूती हैं, ये मालकिन है, अब हमें छुट्टी दें ।
— कमला ! यह ठीक है कि गायत्री हमारी पत्नी हैं परन्तु तुम भी पत्नी से कम नही हो और मैं यह बात गायत्री पर स्पष्ट कर देना चाहता हूँ ।

स्त्री वह कोई हो, हमेशा ही व्यवहार-बुद्धि से संपृक्त रहती है । कमला समझ गयी कि कामदार साहब कुछ तो भावुकता में तथा कुछ नशे की अधिकता के कारण ऐसी बातें कह रहे हैं जिन्हें कम से कम आज के दिन तो नही ही कहना चाहिए । वह बोली,
— मालकिन ! आप हुजूर की बातों पर मत जाइएगा । हम सब आपकी दासियाँ हैं ।—अच्छा, अब मैं चलूँ ।
और अभी कामदार साहब कुछ कहें, प्रतिवाद करें इसके पूर्व ही कमला कमरे से निकल गयी । शायद कामदार साहब बहुत अधिक नशे में थे इसलिए वह पलँग तक पहुँचे अवश्य पर फिर उन्हें होश नही रहा । पलँग पर लस्त पड़े पति को उस उत्सव प्रधान वातावरण में देखकर गायत्री आसन्न बनी—बैठी रही । पति ने अभी जिस प्रकार का आचरण किया था, जो कुछ कहा था वह सब स्क्रू की भाँति उनमें धँसा ही जा रहा था ।....यदि कमला थी तो फिर वह गायत्री को विवाह करके क्यों लाये ? क्या पति का अपनी दासियों के साथ यही सम्बन्ध है ?....यह शराब, रखैलों के साथ यह विलास.... इस सबका क्या अर्थ है ?....कमरे में जिस अप्रिय गन्ध को वह आरम्भ में नही पहचान पायी थीं वह शराब की ही गन्ध थी, जो पति के मुँह से भी आ रही थी....ब्राह्मण होकर शराब पीते हैं ? पर-स्त्री-गमन....हे भगवान !....और वह अन्तर में चीख उठी ।

कोई भी व्यक्ति निजी लड़ाई को भले ही एक बार महत्त्व न दे परन्तु व्यक्तित्व

की लड़ाई तो व्यक्ति के स्वत्व, संस्कार और संकल्प की लड़ाई होती है। गायत्री को जो संस्कार अपने दादा 'साहब' से प्राप्त हुए थे उन्हें पति ने प्रथम दिन ही ध्वस्त कर दिये। जिसे वह एकान्त मन्दिर समझ कर आयी थीं वह तो बाजार निकला। जिस सम्बन्ध के बारे में उनकी अवधारणा समर्पण की थी वह रमण से अधिक न था। उन्हें पहले तो दासियों की उपस्थिति तथा बाद में कमला की मौजूदगी ने इतना बेपर्दा कर दिया था कि उस सबसे घिन हो आयी। उन्हें धक्का लगता तब भी कोई बात नहीं थी परन्तु इस आघात से उसके अन्तर की पवित्रता खण्डित हुई थी, जिसकी उन्हें कभी कल्पना नहीं थी। जिस पति को प्राप्त करने आयी थी वह तो पहले ही किसी के द्वारा प्राप्त हुआ था। वह पति कहाँ था, मात्र पुरुष था। हठात पति का यह जो स्वरूप सामने आया उसे वह क्या कि किसी दिन आपा दे सकेंगी? शराब और कमला के बाद ही उसकी स्थिति है—कहने को वह पत्नी बन कर आयी हो परन्तु दासियों और कमला से भिन्न उसकी क्या कोई गरिमा है? क्या पत्नी होना इसी को कहते हैं? ग्रहणकर्ता के मन का भाव ही स्त्री के देह-दान को मर्यादा, संज्ञा देता है। देवी या वेश्या, स्त्री की अपनी संज्ञा या क्रिया नहीं है बरन पुरुष का भाव है।
वह कितनी देर तक सुबुकती बैठी रही पता नहीं, परन्तु वह प्रथम दिन आज भी वह नहीं भूल पायी हैं।

पुत्र बसन्ती लाल के जन्म के पूर्व संकेत से उन्होंने पति से कहने की चेष्टा की होगी कि घर की भी एक मर्यादा होती है और उन्हें उसका पालन करना चाहिए। परन्तु पति जिस सामन्तवादी ढंग से उनकी उपेक्षा करते थे उसमें वह तिलमिला जाती थीं। घर में कोई बड़ा था नहीं जो उनकी व्यथा को देखता और पति को कुछ कहता-सुनता। एकमात्र देवर की उनसे सहानुभूति थी पर वह कर ही क्या सकते थे? फिर पति-पत्नी के बीच के इस प्रसंग की चर्चा भला देवर से कैसे की जा सकती थी? पण्डित नागेश्वर उपाध्याय घर में देख-सुन कर या सूँघ-सौंघकर जो भी समझते रहे हों परन्तु गायत्री भाभी ने कभी उनसे कुछ नहीं कहा होगा।

पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय, कामदार साहब उद्धत नहीं निरंकुश व्यक्ति थे। उनकी धारणा थी कि पुरुष घर के बाहर क्या करता है इससे स्त्रियों को कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। गायत्री को जो पद, सामाजिकता प्राप्त है उससे उन्हें सन्तुष्ट होना चाहिए। पति का विलास, पति का पुरुषार्थ यह पति की अपनी व्यक्तिगत वस्तु है। यह क्या कम अनुग्रह है कि वह रात घर ही पर और वह भी गायत्री के साथ ही बिताते हैं? शिकायत तो कमला को होनी चाहिए। हिस्सा तो उसके अधिकार में हुआ था। कोठी में ऊपर के तल्ले में गायत्री और परिवार रहता था। नीचे का तल्ला कामदार साहब का अपना था। ऊपर के सदस्य, नौकर तक, नीचे तभी आया करते थे जब खासतौर पर बुलाये जाते थे अन्यथा सारे कामों के लिए अलग मुन्शी और कारिन्दे थे। चूँकि आये दिन सामन्त-ठाकुर जैसे ही मेहमान आते रहते इसलिए उनकी आवभगत भी यथानुकूल ही होती थी इसलिए नीचे का खान-पान भी अलग ही होता था। देर रात

तक मजलिसें, मुजरा, शराब-कबाब सभी कुछ तो होता। यद्यपि कामदार साहब मांस-सेवी नहीं थे परन्तु मेहमानों को कैसे रोक सकते थे? जब कभी महफिलें अधिक रंगीन होतीं तब आयोजन चौक वाली बिल्डिंग में होता। वैसे तो विलास के लिए हवेली ही होती पर राग-रंग, मुजरा वहीं भी हो जाता। विलास के लिए हवेली में सारा प्रबन्ध सदा तैयार रहता। ऐसे आयोजनों के दिनों में ही वह भले ही रात में घर न लौटते पर प्रायः तो कमला प्रत्येक शाम को उनकी कोठी पर ही उपस्थित हुई रहती। हाँ, ऊपर गायत्री के पास पहुँचते उन्हें कभी-कभी आधी रात भी हो जाती। अनेक बार अपने कमरे से गायत्री ने देखा भी है कि बन्द पालकी में उधर कमला लौट रही होती और इधर सीढ़ियों पर पति के शराब में धुत्त पैरों की आहट सुनायी पड़ती। प्रायः वह भल्ला उठी है,

— अगर यहीं सब करना है, तो फिर उसी बग्घी में साथ ही क्यों नहीं चले गये?

शयन-कक्ष की गोल मसहरी में, तकिये से टिके कामदार साहब उस समय कमला की वासन्ती देह, आसव डूबी चमकीली आँखें, आलाप लेती मुद्राओं तथा स्त्री-देह के आमन्त्रण भरे संकेतों में डूबे हुए होते। पत्नी की बात सुनकर वह अपने तन्जेब के कुरते तथा चूड़ीदार पाजामे के व्यक्तित्व में तलवार से मुँत उठते तथा उनका मन वैसा ही हो जाता जैसे प्रशान्त जल को किसी ने हठात् हिला दिया हो। स्त्री, वह कोई हो, उसकी यह मजाल कि वह चुनौती भरा व्यक्तित्व बन कर सामने खड़ी हो? वह वाद्य है, उसे पुरुष के क्रोड़ में समर्पित होकर ही बजना होता है। स्वत्व, वादक का होता है, वाद्य का नहीं। वाद्य अधिक से अधिक माध्यम भर है।

परन्तु कामदार साहब केवल निरंकुश ही नहीं थे। एक सीमा पर जाकर स्वयं उनका विवेक भी काम करने लगता था, शायद इसीलिए वह आज तक घर और बाहर के बीच सन्तुलन स्थापित करते रहे हैं।

— गायत्री! जो बात अपने बस में न हो उसके बारे में नहीं सोचना चाहिए।

— आप मुझे भी तो दूसरी कमला ही समझते हैं।

— गायत्री! यहाँ आओ, मेरे पास बैठो। कभी तुमसे यह नहीं हुआ कि अपने हाथ से एक प्याला भर कर देतीं।

— आप नीचे वाले अपने जलसाघर में नहीं बैठे हैं। यह घर है और घर की एक पवित्रता होती है।

— कितनी बुरी बात है कि घर, सिर्फ घर होता है।

और कामदार साहब गायत्री को बलात अपने पास बिठाल लेते।

— छोड़िए मुझे। अब यहाँ ऊपर सिर्फ मुजरा होना ही बाकी रह गया है।

— ख्याल बुरा नहीं है....गायत्री! यह तुम्हारी बहुत बुरी आदत है कि तुम बहस बहुत करती हो। मैं कितने अरमान लेकर ऊपर आता हूँ, नहीं तो नीचे मुझे किस चीज की कमी है?

— अरमान सिर्फ आपके ही हैं!

— तुम्हें किस चीज की जरूरत है ? क्या नहीं है तुम्हारे पास ?
— पत्नी का गौरव।
— क्या तुम्हें पत्नी का गौरव नहीं प्राप्त है ?
— यह गौरव पति दे सकता है, पुरुष नहीं।
— मैं तुम्हारी बात समझा नहीं।
— जिसकी देह से शराब और दूसरी स्त्रियों की देह की दुर्गन्ध आ रही हो वह पति है ?....नहीं....ऐसा जघन्य कृत्य कोई पुरुष ही कर सकता है।
— गायत्री ! जब मैं तुम्हारे मामलों में नहीं बोलता तो तुम्हें भी चाहिए कि मेरी बातों में....
— ये आपकी अपनी बातें हैं ?....आपके इस आचरण की आँच क्या मुझ पर नहीं आती ? आपके जलसाघर का नाम समाज नहीं है। हमारे-आपके मुँह पर यदि समाज कुछ कहता नहीं है तो इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि वह कुछ देखता नहीं है। परिवार है, कुल-कुटुम्ब है सब की मर्यादाएँ हैं।
— बन्द करो अपना यह उपदेश, मैं यहाँ सत्यनारायण की कथा सुनने नहीं आया हूँ।
— हाँ, आपको तो लैला-मजनूँ का किस्सा सुनना अच्छा लगता है।
— तुम चाहो तो मैं तुम्हारे पास बिलकुल भी न आऊँ पर बाद में फिर रोना नहीं।
— आप मुझे छोड़ सकते हैं पर यह शराब, यह विलासिता नहीं, है न ?

प्राय. पति-पत्नी के बीच के इस तनाव का अन्त कामदार साहब के झुकने के साथ ही होता। यद्यपि यह झुकना तात्कालिक ही होता और ऐसा नहीं कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय इसे नहीं जानती थी। प्रत्येक स्त्री जानती है कि पति की डाली को किस सीमा तक झुकाया जा सकता है जबकि पुरुष नहीं जानता कि स्त्री को कब कहाँ और कितना झुकाना चाहिए। कामदार साहब के झुकने में वैसे तो अनेक कारण हो सकते थे पर प्रमुखतया दो ही कारण दिखते थे। एक तो यह कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय अप्रतिम सुन्दर कही जा सकती थीं। कामदार साहब के समस्त राजस वातावरण को वहन करती लगती थीं। कमला के व्यक्तित्व में आसव था परन्तु गायत्री पूर्ण सम्मोहन करती थी। उनका कुन्दन वर्ण किसी भी भूषा में सुलग उठता था। उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में देह की इस लयात्मकता से भी अधिक कमनीय उनका व्यवहार था। अपने बड़े भाई 'साहब' की सम्पूर्ण गरिमा, सौम्यता उनमें आयी थी। इसीलिए कामदार साहब अन्तर में जितना भी बिगड़ते रहे हों परन्तु कभी सीमा के बाहर जाकर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय का अपमान, तिरस्कार या उपेक्षा नहीं कर सके होंगे। हालांकि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने ही किसी भी प्रकार की उनसे अपेक्षा भी नहीं की होगी। जब वह समझ गयी कि कमला का पति के लिए बहुत-कुछ अर्थ है तब उन्होंने पति के चारों ओर रेखा खींचने के स्थान पर स्वयं पर ही अनुशासन लगाया। कहीं पति की इस रसिकता, सौन्दर्यप्रियता को भी वह भली-भाँति जानती थी कि कमला का जो भी अर्थ

हो परन्तु गायत्री किसी से कमी नहीं है । परन्तु वह यह भी जानती थीं कि उनमें गुलाब की विलासिता नही बल्कि कमल की सात्विकता है । वह आकृष्ट कर सकती थीं, आबद्ध नही । वह अभिषिक्त कर सकती थीं, उन्मत्त नही । परन्तु किसी भी स्थिति में वह भी पुरुष की अनिवार्यता ही थीं । फिर भी किसी दिन अपनी इस इयत्ता पर गर्व नही किया । यह गर्व न करना ही कामदार साहब को निरस्त्र करता था । किसी भी दिन पलट कर उन्होंने यह प्रश्न पति से नही किया होगा कि कल आप क्यों नही आये ? या कहाँ रहे ? उत्तरोत्तर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने निःसंग होकर पति को उनके स्तर पर सोचने दिया होगा ।

दूसरा कारण था कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय 'साहब' जैसे व्यक्ति की बहन थीं । 'साहब' के प्रति स्वयं कामदार साहब के मन में लौकिक कारणों से तो आदर रहा ही होगा परन्तु सच्चे मन से वह 'साहब' के शील, व्यक्तित्व के प्रति प्रशंसा-भाव था । शायद आरम्भ में ही श्रीमती गायत्री देवी का व्यक्तित्व उन्हें अपने से उच्च लगा होगा जिसे वह अपने में से काट फेंकना चाहते रहे होंगे । स्त्री का जो दैहिक स्वरूप सामने था उसमें वह गायत्री को भी समाविष्ट कर देना चाहते थे । परन्तु श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने आरम्भ में भले ही विरोध का यह आचरण केलिगृह तक सीमित रखा हो परन्तु विरोध की भाषा को गरिमापूर्ण असंगता में बदल दिया । और जब एक पुत्र का जन्म हो गया तब तो वह सर्वथा असंग हो गयीं ।

पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय की त्रासदी ही यह थी कि वह पूर्णरूप से सामन्तों-ठाकुरों जैसे निरंकुश, संस्कारहीन विलासी नहीं थे, कहीं उनमें उदात्त ब्राह्मणत्व के संस्कार भी थे इसलिए वह शराब के नशे में या विलास के क्षणों में चाहे जैसा व्यवहार कर जाते हों परन्तु उसके बाद उनमें पुनः विवेक जाग्रत हो जाता । रात यदि कमला होती तो प्रातःकाल गायत्री होता । वैसे वह कमला को ही कितना समझ पाये थे ? माना कि वह रखैल थी परन्तु क्या वह सच ही थी ? यदि वह अन्य बाँदियों, दासियों की भाँति साधारण स्त्री होती तो क्या वह पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय को इस सीमा तक आकृष्ट कर सकती थी ? और वह भी उन दिनों जबकि उनका जीवन प्रारम्भ ही हुआ था । उन दिनों वह अमेठी के कामदार हुए ही थे । मुश्किल से बीस-बाईस की आयु रही होगी । भगवान ने जैसी देह-यष्टि, स्वरूप और व्यक्तित्व प्रदान किया था वह उन्हें राज-कुमारत्व जैसा भ्रम देता था ।

अमेठी, रतलाम-राज्य के अन्तर्गत एक संस्थान था । मध्य-भारत के राज्यों में ऐसे पचीसों छोटे-मोटे सस्थान थे । धार-राज्य के अन्तर्गत काछी-बड़ौदा नामक एक संस्थान था । संस्थान राज्यों से छोटे तथा जमींदारियों से बड़े होते थे । उन्हें [illegible] संबंधित राज्यों से मिली होती थी । काछी-बड़ौदा के ठाकुर साहब [illegible] में पढ़े थे । उन्हें नाटकों का शौक था । [illegible] यहाँ वह आयोजन करते और उसमें [illegible] को आमन्त्रित किया करते थे । [illegible]

बिजली का भी प्रबन्ध था। एक वर्ष काछी-बड़ौद में नाटकों का यह अनुष्ठान बड़े विशद पैमाने पर हुआ था। उस आयोजन में धार, देवास, रतलाम आदि के महाराजा तक आये थे। एक सप्ताह तक यह अनुष्ठान सम्पन्न हुआ था। काछी-बड़ौद के ठाकुर साहब स्वयं नाटक लिखते तथा निर्देशन भी करते थे। उस वर्ष 'महाभारत' की नाट्य प्रस्तुतियाँ प्रस्तुत की गयी थीं। अमेठी के ठाकुर साहब के साथ पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय भी गये थे। एक बड़े से मैदान में सैकड़ों तम्बू, छोलदारियों, शिविरों का नगर ही बसाया गया था। वे सब आमन्त्रित राजा लोग तथा अनामंत्रित प्रजा गण ठाकुर साहब के मेहमान थे। एक दिन उस प्रदर्शन को देखने के लिए इन्दौर से अंग्रेज पोलीटिकल एजेन्ट भी आया था। इस बार सैट तैयार करने के लिए बम्बई-कलकत्ते से भी कलाकारों को बुलवाया गया था। सारे दर्शक चकित थे। सब भव्य तो लगता ही था परन्तु यथार्थ भी। जयद्रथ का सिर कैसे कट कर हवा में उड़ता हुआ उसके पिता की गोद में गिरा था। ऐसे पचासो दृश्य थे जिसमें अग्निवाणों को प्रभाव के साथ प्रस्तुत किया था। शायद ऐसा ही एक दृश्य द्रौपदी के चीरहरण का भी था। द्रौपदी का अभिनय इसी कमला ने ही किया था। फिर चाहे वह चीर-हरण का दृश्य रहा हो या वनवास का या कीचक-वध का रहा हो। पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय ने अपने भीतर एक ऐसी आकुलता, प्यास अनुभव की कि उन्हें लगा कि वह कमला के बिना जीवित नहीं रह सकते। माना कि वह उस समय तक अविवाहित थे, भावुक थे। उनमें ऐसी प्रतिक्रिया सहज थी। एक-एक दिन बीतने के साथ उन्हें लगने लगता कि इस आयोजन के बाद उनका क्या होगा? रोज रात को नाटक में कमला को देखते और संकल्प करते कि वह कमला से मिलेंगे पर यह नहीं तय कर पाते थे कि मिलने पर क्या कहेंगे। इसी संकल्प-विकल्प में दिन पर दिन बीतते चले गये। मुश्किल से दो-तीन दिन का अनुष्ठान और रह गया था। आखिरकार उन्होंने निर्णय ले ही लिया कि वह सवेरे कमला से मिलेंगे।

जिस समय वह दूसरे दिन सवेरे कमला के डेरे पर पहुँचे, सवेरे की शारदीया धूप प्रशस्त वनों फैली थी। डेरा क्या था घास की झोपड़ियाँ थीं। उन झोपड़ियों में कौन सी कमला की थी कहना कठिन था। उनके जैसा सुदर्शन व्यक्ति उस बस्ती में आया देखकर डेरे वालों को आश्चर्य ही हुआ था। जब दो-एक से उन्होंने पूछा, तो उनके संकोच को देखकर लोगों को और अधिक आश्चर्य हुआ कि ऐसे सम्भ्रान्त व्यक्ति को भला कमला से क्या काम होना चाहिए? क्योंकि काछी-बड़ौद के सभी हाकिमों-कारिन्दों को तो वे लोग जानते थे, भला यह कौन है? फिर पूछने के ढंग से यह नहीं पता चल रहा था कि सरकारी काम है।

कमला के डेरे के सामने उसके दो भाई दतौन करते खड़े थे। जब लोगों ने इस आगन्तुक को अपनी झोपड़ी की ओर संकेत करते देखा तो वे दोनों चौंके कि क्या बात है। कौन व्यक्ति है?

— क्या कमला यहीं रहती है?

उनमें से एक भाई ने जवाब दिया,
— हुकम करो साब जी !
— उसी से मिलना है ।
दोनो ने ग्रागन्तुक को एक बार तो ऊपर से नीचे तक देखा फिर उसकी संभ्रान्तता के कारण उनमें से एक भीतर चला गया । थोड़ी ही देर में राजस्थानी भूषा में आकर्षक व्यक्तित्व की कमला बाहर आयी और बोली,
— भीतर आइए न ?
कमला इस आगन्तुक को भीतर ले जाएगी यह अपेक्षा दोनों भाइयों को तो नहीं ही होगी परन्तु आगन्तुक को भी नहीं रही होगी । हठात इस प्रकार कमला भीतर ले जाएगी यह पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय ने नहीं सोचा था । वह समझे थे कि मात्र उसके अभिनय की प्रशंसा कर देंगे और लौट आएँगे । उसके बाद के बारे में फिर सोचा जाएगा, परन्तु परिस्थिति सर्वथा अकल्पनीय निकली । झोपड़ी में पुमाल पर साफ-सा एक बिस्तरा बिछा था, जिस पर कमला ने ले जाकर बैठाल दिया और खुद सामने खड़ी हो गयी । दोनों भाई अभी भी बाहर ही थे । सहसा उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह बात कैसे शुरू करें ? और कौन सी बात ?—और क्या सच ही कोई बात थी ? एक अपरिचित व्यक्ति, वह भी महिला तथा नीचे के वर्ग की, उससे भला क्या बात हो सकती थी ? उन्हें एकदम चुप देख कर वह किंचित हँसते हुए बोली,
— हुजूर ने कैसे किरपा की ?
— तुम्हारे अभिनय की प्रशसा करने चला आया था ।
— हुजूर को कभी पहले देखा नहीं ।
— अमेठी ठिकाने का मैं कामदार हूँ....अच्छा अब चला जाए ।
कमला ने इस बीच आगन्तुक को आद्यन्त बाँच लिया था । ऐसा सम्भ्रान्त और सुदर्शन व्यक्ति कभी निष्प्रयोजन नहीं आ सकता है । तब क्या प्रयोजन हो सकता है ?....और कमला अपने अन्तर में स्वयं ही अपने इस बनावटी भोलेपन पर हँस पडी । स्त्री, पुरुष के लिए भले ही जीवन भर एक बन्द तहखाना रहे परन्तु पुरुष, स्त्री के लिए प्रथम क्षण से ही खुली किताब होता है, और स्त्री को पुरुष की कैसी ही वर्णमाला में लिखी गयी किताब पढने में किंचित भी असुविधा अनुभव नहीं होती, यदि स्त्री है, तो लीला अवश्यम्भावी प्रक्रिया है । भला कमला से इस आगन्तुक को पहचानने में भूल हो सकती थी ? एक सम्भ्रान्त तथा सुदर्शन व्यक्ति क्या केवल अभिनय की प्रशंसा करने इधर आएगा ? मात्र इतना ही तो प्रयोजन हो नहीं सकता । जिस-जिसने भी प्रशंसा की वह मंच पर ही बाद में आ गया था, और कोई खास व्यक्ति आया भी नहीं था । भला उसकी जैसे हैसियत वाली के पास बड़े लोग क्यों आते ? फिर क्या वह नहीं जानती कि किस पुरुष की आँखें, हाथ होती हैं ? ऐसी आँखें आपको देखती नहीं हैं, आपको उनका प्रिय-अप्रिय स्पर्श-बोध तक होता है । स्त्री इस अर्थ में सबसे अधिक सतर्क वाद्य होती है । अभी आपके मन में आया ही होगा कि स्त्री का हाथ अपने खुले अंग को ढँकने पर आ

गया होगा। तब भला वह नहीं समझेगी जब व्यक्ति सामने आकर बैठा हुआ हो। भले ही इस बैठे व्यक्ति की दृष्टि में पंखुरियों की सी माधुरी, विनम्रता, सुगन्ध सब हो पर प्रयोजन मात्र प्रशंसा करना ही तो नहीं है।

— यह मेरा सौभाग्य कि आप जैसे कामदार साहब पधारे। क्या सेवा करूँ हजूर की ?
— कमला !
— जी।
— कुछ नहीं, तो अब चलें।
— हम गरीब लोग आपको रोकें भी कैसे ?
— जाने के पहले एकाध बार मिलना चाहता हूँ।
— बुला भेजें, बाँदी हाजिर हो जाएगी, हजूर क्यों तकलीफ करेंगे।

और पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय चले तो आये परन्तु वह वैसे ही आये जैसे आदमी जल में से चल कर आता है। बहुत-सा जल पाँवों में लिपटा चला आता है। कमला अब वैसा ही लिपटा जल हो गयी थी। जिस क्षण वह कमला से बातें कर रहे थे उस क्षण वह वहाँ से तत्काल चल देना चाहते थे। सामने उपस्थित कमला से अधिक वह कल्पना में मौजूद कमला से बातें करने को व्यग्र थे। सामने उपस्थित कमला अभी अपरिचित थी जबकि कल्पना में मौजूद कमला को पिछली अनेक रातों में अनेक रूपों में देख-सुन चुके थे। वह कमला नामक कोई अपरिचिता न रह कर प्रिया बन चुकी थी। सामने खड़ी कमला की ओर देखना भी कहाँ हुआ ? लगा कि एक नारी देह खड़ी है जिसमें से झरने के जल की भाँति आवाज झरते हुए उन तक आ रही है। कमला को देख पाने में ही तो उन्हें सबसे बड़ी असुविधा लग रही थी। पर जितना भी और जो कुछ कमला का स्वत्व वह उस प्रथम भेंट में अपने साथ लाये उसने उन्हें परितृप्त नहीं बल्कि और अधिक विकल ही बनाया।

आने को तो चले आये परन्तु अब तो साक्षात की कमला भी उनके मन में कभी सुगन्ध, कभी तितली बनकर उड़ती तो कभी राग सी बजने लगती। वह स्वयं नहीं स्पष्ट थे कि वह कमला से चाहते क्या हैं ? मान लो कमला के मन में भी उनके प्रति वैसी ही तीव्रता हो तब ? वह जिस वर्ग, पेशे की है उसमें कमला को क्या समस्या हो सकती है ! कुछ नहीं, समस्या तो उनकी अपनी है। मान लो कमला उनके साथ रहना स्वीकार भी ले तो उसका क्या स्वरूप होगा ? विवाह वह उससे कर नहीं सकते, और यदि कमला विवाह ही करना चाहे तो ?

पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय ने अपने ठाकुर साहब से झूठ ही कहा कि परिवार में दो-चार दिनों का काम है, अतः वह अमेठी बाद में आएँगे वस्तुतः वह रतलाम में रुक कर कमला की प्रतीक्षा करते रहे। वह आयी भी और उन्होंने उससे एक दिन

पूछ ही लिया,
— कमला ! तुम क्या सोचती हो ?
— किस बारे में हजूर ?
— यह इस तरह कैसे चलेगा ? और कितने दिन ?
— यह तो आपको सोचना है, मैं आपकी बाँदी हूँ ।
— क्या मैं तुम्हें अपनी बाँदी मानता हूँ ?
— *हम लोग सिर्फ बाँदी हो सकती हैं ।*
— मैं तुम्हें अपनी बना कर रखना चाहता हूँ ।
— यह मैं पहले दिन ही समझ गयी थी ।
— कैसे ?
— पुरुष की हर बात उसके मुख पर लिखी होती है ।
— इस समय मेरे मुख पर क्या लिखा है ?
— विवाह ।
— अरे वाह ! तुमने तो मेरी कहने की समस्या ही हल कर दी !—तब बताओ, क्या हो ?
— विवाह नहीं होगा और क्या ।
— क्यों ?
— आप ब्राह्मण, बड़े लोग, और हम लोग नीच ठहरे ।
— पर मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता कमला !
— तो आप क्या सोचते हैं कि मैं रहना चाहती हूँ ?
— तो ?
— तो क्या !! रईसों—ठाकुरों की तो रखैलें होती हैं ।
— तुम रखैल बनना पसन्द करोगी ?
— किसी अनचाहे की पत्नी बनने से तो अपने प्रिय की रखैल बनना कहीं अच्छा है ।
— तुम्हारे भाई लोग मान जाएँगे ?
— क्यों ? हम लोगों में तो यह प्रथा ही है । फिर उन्हें पैसा मिलता रहेगा तो उनसे मतलब ?
— कभी विवाह कर लेने पर तुम्हें दुख नहीं होगा ?
— आदमियों को औरतों के मन की बहुत चिन्ता नहीं करनी चाहिए हजूर !
— कमला ! मैं कभी विवाह नहीं करूँगा ।
— आदमी को कभी ऐसी बात नहीं करनी चाहिए सरकार ! जो पूरी न हो सके ।
— क्या मैं झूठ कह रहा हूँ ।
— पत्नी कर्तव्य होती है और रखैल शौक होती है !....आप चिन्ता न करें....जब तक आप मुझे निकाल नहीं देंगे तब तक मैं आपकी रहूँगी !....जब स्त्री आदमी को बाँधना चाहती है तब वह उसे खो बैठती है ।

— बहुत ज्ञान है तुम्हारे पास ।
— ज्ञान होता तो स्त्री न होती ।

कमला उनके लिए एक नाम नहीं, एक सम्बन्ध नहीं बल्कि अपने सम्पूर्ण स्वत्व का पर्याय जैसा ही लगती है । जीवन के सारे उतार-चढ़ाव में वह बराबर पर्श्व में बनी रही । पुरुष नहीं जानता कि उसके मनुष्य बने रहने में ज्ञात-अज्ञात रूप से स्त्री का कितना बड़ा हाथ होता है । स्त्री स्वतः अभिव्यक्त नहीं हो सकती, उसे माध्यम चाहिए, और ऐसा माध्यम पुरुष ही हो सकता है । इसीलिए पुरुष का देवत्व या दानवत्व प्रकारान्तर से स्त्री का ही देवत्व या दानवत्व होता है । स्त्री की रचना की भाषा, पुरुष है । भाषा की अपनी कोई गरिमा नहीं होती जब तक कि रचना की अपनी कोई गरिमा नहीं होती । परन्तु स्त्री की यह सबसे बड़ी कमजोरी होती है कि कालान्तर में वह अपने उस माध्यम के ही आधीन हो जाती है । हां, चतुर स्त्री कभी अपनी इस नैसर्गिक विवशता को पुरुष को समझने नहीं देती, वह एक भ्रम बनाये रखती है । कमला का वह शक्ति-रूप पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय के सन्दर्भ में जो भी रहा हो परन्तु वह अपने भाइयों के निकट तो निरी स्त्री थी, जिसके द्वारा उन्हें पैसा मिल रहा था । कामदार साहब के विवाह, पुत्र के जन्म और बढ़ती सामाजिकता के प्रति कमला भले ही उपेक्षा भाव रखती रही हो परन्तु वे दोनों भाई तो निरी धरती पर खड़े थे । दोनों समझ रहे थे कि यदि कमला, अब कामदार साहब से अपना हिस्सा नहीं करवा लेती तो कल पता नहीं क्या हो । वे दोनों भावी संकट को हवा में सूंघ रहे थे ।

— कमला तूने कामदार साहब से कहा ?
— किस बारे में गंगा दादा ?

गंगासिंह कमला का बड़ा भाई था और हीरासिंह उससे छोटा था ।

— पता नहीं इतनी मोटी बात भी तेरी समझ में क्यों नहीं आती ?
— हिस्से-बांट के बारे में ?
— और नहीं तो क्या ?
— दादा ! रखैलों का भी कोई हिस्सा होता है ?
— नहीं होता तभी तो कहता हूँ कि करवा ले, नहीं तो दो दिन बाद रोना पड़ेगा ।
— मेरे लिए तो हजूर बने रहें यही बहुत है ।
— परन्तु हमारा क्या होगा ?

छोटे भाई हीरा की बात सुनकर वह ठिठकी; बोली,

— बहन की कमाई कब तक खाओगे ?

अभी हीरा कुछ कहता इसके पूर्व ही गंगासिंह तमक कर बोला,

— आज यह कामदार तेरा बड़ा हुजूर हो गया और भाई लोग कुछ नहीं ? तुझे हमने

पाल-पोसकर इसलिए बड़ा किया कि हमें ही आँखें दिखाये ?
— इसमें आँखें दिखाने की क्या बात है ? क्या यह सच नहीं है ?
— क्या ?
— कामदार साहब मेरे पति हैं। उनकी कमाई इस घर में आती है और तुम लोग यहाँ रहते हो तो फिर यह बहन की कमाई खाना नहीं तो और क्या हुआ ?
— अगर हम न हों तो कामदार-मालकिन एक दिन में न बाहर कर दें तुझे तो कहना।
— खैर, तुम लोग अपनी चिन्ता करो।
— तुम यह कहना चाहती हो कि अब हमारा-तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं ?
— भाई-बहन का सम्बन्ध है, पैसे-धेले का नहीं।
— सारी जिन्दगी तो तेरी देख-भाल में गुजारी और अब कहती है कि हम चले जाएँ। ....कमला ! कान खोलकर सुन ले। कामदार साहब से तुझे मीठा होगा हमें नहीं। तू अपना हिस्सा उनसे माँगेगी और वह तू हमें देगी। उसके बाद तू चाहेगी तो हम कहीं भी चले जाएँगे।
— यह मैं कभी नहीं कर सकती।
— करेगी, और तू ही करेगी। हो सकता है सीधे से न करे....मगर याद रख कमला ! फिर रोना नहीं।
— क्या मतलब ?
— मतलब भी समझ जाओगी एक दिन।

कमला की बातें सुनकर पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय सन्नाटे में भले ही न आये हों परन्तु उनके जबड़े कस उठे ! कमला के भाइयों की धमकी के पीछे उन्हें कुछ बल दिखलायी दे रहा था कि ये दोनों उनके लिए राजकीय तथा सामाजिक कठिनाई उपस्थित कर सकते थे। इस विषमता से बचने के लिए अच्छा है कि वह कमला के नाम थोड़ी जमीन-जायदाद कर दें। परन्तु मनुष्य नहीं जानता कि वस्तुस्थितियाँ इतनी आसान नहीं होतीं जितनी कि वह उनके बारे में सोचता है। सोचना, होना नहीं होता।
— आप शायद नाराज हो गये।
कमला की बात सुनकर जिस सन्नाटे में पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय बैठे हुए थे उसमें उन्हें यह भी प्रतीति नहीं रह गयी थी कि वह कमला उनके सामने बैठी हुई है जो कि उनके जीवन का आसव रही है। आसव, जिसका कि स्वाद, घूँट-घूँट लेने में ही होता है। परन्तु किसी दिन यदि उस आसव की मात्रा को एक साथ ही उतारना पड़े तो अन्तर तक कैसी जलती रेखा सी खिच उठती है। जब वह आसव, मादक न रहकर एक जलन बन जाता है, और जलन वह किसी भी चीज की हो कभी सुखद नहीं करती। कामदार साहब के आसव डूबे नेत्रों के सम्मुख रोज की ही भाँति ...

सम्पदा और अलंकार में अलभ्य लगती कमला उनके पार्श्व में थी। रोज तो वह दृष्टियों को हाथ और हाथों को सम्पूर्ण स्वत्व बना, उसे वैसे ही भोगते थे जैसे शीशी में बन्द कोई अनमोल इत्र हो, जिसकी सुगन्ध अपने मन और वस्त्र पर धारण कर लेना चाहते हों। शीशी में बन्द इत्र भी हमारी कल्पना के कारण सुगन्ध देने लगता है। कमला उनके मादक यौवन की अतृप्ति थी। जितना ही उसे इन्द्रियों से भोगते थे उतने ही वह प्यास के मरुथल में अतृप्त होते थे, पर आज वह मरुथल पैरों के नीचे जलता लग रहा था। आसव को उतारा नहीं जाता बल्कि घूंट-घूंट करके पिया जाता है। आज का आसव-पान उन्हें फूंके दे रहा था। वह उसी फुंके, किन्तु फिर भी डूबे भाव से कमला को, कमला की वासक-देह को ऊपर से नीचे तक देखने लगे। स्त्री-देह सपाट नहीं होती। वह पर्वत जैसी ही होती है इसीलिए स्त्री को एक संज्ञा 'पार्वती' भी है। स्त्री देह को इस प्रकार देखना, एक प्रकार से पर्वत-यात्रा ही है। प्रत्येक बार ऐसी पर्वत-यात्रा पर उभार और हर घाटी के बाद एक नया ही आस्वाद, दृश्य आमन्त्रण देता है। भोग और कुछ नहीं, यही है। हर भोग, तृप्ति नहीं, प्यास ही बढ़ाता है। भोग या इस अनुभव में स्त्री और पुरुष न तो समान पक्ष होते हैं और न ही दोनों का आशय ही एक होता है। भोगता तो केवल पुरुष है, इसीलिए स्वाहा भी वही होता है। पुरुष चूंकि समिधा है इसलिए भोग के उपरान्त बुझ जाता है जबकि स्त्री उसके बाद जाग्रत होती है। भोग के उपरान्त पुरुष के पास कोई प्रमाण नहीं होता जबकि स्त्री के पास केवल प्रमाण ही प्रमाण होते हैं। पुरुष के लिए चूंकि भोग, मात्र एक क्रिया है इसलिए बाद में उसे उपरति भी होती है; परन्तु स्त्री के लिए भोग न संज्ञा है, न क्रिया। स्वत्व की—एक अभिन्नता है, जिसे न तो वह उतार फेंक सकती है और न जिससे उसे उपरति ही हो सकती है। स्त्री के लिए भोग के जिस क्षण में पुरुष, देह होता है उस क्षण वह कठोर शिला होता है। वह शिला जिस पर वह अपना आलेख छोड़ जाना चाहती है जबकि उस क्षण पुरुष के लिए स्त्री जलाशय होती है जिसमें वह केवल डूब जाना चाहता है। जलाशय के जल को ठेलती हुई शिला का उत्तरोत्तर डूबते जाना। भला इन दो भिन्न प्रक्रियाओं में समानता कैसे सम्भव है? कमला का प्रश्न एक तृतीय व्यक्ति की उपस्थिति सा लग रहा था, अतः उसका तत्काल निवारण करते हुए बोले,

— नाराज ? नहीं, तुमसे नहीं कमला ! परन्तु तुम्हारे भाइयों से अवश्य हूं।....पर कितना हूं अभी यह कह सकना मेरे लिए कठिन है।

— हजूर ! मुझे आपके अलावा कुछ नहीं चाहिए।

— क्या मैं जानता नहीं हूं ?....पर देखो न, हर एकान्त के दरवाजे पर संसार और व्यवहार सांकल बजाने पहुंच जाता है।

— मैं आपकी बात समझी नहीं।

— कमला ! मैं तुम्हारे भाइयों की चाल समझ रहा हूं। पहले वह मुझे और बाद में तुम्हें ठगना चाहते हैं।

— नहीं, मेरे भाई लोग कभी ऐसा नहीं कर सकते।

— कमला ! दुनिया में किसी के भी बारे में अन्तिम रूप से मानकर चलने में धोखा खाओगी । वे दोनों तुमसे तुम्हारी सम्पत्ति चाहते हैं ।
— लेकिन मेरे पास क्या है ?
— वही माँगने को तो कहा है तुम्हें ।
— परन्तु क्या मैंने आपसे कुछ माँगा ?
— माँगा नहीं, परन्तु कुछ सम्बन्धों में माँगने का यह भी एक प्रकार होता है !

कमला की समझ में कुछ आया भी और बहुत-कुछ नहीं भी । यह ठीक है कि उसने स्वयं कुछ नहीं माँगा, केवल उसने भाइयों की इच्छा के बारे में कामदार साहब को बता दिया था । परन्तु कुछ तो यह भय कमला को भी था कि कल यदि कुछ हो-हुआ जाए तो वह किस आधार पर खड़ी रह सकेगी ? व्यक्ति नहीं जानता कि जो कुछ नैसर्गिक रूप से प्राप्त हो रहा है उस क्रम में जब वह अपनी अतिरिक्त इच्छा भी जोड देना चाहता है तब सन्तुलन गड़बड़ा जाता है । कमला का प्रकारान्तर से इच्छा करना ही पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय को खल गया ।

वह बोले,

— देखो कमला ! मैं भी तुम्हारे नाम कुछ जमीन-जायदाद कर देना चाहता हूँ ताकि तुम दुर्दैव में किसी दूसरे पर निर्भर न रहो ।
— यह आप क्या अशकुन बोल रहे हैं ।
— सत्य कभी अशकुन नहीं होता ; हाँ, अप्रिय हो सकता है । पर इससे कोई अन्तर नहीं पडता ।....पर चूँकि तुम्हारे कोई सन्तान नहीं है इसलिए तुम्हारे बाद वह सम्पत्ति वापस इसी खानदान में लौट आएगी । तुम्हारे भाई लोग जो चाहते हैं वह नहीं होगा । तुम उस सम्पत्ति से होने वाली आय की आजीवन मालिक रहोगी परन्तु जायदाद की मिल्कियत तुम्हारी नहीं होगी । तुम्हें मंजूर है यह ?
— हजूर ! जमीन-जायदाद वाली बात मेरी नहीं गंगा दादा और हीरा की थी ।
— एक बात और कमला ! कि तुम अपने इन भाइयों से कहो कि वे अलग रहें ।
— मैं समझी नहीं सरकार !
— मर्द होकर औरत की कमाई खाते हैं ? शर्म नहीं आती उन्हें ? मेरा तुमसे सम्बन्ध है, उन लोगों से नहीं । जल्दी ही कोठी खाली कर दें ।

स्त्री के पार्श्व में पहुँचकर पुरुष सबसे निरीह होता है । पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय कोई अपवाद नहीं थे परन्तु आज जो मुद्रा उनकी थी वह निरीह की न होकर निर्णयकारी की थी । कमला जिस वर्ग की स्त्री थी, वह वर्ग जानता है कि किस चीज को सेकने के लिए कितनी आँच चाहिए । लाख देह-सम्पदा हो । आज उसके हुजूर भले ही एकान्त में उसके तलुए सहलाएँ पर उसका उन पर कोई अधिकार नहीं हैं, केवल रुचि है । किसी भी दिन यह रुचि, अरुचि में बदल सकती है इसलिए इस वर्ग की स्त्रियाँ भविष्य को भी ज्यादा से ज्यादा वर्तमान बनाकर जीती हैं । प्रायः जमीदार वर्ग इसी में नष्ट हुआ है । कैसा ही पुरुषार्थ एक स्त्री के बोझ से भी चरमराने लगता है और जब एक से अधिक

स्त्रियाँ व्यक्ति के जीवन में हों तो दुर्गत तो अवश्यम्भावी है। यह भी स्त्री की ही विशेषता होती है कि कैसे ही भावना के क्षणों में भी अपनी वास्तविकता के प्रति सचेष्ट बनी रहती है। प्रत्येक क्षण उसे असुरक्षा अनुभव होती रहती है। पुरुष प्रधान समाज में आज तक कोई स्त्री निःशंक नहीं मिली होगी, इसीलिए सामान्यतः वह सम्बन्ध को पदार्थ में परिणत करती मिल जाएगी। कमला भले ही मन में अपने भाइयों वाली बात चाहती रही हो परन्तु कहीं वह अपने 'हुजूर' से भावना के स्तर पर भी जुड़ी हुई थी इसलिए जब पार्श्व में लेटे 'सरकार' अन्य दिनों की भाँति उसे आसक्त न लगकर व्यावहारिक लगे तो उसे अपनी देह छुपानी पड़ रही थी। वस्त्र जो ऐसे समय बाधक होते हैं, अपने हाथों से वह उन्हें थामे हुए थी। समर्पण में निर्वस्त्रता एक मूल्य होती है। पुरुष की आँख में भी स्त्री को यदि केवल देह की इच्छा दिखलायी देगी तो स्त्री कभी हाथ भी नहीं छूने देगी। तब भला निर्वस्त्र देह !!

सच ही, आज आस्वाद नहीं जलन अनुभव हो रही थी। दोनों अपनी-अपनी तरह से वितृष्ण थे। कमला के साथ पर्यंक पर यह लेटना, उसकी यह वासक देह, ये कुचले हुए बेला के फूल, ये रेशमी अस्त-व्यस्त वसन तथा यह मोहक श्रृङ्गार सभी कुछ तो पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय को पहली बार सौदेबाजी लग रहा था। कमला भी स्त्री ही थी। स्त्री आँखें मूँदे रहने पर भी पुरुष के अन्तर में चल रहे उसके सारे भावों को मात्र स्पर्श से बूझ ले जाती है। पुरुष की आसक्ति और वितृष्णा की प्रतीति के लिए पुरुष की मात्र उपस्थिति ही बहुत है। पुरुष नहीं जानता कि उसकी अँगुलियाँ उसके अन्तर में चल रहे सारे उद्वेगों को स्त्री तक पहुँचा रही हैं। जिस ढंग से 'हुजूर' का हाथ उसकी देह पर था उससे लगा कि यह समाप्ति है, और वह उठी।

कमला के उठने, अपने को व्यवस्थित करने तथा एक क्षण उनकी ओर पारदर्शी भाव से देखने को पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय बहुत ही अनमने भाव से देखते रहे। रोज ऐसा ही तो होता है परन्तु रोज उनका मन कमला के वस्त्रों की भाँति कमला की देह से परिवृत होता है। उसका जाना एक घटना सा घटित होता है। उसके सीढ़ियों के उतरने के साथ उनका मन भी कैसे उसकी देह से अभिन्न पाशित होकर उतरता जाता है जबकि वह स्वयं ऊपर ही खड़े हुए होते हैं। कमला उनके लिए कैसी वैशाख मास की पिपासा सी होती है। व्यक्ति ओख से ही नहीं आँखों से, स्पर्श से, कल्पना तक से शीतल जल पीता होता है पर प्यास होती है कि बुझती ही नहीं। पर आज वही शीतल जल कुछ ऊष्ण लग रहा था। पिया जरूर पर परितृप्त होने के लिए नहीं, पीने के सामान्य भाव के लिए। इसीलिए जब वह उनसे पृथक होकर पर्यंक से उतरी तो वह उनके फैले हाथों से नहीं बीती बल्कि वह, बस उठ गयी और वह सामान्य रूप से जैसे किसी का उठना, देखते से बने रहे। कमला के उठने में भी भाव नहीं था मात्र एक दैहिक क्रिया भर थी।

जिस समय कमला पालकी में बैठकर विदा हुई न जाने क्यों ऐसा लगा कि इस तरह तो व्यक्ति अन्तिम बार जाता है। किस प्रकार ? वह स्वयं नहीं समझ पा रहे थे कि 'इस

प्रकार' से उनका क्या तात्पर्य था। बंगले के प्रशस्त लॉन के बीचों बीच पतली सी सड़क पर कमला की पालकी जाते हुए देख कर उनका कितना मन हुआ कि वह कमला को वापस बुला लें। लैम्प-पोस्ट के पास पहुँच कर कमला ने पालकी की झूल उठा कर सिर निकाल कर उस खिड़की की ओर देखा भी जहाँ वह खड़े थे। धरती पर तो एक ही चल रहा था जबकि ऊपर आकाश में अनन्त-अनन्त तारे न जाने कहाँ चले जा रहे थे। पता नहीं कोई उनका चलना इतनी आत्मीय विवशता के साथ देखता भी है कि नहीं। कमला का जाना न जाने क्यों उन्हें अपने यौवन का जाना लग रहा था। अनजाने ही निश्वास निकल पड़ी। वैसे निश्वास का कोई कारण तो नहीं था। जिस व्यक्ति ने जीवन के प्रत्येक दिन को पदार्थिक भोग में और प्रत्येक रात्रि को स्त्री-देह के रूप में भोग हो उसके निश्वास लेने का कोई कारण तो नहीं हो सकता। परन्तु, ठीक भी तो है कि भोग कर कोई भोग को जीत सका है ?
तभी उन्हें चेत हुआ कि अभी तो उन्हें ऊपर गायत्री के पास भी जाना है। गायत्री ?? और वह आकण्ठ सिहर उठे। यह सिहरना जैसे स्नान था, वह अभिषिक्त हो उठे। प्रतिदिन गायत्री के पास जाते हुए सोचते कि कमला से कहीं अधिक रूपवान गायत्री को देखकर वह वैसे ही विलासी मनस के क्यों नहीं हो पाते हैं जैसे कि कमला को देखकर हो उठते हैं ? गायत्री के निकट पहुँच कर उन्हें अपने बड़े होने की प्रतीति ही नहीं रह जाती। उसके निकट पहुँचकर स्वयं वह निदेशित होने लगते हैं। उन्होंने जल्दी से दो-तीन इलायचियाँ चबायीं। शीशे में अपने केश और भूषा ठीक की ताकि अपने अन्तर की न भी सही तो कम से कम बाह्य परिवेश से तो कमला की प्रतीति, गन्ध को पूर्ण रूप से न भी मिटा सकें तो कम तो कर ही दें। प्रति रात वह ऊपर जाते हुए सोचते कि आज देर हो जाने का कारण वह किस झूठ पर थोपने वाले हैं परन्तु गायत्री किसी भी दिन यह जानने की चेष्टा ही नहीं करती कि देर भी हुई है, तो क्यों ? एक प्रकार से वह पति के नीचे के जीवन, व्यवहार और लोगों के बारे में सर्वथा उदासीन रही है। पति ने ही जब आरम्भ से प्रिया नहीं, मालकिन बनाया है तब इस बारे में झगड़ा क्यों ? जब कभी पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय ने ही इस अप्रिय प्रसंग को किसी सन्दर्भ से उठाया होगा तो कहा-सुनी जैसी हो गयी होगी परन्तु स्वयं श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने न आक्रोश, न जिज्ञासा, न उपेक्षा कभी कुछ नहीं व्यक्त किया। उनके व्यवस्थित जीवन में सम्बन्धों में, दायित्वों में पति का भी एक स्थान है। बस, तो फिर है। इस स्थिति के बारे में न कोई प्रश्न, न बहस। रोज रात में पति की प्रतीक्षा करना भी उनका नित्य का नियम है। यह प्रतीक्षा वह पुस्तकें पढ़ते हुए ही करती हैं। अपने दादा पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट अर्थात् 'साहब' की शिक्षा एवं संस्कार के कारण वह धार्मिक पुस्तकों को पढ़ती रहती हैं। चूंकि यह प्रतीक्षा प्रायः लम्बी होती रही है इसलिए वह अनेक धार्मिक ग्रन्थ अब तक पढ़ चुकी होंगी। आज भी वह प्रतीक्षा करते हुए श्रीमद्भागवत बाँच रही थीं। जैसे ही पति के पैरों की आहट सुनी तो वह रील पर रखी भागवत का प्रसंग जल्दी से समाप्त करने लगीं। प्रारम्भ के दिनों में जब वह अपने प्रसाधित नारीत्व को लेकर

प्रतीक्षा करती बैठी रहती थीं तब उन्हें पति का इतनी देर से तथा इस प्रकार आना न केवल अखरता था बल्कि उन्हें अपना अपमान लगता था और प्रतीक्षा करता उनका वह सुवासित एवं प्रसाधित व्यक्तित्व विरोध कर उठता था, परन्तु समय और अनुभव ने उन्हें शीघ्र ही अपने आन्तरिक व्यक्तित्व की प्रतीति करा दी और वह निःसंकोच कामिनी से स्वामिनी बन गयीं। दिन में तो उन्हें आरम्भ से ही सिवाय दायित्व के और किसी बात पर विचार करने का अवसर ही नहीं मिला परन्तु रात में इस शयन-कक्ष में उस पति की प्रतीक्षा करनी होती जो नीचे के तल्ले में किसी पर-स्त्री के साथ विलास में रत है। कभी-कभी तो शिविका में जाती कमला भी उन्हें खिड़की में खड़े देख सहम जाती। जिस खिड़की में वह खड़ी हुई होती, ठीक उसी के नीचे, नीचे के तल्ले की खिडकी में खड़े पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय को भी अवचेतन में यह प्रतीति हो जाती की इस अर्धरात्रि में शिविका के कहारों तथा उनके अतिरिक्त एक और भी व्यक्ति को भी ज्ञात है कि कमला लौट रही है। कभी-कभी पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय को फुरहरी होने लगती। उन्हें लगने लगता कि गायत्री के पास जाने के लिए उन्हें शराब की आवश्यकता है। शराब, जिसके नाम से गायत्री को चिढ़ थी परन्तु पुरुष एक सीमा के बाद केवल अपना ही पक्ष देखता है। और जिस समय वह गायत्री के कमरे की सीढियाँ लड़खडाते हुए चढ़ते होते उस समय उन्हें लगता कि ये सीढ़ियाँ, सीढियाँ नहीं बल्कि रस्सियों का भूला-पुल है जो उन्हें कमला से गायत्री तक ले जाता है। और वह उस भूला-पुल पर भूलते हुए जिस अवस्था में गायत्री के सामने उपस्थित होते उसमें गायत्री लाख वितृष्ण हो, केवल उस टूटे-फूटे पुरुष को एक अनिवार्यता समझ कर स्वीकार करने के लिए बाध्य होती। एक स्त्री-देह से गिरे पुरुष को दूसरी स्त्री-देह में खोते क्या समय लगता ? जिस दिन पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय को अपराध-भाव अधिक अनुभव होता उस दिन उनके भीतर की सारी कोमलता नष्ट हो जाती।

इधर पति पर्दा थाम कर खड़े हुए और उधर गायत्री ने श्रीमद्भागवत पढ़कर समाप्त की। रील उठायी और दोनों को व्यवस्थित रखते हुए 'आइए' वाला स्वागत-वाक्य रोज की ही भाँति कहा। रोज की ही भाँति अपने इस सूत्र-वाक्य में पति के लिए न कोई ललक, न आकर्षण, न उत्कण्ठा, न मोह, न आसक्ति कुछ भी तो नहीं अनुभव की। निश्चय ही गायत्री देवी के इस 'आइए' में उपेक्षा तो नहीं परन्तु उपरतिपूर्ण ठंढापन था, जिसे दोनों ही पक्षों ने अनुभव किया। यदि ऐसा ठण्डा व्यवहार किसी अन्य ने किया होता तो वह कभी उसका मुँह तक नहीं देखते। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय का वह अप्रतिम सौन्दर्य ही कारण था जिसके कारण वह विवश थे। इस अप्रतिम सौन्दर्य के प्रति शायद अन्तर में आदर ही रहा। इसका कारण भी यह था कि अपनी इस अप्रतिमता के पति श्रीमती गायत्री देवी सर्वथा अनासक्त थी। यदि किसी दिन उन्होंने अपने पति से सौन्दर्य के स्तर पर विरोध या विद्रोह किया होता तो पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय कभी के जीत गये होते। वस्तुतः गायत्री देवी ने आधिपत्य के स्तर पर विरोध को आने ही नहीं दिया। अपने को वह उत्तरोत्तर उदासीन करती गयी। फलतः

पति-पत्नी के बीच ऐसी भूमि की दूरी बढ़ती गयी जिसे जोत सकना तो दूर बल्कि जिसे स्पर्श कर पाना भी, किसी भी पति के लिए कठिन होता है। गायत्री की मोहक उदासीनता पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय को उत्तरोत्तर विवश ही करती गयी। यद्यपि उनके व्यवहार में कोई अन्तर नही आया। परन्तु गायत्री केवल स्त्री है; स्त्री, जिसका कि वह अर्थ जानते हैं—इस तथ्य पर ही रुकना न हो सका। गायत्री का स्वत्व है और जिसकी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। वह चूंकि निरन्तर करते आये हैं इसलिए दोष उनका ही है। गायत्री दूर से भले ही देह से एक आकर्षण उत्पन्न करती हो परन्तु उसके पास पहुँच कर उसकी ओर देखने के लिए वही करना पड़ता है जो कि पहाड़ के पदतल में खड़े होकर उसके शिखर को देखने के लिए करना पड़ता है। व्यक्ति की उच्चता या श्रेष्ठता उसकी देह की नही बल्कि उसकी आन्तरिकता की होती है, और इस अर्थ मे प्रतिदिन उन्हें गायत्री का शिखरत्व उच्च से उच्चतर हो लगता। उन्हें लगता कि गायत्री के इस शिखरत्व तक पहुँचने के लिए कमला क्या एक आवश्यक उपत्यका है? और उसी क्षण उन्हें लगता कि इस शिखर तक पहुँचने के लिए वह जितना चढ़ आये थे वह हठात् सब कुछ व्यर्थ हो गया। गायत्री के सम्मुख होते ही उनके भीतर के संस्कार, भाषा आदि न जाने क्या-क्या जाग्रत होने लगते। अपनी इस मनःस्थिति को किसी भी दिन वह परिभाषित या व्याख्यायित नही कर पाए होंगे, शायद इसकी उन्हें कभी आवश्यकता भी नहीं हुई होगी, पर एक आकुलता, छटपटाहट, कमी जैसी चीज निश्चय ही अनुभव की है। पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय को जिस बात से सबसे अधिक उलझन होती वह यह कि पूरी रतलाम, अमेठी, जात-बिरादरी, कुल-कुटुम्ब सभी जगह गम्भीर व्यक्ति माने जाते रहे हैं, कमला उनके कृपा-कटाक्ष के लिए उनके हाथों में बिछला जल बन सकती है परन्तु गायत्री के निकट वह अवचेतन मे अनुभव करते कि इन सारे कवचों के भीतर वह कितने निरीह हैं, अकिंचन हैं इसे केवल गायत्री जानती है। इसका ध्यान आते ही वह और अधिक कवचित होने की चेष्टा में उतने ही शापित होने लगते। स्त्री उनके लिए उद्दाम रही है परन्तु गायत्री के सामने जाने के पूर्व वह खूब इलायचियाँ खाना ही आवश्यक नही समझते थे बल्कि उल्टी हथेली पर अपनी साँस को भी सूंघ लेते कि कहीं आसव तो नहीं महँक रहा है? जब कभी गायत्री के निकट होने के लिए उन्होने अतिरिक्त चेष्टा करते हुए किसी शास्त्रीय विषय पर चर्चा करना अभी आरम्भ ही किया होगा कि सामान्यतः तो गायत्री मुस्करा कर रह जाती रही होगी परन्तु कभी अनायास गायत्री हँसी में फूट आयी होगी, तो पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय अवाक् हो उठे होंगे। केवल मुसकराना ही व्यक्त कर देता रहा है कि इस नाटक की क्या आवश्यकता है? परन्तु यह अनायास खिलखिला पड़ना तो उन्हें दण्डित कर जाता। और ऐसे ही क्षण में उन्होंने सर्वदा पशुवत आचरण किया होगा। अपने व्यक्तित्व की पराजय को पुरुष के पशुत्व से ढाँकने पर वह बाद में सदा और अधिक पराभूत हुए हैं। उस समय जो भी उन्हें सामयिक तुष्टि मिलती रही हो परन्तु बाद में उन्हें सदा यह लगा कि गायत्री पहले से अधिक अप्राप्य हो उठी है। कमला से प्राप्त तुष्टि गायत्री के सामने न केवल नगण्य ही हो

जाती है बल्कि वह स्वयं ही अकिंचनता अनुभव करने लगते हैं। उपत्यका और शिखर के बीच निरन्तर सन्तुलन असाध्य है, क्योंकि अनैसर्गिक है।

पर्दा थामे चूड़ीदार पाजामे, तन्जेब के कुरते में पति को ठिठका देख कर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने अपनी व्यस्तता के बीच कहा,

— आइए।

अभी शायद गायत्री पूरी तरह व्यवस्थित नहीं हुई थी। प्रायः तो पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय अपने मे ही डूबे हुए पलंग पर जाकर विश्राम करते हुए गायत्री के आने की प्रतीक्षा करते होते परन्तु आज जिस प्रकार गायत्री ने 'आइए' कहा वह रोज के जैसा ही होने पर भी खलने लगा। गायत्री अभी अपने ही में व्यस्त थी अतः उसने ध्यान नहीं दिया कि पति रोज की भाँति पलंग पर पहुँच कर विश्राम नहीं कर रहे हैं, बल्कि पर्दा थामे एक चित्र जैसे लग रहे हैं। सामान्यतः हम सबके व्यक्तित्व के छन्द एक ही प्रकार से आचरण करते हैं। हम सब रोज को रोज जैसा ही मानकर चलते हैं। घर की रोज की वस्तुओं के प्रति हमारा कोई अतिरिक्त भाव नहीं होता इसी प्रकार कोई अतिरिक्त सतर्कता भी नहीं होती। पति पर्दा थामे खड़े हैं इसका ध्यान ही नहीं आया। जबकि पण्डित मनोहर लाल उपाध्याय न जाने क्यों गायत्री को ऐसे देख रहे थे जैसे प्रथम बार किसी अप्रतिम सुन्दर नारी को इतनी रात्री में, वह भी एकान्त मे देख रहे हों। आज वह निष्प्रयोजन ही प्रति रात कमला के साथ जिस प्रकार उन्मुक्त भाव से व्यवहार करते हैं वैसा ही व्यवहार वह गायत्री से करना चाहने लगे।

— गायत्री!

गायत्री शायद दर्पण मे अपने को व्यवस्थित कर रही थी। पति प्रायः उसे सम्बोधित नहीं करते। आज हठात सम्बोधन सुना तो वह चौंकी;

— जी??

— तुम जानती हो न कि मैं तुम्हारा पति हूँ।

गायत्री पहले सम्बोधन पर ही तैयार होकर पति की ओर बढ़ी थी ताकि पर्दे के पास खड़े पति को लिवा लाएँ। यह प्रतीति तो स्पष्ट थी कि आज पति को 'आइए' की औपचारिकता नहीं, साग्रह की अपेक्षा है। यह उन्हें मात्र क्रीड़ा लगा था और वह अन्तर में कहीं इतने से उत्साहित भी हुई थीं। परन्तु यह वाक्य सुनकर वह चौंकी। वह एक क्षण को जिस सहज नारी के रूप में वर्षों बाद आचरण करने के लिए उत्साहित हुई थीं उस पर तुषारापात हो गया। पति का यह वाक्य कुछ अतिरिक्त ही लग रहा था। क्यों? इसका तात्पर्य? क्या आज कमला ने अधिक पिला दी है? या स्वयं ही गये है? या इस वाक्य का कोई अतिरिक्त अर्थ भी है? पर क्या?? वह जिस ललक से बढ़ रही थीं उस पर रोक लगाते हुए बोलीं;

— इतनी रात में आपका यहाँ होना क्या प्रमाण नहीं है? या आपको क्या विश्वास नहीं है? क्या आश्वस्ति चाहते हैं? मुझसे या अपने से??

शायद पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय स्वयं उपरोक्त वाक्य को कहते हुए इतना नहीं

जानते थे कि वाक्य गायत्री के मर्म को ही जाग्रत कर देगा। उन्होंने अनुभव किया था कि उपरोक्त वाक्य के पूर्व कैसे उत्साह से वह उनकी ओर बढ़ी आ रही थी पर चूंकि वह वाक्य सोच चुके थे और वह सोचना भाषा भी पा चुका था। बहुत कम होते हैं जो अपने पर प्रत्येक समय संयम कर पाते हैं। वाक्य कहते ही उन्हें लगा कि वह शायद यह नहीं कहना चाह रहे थे। वाक्य सुनते ही गायत्री जिस प्रकार ठिठकी, चौंकी और उत्तर दिया उससे तो स्पष्ट हुआ कि वर्षो बाद गायत्री ने आज सहज होने की चेष्टा की और उन्होने ही उसकी इस चेष्टा पर पानी फेर दिया। दोनो उसी प्रकार की निरीह स्थिति में थे जैसे दो योद्धाओं के आपसी खड्ग टकराएं और भनभनाकर दूर छूट गिरें तथा दोनों ही शस्त्रहीन हो जाएँ, जबकि अभी युद्ध-भाव पूरा का पूरा मन में हो। दोनों स्तम्भित खड़े थे। दोनों के सामने प्रश्न यह नही था कि पहल कौन करे। पहल कोई भी कर सकता था परन्तु उस पहल के परिणाम का सामना क्या होगा?

— आज कुछ विशेष बात हुई जो आप उद्विग्न लग रहे हैं?

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय को झुकने से बचाते हुए कहा। कहते हुए पत्नी का उठा हुआ हाथ पति द्वारा थामे जाने की प्रतीक्षा कर रहा था। पति के गौरव की रक्षा हो चुकी थी। पत्नी को झुके देखकर प्रत्येक पति के अहं की तुष्टि होना स्वाभाविक है। यद्यपि ऐसी तुष्टि का न कोई अर्थ होता है और न प्रयोजन ही।

जिस समय पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय पर्दे से पलग तक चल कर गये तो न जाने उन्हें क्यों लगा कि वह कालीन पर पैर रखकर नहीं चल रहे हैं बल्कि कम जल वाले किसी ताल के पानी को कुचलते हुए चल रहे है। आश्चर्य तो यह कि पानी के कुचले जाने की आवाज तक उन्हें सुनायी दी? व्यक्ति अपना मन ही इस संसार, संसार की पदार्थिकता तथा व्यवहार जगत की सत्ता पर आरोपित करता चलता है। वह पलग पर बैठे भी उसी प्रकार जैसे पैर भीगे हैं। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को उनके चलने, देखने, बैठने से लग गया कि पति आज बाहर नही हैं बल्कि अपने अन्तर में किसी बात को लेकर गहरे डूबे हुए हैं।

पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय को हठात लगने लगा कि उनकी पत्नी उनके इस द्वैत आचरण के बारे में क्या सोचती होगी। क्या उनका यह द्वैत आचरण पत्नी के अधिकारों का अपहरण नहीं है? और मजा यह कि उनकी इस ज्यादती को पत्नी न केवल सहन ही नही करे बल्कि प्रसाधित स्वरूप में नित्य कामिनी बन उपस्थित रहे। भला इस भावना में गौरव कहां है? क्या पत्नी का अपना वैसा ही स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है— जैसा कि पति का होता है? इच्छाएँ, अपेक्षाएँ, भावनाएं सब केवल पति की ही होती हैं? यदि यह संसार, व्यवहार-जगत, कुल, गोत्रता केवल पुरुष को ही केन्द्रीयता देते है तो क्या पुरुष बहुत दिनों तक इस निरंकुश स्थिति का भोक्ता बना रह सकता है? यह पति-पत्नी का सम-सम्बन्ध तो नहीं है। हालांकि ऐसा सब कुछ पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय नही ही सोच रहे थे। सामान्य स्थिति में व्यक्ति प्रायः अपने विरुद्ध अर्थात सामने

वाले के पक्ष से नहीं सोचता है। सामने वाले के पक्ष से सोचने का तात्पर्य ही होता है अपनी अमानवीयताओं पर परिताप करना। लेकिन इस प्रकार की मनःस्थिति के बाह्य-कारण भी होने चाहिए और सम्प्रति पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय के सामने कोई कारण नहीं था।

वह तकिये पर सिर टिका लेट गये। उनके लम्बे पैर एक दूसरे पर चढ़े हुए बड़ी दूर तक चले गये लग रहे थे। पत्नी श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय का एक हाथ उनके खुले पैरों पर था। जैसे वह हाथ एक भाषा है जो उनके पैरों के माध्यम से कुछ कह रहा है, जिसकी रचना, और अर्थ दोनों ही से वे न केवल परिचित हैं बल्कि इतने अवगत हैं कि उसका सामना नहीं कर सकते।

— गायत्री ! वहाँ नहीं मेरे पास आकर बैठो, यहाँ।

और उन्होंने उसी प्रकार लेटे हुए अपना एक हाथ उठाया।

— बहुत निकट में पहुँच कर स्पष्ट देखना खो जाता है। क्या आपका सिर दर्द कर रहा ? तेल लगा दूँ ?

चिन्ता करता हुआ प्रिया का मुख कितना आत्मीय होता है इसकी प्रतीति होना असम्भवता है। उस क्षण पत्नी किसी दैहिक कामना से अनुप्राणित नहीं होती है। पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय को आज पहली बार लगा कि आज के पूर्व कभी ऐसी आत्मीयता निकटता क्यों नहीं अनुभव हुई ? कब अपना मन खोलकर बातें कर सके हैं ? भोग-विलास के परे, स्त्री-देह के परे स्त्री को देखने की अभिलाषा क्यों नहीं उनके मन में आयी ? ऐसा नहीं कि वह सर्वथा सस्कारहीन रहे हैं। उदात्तता, मानवीयता उन्हें भी सम्बोधित एवं सम्प्रेषित होते रहे हैं परन्तु जिस क्षण स्त्री सबसे अधिक निकट हुई रहती है उस क्षण वह सदा देह के माध्यम से दूर चले जाते रहे हैं। इसीलिए कमला उन्हें अपने से भूलता हुआ बोझ लगने लगती और गायत्री जल में डूबा वह चिकना पत्थर जिस पर वह खड़े होने की चेष्टा में बराबर फिसलते ही आये हैं।

— गायत्री ! आज मैंने एक निर्णय लिया है।

— बड़ी अच्छी बात है यह तो।

— क्या अच्छी बात है ?

— निर्णय, और क्या ?

— बिना निर्णय जाने भी ?

— मैंने तो यह बात आपकी ओर से कही थी। दूसरे किसी का उसमें कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं होगा शायद।

— यह तुम कैसे कहती हो ?

— होता तो निर्णय लेने के पूर्व दूसरे को भी बात मालूम होती।

पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय चुप हो गये। सहसा उनके पास इस बात का कोई उत्तर नहीं था। गायत्रीदेवी भी समझ गयी कि पति को उनकी बात सुहायी नहीं। उन्हें पति से पूछना चाहिए। वह बोली,

— निर्णय मनुष्य को संकल्पवान बनाता है। अच्छा, बताइए क्या निर्णय लिया ? किसके बारे में निर्णय लिया ?

— कमला के बारे में।

गायत्री को सुनकर अच्छा तो नहीं लगा कि यह क्या बात हुई। वह अन्तर में एकदम बुझ गयीं फिर भी अपने को ठेलते हुए बोली,

— कोई विशेष बात ?

— हाँ गायत्री ! हम अब आयु के जिस किनारे आ गये हैं वहाँ कुछ भी हो सकता है अतः मैं नहीं चाहता कि कमला अनाथ हो जाए।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को लगा कि वह जिस स्वाद से खाने लगी थीं उसमें कँकरी आकर आ हो गयी। उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें अब केवल सुनना है।

— गायत्री ! मैं केवल यही प्रबन्ध करना चाहता हूँ कि मेरे बाद जब तक वह रहे उसे एक निश्चित आय होती रहे इसके लिए उसके नाम जमीन-जायदाद कर दी जाए। परन्तु उसके बाद वह जायदाद वापस बसन्ती को ही मिले, यह प्रबन्ध भी उसमें रहेगा। बोलो गायत्री ! क्या, यह अनुचित है ?

— क्या आज के पूर्व आपने कभी अपने किसी कार्य के औचित्य के बारे में पूछा कि मैं आज उस बात के बारे मे परामर्श हूँ जो अपने आप में काफी उलझा हुआ सम्बन्ध है ?

यदि आज के पूर्व श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने इतने खुलकर कमला के प्रसग के बारे मे ऐसा चुनौती भरा वाक्य कहा होता तो या तो वह तत्काल उठकर चले गये होते, नहीं तो ऐसे आग्नेय नेत्रों से देखा होता कि कोई भी पत्नी सिहर उठती।

— गायत्री ! लोहा लाख पिघला हुआ हो, होता वह लोहा ही है। यह मत भूलो कि मैं कहीं न कहीं सदा तुम्हारा आदर करता रहा हूँ।

— देखिए, आप किसे अपनी जमीन-जायदाद देते हैं या नहीं देते इससे मुझे कोई सरोकार नहीं। मैंने जब आप तक से अपेक्षा करना छोड़ दिया तो आप जानें और बसन्ती जाने।

— परन्तु मैं नहीं चाहता कि बसन्ती मेरे इस निर्णय को लेकर कुछ बवाल खड़ा करे।

— तो आप उसे बुलाकर समझा दीजिए।

— नहीं, यह तुम्हें करना होगा।

— देखिए, यह संसार मेरे लिए आप तक सीमित है। पुत्र वह आपका है। वही वारिस है। उसे आपको ही समझाना है। मेरी इन बातों में कोई रुचि नहीं है।

— तुम्हें इस निर्णय के बारे में कुछ नहीं कहना है ?

— मुझे जो कुछ कहना है वह क्या आप नहीं जानते ?

— जैसे ?

— स्त्री बारम्बार अपनी दयनीयता प्रकट करे, यह पुरुष को कितना अच्छा लगता है न ?

— मैंने तो कभी नही कहा होगा ऐसा ।
— कहना एक बात है और चाहना दूसरी बात है ।
— मैंने शायद चाहा भी नही होगा ऐसा ।
— इन बातो के बारे में बहस नही की जाती । बहस बराबरी वालों में होती है। आपके सामने मेरी क्या स्थिति है !
— गायत्री ! मैं जानता हूँ कि कमला को लेकर मैंने तुम्हें दुःखी किया है ।
— यह बात कह कर शायद आप अधिक दुःखी कर रहे हैं । क्या आप और कुछ बात नही कर सकते ?
— ठीक है, मैंने अपना कर्तव्य कर दिया ।
— क्या ?
— कि मैंने तुम्हे सूचित कर दिया कि मैं कमला के नाम एक प्रबन्ध कर रहा हूँ।
— कई बार कर्तव्य भी निरर्थक होते हैं । मुझे इससे क्या अन्तर पड़ता है ।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय का व्यवहार न केवल उन्हें ठण्डा लगा बल्कि कठोर भी। वह आज झुकना चाह रहे थे परन्तु गायत्री ने उन्हें यह भी नही करने दिया। भला, इसके अलावा पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय और क्या कर सकते थे ? वह खिन्न हो उठे ।

प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्य है । पुत्र, पण्डित बसन्ती लाल उपाध्याय को पिता से जब ज्ञात हुआ कि वह कमला के भरण-पोषण के लिए किस प्रकार का प्रबन्ध करने जा रहे हैं तो प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी । पिता से चूँकि कुछ कहना सम्भव ा नही था तथा व्यर्थ था अतः वह सीधे अपने मामा पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट 'साहब' के पास धार पहुँचे । 'साहब' ने कभी पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय से कमला के प्रसंग को लेकर कोई चर्चा की ही नही थी । एक तो इसका कारण था—सम्बन्ध, दूसरे नैतिकता । जब वह जानते थे कि बहन के कारण वह कमला के बारे मे चर्चा कर नही सकते और जिस नैतिकता का अर्थ स्वय उनके लिए है उसकी चिन्ता कामदार साहब जैसे व्यक्ति को नही है, तब इस बारे में चर्चा करना सम्बन्ध तथा औपचारिता मे कटुता लाना ही होता । साहब ने गायत्री को भी समझाया कि जब पति के मन मे कोई तीसरा व्यक्ति आसित है तब उस तीसरे व्यक्ति की सत्ता जायदाद में है तो क्या, और नही है तो क्या । पण्डित बसन्ती लाल उपाध्याय का तर्क यह था कि पिता किसी भी तरह की लिखा-पढ़ी कमला के नाम की न करें । कमला को आजीवन भरण-पोषण के लिए मिलेगा इसकी पुष्टी वह सरकारी तौर पर भी करने को तैयार है । अपने काका पण्डित नागेश्वर उपाध्याय को भी बसन्ती ने उज्जैन से बुलवा लिया । दो-एक बार एक-एक, दो-दो के रूप में सभी-सभी से मिले । कमला भी सहमत थी कि जब बसन्ती लिखकर देने को तैयार है तब जमीन-जायदाद की लिखत-पढ़त की कोई आवश्यकता नही । जब कमला के भाइयों ने देखा कि

स्वयं कमला ही जमीन-जायदाद की लिखा-पढ़ी के लिए कामदार साहब पर जोर नहीं डाल रही है तो उन्हें बहुत क्रोध आया।

— तो तुम कामदार साहब पर जायदाद की लिखा-पढ़ी के लिए जोर नही डालोगी ?

दादा गंगासिंह की बात पर कमला झल्ला पड़ी,

— मैं अपने लिए लिखा-पढ़ी करवाऊँ या न करवाऊँ, इसकी चिन्ता तुम दोनों को इतनी क्यों है ?

— अब हम पराये हो गये और तुम बड़ी ब्याहता हो गयीं न।

— मैं जो भी हो गयी हूँ, तुमसे मतलब ?

— अच्छा, बड़े नखरे हैं तुम्हारे ?

— मैं तुमसे कह चुकी हूँ कि हुजूर नही चाहते कि तुम दोनों इस कोठी में रहो।

— तो क्या हम सड़क पर जाकर भीख माँगें ?

छोटे भाई हीरा की बात सुनकर वह तमकी,

— जाओ, कहीं कमाई करो, भीख क्यों माँगो।

— हमारी कमाई के जरिये को तो कामदार साहब खा बैठे और अब कहते हैं कि चले जाओ।

गंगासिंह की बात पर वह झल्लायी,

— जरा जबान सम्हाल कर बात करो दादा !

— कमला ! फिर रोना नहीं। अब तक तो तूने भाइयों का प्यार देखा पर अब और भी कुछ देखना।""तू जिस रास्ते पर चली है, उसके लिए कइयों को पछताना पड़ेगा।

— दादा ! मैं भी राजपूतनी हूँ। डरना मैंने नहीं जाना। मेरे ही घर में मुझे ही धमकाते हुए शरम नही आती !

— क्या ? तूने क्या कहा बदजात ?

और गंगासिंह ने कसकर कमला को एक चाँटा मारा। कमला की घिग्घी बँध गयी। वह हुजूर के बंगले पर जाने की तैयारी कर ही रही थी कि दोनों आ पहुँचे थे। गत दिनों से अपने दोनों भाइयों के रंग-ढंग से वह स्वयं ही चिन्तित थी। सम्बन्ध में जब एक बार दरार आ जाती है तो सम्बन्ध पहले की तरह का नैसर्गिक नही हो पाता। कमला को लगने लगा था कि कल तक जो भाई स्वयं उसके अंग थे, अब वे पक्ष हो गये थे। कमला का ख्याल था कि एक बार जैसे ही दोनों भाई किसी काम-धाम की तलाश में चले गये कि बात फिर सहज हो जाएगी। वह अपने भाइयों की सहायता अवश्य करती रहेगी पर अब साथ रहना सम्भव नही। परन्तु जिस बात का कमला बड़े ही आसान रूप में देख रही थी वह उतनी ही उलझती जा रही थी। कमला को अब लगने लगा था कि हुजूर के सामने भाइयों के कहने से उसने जमीन-जायदाद की जो बात उठायी थी उसके कारण हुजूर के व्यवहार में भी एक दूरी अनुभव करने लगी थी। उसे लगा कि यह उसके जीवन की सबसे बड़ी भूल थी। इसके पूर्व तक हुजूर के मन में उसको लेकर जो कोमलता

थी वह पूर्ण नष्ट चाहे न भी हुई हो परन्तु उसमें ठेस लग चुकी थी। पहले उसका वर्चस्व हुजूर पर था परन्तु अब अनायास उसमें एक प्रकार की दीनता आ गयी थी। हुजूर भी आकुल नहीं लगते, मात्र निर्वाह लगता। उसे लगता कि यदि वह भाइयों को तत्काल अलग नहीं करती तो एक तो हुजूर की आज्ञा का उल्लंघन तो था ही दूसरे अवज्ञा भी थी। पर वह जिस जगह जाकर खड़ी हुई थी वहाँ से उस पर त्रिविध ओर पड़ रहे थे। धीरे-धीरे उसे लगने लगा था कि भाइयों की आँखों में, व्यवहार में किसी योजना की गन्ध लगती। योजना, क्या? और कमला आज बहुत सशंकित थी। और जब गंगा दादा ने गाली देते हुए उसे चाँटा मारा तो उसे अवचेतन में लगा कि वह हठात सर्वनाश के कगार पर पहुँच चुकी है।

सब अवाक रह गये। ऐसा नहीं कि जीवन में अप्रत्याशित नहीं घटित होता। प्रत्येक दिन कुछ न कुछ अवश्य ही ऐसा घटित होता ही रहता है जिस पर कोई न कोई तो आश्चर्य करता ही होता है परन्तु आनुपातिक दृष्टि से कुछ अवश्य ही अप्रत्याशित होता है। पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय और कमला की हत्या न केवल अप्रत्याशित ही थी बल्कि अकल्पनीय भी थी। हालांकि लोगों का ऐसा मानना भी बहुत कुछ क्या ऐसा ही नहीं था कि प्रत्येक वर्ष यह शिकायत करना कि इस वर्ष कुछ ज्यादा ही गरमी है? क्या हत्याएँ पहले कभी नहीं होती रही हैं? क्या स्त्रियों को लेकर ऐसी मारकाट पहली घटना है? असल में मनुष्य के मूलभूत कुछ स्वर होते हैं—जैसे आश्चर्य, शिकायत, अपना दुःख महादुःख है, आदि। हाँ, यह कहा जा सकता था कि वर्षों से सिवाय शादी-ब्याह, सामान्य रोग-शोक को छोड़कर कोई उत्तेजनात्मक घटना नहीं हुई थी, अतः जैसे ही ये हत्याएँ हुईं तो लोगों को एक काम मिल गया। अब लोग हाट-बाजार में, मण्डी में, सौदा-सुलुफ खरीदते, दूकानों पर बैठे हुए, मन्दिर जी के दर्शन के बाद जहाँ मिले कि यही चर्चा: देखा भैया! यही का यहीं सब हिसाब-किताब पूरा हो गया न?—अरे हिसाब-किताब की खूब चलायी महाराज! औरत जो न करवा ले, जब ऋषि-मुनी डिग गये तो इन ठिकानेदारों-कामदारों का क्या!!—ऐसी कमाई, ऐसा ठाट-बाट किस काम का पंडिज्जी! कि आदमी की अकल ही चरने चली जाए?—ठीक कहा राजा भैया! घर में परी जैसी औरत हो और फिर भी नाली में मुँह में डालोगे तो क्या सरग से विमान आएगा?—लेकिन सेठ जी! कामदार साहब को यह क्या सूझा?—सूझा? वाह मुखिया जी महाराज! इसी को सूझना कहते हैं? तो फिर डूबना किसे कहोगे?:

वस्तुतः लोग दुःखी नहीं होते। लोगों में से बातों के कल्ले फूटते हैं। यदि बात बड़े आदमी से सम्बन्धित है तो बड़े-बड़े कल्ले निकलेंगे। चूँकि पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय रतलाम के सम्भ्रान्त व्यक्ति थे इसलिए सड़क में गोली खेलते लड़कों से लेकर पानी के बेवड़े सिर पर लिए स्त्रियों तक में चर्चा, परिचर्चा, कानाफूसी, बतरस होना ही था।

हत्यारे भी कोई अपरिचित नहीं थे। हत्या का कारण भी स्पष्ट था, फिर भी हत्या सभी को अविश्वसनीय लग रही थी। सब को अपनी-अपनी व्याख्याएँ थी। कुछ के लिए सब कुछ के बाद भी असम्भव लग रहा था परन्तु प्रकृति के या संसार के सारे कार्य-व्यापार न तो हमारे विश्वासों की, न पुष्टि की अपेक्षा ही रखते हैं और न ही उन्हें हमारी सहमति या असहमति की चिन्ता ही रहती है। धार, उज्जैन, बड़नगर सभी जगह के रिश्तेदारों को पहले इस दुःखद काण्ड की तत्काल सूचना दी गयी तथा आठ-दस दिन के बाद उत्तर-कार्य से सम्बन्धित सूचना के कार्ड डाल दिये गये। एक ही घटना विभिन्न मानवीय स्रोतों, विवरों से निसृत होकर नाना संज्ञाओं, रूपों, व्याख्याओं, टीका-टिप्पणियों के साथ उत्तर-कार्य में सम्मिलित होने वाले सगे-सम्बन्धियों तथा कस्बे के लोगों के माध्यम से चर्चित बनी रही।

कमला के दोनों भाई गगासिंह और हीरासिंह कमला के सारे जेवर और माल-मत्ता लेकर जाने कहाँ फरार हो गये। उस समय देश का यह मध्य भाग पचासों देशी रियासतों, रजवाड़ों में बँटा हुआ था। इसलिए अपराध करके कहीं किसी दूसरी रियासत में जाकर छुप जाना अपराधियों के लिए बड़ी आम बात थी। गबन, चोरी, डकैती, हत्या आदि करके लोग प्रायः भाग जाया करते थे। एक रियासत से दूसरी रियासत में चले जाना, सुरक्षा जैसा ही होता था। ठीक है, यह हत्या किसी ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे की नहीं थी तब भी पुलिस प्रयास ही तो करेगी। और हत्यारा कोई यहीं बैठा होगा? न जाने वह चम्बल पार गया कि नर्मदा पार गया। श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय की कोई रुचि नहीं थी कि वे दोनों भाई पकड़े जाते है कि नहीं। पण्डित बसन्तीलाल उपाध्याय व्यावहारिक जगत की सारी ऊँच-नीच का अनुभव प्राप्त किये बैठे थे, इसलिए बहुत अधिक आशावान तो नहीं थे कि वे लोग पकड़ ही लिये जाएँगे। दूसरे, जो कुछ माल गया था वह कमला का ही था। जब पिता ही चले गये तो अगर वह माल, जेवर मिलता भी है, और फिर पुलिस की कृपा से मिलेगा ही कितना, तो उसका क्या अर्थ है? पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट, 'साहब' का सरकारी दबाव बहुत अधिक रतलाम राज्य में तो चल नहीं सकता था। पण्डित नागेश्वर उपाध्याय लाख गवालियर राज्य की 'सार्वजनिक-सभा' के बड़े ही नेता हों, तो क्या? रतलाम में वह अपना राजनीतिक प्रभाव क्या काम में ला सकते थे? हाँ, अमेठी के ठाकुर साहब ने अवश्य श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के लिए आजीवन पेन्शन की व्यवस्था कर दी थी। साथ ही रतलाम महाराज से भी कह दिया था कि हत्यारे अवश्य पकड़े जाएँ। प्रत्येक कथा की जिस प्रकार समाप्ति होती है और लोग उसमें से कोई न कोई उपदेश, शिक्षा ग्रहण करना भी एक कार्य समझते हैं उसी प्रकार कामदार साहब और कमला की इस प्रेम-कथा से लोगों ने यही शिक्षा ग्रहण की कि पुरुष के पतन का कारण यदि कोई है तो स्त्री ही है। परन्तु, चूँकि स्त्री एक अनिवार्यता है इसलिए पत्नी के अतिरिक्त किसी दूसरी स्त्री के होने पर मनुष्य का ऐसा ही दुःखदायी अन्त होता है।

पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट 'साहब' ने बहुत चाहा कि गायत्री कुछ समय के लिए

उनके साथ धार चली चले परन्तु गायत्री ने सिवाय बात को सुनने या अश्रुपात के, कोई उत्तर नहीं दिया। सारा उत्तर-कार्य सम्पन्न हो गया। पूरा घर कुटुम्बी-जनों, सम्बन्धियों से एक सप्ताह तक भरा रहा पर गायत्री देवी न तो अपने कमरे से बाहर निकलीं और न किसी से कोई बात की। जो भी उनसे मिलने गया वह सिर नीचा किये, श्वेत वस्त्रों में मौन बनी सुनती रहीं; भले ही वह किसी की सान्त्वना रही हो या परामर्श, कौतूहल रहा हो या आत्मीयता—गायत्री देवी ने किसी भी अभिव्यक्ति के द्वारा अपने को विवश, निरीह या दयनीय कुछ भी नहीं व्यक्त किया। एक प्रसंग आत्मसंयम उनके पूरे व्यक्तित्व में ऐसा था जो अधिक अभेद्य बना रहा। देवरानी श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय अवश्य इस बीच गायत्री देवी के लिए कभी-कभी ऐसा कन्धा सिद्ध हुईं जिस पर सिर रखकर गायत्री देवी बहुत खुलकर न भी सही तो भी छलछलायी आँखें लिये व्यक्त होती रहीं। पुत्र बसन्ती लाल ने उत्तर-कार्य के सिलसिले में जब भी कुछ पूछना चाहा होगा तो उन्होंने मात्र यही कहा होगा कि 'अपने काका-काकी से पूछो'। पूरे समय श्रीमती गायत्रीदेवी ने अपने मौन और प्रशान्त व्यवहार से अपनी ऐकान्तिकता, स्थिति और नियति को यथासम्भव वैयक्तिक ही बनाये रखने की चेष्टा की। प्रायः तो ऐसे समय पर लोग सामाजिक सहानुभूति, लौकिक सुरक्षा खोजते हैं परन्तु पति के दिनों में वह जिस प्रकार राजसी ढंग से अनुपलब्ध थीं, आज वही अनुपलब्धता सात्विक हो गयी थी। परन्तु किसी को उनका यह व्यवहार अवमानना भी नहीं लगा होगा। इसका नतीजा यह हुआ कि उनके भीतर के संघर्ष या टूटने की प्रतीति किसी अन्य को नहीं हो पायी। शायद इसका कारण था कि उनमें आमूल मन्थन चल रहा था। उन्हें रह-रहकर यह पति की मृत्यु न लग कर कुछ आधारभूत मूल्यों, स्थितियों, स्वत्वों की हत्या लगता था। पहले ही कौन प्रवाद कम था और इस हत्या ने तो बहुत कुछ दबे-छुपे कलुष को जग-जाहिर कर दिया था। उन्हें लग रहा था कि उनके व्यक्तित्व की श्वेत-भूषा जैसे इस हत्या से सम्पूर्ण कलुषित हो गयी है। इस स्थिति ने उनके पत्नीत्व को अपूर्ण सिद्ध कर दिया था। पत्नी का गौरव तक लांछित हो गया था। यदि साधारण मृत्यु हुई होती तो ऐसी जग-हँसाई तो नहीं होती। लोगों की दृष्टि में वह और कमला एक ही स्तर पर आ गये थे, और यही उन्हें वितृष्ण किये दे रहा था। भला इतनी वैयक्तिक बात वह किससे करें ? और क्यों ? चर्चा से क्या हुए को अनहुआ किया जा सकता है ? पति ने उन्हें जहाँ पहुँचा दिया था उसे देवर, पुत्र या अन्य कोई क्या बदल सकता था ? उन्हें लगता कि उनका स्त्री होना, पत्नी बनना सब लांछित हो गया। भला ऐसे हाहाकार को वह किससे कहतीं ? देवरानी की आत्मीयता वास्तविक थी, वह भी मानती हैं; पर पति के साथ जो कुछ हुआ क्या उसकी चर्चा वह कर सकती थी ? और क्यों ?

॥ पल्लव प्रकरण ॥

मैट्रिक की परीक्षा देकर गोविन्द जब वापस गाँव पहुँचा तो पण्डित शिवशंकर आचार्य ने उचित यही समझा कि गर्मियों की छुट्टियों में गोविन्द पिता के पास कुछ दिनों के लिए जाए तो अच्छा है। इधर जब कभी वह गया है तो दो-चार-आठ दिनों से अधिक नही रहा होगा। पण्डित शिवशंकर आचार्य जानते है कि केवल पिता वाले घर में गोविन्द का मन विशेष नही लगाता है। घर जिन कारणों, सम्बन्धों से घर लगता है वे कुछ भी तो नही थे परन्तु फिर भी यह कोई तर्क नहीं हो सकता है कि गोविन्द पिता के पास जाए ही नही और यदि जाए भी तो मात्र औपचारिकता निभाने के लिए जाए। पिता की पुत्र से आशाएँ, आकांक्षाएँ सभी कुछ हो सकती हैं। माना कि पण्डित उत्सव लाल जी ने गोविन्द को लेकर अपने मन को असंग बना लिया है परन्तु पुत्र को भी तो सोचना चाहिए। वैसे श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य भी चाहती तो थी कि गोविन्द अवश्य जाए, पर चार-आठ दिन को तो ठीक है लेकिन यह क्या कि लडके का मन इतने दिनों के लिए है नही और उसे ठेलकर भेजा जा रहा है, इससे लाभ ?

— तुम भी कमाल करती हो जिजी ! आखिर उत्सव लाल जी मामा जी भी तो कुछ सोचते होंगे कि छुट्टियाँ हुई है तो पुत्र कुछ दिनों के लिए घर आएगा, रहेगा। उनका अकेलापन भी दूर होगा।

— वो चाहे न सोचते हों। तू सबकी तरफ से सोच लिया कर, समझे !!

— तुम भी माँ हो जिजी !—सोचो वह पुत्र की क्या प्रतीक्षा नही कर रहे होंगे ?

— ठीक है। पर गोविन्द की भी सोचो। वहाँ उसका मन लगेगा क्या ?

— घर के सन्दर्भ में मन के लगने, न लगने की क्या बात है जिजी ? और अभी गोविन्द की ओर से सोचने का समय नही आया है।

— न तो तेरी आसक्ति समझ में आती है और न निर्ममता।

— यह निर्ममता नही है जिजी ! यह वास्तविकता है और किसी को भी अपनी वास्तविकता कभी नही भूलनी चाहिए । हम उसे प्यार करते हैं । वह हमारे बहुत निकट है परन्तु यह भी इतना ही आवश्यक है कि उसे अपने पिता के पास जाना चाहिए । उसके इस कर्त्तव्य में जिजी ! हमारी आत्मीयता, हमारा सम्बन्ध कभी आड़े नहीं आना चाहिए ।

गोविन्द को जब पण्डित शिवशंकर आचार्य ने उसके बडनगर जाने की सूचना दी तो गोविन्द ने अपनी वास्तविक की प्रतिक्रिया को बहुत स्पष्ट नहीं होने दिया फिर भी चूल्हे की आँच के आलोक में भोजन करते हुए वह भेद ले गये कि गोविन्द में न केवल अनुत्साह ही नही है बल्कि जाना उसे खुभ रहा है। उन्हें उससे सहानुभूति हुई परन्तु कर्त्तव्य, लोकाचार, औचित्य न जाने क्या-क्या उनके सामने था कि उन्होंने एक बार भी नही पूछा कि गोविन्द क्य: सोचता है । यह नही कि गोविन्द का जाना उन्हें अप्रिय नहीं लग रहा था, परन्तु इससे क्या ? जीवन में न जाने कितना कुछ अप्रिय होता है परन्तु मनुष्य उस सबके बाद भी उन बातो को करता ही है । यह मानवीय विवशता है कि एक प्रिय व्यक्ति, एक स्थिति को प्राप्त करने के लिए न जाने कितने अप्रिय व्यक्तियो, स्थितियो में से गुजरना पड़ता है ।

गोविन्द आने वाला है, यह तो पण्डित उत्सव लाल जोशी भी जानते थे । शायद अवचेतन में वह प्रतीक्षारत भी थे पर जब उसे हठात आया देखा तो वह प्रसन्न ही हुए । यद्यपि उस प्रसन्नता को व्यक्त प्रसन्नता नही कह सकते । गोविन्द मेट्रिक की परीक्षा देकर आया है, यह कोई कम गौरव की बात नही थी । वह मन से चाहते रहे हों कि कचहरी के लोगो के बीच, पूरे कस्बे के परिचितों के बीच वह गोविन्द को लेकर, उसके मेट्रिक में बैठने को लेकर वैसे ही चर्चा करें जैसे सामान्यतः लोग अपने बच्चो की करते है परन्तु न जाने क्या था जो उन्हे किसी से भी खुलकर कहने से रोकता था । शायद जीवन के जिस अनुभव से वह गुजरे थे उसमें वह पूरी तरह बुझ चुके थे । किसी बात पर गौरव करना तो दूर रहा, चर्चा तक करने का उत्साह नही रह गया था । अभी भी मुश्किल से दो-एक मेट्रिक ही पूरे कस्बे में होंगे । गत वर्ष जीम वाले सेठ पूनमचन्द जी का लड़का कालूराम जब मेट्रिक पास हुआ था तो सेठ ने कैसा उत्सव मनाया था, परन्तु पण्डित उत्सवलाल जोशी किस आधार पर अपनी आन्तरिक प्रसन्नता किसी से कहें ! जैसा तिरस्कार, जैसी दग्धता उन्हें हुई है उसके कारण उनका अपने पर से ही विश्वास उठ गया था । जब-जब भी उन्होंने आसक्ति का आचमन करने की सोची होगी तब-तब पानी का ऐसा रेला आया होगा कि केवल अंजुली गीली भर हुई होगी । जब जल आचमन के लिए भी उपलब्ध नही हुआ हो तब भला प्यास की परितृप्ति के बारे क्या वह सोच सकते थे ? वह निरन्तर चौंकते रहते । न जाने कैसा अविश्वास उनमें घर कर गया था

कि उन्हें लगता कि उनका व्यक्तित्व ही नहीं बल्कि उनकी छाया तक अमांगलिक है। वह जिस चीज की कामना करेंगे वह तो उन्हें नहीं ही मिलेगी। शायद यही कारण था कि पण्डित शिवशंकर आचार्य को गोविन्द को सौंपते समय कष्ट नहीं बल्कि कृतार्थता अनुभव हुई थी। उन्हें यह विश्वास लगता था कि पुत्र के प्रति वह जितने असम्पृक्त रहेंगे उतना ही पुत्र का कल्याण है। इसीलिए जब भी गोविन्द आता है तो वह अपनी सहज आत्मीयता को भी भरसक अनासक्ति का ही रूप दिये रहते हैं। उनका सारा व्यवहार ऐसा नहीं लगता कि पुत्र, अपना पुत्र घर आया है बल्कि किसी दूसरे का पुत्र आया है और उसका आतिथ्य यथोचित होना चाहिए। स्वयं उन्हें भी याद नहीं होगा कि गोविन्द को अपनी ओर से कभी रुकने को कहा होगा या चिट्ठी से बुलवाया होगा। अपने रोग-शोक, थके-हारे से पुत्र को कभी अवगत नहीं होने दिया होगा। भला परायापन और क्या होता है? भर आँख पुत्र को देखने में उन्हें भय लगता क्योंकि तत्काल तब विचार आने लगता कि क्या यह वही गोविन्द है जो लगभग पागल हो चुका था? प्रायः अपने मन में डरते रहते कि इसे यह घर, चीजें देख कर उन दिनों का पुनर्स्मरण कहीं न होने लगे। इस घर में गोविन्द के प्रवेश करते ही वह अन्तर में प्रकम्पित होने लगते। पुत्र के जाने के दिन उदास वह अवश्य हो जाते पर सही-सलामत लौटते देखकर प्रसन्नता भी कम नहीं होती। क्या उन दिनों वह कल्पना भी कर सकते थे कि यह ऐसा स्वस्थ, सुघड़ और गम्भीर, विवेकवान बनकर निखर आएगा? जब उन दिनों गोविन्द को लेकर किसी से चर्चा नहीं की तो भला आज करने से लाभ? वैसे गोविन्द के आने पर कचहरी में या हाट-बाजार में, आस-पड़ौस में, मन्दिर में लोग पूछ ही लेते—सुना, गोविन्द आया है जोशी जी!—और जिस अन्यमनस्क भाव से वह हाँ-हूँ करते उससे ऐसा लगता कि—हाँ ऽऽ, तो क्या?—एक चिन्तित पिता की सतर्कता ही अपने मुख पर, वाणी में बल्कि सम्पूर्णता में लिखी होती कि सन्तान की इस कस्तूरी की गन्ध को कितनी तहों में रखा जाए कि किसी को कानोंकान इसकी हवा न लगे।

प्रत्येक छुट्टियों के पूर्व पण्डित उत्सवलाल जोशी के अवचेतन में गोविन्द के आने की प्रतीक्षा आरम्भ हो जाती। पुत्र की आवश्यकताओं के विषय में वह सतर्क हो उठते। उसे अब अच्छी धोती चाहिए थी। लट्ठे की धोती से अब काम नहीं चलेगा। कमीज के लिए चैक के कपड़े उज्जैन में कितने अच्छे मिलते हैं। हाँ मक्खनजीन का हाफकोट तो चल सकता है। वैसे उनका ध्यान कभी बाजार में टँगी चीजों पर नहीं जाता है परन्तु गोविन्द के आने के पूर्व उनकी दृष्टि हठात दूकानों की ओर चली जाती रही है। प्रायः उन्हें भ्रम हो जाता कि गोविन्द आ गया है, और वह भीतर के कमरे में है। अजीब उत्साह और उदासी के बीच उनका मन झूलता रहता। पर प्रायः वह गोविन्द की ओर से भी सोचने लगते कि इस उम्र में स्त्री-हीन घर में भला किसका मन लग सकता है?

माँ नहीं, बहन नहीं, कोई तो नहीं....तो फिर गोविन्द क्या करे? शायद इसीलिए जब गोविन्द यहाँ होता है तब उसे उसके फूफा पण्डित आनन्द शंकर दवे के यहाँ दूसरे-तीसरे चले जाने को कहते, न होता तो साथ में लिवा भी ले जाते। वैसे उस घर में भी सिवाय रविशंकर की बिचारी विधवा पत्नी के और कौन स्त्री बैठी हैं? लेकिन विधवा होने से क्या होता है, है तो स्त्री ही। आयु में बड़ी है वह पर गोविन्द से देवर-भाभी का सम्बन्ध है। वैसे भी वह बिचारी बड़ी ममतालु प्रकृति की है। और फिर रविशंकर का पुत्र कृष्णशंकर भी तो है। गोविन्द से बरस-दो-बरस छोटा होगा, और क्या!! रोज कचहरी जाते हुए वह गोविन्द से कहते कि यहाँ बैठे-बैठे क्या करोगे, न हो तो फूफा जी के यहाँ ही दोपहर में रहा करो। गोविन्द, पिता की इस चिन्ता को लेकर चिन्तित हो उठता। वह जानता है कि पिता नहीं चाहते कि इस घर में पुत्र अकेला रहे। माँ की स्मृति आएगी। उन दिनों की यातना का स्मरण होगा। वैसे यह बात बिल्कुल गलत भी नहीं थी परन्तु इसका निदान या उपचार रोज-रोज किसी के यहाँ भी जाने से तो नहीं होगा। वास्तविकता से अस्वीकार करके उसे बदला नहीं जा सकता।

— बाबा! रोज-रोज किसी के यहाँ जाने से क्या होगा? हमारे स्वत्व की दीवारों पर जो अकेलापन लिखा है क्या उसे मिटाया जा सकता है?

पुत्र की इतनी बड़ी बात उन जैसे स्टाम्प-वेन्डर व्यक्ति की समझ में कुछ आती और कुछ नहीं भी आती। कल तक जो पुत्र 'गोविन्दा' था वह अब गोविन्द लगने लगा था। भला ऐसे पुत्र को वह क्या कहते? परन्तु गोविन्द की बात से भी अधिक, बात की भाषा उन्हें विचलित कर जाती। हम रोज जिस भाषा को काम में लाते हैं उसमें बर्तन, सम्बन्ध, खाने की चीजों के नाम, डाट-डपट आदि तो सब नैसर्गिक लगता है पर यह 'स्वत्व का अकेलापन' जैसी भाषा को भी धूप में तपते चटियल मैदान में, वह भी जेठ की ऐन दोपहरी में खड़ा कर दे सकती है। कुल उन्हें यही लगता कि जो दर्द, जो अनुभव उन्हें आये दिन घेरता रहता है और जिससे मुक्त होने के लिए वह आकुल रहते हैं, वह सब पुत्र में कितने शान्त भाव से निबद्ध है, और कहीं कोई प्रतिक्रिया भी नहीं है। उन्हें केवल एक ही शिकायत हो सकती थी कि गोविन्द अभी से इतना गम्भीर है। एक आयु के पूर्व गम्भीरता अनैसर्गिक ही होती है। गोविन्द अपनी आयु की अपेक्षा कहीं बड़ी भाषा का प्रयोग करता है। प्रायः तो वह मौन रहता है, जब कि मौन तो ऐसी पूर्ण भाषा है जिसे विरल ही प्राप्त कर पाते हैं। इसलिए पिता पण्डित उत्सव लाल जोशी, पुत्र गोविन्द के लिए एक न एक कारण, बात या स्थिति को लेकर चिन्तित रहते पर कैसी विवशता थी कि उसके सामने होने पर स्वयं मौन या विवश ही बने रहते।

तब भी, गोविन्द आने वाला है यह विचार ही उन्हें कितना उत्साहित कर जाता है। नहा कर वह न जाने कब तक शिला पर खड़े हाथ की धोती बार-बार पैरों पर फींचते रहते कि ध्यान ही नहीं रह जाता। नदी के विस्तार में, नदी पेले [दूसरी ओर के] पार के झुरमुटों में उन्हें गोविन्द खड़ा दिखने लगता। सारा घर खूब झाड़-बुहार लिया जाता। वास्तविक की सहेज-समेट के बहुत पूर्व वह मानसिक झाड़-

बुहार में लग जाते थे। अपने लिए तो चटाई ही बहुत है परन्तु गोविन्द के लिए क्या चटाई ठीक रहेगी ? अरे, अब वह मेट्रिक की परीक्षा देकर आ रहा है। कस्बे में क्या, पूरे राज्य में कितने मेट्रिक पास हैं ? नहीं, ऐसे व्यक्ति के लिए क्या चिमनी [ढिबरी] का प्रकाश ठीक रहेगा ? और कपड़े में बँधी पीतल की लालटेन की बत्ती कैंची से ठीक की जाती। उसकी शीशे की हण्डी को राख से खूब मला जाता। ऐसी चमचमाती पीली लालटेन को जब खूँटी पर टाँगते होते तब कितनी हार्दिक प्रसन्नता होती। ठीक है उन्हें न तेल चाहिए, न साबुन पर क्या लड़के को इन चीजों की जरूरत नहीं होगी ? उन्हें तो खैर कभी कमीज नहीं भायी कि कपड़े धोने के साबुन से नहाया नहीं जाता परन्तु गोविन्द तो ऐसा नहीं करेगा। घर में कभी आवश्यकता ही नहीं हुई कि शीशा भी चाहिए। भीतर की दालान में कभी पत्नी ने वहाँ की दीवाल में एक छोटा-सा शीशा जड़ दिया था उसी से पत्नी का काम चल गया। अपने लिए शीशे की कभी आवश्यकता ही नहीं हुई परन्तु गोविन्द को तो चाहिए था न ? कभी उन्हें कोई देखता तो ऐसा लगता कि इस घर में कोई विशिष्ट मेहमान अतिथि बन कर आने वाला है। दो खूँटियों के बीच रस्सी तान कर कपड़ों के लिए जगह बना दी गयी थी। बारम्बार वह मन में सोचते जाते कि प्रति दिन क्या रसोई बनायी जाएगी और किस दिन क्या खिलाया जाएगा। फिर घर भी क्या था—लकड़ी के बन्द बक्सों, टाट में लिपटे हुए बिस्तरों तथा किसी के सूखे मुख की उदास दीवारों की जैसे समग्रता हो। प्रायः तो बाहर वाले कमरे में एक चटाई होती जिस पर उनका टिकठी वाला बक्सा रखा रहता। और घर वह रहते ही कितना थे। सबेरे चार बजे तड़के उठ कर नदी नहाने चले जाते। लाल गमछा पहन कर धोती धोकर झाड़ियों पर या आम की डालियों में सूखने के लिए फैला या बाँध देते। नित्य-नियमों से निवृत्त होकर, नहा-धो कर घाट के शिवाले में जल चढ़ा कर गायत्री का जाप करने बैठ जाते। अभी पाँच भी नहीं बजा होता कि वह घर लौट कर चूल्हे पर दाल का अदहन चढ़ा कर तथा आटा माँड़ कर बाकी की पूजा पूरी करते। पूजा समाप्त कर चार रोटियाँ सेंकी और सात बजे के पहले ही खाना खाकर, बर्तन साफ करके कचहरी के लिए चल देते जाड़ों में इस नियम में घंटे-दो-घंटे का परिवर्तन ही होता। वर्षों से वह इसी नियम निष्ठता में बँधे भी रहे थे। परन्तु गोविन्द के समय तो ऐसा कुछ नहीं हो सकता। अपने तो वह गर्मियों में जब दो बजे कचहरी खाली हो जाती तब भी वहीं खजाने की दरी पर कभी हुआ तो कमर सीधी कर लेते। कचहरी से सीधे नदी गये और हाथ-मुँह धोकर राम-मन्दिर पहुँच जाते। राम-मन्दिर के पुजारी जी से उनकी किसी सीमा तक पटती थी। आयोजन, एक न एक त्यौहार मन्दिर में लगा ही रहता। पुजारी जी भी पण्डित उत्सवलाल जोशी के कहने और सहयोग से भगवान की सेवा और अनुष्ठान में अधिक मनोयोग दिखाते। दर्शनों के बाद भजन-कीर्तन होता, सत्संग होता। भगवान ने पण्डित उत्सवलाल जोशी को गला बड़ा सुरीला दिया था, अतः भजन-कीर्तन में सबको खूब आनन्द आता। उसके बाद मन्दिर का जो भी, जितना भी, जैसा भी प्रसाद होता केवल उसी को ग्रहण कर रात वह दस-ग्यारह तक

ही लौटते और सो जाते। वर्षों से एक ही बार भोजन का उनका नियम था। किसी के घर भी, कभी भोजन न करना यह उनका नियम था। हाँ शादी-ब्याह में जाते अवश्य पर कोई न कोई बहाना निकल ही आता कि—आज तो एकादशी है; नहीं, महाराज! आज तो हमारा प्रदोष है।—मतलब कि चाहे यह सप्ताह का कोई दिन हो पण्डित उत्सवलाल जोशी का या तो एकासना होता उस दिन या फिर व्रत। परन्तु इस सब हीले-हवाले में कभी किसी ने अवमानना या अपमान नहीं अनुभव किया। हमेशा किसी रिश्तेदारी में काम पड़ने पर यदि धर्मशाला में बैठ कर रात भर पूड़ी छानी होगी पर क्या मजाल जो कभी कुछ भी खाया हो। जो आदमी पान तो क्या सुपारी तक न खाता हो भला लोग उसका सम्मान न करेंगे तो किसका करेंगे? परन्तु सदा वह अनुपस्थित भाव से ही कहीं घर भी होते। लेकिन उदासियों के से इस जीवन-क्रम से पुत्र का तो आतिथ्य नहीं किया जा सकता।

प्रतीक्षाकुल होने पर भी जब गोविन्द आया तो पण्डित उत्सव लाल जोशी को यही लगा कि गोविन्द हठात ही आया है। और इस बार पहली बार उनका ध्यान गया कि पुत्र उनसे भी कहीं ऊँचा, भरा-पूरा निकल आया है। यदि कोई रोके-टोके नहीं तो शायद माथा छत ही छूले। कैसे बाण की तरह एकदम खिंचा, खड़ा लग रहा है। पूजा वह समाप्त कर ही चुके थे। मगर इस समय आध घंटा और वह न आया होता तो वह कचहरी के लिए निकल पड़ते और गोविन्द को घर पर ताला लटका मिलता। कितना बुरा लगता न इसे। आप घर पहुँचें और घर है कि ताला लटकाये आपका स्वागत कर रहा है। इस बीच खजाने का चपरासी टिकटों का बक्सा माँगने आने वाला है यह सोचकर पण्डित उत्सवलाल जोशी को सन्तोष हुआ कि उसे ही बाजार दौड़ा कर एकाध सब्जी और दही फिलहाल के लिए मँगवा लिये जाएँगे। शाम की बात शाम को देखी जाएगी। कल से जरूर सिर्फ दाल से काम थोड़े ही चलेगा। ठीक है कचहरी जाना है, तो वह तो हमेशा ही जाना होता है पर क्या गोविन्द रोज-रोज यहाँ रहने को है? और अब दोपहर में ही घर लौटना होगा अतः खपरैल की डाँड़ों में खुँसा कपड़े में लिपटा छाता निकाला गया ताकि लौटते में काम आ सके। पिता को गोविन्द ने लाख मना किया होगा कि वह कचहरी जाएँ, बर्तन वगैरा वह साफ कर लेगा परन्तु पण्डित उत्सवलाल जोशी जिस प्रसन्न भाव से तथा तन्मय होकर बर्तन मलने लगते उसमें लगता कि वह बर्तन नहीं, माला फेर रहे हैं। कचहरी से लौटते हुए वह नीबू, खरबूजा या आम लेते आते। खाने के साथ दोपहर में अमरस बना लिया जाता। रात के खाने के साथ खरबूजे में चीनी डाल ली जाती। तीसरे प्रहर नीबू का शर्बत बनाया जाता। चूँकि पुत्र के आने पर वह सवेरे भोजन करके नहीं जाते अतः सत्तू या पेठा या किसी और चीज के नाश्ते का प्रबन्ध किया हुआ रहता ताकि दोपहर तक गोविन्द भूखा न रहे। भोजन

के बाद दरवाजों, खिडकियों की सँध तक में कपड़ा ठूँस कर यथासम्भव अँधेरा कर लिया जाता ताकि लू और प्रकाश से पुत्र को वचाया जा सके। अपना क्या, टाट हो या दरी, कही भी कमर टिका लो। दरवाजा खुला है तो क्या। अरे लू ही तो आ रही है। लू क्या हवा नही है? और सब दरवाजे-खिड़की बन्द कर लो तो कैसी घुटन लगने लगती है न? पर यह तो उनकी अपनी व्याख्या है। पुत्र को यदि वह अधिक सुविधा उपलब्ध नहीं कर सकते तो दरी बिछा कर गोविन्द को लिटा तो सकते ही हैं। अपने लिए टाट हो तो बहुत है। गोविन्द को झपकी आती देखकर वह कैसे सतर्क भाव से धीरे-धीरे पंखा झलने लगते। क्योंकि वह जानते हैं कि यदि गोविन्द को जरा भी भान हो गया कि पिता उसे पंखा कर रहे हैं और स्वयं नही सो रहे हैं तो उठ बैठेगा इसलिए इतने मुलायम भाव से पंखा झलते कि जैसे रेशमी वस्त्र पर हाथ फेर रहे हों। सोते हुए पुत्र का मुख देखकर उन्हें न जाने क्या-क्या याद आने लगता और वह अन्तर तक काँप उठते। यही घर कभी क्या था, उसके बाद क्या तक हो गया था और आज कैसा है न? और हाथ का पखा कब भटक उठा, पता ही नही चला और गोविन्द हड़बडा कर उठ बैठता।

— अरे बाबा! आप पंखा कर रहे है? सोये नही? नही, अब आप सो जाएँ

इस एक आत्मीय वाक्य से वह किस मनोलोक में पहुँच जाते, इसकी प्रतीति स्वयं उन्हें नही हो पाती।

— लेकिन तुम्हारी नीद कैसे खुल गयी? क्या पानी पीना है?

और गोविन्द उठे इसके पूर्व ही वह पानी लाने के लिए उठ जाते। यद्यपि वह मटके का प्रबन्ध करने वाले थे कि गोविन्द हठात आ गया था। तब भी बडे से लोटे पर गलने [मोटा कपड़ा] को बाँधकर दालान में उलटा लटका दिया था फलस्वरूप पानी बहुत ठण्डा हो गया था। गोविन्द पिता की इस आत्मीयता को पहले शायद नही बूझता रहा होगा परन्तु इस बार वह पूरी तरह समझने लगा था और उसे यही बात कचोटने लगी थी। इतने बड़े, सूने घर में पिता कैसे रहते होंगे यह वह अनुमान ही कर रहा था। परन्तु क्या कैसा ही अनुमान यथार्थ को पूरी तरह समझ सकता है? मूल का कैसा ही तथ्यपरक प्रतिचित्र या फोटो कभी वास्तविक का प्रतिनिधित्व नही कर सकता। प्रतिचित्र वास्तविकता का चित्र भले ही प्रस्तुत कर दे परन्तु चित्र का आयाम तो नहीं सप्रेषित कर सकता है। जबकि जीवन्तता इसी आयाम की ही होती है। प्रतिचित्र या फोटो सब कुछ होता है, हो सकता है परन्तु जीवन नही होता। वह संस्पर्शिता उसमें नही होती जो जीवन्तता का आधारभूत लक्षण है। कैसी ही अनुपम मूर्ति, व्यक्तित्व का सम्प्रेषण नहीं होती।

शाम को वैसे तो पण्डित उत्सवलाल जोशी नदी की ओर ही निकल जाते रहे हैं, एक प्रकार से वह उनकी हवाखोरी ही होती पर गोविन्द के आने पर वह वाकई हवाखोरी करने चले जाते। गोविन्द के कारण उनके नियमित जीवन में काफी व्यतिक्रम आ जाता। गोविन्द के कारण वह राम-मन्दिर में देर रात तक नही रह पाते। एक

समय भोजन का नियम भी टूट जाता। वैसे वह वर्ष में एकाध बार या फिर कभी बुलाये जाने पर अपने बहनोई पण्डित आनन्दशंकर दवे के यहाँ ही जाते परन्तु गोविन्द के कारण उन दिनों तीसरे-चौथे भी चले जाते। परन्तु प्रतिदिन जिस विषमता का सामना पिता-पुत्र को करना होता उसका निदान दोनों के पास नहीं था। वह भी दोनों की अपने-अपने अकेलेपन की प्रतीती। शायद दोनों ही सायास चेष्टा करते कि सामना होते ही सहज, प्रसन्न होने का बोध करवाएँ। जबकि वास्तविकता यह थी कि दोनों के बीच आयु और अनुभवों की जो दूरी, खाई थी उसे वे दोनों कैसे पाट सकते थे? स्त्री ही परिवार में वह केन्द्रीय तत्व होती है जो सबकी आकांक्षाएँ, अपेक्षाओं की पूर्ति करते चलती है और सबको बड़ा सहज लगता रहता है। जब भी इस आधारभूत व्यवस्था में गड़बड़ी होती है तो परिवार अन्दर से भग्न हो जाता है। प्रत्येक परिवार के सदस्यों की विभिन्नता के बीच एक सेतु-व्यक्तित्व, माध्यम आवश्यक होता है जिसमें सबका अकेलापन जाकर समाहित होकर एक समग्रता को जन्म देता है। चाहे पिता-पुत्र हो क्यों न हो वे परिवार नही होते। उन्हें अपने-अपने अकेलेपन की प्रतीति एक-दूसरे की उपस्थिति में अधिक स्पष्ट दिखलायी देती है। कोई भी व्यक्ति जब तक स्वयं अकेला होता है उसे वह अकेलापन खलता ही नही है बल्कि स्वत्व लगता है परन्तु ज्योंही दूसरा व्यक्ति प्रति-अकेले के रूप में जब सामने आ खड़ा होता है तब दोनों को अपना-अपना अकेलापन असह्य लगने लगता है। पारिवारिक अकेलेपन की विपदा की पानकर्ता स्त्री ही तो होती है। पण्डित उत्सवलाल जोशी और गोविन्द के बीच कोई सेतु-व्यक्तित्व की स्त्री नही थी इसलिए दोनों की सदाशयताएँ उदास हो जाती थी। पिता-पुत्र के दुहरे अकेलेपन को आत्मीय समग्रता में परिणत होने के लिए स्त्री की आवश्यकता पिता एक प्रकार से अनुभव करते और गोविन्द भी करता अवश्य था परन्तु उसका ध्यान छिटक-छिटक जाता था। प्रायः दोनो को आपस में बोले कई-कई दिन हो जाते। 'यह कर लो,' 'वह कर लो' कोई बोलना होता है क्या? या किसी के माध्यम से बोलना भी क्या बोलना है? राम-मन्दिर वाले पुजारी जी का गोविन्द से प्रश्न करना गोविन्द को लगता कि जैसे वह पिता के सिखाये हुए वाक्य कह रहे है। गोविन्द इस बात को समझने लगा था कि पिता में उसे लेकर अधिकार-भाव रह ही नही गया है। वह आगे क्या करना चाहता है? वह कहाँ पढ़ेगा? आदि बातें पिता के द्वारा न पूछी आकर पिता के मित्र पुजारी जी के द्वारा पूछा जाना सदा उसे उलझन में डालता रहा है।

यह ठीक है कि गोविन्द के फूफा पण्डित आनन्दशंकर दवे के यहाँ जाने पर केवल गोविन्द को ही नही पण्डित उत्सवलाल जोशी को भी हल्की निश्चिन्तता अनुभव होती। परन्तु स्वयं उनकी गृहस्थी पुत्र रविशंकर की हत्या के बाद से लँगड़ी हो गयी थी। अब उनमें दौड़-धूप करने की इतनी शक्ति भी नही रह गयी थी कि गाँव का भी सब हिसाब-किताब देखें सम्हालें और वडनगर रोज, पहले की तरह लौट आएँ। पौत्र कृष्ण शंकर अभी गोविन्द से भी छोटा था। पण्डित आनन्दशंकर दवे चाहते बहुत हैं कि अपने इस एक मात्र पौत्र को उचित शिक्षा दें परन्तु दिनोंदिन उनका गिरता स्वास्थ्य

उन्हें शंकित किये था कि कहीं समय के पूर्व ही इस बालक पर गृहस्थी का बोझ न आ जाए। यदि किसी दिन-ऐसा हो जाए तो उस दिन की कल्पना से ही उन जैसा कर्मठ व्यक्ति भी अन्तर में हाहाकार से भर उठता। विधवा वहू अकेली कैसे क्या करेगी? वैसे भी कुछ खास जमा-जथा तो नहीं थी पर एक हैसियत अवश्य थी। चूंकि वहू बहुत समझदार थी, अतः कृष्णशंकर भी अपनी आयु की दृष्टि से कहीं अधिक गम्भीर, चुप्पा हो गया था। हाँ, रविशंकर की पुत्री पण्डित बसन्तीलाल उपाध्याय को व्याही गयी थी और वह सुखी थी। पण्डित आनन्दशंकर दवे ने जैसा जीवन भोगा था उसके कारण वह कर्मठ होते हुए भी आकण्ठ करुणामय हो गये थे। उन्होंने तो अपने साले पण्डित उत्सव-लाल जोशी से बराबर कहा कि वह क्यों हाथ से खाना बनाते हैं? वैसे उनका यह कहना यदि शोभा देता था तो पण्डित उत्सवलाल जोशी का स्वयंपाकी बना रहना भी गौरवमय था। हाँ, जिन दिनों गोविन्द आता उन दिनों सप्ताह में दो-एक बार तो अवश्य ही पिता-पुत्र को उनके यहाँ खाना ही पड़ता।

इस बार जब गोविन्द मेट्रिक की परीक्षा देकर पिता के पास पहुँचा तो राम-मन्दिर वाले पुजारी जी तथा पण्डित आनन्द शंकर दवे ने पण्डित उत्सव लाल जोशी की सांसत देखकर सुझाव दिया कि क्यों नहो गोविन्द का विवाह कर देते? बहू घर में आ जाएगी तो खाने-पीने की झंझट तो नही रहेगी। आज जो घर, भूत का डेरा बना हुआ है, वह तो नही रहेगा।

— क्या मतलब? मैं अपने स्वार्थ के लिए पुत्र का भविष्य बिगाड़ दूं?

पुजारी जी की समझ में यह नहीं आया कि इसमें भविष्य बिगड़ने की क्या बात है?

— क्या शादी कर लेने से गोविन्द का भविष्य बिगड़ जाएगा?

— और नहीं तो क्या। अभी उसे आगे पढ़ना है। पढ़ना जरूरी है कि विवाह?

— तो आप क्या इसी तरह बर्तन घिसते रहेंगे?

— यह तो अपना-अपना भाग्य है महाराज!

— आप अपने प्रति बहुत कटु हो गये है जोशी जी!

— मेरा गोविन्द पर कोई अधिकार नहीं है पुजारी जी! मैं उसके मार्ग में रोड़ा नही बनना चाहता। मेरे भाग्य से तो वह पागल हो चुका था और अपने भाग्य से वह आज यहाँ तक पहुँचा है। अगर अपने किसी पूर्वजन्म के पाप के कारण वह मेरा पुत्र हुआ है तो अब तो कम से कम मैं उसे अपने कीचड़ में तो न घसीटूं।....पुजारी जी! जब आदमी किसी की सहायता न कर सके तो उसे मार्ग से हट जाना चाहिए। इतना तो कोई भी कर सकता है।

— आप भी अजीब अपसंग आदमी है।

— आदमी अपसंग न हो तो क्या करे? तुलसी बाबा ने कहा है न कि—ज्ञानी भुगते ज्ञान से मूरख भुगते रोय। —एक पुत्र हो चाहे दस हो, कभी आदमी को अपने पिता होने का अनुचित लाभ नही उठाना चाहिए।

जब ऐसी ही चर्चा -पण्डित आनन्द शंकर दवे के साथ उनकी हुई तो दवे जी

चौंके। वह जीवन भर हेड मास्टर रहे थे। अनुभव और ज्ञान में वह पण्डित उत्सवलाल जोशी से कहीं अधिक सम्पन्न थे। जो कुछ उन्होंने पत्नी की बीमारी को लेकर, पुत्र की हत्या के बाद भोगा था, उसे उनकी विवशता ही कही जाएगी। वह ज्ञान से भोगना था, असंगता नहीं थी। वह प्रायः भीख उठते थे। वह अधिक से अधिक ज्ञानी थे परन्तु पण्डित उत्सवलाल जोशी की भांति असंग नहीं थे। पुत्र था परन्तु उससे कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं मानते थे कि जिसे अपेक्षा कहा जाता। वह 'कृष्णार्पण' जैसा ही था। अपने मन की आसक्ति से निरन्तर जूझते रहते ताकि किसी भी प्रकार ऐसी रागात्मिकता न जागे जो पुत्र के मार्ग में बाधक बने।

— तो उत्सवलाल! तुम पुत्र के लिए कर्तव्य भी नहीं अनुभव करते होगे।

— यह आप कैसे कहते हैं?

— जब गोविन्द पुत्र ही नहीं हैं तो फिर कर्तव्य कैसा?

— जीजा जी! आप तो ज्ञानी हैं, मैं तो छोटा-मोटा स्टाम्प-वैन्डर हूँ, भला आपके सामने क्या कह सकता हूँ पर आपकी बात क्या सही है? गोविन्द मेरा पुत्र है तो क्या मेरा पितृत्व उसके मार्ग में आड़े आ जाए? मुझे दोनो बखत भोजन, कपड़ा, दवाई-दारू का प्रबन्ध करे और अपने तथा अपने भविष्य के बारे में कुछ नहीं सोचे? मैं तो जीवन भर यहाँ के कुएँ का मेंढक बना रहा तो क्या वह भी बना रहे, खासकर तब भी जब भगवान ने उसे कुछ बन सकने का एक मौका दिया हो? मैं पिता होकर बाधा बनूँ? कल जब वह बड़ा होगा, कुछ करना चाहेगा तब पता नहीं कितने लोगों की बाधाएँ, विरोधों का उसे सामना करना पड़ेगा। तब मुझमें और दुनिया के दूसरे लोगों में क्या अन्तर रहा?

— नहीं, मेरा मतलब था कि बहू यहाँ रहे तुम्हारे पास और गोविन्द दो-चार बरस में पढ़ लिखकर लौट आए। इस बीच तुम्हें, तुम्हारे घर, तुम्हारी इस वीरान गृहस्थी को वह बहू सम्हाल लेगी।

— जीजा जी! मैं गोविन्द को अपने ओर से मुक्त कर चुका और मेरा क्या? आज मरे कल दूसरा दिन। उसे अभी बहुत करना है। वह करेगा कि नहीं इसका निर्णय, संकल्प भी या तो वह या पण्डित शिवशंकर आचार्य ही करेंगे। मुझसे जो कुछ सम्भव होगा वह करने के लिए मैं बाध्य हूँ। परन्तु मैं गोविन्द को किसी बात के लिए, अपने सुख-सुविधा के लिए बाध्य नहीं कर सकता। मेरे पास और क्या है उसे देने के लिए? न जमीन, न जायदाद। एक टूटा-फूटा सा घर और अधिक से अधिक सौ-पचास रुपये—इसके लिए उसकी संभावनाओं पर पानी फेरूँ? पिता होकर ऐसा अमानवीय कृत्य करूँ?

पण्डित आनन्द शंकर दवे को कभी-कल्पना नहीं रही होगी कि एक साधारण क्लर्क भी जीवन को इतनी गहराई से थामे हुए है। जीवन से जो सीखता है वह अत्यन्त विनयी हो जाता है।

इधर साले-जीजा यह चर्चा कर रहे थे और उधर गोविन्द अपनी भाभी के पास

बैठा हुआ था। शकुन्तला चूल्हे पर चढ़ी सीमती सब्जी पर भी ध्यान रखे थी और साथ ही आटा भी मांड़ रही थी।

— गोविन्द! मेट्रिक पास कर लेने के बाद क्या करने की सोचते हो?
— पता नहीं शिवशंकर दादा क्या सोचते हैं।
— तुम भी तो कुछ सोचते होगे।
— सोचने लायक अभी बुद्धि कहाँ आयी?
— तुम्हारे बराबर के लोगों के तो शादी-ब्याह तक हो जाते हैं।
— दूसरों के साथ अपनी क्या बराबरी भाभी!
— लेकिन तुम्हें अपने बाबा के बारे में भी सोचना चाहिए।
— क्या?
— वह इस तरह कब तक खटते रहेंगे?
— तभी तो मुझे खूब पढ़-लिख लेना चाहिए जल्दी से ताकि मैं बाबा की ठीक से देख-भाल कर सकूं।
— क्यों मेट्रिक पास हो ही रहे हो, नौकरी की कोई कमी है?
— आप भी भाभी! कमाल करती हैं। यह मेट्रिक तक पढ़ना भी कोई पढ़ना है?
— तो क्या बालिस्टरी करोगे?
— आपके मुंह में घी-शक्कर!!
— तो क्या तब तक बाबा ऐसे ही एक वखत खाएँ, हाथ से सारा काम करें?
— आपको तो लगता है कि सारे रोगों की एक ही दवा मालूम है—विवाह!!

और वह हँस पड़ा। फिर बोला,

— लगता है इस बिचारे कृष्णशंकर की शामत बड़ी जल्दी आएगी।
— क्यों?
— आप भी तो खटती हैं। कृष्णशंकर की बहू आएगी तो आपको आराम मिलेगा।
— स्त्री का खटना, खटना नहीं होता। और फिर अभी तो उसके काका गोविन्द का विवाह हुआ नहीं तो भला भतीजे का विवाह हो जाएगा?
— आप तो मेरे विवाह के ऐसे पीछे पड़ी हैं जैसे कि कोई लड़की सोचे बैठी हैं।
— हाँ तो भरी, एक नहीं दस मिल जाएँगी।
— सच?? तब तो मारे गये भाभी!

और उसने ऐसा मुँह बनाया कि शकुन्तला हँस पड़ी।

जीवन से सीखने वाले को ज्ञानी कहते हैं मगर जो आयु से सीखते हैं वे केवल वृद्ध होते हैं। जब भी गोविन्द से पण्डित आनन्दशंकर दवे ने उसके लिखने-पढ़ने आदि के बारे में चर्चा की होगी तभी उन्हें गोविन्द की अपरिग्रही माया वाली अनासक्त बात सुनकर यही लगा होगा कि यदि इसे जीवन में कुछ करने का अवसर मिला तो निश्चय ही कुछ करेगा। अभी यह भले ही दीन लग रहा हो परन्तु समय, अवसर आने पर यह वर्चस्वी हो सकता है। वैसे भी जब सामान्य स्थिति में पिता-पुत्र कभी अकेले में

सम्प्रेषित नहीं होते तब भला गोविन्द और पण्डित उत्सवलाल जोशी आपस में क्या कहते ?

वैसे तो ग्रीष्म तप रहा था। नदी में भी जल काफी कम हो गया था। नदी के दोनों ओर जो खांकरे [ढाक] का जंगल है, उसमें प्रातःकाल की ठण्डी हवा बड़ी सुखद बह रही थी। सवेरे की इस हवा में पलाश के रहे-सहे फूल अपनी लालिमा, सिन्दूरी सौन्दर्य को जैसे बचाये खड़े थे। वे भी जानते हैं कि बैशाख-जेठ मे पत्तों का हरापन रह जाए यही बहुत है, फूलों के रंगों का जो न हो जाए थोड़ा है। दिन भर के तपते आकाश में, खुली तमतमायी धूप में वृक्ष अपने अन्तर का जलत्व कितना फूलों को बराबर देते रहे हैं कि उनका वर्ण देखने वाले का आनन्द दे। यह क्या कम संघर्ष है ?

पण्डित उत्सवलाल जोशी नैमित्तिकता में व्यस्त थे। गोविन्द पिता को व्यस्त देखकर खाँकरे के इन जंगलों में घूमने निकल आया था। जहाँ भी नदी के जल को थोड़ी गहराई मिलती या ऊँची कगार, कि नदी बड़ी उत्सवप्रिया हो उठती है। जल का प्रवाह भी वहाँ बड़ा प्रशान्त हो उठता। दोनों किनारे भी बड़े तुष्ट, संयत लगने लगते। खांकरों के बीच से गाड़ियों की गरवट या पगडंडियाँ फिसलती हुई, फैली हुई चली गयी होती हैं। न जाने किन अनजान गांवों, लोगों तक ये पथ, ये रास्ते ले जाते हैं। हाट के दिनों मे बोतल में तेल और जोट के खूँट में या आँचल के सिरों मे गुड़ की जलेबी या नमकीन सेव बांधे अनाम ग्रामीणों की भीड़ एक के पीछे एक चलती हुई कैसे मानवीय चीटियाँ लगती हैं न ? चीटियाँ क्या हैं ? अनाम होना ही तो चीटी होना है। कैसी जिज्ञासा होती है कि इन पथों पर चलते ही चले जाएँ। जंगलों से होते हुए ये पथ डूंगरियों पर चढ़ कर कैसे नीचे उतर कर अनाम बने न जाने कहाँ चलते चले जाते हैं। क्या कोई ऐसा हो सकता है जिसे सब ऐसे ही जानें जैसे कि यह व्यक्ति नहीं, आत्मीय है ? आत्मीयता की यह तलाश ही तो इन पथों का उद्देश्य रहा है। कोई इन पथों पर चल कर भटक जाता है और कोई इन पर चलकर अपने घर, आत्मीय जनों के बीच पहुँच कर कैसे सन्तोष अनुभव करता है। चारों ओर मनुष्य की ही महत्ता है। पथ या अन्य कुछ तो मात्र निमित्त है। सब कुछ का भोक्ता, उपभोक्ता मनुष्य है इसीलिए जयकार और हाहाकार भी मनुष्य का ही होना है। गोविन्द को यह देखकर कैसा अप्रिय लग रहा था कि प्रातःकाल का अर्थ मनुष्य के अर्थ से कितना निरपेक्ष है। और प्रकृति के इस निरपेक्ष अर्थ को शेष सब समझते हैं। कहीं किसी पेड़ पर बैठा अकेला कौवा भी चौंक-चौंक कर निहारता मिल जाएगा। उसके गले और देह के परों को हवा यद्यपि अस्त-व्यस्त कर रही होगी परन्तु वह प्रकृति से तादात्म अनुभव कर रहा होगा। गिलहरियाँ गूलरों के लिए उछल-कूद करती हुई चिचियाती पेड़ों पर लकीर खींचते हुए सर्र-सर्र भागी फिर रही होंगी। इस समय कहीं कोई विशेष शब्द भी नहीं होगा। एक गुँती हुई निर्जनता, सन्नाटा जंगलों में, जंगलों के ऊपर, जंगलों के बीच से ऐसे चला गया

होगा जैसे समग्रता, मलमल का इतना बारीक वस्त्र है, जो है भी और नहीं भी।

दूरी पर नहाते हुए पिता को देखकर गोविन्द को न जाने क्यों पिता के प्रति मोह हो आया। क्या मिला पिता को? केवल हाहाकार ही तो। किसी के लिए यह संसार किमखाब की तरह रंगीन, चिकना और मूल्यवान होता है परन्तु बहुतों के लिए एक ऐसी कंथा जो कन्धे का बोझ है जिसे उतारने का अर्थ स्वत्व से हीन हो जाना है परन्तु ढोने का अर्थ तो केवल भयावहता ही है। नित्य वही रोज-रोज का बँधा-बँधाया जीवन। कैसा दबा देता होगा न? आदमी ऐसे में किसी को पुकारना भी चाहे परन्तु एक तो किसे पुकारे? और पुकारना; किसी को, किसी दूसरे को उसके लक्ष्य से वंचित करना ही तो है। आप कोई भी क्यों न हों और पुकारा जाने वाला व्यक्ति आपके लिए कोई क्यों न हो, परन्तु आपको उसे लक्ष्य भ्रष्ट करने का क्या अधिकार है? मनुष्य इतना विवश क्यों है? क्या एक बार गिर जाने पर उठना सम्भव नहीं? क्या इतनी भीड़ होती है इस जीवन-यात्रा में? हमारी आँखें, हमारा विवेक केवल अपने को ही देखने-समझने के लिए होता है? क्या हम सच ही कोई बहुत महत्वपूर्ण कार्य कर रहे होते हैं? जीवन के इस बँधे-बँधाये ढाँचे, स्वरूप का क्या इतना मूल्य है कि हमें अपने पार्श्व में गिरा मनुष्य, लँगड़ाता व्यक्ति कुछ भी अभिव्यक्ति करता नहीं लगता? और किस प्राप्ति के लिए यह आत्मनिष्ठता? पर-उपेक्षा? क्या हम सनातन रहने, देखने और भोगने के लिए हैं? गोविन्द को लगा कि नहीं उसका कर्त्तव्य पिता के प्रति सर्वोपरि है। घाट के पत्थरों पर गायत्री-जाप करते पिता, बर्तन मलते पिता, उसकी चिन्ता करते पिता उसके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इस बार उसे पिता पहले की अपेक्षा कहीं अधिक थके हुए, वृद्ध लगे। माना कि नियमितता ने उन्हें सहेज रखा था परन्तु उनके अन्दर की थकान, टूटन झाँकी पड़ रही थी। उसे लगा कि वह जल्द से जल्द पढ़-लिखकर कोई काम-काज करे ताकि पिता को थोड़ा-सा तो आराम दे सके। पहली बार पिता को देखकर उसे लगा कि व्यक्ति जीवन में कितना अवश होता है। ऐसा नहीं कि उसने मानवीय विवशता पहली ही बार देखी थी। मानवीय विवशता के कई रूपों से वह परिचित हो चुका था। दादा, पण्डित शिवशंकर आचार्य के साथ उज्जैन जाकर संबंधियों के यहाँ उसने अनेक परिवारों में बँधे लोगों की विवशताएँ देखी हैं। परन्तु देखना एक बात है और उसकी ऐसी प्रतीति जो आपको आमूल हिला जाए इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति के अपने पैरों के नीचे तपती बालू का अवैतरित मरुस्थल का विस्तार हो। तभी यातना समझ में हो नहीं आती बल्कि यातना आप में अनुस्यूत हो जाती है। यातना का भोग नहीं बल्कि यातना की प्रतीति ही आपको यातनाजित बनाती है।

पण्डित आनन्द शंकर दवे के यहाँ से पिता-पुत्र भोजन करके लौटे थे। अपनी छोटी-सी चौकी पर लालटेन रखे पण्डित उत्सवलाल जोशी शायद टिकटों का कुछ हिसाब-

किताब लगा रहे थे। गोविन्द भीतर के आँगन में बिस्तर लगा कर लौटा था।

— तो तुमने बताया नहीं कि तुम्हें क्या-क्या कपड़े चाहिए। आगे पढ़ने जाने के लिए कितना पैसा चाहिए।

— अभी तो मेरे पास कपड़े हैं बाबा! और आगे पढ़ने जाने में कितना क्या पैसा चाहिए यह दादा ही बता सकेंगे। अभी तो यह भी तय नहीं कि धार जाना होगा कि उज्जैन।

— कहीं भी सही, जाओगे तो। तुम खुद समझदार हो। पैसा, पैसा ही होता है, चाहे वह किसी का हो। अच्छा हो कि पैसे का सदुपयोग हो। और तो हम लोगों की कुछ पूँजी है नहीं। कितना क्या भाग्य लेकर आये हैं यह भी नहीं कहा जा सकता। यह एक संयोग जो तुम्हें उपलब्ध है उसका सदुपयोग कर लोगे तो यही काम आएगा।

और गोविन्द ने देखा कि बाबा के माथे पर पसीना बहने लगा है। उन्होंने बाँये सीने पर जोरों से दबा रखा है, और वह लेटना चाह रहे हैं। उसने लपक कर पिता को सम्हाला।

— क्या हुआ बाबा!....आप ऐसा क्यों देख रहे हैं?

पण्डित उत्सवलाल जोशी की आँखों से आँसू बह रहे थे। उनके मुख पर अन्तर की पीड़ा लिखी पड़ रही थी। वह बोलना चाह रहे थे पर अटपटा रहे थे।

— गोविन्द!... सच में मैं तुम्हारे लिए कुछ नहीं कर सका न?....बेटा!....मुझे लिटा दे... शायद मेरा समय पूरा हो गया....पर तू क्या करेगा अब?...नहीं वह शिवशंकर तो है ही....मुझे अब लिटा दे....बेटा!!....हे भगवान!!

और गोविन्द कुछ समझे कि क्या है इसके पूर्व ही पिता को दिल का दौरा पड़ा। हठात उसकी समझ में आया कि जाकर फूफा जी को दौड़कर बुला लाए और वह तीर की तरह निकला। आठ-दस मकान की छोटी [दूरी] पर ही तो फूफा रहते थे। पण्डित आनन्दशंकर दवे इस आयु में भी लपक कर आये परन्तु इस बीच पण्डित उत्सवलाल जोशी अपनी इहलीला समाप्त कर चुके थे।

मृत्यु भी एक औपचारिकता है। जिस दिन यह देह आती है सबसे पहले उसे स्नान करवाया जाता है और जिस दिन जाती है तब भी उसे स्नान करवाकर ही विदा दी जाती है। असंग व्यापार है यह जीवन, जगत और स्वयं प्रकृति। यहाँ कोई भी पूर्ण नहीं है फिर भी मनुष्य इस तृष्णा के लिए कहाँ-कहाँ नहीं भागता है। कैसे-कैसे कोटे-परकोटे खड़े नहीं करता। प्रत्येक घर के दोनों ओर 'लाभ-शुभ' लिखा होने पर भी कोई दरवाजा ऐसा नहीं होगा जिसने यदि वधुओं का मांगलिक प्रवेश न देखा होगा तो अपने प्रियजन की अर्थी निकलती न देखी होगी। मंगलगान और चीत्कार के बीच सारी मानवीय

उत्सवता सम्पन्न होती चलती है। जीवन की मार से हर आदमी प्रताडित होते हुए भी यह कैसी ललक है कि इस हड्डी के टुकडे को सचमुच का भोजन समझ कर झिंझोडता ही जाता है।

सब कैसे अविश्वसनीय ढंग से सम्पन्न हो गया। कल रात तक पिता थे और आज""?? आस-पड़ोस के लोगों ने कितने सहज भाव से अर्थी तैयार की। बांस लाये गये। दौड़कर हीरालाल सुतार [बढ़ई] अपने यहाँ से आरी भी ले आया। कटे बाँसों के लिए हरखचंद की दुकान खुलवाकर सुतली का बण्डल लाया गया और देखते-देखते अर्थी भीतर पहुँचा दी गयी। पण्डित आनन्द शंकर दवे ने भरी आँखों और गले से पण्डित उत्सव लाल जोशी को गोविन्द की सहायता से अन्तिम यात्रा के लिए कोरी धोती में लपेट कर लिटाया और आस-पास की जमा स्त्रियों के बीच शकुन्तला भाभी की करुण-चीत्कार के बीच पहली बार जब अर्थी उठायी गयी और 'राम नाम सत्य है,' समवेत स्वर में कहा गया तो पण्डित आनन्द शंकर दवे अपने को नही रोक सके,

— उत्सव लाल तू भी अब चला ?

पर गोविन्द के मन में क्या था यह वह स्वयं नही समझ पा रहा था। कोरी धोती में एक वस्त्र पहने नंगे पैरों हाथ में दाह के लिए धुँधुआता कण्डा लिये वह अर्थी के आगे-आगे चलता रहा। यह नही कि वह सोच नहीं रहा था....बाबा कुछ बोल रहे थे। बोलना शायद पूरा भी नहीं हुआ था। वह उसको लेकर चिन्तित थे। वह अपने जीवन के अनुभवों का निचोड़ उसे सौंपने को आकुल थे। शायद ही कभी बाबा ऐसे डूबकर, मनोयोग से उससे बोले होंगे। हठात अपना अन्त आया देखकर उन्हें कितनी परेशानी हुई थी। निश्चय ही अभी चले जाने की उनकी कोई मानसिक तैयारी भी नही थी। स्वस्थ क्या, लगभग पूर्ण स्वस्थ थे। वैसे तो प्रत्येक मरने वाला बाद में अच्छा व्यक्ति माना जाता है। परन्तु राम मन्दिर वाले पुजारी जी जिस प्रकार रास्ते भर रोते रहे उसे देखकर यह नही कहा जा सकता कि वह उनका प्रदर्शन था।

धूप तेज हो, दोपहरी हो जाए इसके पूर्व ही शवदाह सम्पन्न हो जाए यही सोच कर शवयात्रा बहुत सबेरे ही आरम्भ हो गयी थी। और फिर होना ही क्या था। दस-पाँच आदमी ही तो जुटने थे। नदी में शव को स्नान करवाया गया। इसी बीच चिता के लिए लकड़ियाँ चिन दी गयी थीं। अर्थी पर लेटे हुए बाबा का मुँह, उनकी नाक देखकर पहली और अन्तिम बार गोविन्द को लगा कि बाबा का वर्ण कितना गौर रहा होगा। नाक भी कितनी पतली, सुंती थी। हवा में उडते बालो को देखकर लग रहा था न कि बाबा अभी सोये हुए हैं और जरा सी भी दरवाजे की या पैरो की आहट होगी तो चौंक कर उठ बैठेंगे और पूछेंगे—

— कौन ? गोविन्द !!

और जिस समय अर्थी पर से शव को उठाकर लकड़ियों पर रखा गया और फिर उस पर लकड़ियाँ चिनी जाने लगी तो गोविन्द को अन्तर में कैसी असुविधा होने लगी कि ये लकड़ियाँ बाबा को चुभ नहीं रही होंगी ?""पर बाबा की देह का स्पर्श जब शव रूप में

उसने किया था तो पहली बार उसे लगा कि देह का शव होना क्या होता है। देह वही होती है पर उसकी संस्पर्शिता न जाने कहाँ चली जाती है। देह, देह न लगकर पदार्थ का ढेर हो गयी थी। जब गोविन्द ने अग्नि दी तो पण्डित आनन्दशंकर दवे उसके बाद उसे अपने पास लिवा लाये और पेड की छाया में बैठ गये। अब बाबा अग्नि हो रहे थे या अग्नि बाबा हो रही थी, कहना कठिन था। चिता में से उठता हुआ धुंआ अपनी गंध के कारण अमांगलिक लग रहा था। निर्धूम, निर्गन्ध नही था। धूप फैल आयी थी। अब तक पिता इसी नदी में रोज स्नान करने आते थे। धोती धोकर फैला देते थे। झाड़ियाँ तक जैसे उन्हें, उनकी धोती पहचानती थीं। गोविन्द को लगा जैसे आम की डाली में अभी भी बाबा की धोती को पंख फड़फडाते कबूतर सी हवा में बोल रही है। यह प्रकृति इसका सारा व्यापार यथावत रहेगा। केवल एक व्यक्ति के न रहने पर क्या इसमें किसी प्रकार की कमी आएगी? प्रकृति यदि निरपेक्ष न हो तो अनुक्षण होने वाला संहार देखना उसके लिए असह्य हो जाए। हवा का बीत जाना, जल का निरन्तर बहना, दिन रात का होना""सभी कुछ तो संहार है। हम तो किसी एक को रो-गाकर अपने घर चले जाते हैं पर प्रकृति के सीने पर जो महासंहार निरन्तर घटित होता रहता है, तो वह क्या करे? अच्छा हुआ प्रकृति को भाषा या जिह्वा नही मिली, नही तो उसका हाहाकार सुनकर हम इतना भी नही जी पाते।

पीपल का वृक्ष भी अजीब है। घर में यदि पीपल फूट आये तो व्यक्ति कांप उठता है, नोंच फेंकता है। परन्तु देवस्थानों, सार्वजनिक मांगलिक कार्य-स्थलों में पीपल से अधिक पवित्र वृक्ष नही। यह पितर-वृक्ष भी है, सर्प-वृक्ष भी है तथा वासुदेव तो है ही। सर्पों को बहुत प्रिय है। अशौच वाले सूतक के दस दिनों तक जल और प्रकाश के लिए इसी में हँड़िया टांगी जाती है, ग्रास रखा जाता है और दीपक जलाया जाता है। वृक्षों में सबसे अधिक संस्पर्शी पत्र यदि किसी के होते है तो इसी पीपल के। पत्ते हवा में हिलते तो सभी पेड़ों के है परन्तु तालियाँ बजाकर शोर करते तो पीपल ही मिलेगा। हवा कही भी हो, कैसी भी हो पीपल-पत्र जरूर प्रतिक्रिया करेंगे। इतने गौर तने का होने पर भी रात्रि में इसके नीचे सोना वर्जित है। लगता है कि वृक्षो में यदि मनुष्यवत आचरणकर्ता कोई है तो वह पीपल ही है। रोज शाम को हँडिया में जल, ग्रास और दीपक रखते गोविन्द को पीपल बात करता सा लगता। कई बार उसे लगता कि पीपल कह रहा है कि उसके बाबा को जल और ग्रास पहुँचाने में वह कोई भूल नही करता। उनकी आत्मा अभी पितर रूप में यही इसी वायुमण्डल में भटक रही है। वह रोज आती है और अपना दाय ले जाती है। जिस दिन भी उसके पिता की आत्मा कोई सन्देश देगी वह उसे देना नही भूलेगा। यह सोचतें-सोचते पीपल ही बाबा जैसे लगने लगता। साँझ की घरघरी बखत में बाबा की ऐसी अनायास उपस्थिति से भय तो नही उलझन होने लगती। प्रायः उसके मन में आता कि बाबा अपनी बात पूरी तो कर जाते।

पण्डित शिवशंकर आचार्य समाचार मिलते ही अपनी माँ के साथ आ गये। समाचार आते-जाते तीन-चार दिन लग गये। उज्जैन से भी दुर्गा और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल आ गये। रतलाम से पण्डित बसन्तीलाल उपाध्याय और कल्याणी आ गये। उत्तरकार्य ही था। इसे चाहे अन्तिम कार्य कह लो या गोविन्द के जीवन का पहला कार्य। कार्य, कार्य होता है। न वह अशुभ होता है न शुभ। दशा और त्रयोदशा तक कुल-कुटुम्ब, परिवार के कारण गोविन्द को कर्मकाण्ड से ही फुर्सत नहीं मिली है। हाँ, शिवशंकर दादा के आ जाने से उसे मानसिक सुरक्षा अनुभव होने लगी।

जब सारा कार्य सम्पन्न हो गया तो यह निश्चय हुआ कि अभी तो घर की देखभाल पण्डित आनन्दशंकर दवे ही करें। आगे की व्यवस्था पर विचार कर लिया जाएगा। इधर यह भी ज्ञात हुआ कि चूंकि श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय अब उज्जैन में ही रहकर अपना शांत जीवन व्यतीत करना चाहती हैं इसलिए पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट 'साहब' का सुझाव था कि क्यों नहीं गोविन्द धार के बजाय उज्जैन में ही गायत्री देवी के साथ ही रहे। अभी अन्तिम रूप से तो तय नहीं हुआ परन्तु चलते-चलते गोविन्द को लगा कि अपनी इस पैतृकभूमि से अब उसका सम्बन्ध शायद हमेशा के लिए विच्छिन्न हो गया है।

कार्तिक-चौक वाला हवेला पण्डित महादेव शुक्ल ने बनवा तो ली थी कि चल कर वहां रहेंगे परन्तु एक तो उनकी आवश्यकताओं को देखते हुए हवेली बड़ी बन गयी थी, दूसरे मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह जिस स्थान पर रहने लगता है वह स्थान उत्तरोत्तर उसके स्वत्व, व्यक्तित्व तथा रागात्मिकताओं का एक अविभाज्य हिस्सा बनता जाता है। मगर मुँहे वाला उनका यह घर आज भी काफी है, क्योंकि बच्चों को छोड़ दें तो तीन-तीन चार हो तो जने हैं। शायद पण्डित महादेव शुक्ल तो एक बार तैयार भी हो जाते परन्तु श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने बराबर इस स्थान परिवर्तन का विरोध किया होगा। इस घर में उनकी सारी आयु बीत गयी, अब क्या किसी दूसरे घर में जाना! माना कि आपका अपना ही है घर, पर है तो दूसरा घर ही। तब भी इस हवेली का एक औपचारिक सा गृह-प्रवेश भी कर दिया था। एक बाहरी कमरे में बैठक का प्रबन्ध भी कर दिया गया था, परन्तु यह हवेली मुख्यतः यजमानों के ठहरने के लिए ही काम आती थी। वर्षों बाद जब यज्ञोपवीत की बात उठी तो यही सोचा गया कि इस बार यह मांगलिक कार्य इस हवेली से ही किया जाए तो आने वाले मेहमानों को भी सुविधा हो। बात यद्यपि स्त्रियों के गले नही उतरी। इस मामले में दुर्गा भी सास के ही साथ थी। उसे न जाने क्यों लग रहा था कि उसका और उसके बच्चों का यह पहला करियावर है तो फिर इसी पैतृक-घर मे ही होना चाहिए। और जब स्त्रियों के इस विरोध करने पर पण्डित महादेव शुक्ल ने पूछा कि तब मण्डप कहां बनाया जाएगा ?

— क्यों ? इसी चौखण्डी में मण्डप बनेगा।

पत्नी की बात सुनकर सामान्यतः पण्डित महादेव शुक्ल बिगड़ते ही रहे हैं पर आज उन्हें हँसी आ गयी।

— सच कहते हैं आदमी का शत्रु उसका बुढ़ापा होता है।

— किसके बुढ़ापे की कह रहे हो ?
— तो देखो, तुम्हें मैं बूढ़ा कह रहा हूँ।
और पति की बात पर पत्नी भी हँस पड़ीं। बोलीं,
— नहीं, बात तो तुम ठीक कह रहे हो कि इस घर में काज-करियावर की जगह नहीं है पर हवेली में सो जाते न जाने क्यों मेरा मन नहीं मान रहा है।
— तुम सिर्फ बुढ़ा ही नहीं रही हो सनकी भी होता जा रही हो।
— मगर पहले काम यहाँ होते थे ?
— एक तो इस घर में काम ही कितने हुए हैं और जो हुए भी वे एक तो बरसों पहले हुए दूसरे इस पैमाने पर कभी नहीं हुए जैसा कि तुम चाहती हो।
— मैं तो इस त्र्यम्बक के विवाह की साँत [इच्छा] भी इसमें निकालूँगी।
— तो फिर उसके लिए तो यह घर बहुत छोटा है।....अच्छा, मान लो अंकपात वाले घर में किया जाए तो ?
— अब मैं मान गयी कि मैं तो कम बुढ़ायी पर तुम तो पूरे बुढ़ा गये हो।
आज वर्षों बाद दोनों पति-पत्नी बड़े ही सहज और आत्मीय ढंग से बातें कर रहे थे। शायद दोनों को ही अच्छा लग रहा था। आज घर में अनायास ये दोनों ही छूट गये थे। गर्मियों के बाद से गोविन्द को जब से दादा शिवशंकर उज्जैन छोड़ गये थे तब से दुर्गा प्रतिदिन चाहते हुए भी उससे मिलने नहीं जा पा रही थी। गोविन्द ही सप्ताह में एकाध बार आ जाता था। कुल एक बार ही वह सपरिवार श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय से मिलने गयी थी। बड़े-गणेश से दाहिने चलने पर महाराजवाड़ा स्कूल से थोड़ी ही दूरी पर किसी मराठा सरदार की छोटी सी हवेली खाली पड़ी थी, वही 'साहब' ने अपनी बहन के लिए उचित समझी। हवेली तो नाम मात्र की है। चार-पाँच कमरों की कॉटेज ही कहना चाहिए। उसके पीछे एकदम खुला विस्तार है तथा दूरी पर उस पार हरसिद्धी का मन्दिर दिखता है। पेड़ों की सघन छतनारी छाया है। अभी तो गायत्रीदेवी ने उसे किराये पर लिया है परन्तु उसे खरीदने की बात भी चल रही है। पास ही महाकालेश्वर, बड़े गणेश और हरसिद्धि हैं तथा क्षिप्रा भी बहुत दूर नहीं है। शान्त, एकान्त जगह भी है। गायत्री देवी जिस प्रकार का नियमित तथा धार्मिक जीवन जीना चाहती हैं उसमें शहर और लोगों की हलचल प्रिय नहीं हो सकती। 'साहब' के आग्रह पर ही पण्डित शिवशंकर आचार्य ने गोविन्द को श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय के यहाँ रहने दिया। नीचे के एक कमरे में वह रहता था, बाकी कमरों में श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय तथा उनकी दो नौकरानियाँ रहती थीं। दुर्गा ने भी गोविन्द को अपने यहाँ रखने का आग्रह नहीं किया क्योंकि शायद किसी स्तर पर जाकर उसकी सास को गोविन्द का रहना खलता। माना कि पण्डित शिवशंकर आचार्य उसकी पढ़ाई रहने-खाने आदि का पूरा खर्चा देते हों, खासकर छोटी बहन के नाते तो कुछ अधिक हो, फिर भी स्थिति निरापद नहीं होती। यह बात पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल भी जानते थे। नहीं बल्कि माँ कभी भी गोविन्द को लेकर घर में तथा घर के बाहर ऊ . .

सकती थीं। थोड़े दिन पहले ही बिशू-काण्ड की आँच बुझी ही थी तब क्यों नयी आफत सिर पर मोल लेते! गंगा मामी को आग भड़काते क्या देर लगती? वह अभी क्या, अगले जनम तक अपने पुत्र के अपमान का बदला लेना कभी नहीं भूल सकतीं। जिस दिन भी उनकी चलेगी वह काटे बिना नही रहेंगी। ऐसी स्थिति में जब श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के साथ गोविन्द के रहने की बात आयी तो एक तरह से त्र्यम्बक और दुर्गा को प्रसन्नता ही हुई। यद्यपि पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ने सच ही चाहा कि भाभी गायत्रीदेवी उपाध्याय क्यों अकेले रहती हैं, क्या उनका घर पराया है? परन्तु जब 'साहब' ने गायत्रीदेवी के एकान्त जीवन-यापन की बात कही तो सब चुप हो गये। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं था कि श्रीमती गायत्रीदेवी के मन में अपने देवर या देवरानी को लेकर कोई अन्यथा भाव है, बल्कि गत तीन-चार महीनों में स्वयं बड़ी होने पर भी अपने से वह आठ-दस बार देवर-देवरानी के घर गयी होंगी। जिस आत्मीयता से वह मिली है उसमें श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय अपनी जेठानी के अधिक निकट ही हुई होंगी। श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने व्यवहार के स्तर पर किसी सगे-सम्बन्धी को कुछ भी कहने का मौका नहीं दिया होगा इसीलिए उज्जैन में उनका आगमन और वास सभी को प्रिय लगा। इसी प्रकार अपनी स्वर्गीया भाभी श्रीमती विद्यादेवी भट्ट के भाई पण्डित नारायण जी पण्ड्या और उनकी पत्नी श्रीमती यमुनादेवी पण्ड्या के प्रति भी जो आत्मीयता उन्होंने दिखायी उसके कारण उन दोनों को भी निकटता लगी। बल्कि नारायण जी पण्ड्या से तो आये दिन वह कुछ-न-कुछ कर्म-काण्ड करवाती रहतीं। वैसे शुक्ल-परिवार से एकदम सीधा सम्बन्ध तो श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय का नहीं था परन्तु दो-चार बार जाकर यह प्रदर्शित कर दिया कि ये लोग किसी भी प्रकार अपनी अवमानना न मानें। चूँकि गोविन्द प्रायः शुक्ल-परिवार में ही आता-जाता था इसलिए भी अपेक्षाकृत श्रीमती गायत्रीदेवी दुर्गा और शुक्ल-परिवार के बारे में निकट से जानने लगी। वैसे शुक्ल-परिवार की महत्ता उज्जैन या जाति में कौन नहीं जानता था? पर जानने, जानने में अन्तर होता है। एक सूचना होता है, दूसरा आत्मीयता का जानना होता है। इस दूसरे प्रकार के जानने के लिए ही समय, स्थान, व्यक्ति अनेक बातें ऐसी होती हैं जिनका आपसी योग, सहयोग बनना होता है।

वैसे आज सवेरे गाँव से सूचना आयी थी पण्डित शिवशंकर आचार्य की, कि गोविन्द की तबीयत शायद कुछ खराब है, जरा पता करके सूचना भेज देना। गाँव से आया एक आदमी जब यह चिट्ठी लाया तो हठात दुर्गा को याद पड़ा कि हाँ, आज आठ-दस दिनों से लडका आया नहीं और ध्यान ही नहीं गया। दुर्गा ने जब पति से कहा कि, चलो गोविन्द को देख आएँ तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने कहा कि उन्हें तो म्यूनीसीपाल्टी में नक्शे पास करवाने हैं इसलिए नहीं जा सकते। अतः तय पाया कि वह नर्मदा मासी के यहाँ चली जाए और उनको साथ लेकर ही आए। जब बच्चों ने सुना कि माँ, गोविन्द मामा को देखने जा रही हैं तो वे सब भी साथ हो लिए। इसलिए इस समय घर में पण्डित महादेव शुक्ल और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल के अलावा और कोई नहीं था। चूँकि

यज्ञोपवीत का मुहूर्त निकलवा लिया गया था, अतः दोनों को चिन्ता होने लगी थी। पत्नी की बात सुनकर उन्होंने आश्चर्य प्रकट भर किया हालांकि आश्चर्य चकित बिल्कुल नही थे।

— ठीक है भाई, अब मैं बूढा भी हो गया हूँ। बुझ भी गया हूँ, पता नही क्या-क्या हो गया—हूँगा। शायद अभी तुम्हारे अरमान बाकी होंगे, हैं न?

बूढे व्यक्ति जब रसिया होने पर आते हैं तो बहुत कुछ आम खाने के बाद आम के चूसने जैसा ही होता है।

— बड़े आये मेरे अरमानों को कोसने वाले।

स्त्री और वाद्य में यह विशेषता होती है कि जरा छेड़ कर देखिए। चूँकि दोनों ही वर्षों-वर्षों बाद अनजाने ही, अनायाम स्त्री-पुरुष बनकर व्यवहार कर रहे थे, इसलिए दोनों एक दूसरे के लिए वाद्य बने हुए थे।

— कृष्णा! कैसे सारा जीवन बीत गया न।

आज वर्षों, वर्षों बाद पति ने उनको उनके नाम से पुकारा होगा। इसी 'कृष्णा' नाम से बहुत पहले शायद चालीस-पचास साल पहले उन आरम्भिक दिनों में पुकारते थे। पुकारते कहाँ थे, रात के एकान्त में कान में धीरे से कैसे 'कृष्णा! मेरी कृष्णा!' कहते थे और वह तन्मय हो जाती थीं। रसिया तो यह सदा के नम्बरी रहे हैं। जब वह आयी थीं तो नाक में नथ थी और नथ कभी इन्हे प्रिय नही रही जबकि नथ पर उनकी अपनी जान जाती थी। इन्हें तो बस नाक में हीरे की लौग की चमक बहुत सुहाती है।—कृष्णा! अपना जूड़ा खोल डालो।—खुले बाल अपने मुँह पर डाल उनमें अंगुलियाँ चलाना इन्ही 'पण्डित जी' को बड़ा प्रिय रहा है। आज यह भले ही गोमुखी में हाथ डाले घूमें या तिलक-छापा लगाएँ पर उन दिनों""बाबा रे! तभी तो औरत आदमी को बेवकूफ न बनाए तो क्या बनाए? आदमी भी कैसा पागल होता है कि उन दिनो बिना दाम की चाकरी करने को तैयार रहता है। तभी तो स्त्रियाँ वो, वो नाच नचाती हैं आदमियों से कि बस देखते ही रहो। घर के बाहर जो नाक पर मक्खी नही बैठने देते उनकी घर की कभी पोलपट्टी मालूम हो तो सारी मरजाद धरी रह जाए।""पर उन्होने तो कभी ऐसा नहीं किया होगा।

— बीतना ही था। क्या बहुत ललक रह गयी मन में?

और जिस ढंग से पति-पत्नी ने आपस में देखा उसे यदि कोई दूसरा देखता तो कहता कि दोनों बूढे-बुढिया पगला उठे है। दोनों हँस उठे। देह से तो नही पर मन से दोनों युवा-दम्पति हो उठे थे। देह की एकात्मता से कही अधिक रससिक्त मन का मिथुनत्व होता है।

— तुम वो अकपात वाले मकान के बारे में कुछ कह रही थीं।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने लगभग अपने सिर पीटने की मुद्रा में कहा,

— यों तो आप लोग बड़ी धौंस जमाते हैं और इतनी सी बात भी समझ में नहीं आती? वर्षों बाद पति-पत्नी जिस सहज आत्मीयता से बातें कर रहे थे उनकी सुगन्ध से दोनों प्रसन्न दिख रहे थे, वर्ना पत्नी के 'आप लोग' की व्यंजना क्या वह नहीं समझ रहे थे?

कोई और दिन होता तो शायद भड़क उठते और सिद्ध करने लग जाते कि स्त्रियों का बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं परन्तु इस समय सहज वातावरण ने उन्हें विनम्र बना दिया था।

— अरे भाई बात बताओगी भी या यों ही हवा में भाँजती रहोगी ?
— लो इत्ती मोटी बात नहीं जानते कि भूकंपात वाला घर जिस तरह का टूटा-फूटा है उसे पहले ठीक करवाओगे न ? बोलो।
— बोलो क्या ? अपनी बात बताओ।
— उसमें दो-चार हजार रुपये लगेंगे कि नहीं ?
— ठीक है, आगे बताओ।
— और जब तुम उसे ठीक करवाने जाओगे तो दुनिया कहेगी नहीं कि देखा शुक्लजी ने कैसे मजे में अब उस मकान पर भी कब्जा जमा लिया। सौतेली माँ का उत्तर-कार्य यों ही सैंत-मेंत किया था क्या ?

यह नहीं कि पण्डित महादेव शुक्ल अपनी पत्नी की बात से सहमत ही हो गये हों कि ऐसा करने पर दुनिया बिल्कुल यही कहने लगेगी परन्तु ऐसा कह सकती है—इस सम्भावना की ओर पत्नी का ध्यान गया और उनका नहीं, यह सोचकर ही उन्हें लगा कि स्त्री भले ही बड़ी-बड़ी दार्शनिक बातें न सोच पाए पर व्यवहार-जगत के बारे में उसकी पकड़ और परख किसी दर्शन से कम नहीं। बोले,

— कहने को भली चलायी तुमने, फिर भी तुम्हारी बात में दम है। लेकिन अब तुम ही कोई मार्ग सुझाओ।
— मार्ग क्या, करियावर तो सारा इसी घर में हो, हाँ आने वालों का, आगत-स्वागत हवेली में हो।
— वाह भाई वाह, इसको कहते हैं—लाल बुझक्कड़ बूझ सके, और न बूझे कोय।

और खिलखिला पड़े। पति की बात सुनकर श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल हठात हतप्रभ हुईं परन्तु पति की बात का मतलब समझ में आते ही वह भी हँस पड़ी कि सच ही उन्होंने क्या कोई मार्ग सुझाया भी ? और खुलकर हँसने में उनके सिर का पल्लू गिर पड़ा। जो बाल कभी भौंरे जैसे काले थे अब वे काफी चाँदी वाले हो गये थे पर उनका लहरीलापन किंचित भी कम नहीं हुआ था। इन्हीं केशों की माया तो पण्डित महादेव शुक्ल पर जीवन भर छायी रही। खुले केश देखकर उन्हें छूने का मन हो आया। पल्ला अभी ठीक करने को ही वह हुई होंगी कि उन्हें पति की आँखों में लालच झाँकता दिखा। वैसा उनका भी मन हो आया न कि अपने केश खोल डालें और पति का हाथ, ये प्रलम्ब अँगुलियाँ अपने बालों के माध्यम से अपनी देह और व्यक्तित्व के उस भाग तक अनुभव करें जिसके कारण स्त्री, माँ बनती है। सिर ढँकते हुए बड़ी ही मार्मिकता से पति की ओर देखते हुए चौंकने का ऐसा भाव प्रदर्शित किया जैसे उन्हें चोली बदलते हुए देख लिया गया हो।

— सच, तुम्हारा मन बड़ा खोटा है।
— क्यों भाई ! अब गालियाँ किस खुशी में मिल रही हैं ?

— जरा सा सिर क्या खुल गया कि लगे देखने।
— तुम्हारा ही मन डोलता होगा, अपने राम तो.....।
— संन्यासी है, हैं न? यह पट्टी किसी और को पढ़ाना जो तुम्हें पगड़ी-दुपट्टे में देखता हो।
— तुम किसी को संन्यासी रहने दो तब न?
— कोई सुने तो क्या कहे?.....क्या आज बाहर नही जाना है क्या?
अभी पण्डित महादेव शुक्ल कुछ जवाब दें इसके पूर्व ही 'कल' की आवाज हुई और उन दोनों ने देखा कि दुर्गा और बच्चे लौट आये हैं। साथ ही श्रीमती कृष्णादेवी को तभी यह ध्यान आया कि घरघरी बखत भी बीत गयी और कितना तो अँधेरा घिर आया है। बातों मे दिया-बत्ती का ध्यान ही नही रहा। पता नहीं दुर्गा क्या सोचे। और वह खिसिया गयी। अपनी खीझ छुपाते वह बोली,
— बहू! तुम आगपेटी कहाँ रख गयी थी, दिया-बत्ती कैसे होता?
यद्यपि दुर्गा स्पष्ट समझ गयी कि दिया-बत्ती न होने के पीछे आगपेटी कारण नहीं हो सकती थी क्योंकि एक तो आगपेटी वहाँ चूल्हे के पास आदि-काल से रहती आयी है और मान लो वहाँ किसी कारण से नही मिली या दिखी तो स्वयं उनके भण्डारे में क्या दूसरी नही थी? पर वह समझ गयी कि बातों में सासूमाँ बझी रही और अब खिसिया रही हैं। पर दुर्गा को क्या पता—कि उसकी सासूमाँ किन बातों में बझी नहीं, डूबी हुई थी।

जिस समय दुर्गा और बच्चे नर्मदामासी को लेकर श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय के यहाँ पहुँचे, गोविन्द उस समय कालेज से नही लोटा था। कालेज से नहीं लौटा था का तात्पर्य यह था कि शाम को कालेज मे कोई मीटिंग थी और वह उसी सिलसिले में गया हुआ था। श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने जब अपनी देवरानी और दुर्गा को देखा तो वह अन्तर से प्रसन्न हो उठी। शायद इसका कारण यह था कि वह अपने को गृहस्थी के पचड़ों से दूर रखने के लिए ही रतलाम से उज्जैन चली आयी थी ताकि कुछ भगवत-भजन ही कर सकें परन्तु पुत्र था कि आये दिन जमीन-जायदाद की समस्याएँ लेकर उन्हें कुछ न कुछ लिखता ही रहता था। उन्होने पति की मृत्यु के तत्काल बाद पुत्र को स्पष्ट कर दिया था कि उनका काम अमेठी वाली पेन्शन से मजे में चल जाएगा। उन्हें अब किसी भी सम्पत्ति-जायदाद में कोई रुचि नही है। पुत्र जैसा चाहे करे परन्तु पण्डित बसन्तीलाल उपाध्याय कुछ तो भावनावश तथा कुछ लौकिकतावश अपनी माँ को सर्वथा निर्द्वन्द्व कर देना ठीक नही समझते थे। समाज में, कुल-कुटुम्ब में कहने वालों की कोई कमी तो थी नही कि श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को आखिर रतलाम छोड़कर उज्जैन जाकर रहने की क्यो जरूरत हुई? यह बसन्ती और उसकी बहू कल्याणी नहीं चाहते थे कि वह यहाँ रहें। भला ऐसी स्थिति में कोई भला आदमी और क्या कर सकता था? जग-हँसाई हो, इससे तो अच्छा यही है कि चुपचाप भले-भले अलग हो जाओ। न यहाँ

रहोगे और न यह रोज को किट-किट होगी ।—यह दुनिया भी बड़ी अजीब है, किसी करवट न अपने चैन से रहेगी और न आपको रहने देगी । खाएँगे अपना और चिन्ता पड़ोस की करेंगे । अब श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय अपने से उज्जैन आकर रह रही हैं या लड़-झगड़कर या पुत्र-वहू से न बनने के कारण चली आयी हैं ? जो हो, मगर इन शुभेच्छुकों से पूछिए कि आपसे मतलब ? आपसे कुछ कहा क्या ? या फरियाद की, कि देखिए उनके साथ कितनी ज्यादती की गयी ? जब नहीं, तो फिर दो घड़ी के लिए जब आप आये हैं तो कुछ धरम-करम की बातें कीजिए, पान-सुपारी खाइए और अपने काम-धन्धे से लगिए । मगर नहीं, दूसरे के फटे में जब तक पाँव न दे लेंगे तब तक खाना हजम नहीं होगा ?—लोक-व्यवहार ऐसा ही होता है कि सामने वाला भले ही कुछ कह जाए मगर आपके मुँह से 'उफ' भी निकला नहीं कि दो-दो तमाशे खड़े हो जाएँगे कि हुए भले ।—और कुछ नहीं मिलेगा तो यही पूछेंगे कि यह गोविन्द आपका कौन लगता है ? जब कुछ खास नहीं है तो फिर याप इसे साथ में क्यों रखे हैं ? किसी दूसरे के लड़के पर खर्च करने से लाभ ?''''और''''और चाहे मुँह से नहीं परन्तु आँखें तो बहुत-कुछ मन की गन्दगी व्यक्त कर ही देती हैं ।''''आप चाहे जवाब दें, या न दें, लोगों के पास प्रश्न और उत्तर सदा तैयार रहते हैं । आपकी सहमति या असहमति का उनके लिए कोई अर्थ नहीं होगा । उन्होंने आपके सामने चर्चा भर कर दी । तो उसके बाद उन्हें पूरा अधिकार मिल जाता है कि वह किसी के सामने कुछ तो भी कहें ।

अभी-अभी एक ऐसी ही शुभेच्छुका का सामना तो हुआ ही था परन्तु उसके पूर्व बसन्ती का भी पत्र आया था कि क्या उज्जैन में मकान खरीदना उचित होगा ? रतलाम में जब इतने मकान खाली पड़े हैं तब एक मकान और खरीदना पैसा फँसाना ही होगा, और लाभ क्या ? रतलाम का खर्च अलग उज्जैन का खर्च अलग । ये दो-दो जगहों के खर्च क्या व्यर्थ नहीं हैं ? उन्हें क्रोध तो बहुत आया कि जो बात उनके पति ने कभी नहीं कही होगी, वही बात आज बेटा मुँह खोलकर कह रहा है । उनका मन तो हुआ कि वह यहाँ का भी सब छोड़-छाड़कर अज्ञातवास करने या तो काशी जी या हरिद्वार कहीं भी चली जाएँ । क्या होगा ? चाहिए ही कितना ? परन्तु भावावेश का कुछ अर्थ भी नहीं था और इस प्रकार के क्रोध या आवेश से बात भी नहीं बनेगी ।

वह इसी सब खिन्नता में थीं कि ये लोग पहुँचे । बच्चों को भी देखकर उन्हें खासी प्रसन्नता हुई । वह शायद ऐसा ही परिवर्तन चाह भी रही थीं जो आत्मीय लगे । श्रीमती नर्मदादेवी और दुर्गा ने उनके चरण-स्पर्श किये । बच्चों ने भी इन 'मासी-माँ' के चरण-स्पर्श किये । अभी ये लोग बैठे ही कि श्रीमती गायत्रीदेवी ने नौकरानी को आवाज दी,

— कालिन्दी !

और एक मराठी स्त्री ने प्रवेश किया । उसे देखते ही वह बोलीं,

— बच्चों को ले जाकर कुछ खिलाओ-पिलाओ ।

बच्चों को और चाहिये क्या था ? बच्चों के जाते ही कमरा ही नहीं वे तीनों भी निपट

हो आयी। कल से नवरात्र आरम्भ होने वाला था। अग्रहायण का मास जैसे मालवा के लिए ही बना है। एकदम समशीतोष्ण तापमान। विनम्र धूप, ठण्डा बायरा, वर्षाकाल के बाद की परिधानित धारित्री और स्वच्छ नील आकाश। यदि मनुष्य एक बार भी इस सम्पदा की ओर, इस वैभव की ओर देख ले तो वह बिना उदात्त हुए नही रह सकता। अग्रहायण का यह अपराह्न था। ऊपर के इस हॉल जैसे कमरे में पाँच अण्डाकार लकड़ी की खिड़कियाँ थीं, जो दो तल्ले वाले कमरे की ऊँचाई के कारण आकाश में ही खुलती थीं। दूरी पर के पैड़ों की गुल्मीय-गुच्छता अपने हरित वर्ण के साथ चित्र सी लिखी रहती थी। बीच की खिडकी के पास एक बड़ी सी मसनद थी जिस पर गायत्री देवी बैठती थी। आगन्तुकों के लिए भी आसन वाली विभिन्न चौकियाँ थी। पूरे कमरे में बड़ी सी दरी और उस पर एक बड़ा सा कालीन था। खिड़कियों पर जो झूलते हुए पर्दे थे वे प्रायः पार्श्व में बँधे लटके रहते थे। इसके अतिरिक्त कमरे में कोई विशेष सजावट नही थी। हाँ, दो-एक झाड़फानूस जिस प्रकार कपड़े में बँधे लटके हुए थे उससे स्पष्ट था कि किसी आयोजन आदि के अवसर पर ही वह खोले जाते होंगे और श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय जिस प्रकार का एकान्तवास कर रही थी उसमें ये आयोजन-अनुष्ठान अनावश्यक ही थे। दोनों ओर के पाँदों [पार्श्व दीवालें] में भी खिडकियाँ थीं पर वे दरवाजों की ढंग की थीं, जिनके शीशों के पल्ले सदा बन्द रहते। अवश्य ही यह हॉल उस मराठा सरदार का रंग-भवन रहा होगा। नीचे के तल्ले में बैठक, रहने के कमरे, रसोई-घर, नौकरों के आवास आदि की प्रशस्त व्यवस्था थी। चूँकि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय और गोविन्द के अलावा सिवाय नौकरों के कोई रहने वाला नही था इसलिए भी अधिकांश कमरे खाली पड़े रहते। गायत्रीदेवी सवेरे-शाम स्नान और पूजन-दर्शन के लिए ही नीचे उतरती थी, बाकी समय इसी हॉल में रहती। ऊपर इस हॉल से सटा एक छोटा सा कमरा सामने की ओर था जहाँ वह दिन में शयन, विश्राम कर लिया करती थी। उस कमरे को समेटते हुए इस हाल के सामने सडक की ओर एक खुला बारजा था जहाँ से दूर तक का दृश्य दिखलायी पडता था। चूँकि इस बारजे से अधिकांश बस्ती ही दिखती थी, इसलिए शायद उस मराठा सरदार ने और गायत्री देवी ही ने इसे कभी भी काम में नहीं लिया। यह इससे स्पष्ट था कि सफाई आदि तो बारजे की होती थी, वहाँ जो बेगमबेलिया की लता थी उसमे भी नित्य पानी दिया जाता था परन्तु मानवीय संस्पर्श या मानवीय उपस्थिति का अभाव स्थान और वस्तुओं को देखते ही पता चल जाता है। इस हॉल मे जाने वाला जीना नीचे के जिस कमरे से था वह एक प्रकार से नीचे का बैठकखाना था। यही पर कुर्सियाँ, दीवान और तख्त पड़े हुए थे।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय जिस दीवान पर बैठी थी वह इतना प्रशस्त था कि उस पर फैलकर आठ व्यक्ति तक मजे से बैठ सकते थे। उन्होंने नर्मदा देवी और दुर्गा को अपने पास दीवान पर ही बैठाल लिया। लकडी की लम्बी-चौडी प्रशस्त छत के नीचे तथा ऊँची-ऊँची दीवालों वाले इस हॉल में मात्र तीन महिलाएँ बैठी हुई उस विराटता में खोयी सी लग रही थी। श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय को लगा कि जेठानी कुछ

उदास है, पता नहीं क्या कारण है। पूछना चाहिए कि नहीं? बोलीं,

— कोई खास बात है भाभी?

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय किंचित चौंकी। उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की म्लान की हुई सम्भ्रान्तता को चौंकते देखकर ऐसा ही लगा कि जैसे किसी अनाड़ी का अनजाने में हाथ, रखे वाद्य पर हल्के से ही छू गया हो और वाद्य बाहर तो कम परन्तु अपने अन्तर में अनेक आवृत्तियों के साथ झनझना रहा हो।

— नहीं नर्मदा!

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने जिस प्रकार 'नहीं' कहा उसमें अस्वीकार, आत्मीय प्रसंग जैसा ही लगा रहा था। कई बार हम शब्दों से किसी को छूते हैं न? ऐसे समय भाषा ही हमारा हाथ नहीं बल्कि समस्त इन्द्रियाँ बनकर सामने वाले को घेर कर बैठ जाती है। श्रीमती गायत्री देवी प्रायः भाषा को अपने नेत्र, अँगुलियाँ बनाकर आपको छूती हैं। आप उस स्पर्श को अपनी देह पर तो अनुभव करते ही हैं परन्तु उससे भी अधिक वह स्पर्श हमारे मन को सम्प्रेषित हुआ रहता है। श्रीमती गायत्रीदेवी वैसे तो आज अनासक्त ही हैं। देह का नारीत्व तो भला कैसे उतार सकती थीं परन्तु बाकी का नारीत्व वह सायास उतार चुकी थी या उतारने के क्रम में ही वह यह एकाकी जीवन-यापन करने आयी थी। परन्तु यदि नेत्र बड़े हैं, और दीपशिखात्व उन नेत्रों की प्रकृति ही है तो आप कितना उन्हें असम्पृक्त बना ही सकते हैं! एक तो, लोगों की अँगुलियाँ बस होती हैं, परन्तु कुछ की अँगुलियाँ जैसे निसृत होती सी होती हैं। ऐसी अँगुलियाँ इतनी सजीव लगती हैं कि जैसे उनके लिए सब कुछ वाद्य है, सब कुछ कैनवास है। ऐसी अँगुलियाँ मात्र होते हुए भी रचना कर रही होती हैं। ऐसी अँगुलियों वाला हाथ क्या ऐसा नहीं लगता कि पाँच पाँखुरियों वाला एक फूल है? यदि वह सीने पर रखा हुआ है तो आपको भ्रम होने लगता है न कि लहरों की उत्तालता में वह फूल डूब-उतरा रहा है?

— भैया बहुत दिनों से नहीं दिखे।

श्रीमती गायत्री देवी अपने देवर को 'भैया' कहती थी। जेठानी की बात पर श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय बोली,

— सार्वजनिक-सभा के किसी काम से ग्वालियर गये हुए हैं।....बसन्ती का कोई पत्र-वत्र आया क्या?

— हाँ ऽ ऽ....तुम लोग तो ठीक हो न दुर्गा?

जिस ढंग से श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने उनके प्रश्न का संक्षिप्त सा उत्तर दिया उससे श्रीमती नर्मदादेवी को यही लगा कि कोई खास बात नहीं है या शायद बताना न चाह रही हों। दुर्गा से जिस सहज ढंग से श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने पूछा उसमें वह हल्के से चौंक पड़ी; जैसे वह इस बीच यहाँ नहीं थी। तब कहाँ थी?

वस्तुतः दुर्गा, श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को लेकर बहुत स्पष्ट नहीं सोच पाती। वह आदर की पात्र हैं। बहुत स्नेहशीला भी हैं। सम्भ्रान्तता केवल ओढ़ी हुई

ही नही है। बहुत आत्मीय व्यवहार भी होगा परन्तु इन सबके बाद भी उसे लगता कि वह निषेध-क्षेत्र अधिक है।
— सब ठीक है मासी मां !....गोविन्द को लेकर कोई परेशानी तो नहीं है ?
श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय, दुर्गा की इस सकोच-भाषा को सुनकर हँस पड़ी। परन्तु ऐसे नहीं कि दुर्गा को बुरा लगे या यह प्रतीति हो कि क्या अनुपयुक्त पूछा लिया ? बल्कि उस हँसी में सहयोग जैसा ही था कि हम-तुम दोनों हो उसको लेकर अपने-अपने ढग से चिंतित हैं !
— दुर्गा ! परेशानी तो उसको लेकर होती है, जो होता है।
— किसी का होते हुए भी न होना क्या कम कष्टदायक होता है ?
थोड़ा हँसते हुए श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ऐसे बोली, जैसे दुर्गा का हाथ गह लिया हो,
— बहुत गलत नहीं सुना मैंने।
दुर्गा हठात बात का मर्म नही समझ पायी। वही क्या कोई भी इस प्रकार के वार्तालाप से क्या समझ सकता है ?
— मैं कुछ नहीं समझी मासी मां !
— गोविन्द भी कह रहा था कि शिवशंकर जी का व्यक्तित्व बहुत ही अनासक्त है।.... जब, जब भी तुमसे भेट होती है तो लगता है कि न होने की सीमा पर अपने होने को लेकर बने रहना कितना कठिन होता होगा न ?
दुर्गा, बोलती हुई श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को बहुत ही मुग्ध भाव से देख रही थी। यह मुग्धता लगभग ऐसी ही थी जैसे आपके हाथ से दाना चुगता हुआ कोई पाखी हो और आप उसे मुग्ध भाव से देख रहे हों। तभी नोचे से शख बजने की आवाज आयी। तीनों महिलाओ ने सिर के पल्लू ठीक किये और प्रणाम करने लगी।
तब तक बच्चो की आवाज सुनायी दी,
— गोविन्द मामा आ गये, गोविन्द मामा आ गये।
और गोविन्द उन बच्चों के पीछे-पीछे आ रहा था। आते ही उसने श्रीमती नर्मदा देवी और दुर्गा का चरण-स्पर्श किया। दुर्गा बोली,
— काहे की मीटिंग थी कालेज में ?
— यह कालेज का प्रथम वर्ष है न, इसलिए लड़के बड़ी धूमधाम से 'गेदरिंग' मनाना चाहते हैं।
— तो तुम उसमें क्या करोगे ?
— करना क्या है ? एक कमेटी में रख दिया है।
— कही इन सब व्यर्थ के चक्करों में तुम्हारी पढ़ाई तो धरी नहीं रह जाएगी ?
श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय दुर्गा और गोविन्द की बातें सुन रही थीं। उन्होंने अनुभव किया कि गोविन्द शायद कुछ असुविधा अनुभव कर रहा है। बोली,
— दुर्गा ! गोविन्द जानता है कि उसे क्या और कितना करना है। चिन्ता क्यों करती हो ?

— तभी तो मासी माँ ! चिन्ता होती है कि इस जैसा प्रसंग भला''''
— अरे, तो चार लोगों में जाएगा-आएगा तो मुंह सील करने से तो रहा।''''और मुझे तो नहीं तो लगता कि यह महाशय वहाँ भी कुछ कहते-सुनते होंगे।
— क्यों भला ?
— यहाँ भी—यह भला और इसका कमरा भला।
— तब यह आपकी क्या सहायता करता होगा, क्यों गोविन्द ?

गोविन्द जिस प्रतिमावत भाव से खड़ा था उसमें वह कोई उत्तर देगा इसकी अपेक्षा स्वयं दुर्गा को नहीं थी। वैसे गोविन्द भी समझ रहा था कि श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय के कथन में शिकायत नहीं, आत्मीयता थी। वह भी जानता है कि वह सच ही अपने कमरे को छोड़कर केवल नहाने-धोने, खाने आदि के अलावा कभी बाहर नहीं निकलता। कौन आया, कौन गया—से भी उसे कोई सम्बन्ध नहीं। घर-गृहस्थी के लिए 'मासी माँ' के पास नोकर-चाकर हैं ही। अब बाजार से ,एक पैसे का नमक तक तो उसे खरीदने जाना नहीं है तो उसका यही तो काम है कि वह कमरे में बैठकर पढ़े। सो वही करता है वह। यों कभी भूले-भटके 'मासी माँ' ने ऊपर बुलवाया तो सिर नीचा किये आकर खड़ा हो जाएगा और बात होते ही चला जाएगा। 'मासी माँ' का यदि कोई आदेश हुआ तो वह कालेज से आते-जाते या अलग से भी उसे पूरा कर देगा। प्रायः तो नारायण जी पण्ड्या को ही कभी हिमाद्री, कभी अभिषेक या और कुछ के लिए कहने को होता। शायद एकाध बार ही मासी माँ ने सिर-दर्द के होने पर उसे कहा होगा कि वह कोई उपनिषद्, पुराण या नये 'कल्याण' के अंक से कोई भगवद् चर्चा सुनाए। इसके अलावा प्रायः तो मासी माँ से उसका सामना दिनों तक नहीं होता। उनके तो आये दिन एक न एक व्रत, प्रदोष चलते रहते। गोविन्द को कालेज जाने के पूर्व भोजन की व्यवस्था कालिन्दी पर होती। बँधा-बँधाया नियमित जीवन था। रसोईघर में पाट और पानी रख दिया जाता तो कालिन्दी सबेरे-शाम भोजन के लिए बुला जाती। महाजिन भी जानती थी कि चार रोटी और भात के अलावा इन्हें और कुछ नहीं चाहिए। कभी किसी ब्रह्मभोज या किसी ब्राह्मण को विशेष भोजन होता उस दिन गोविन्द को साथ में खाना पड़ता नहीं तो बारों मास अकेले ही खाना होता। 'माँ जी' तो भोजन क्या फलाहार ही अधिक करती हैं, और उसमें भी एक न एक उपवास, व्रत, एकासना होता ही। एकादशी होती ही। चार रविवार निकल जाते। वृहस्पत को एकासना होता। अब बताओ रहे ही कितने दिन ? उस पर से आज यह है तो चावल नहीं बनेगा। कभी-कभी तो कई दिनों तक अलोना ही खाया जाता। नवरात्र में तो पूरे नौ दिनों तक अत्यन्त स्वल्प फलाहार के श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय और कुछ नहीं खाती हैं परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि गोविन्द पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध है। प्रायः तो वह कालिन्दी से पूछ ही लेती कि गोविन्द के लिए आज किस चीज की, कितनी सब्जियाँ बनी। खाने के बाद दही था कि नहीं। कभी-कभी भोजन करते हुए गोविन्द के सामने ही वह अनचक्के रसोई में आ जातीं कि महाराजिन रोटियाँ कैसे चुपड़ती है ? पापड़ मिला कि नहीं ?

एक दिन बातों ही बातों में गोविन्द कह बैठा था कि उसे कचरी बहुत प्रिय है, बस उसके बाद तो हर चौथे-पाँचवें कभी कचरी तो कभी गिलकी [नेनुग्रा] की रसेदार सब्जी में बेसन की टिकियाँ डाल दी जातीं। मतलब कि श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय भले ही अपने कमरे से नीचे न जाती हों परन्तु क्या मजाल जो नौकर-चाकर मनमानी कर सकें। उनके उपस्थित होने की कोई आवश्यकता नहीं होती। वह कभी भी उपस्थित हो सकती हैं, इस संभावना के कारण ही सब काम ठीक-ठिकाने से होता रहता। स्त्री वह कोई हो, यदि वह चाहे तो पूरा घर उसकी इन्द्रियाँ होता है। घर में किस चीज की आवाज किस बात के लिए हुई है और क्यों हुई है इसकी सटीक पहचान स्त्री को जितनी होगी उतनी पुरुष को कभी नहीं हो सकती। दाल बिना बीनी ग्रौरी गयी है, इस चोरी को महराजिन लाख छुपाना चाहे परन्तु उफनती दाल देखे बिना भी श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय चाहें तो बता सकती हैं। छौंक अभी पूरी तरह तिड़तिड़ाया नहीं है यह ऊपर बैठे हुए भी उन्हें मालूम हुग्रा रहता कि महाराजिन ने सब्जी छौंक दी है। स्त्री यदि इतनी सतर्क न हो तो इतनी बड़ी गृहस्थी और इतने सारे लोग तो सब चौपट कर डालें। देखकर वह कह सकती हैं कि चीनी का तौल कितना है। ग्रौर न हो तो तौल कर देख लो। साड़ी-जेवर की पहचान होना कोई बड़ी बात नहीं है परन्तु कौन कपड़ा धूप में सुखाया गया है ग्रौर कौन छाँह में यह दूर से देखकर बता देना, केवल स्त्री की ही प्रतिभा का चमत्कार है ग्रौर श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय सम्पूर्ण ग्रर्थ में स्त्री थीं, परन्तु ग्रनुदार नहीं।

गोविन्द को चुप खड़ा देखकर दुर्गा ही बोली,

— दादा की चिट्ठी गाँव से आयी है, तुम्हारी तबीयत, हालचाल पुछवाया है।

— मेरी तबीयत को क्या हुग्रा है ऐसा ? दादा को तो गाँव में बैठकर हम लोगों की चिन्ता ही सताती रहती है।.... जीजा जी नहीं ग्राये ?

— हाँ उन्हें म्युनिसीपाल्टी में नक्शे पास करवाना थे सो वह नहीं ग्राये।

— दीदी ! वह यज्ञोपवीत की बात रोज होती है, कर क्यों नहीं डालती !

— तो ग्राकर करो न तुम सब प्रबन्ध। ....बस, ग्रबकी देवोत्थानी एकादशी के बाद का मुहुर्त निकलवा लिया है।.... तुम्हारी पढ़ाई ठीक चल रही है ?

— हाँ, एकदम ठीक है।

— दशहरे पर दादा-माँ के पास गाँव नहीं जाग्रोगे ?

— गाँव तो जाना ही है।

तभी श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय बोलीं,

— लो, त्यौहार के ग्रवसर पर यहाँ नहीं रहोगे तो यहाँ लोग क्या एकादशी करेंगे ?

ग्रौर वह हँस पड़ीं।

— मासी माँ ! मेरे रहने से ग्राप एकादशी करना छोड़ देंगी यह नहीं लगता।

— लो इसकी सुनो दुर्गा ! किसी दिन इसने मुझसे कहा कि ग्राज फलाँ उपवास या व्रत न करूँ ? जब कोई कुछ कहे ही नहीं तो चलो धरम ही हो जाए।

सामान्यतः श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय मिष्ट एवं मितभाषी ही हैं। वह विनोद भी कर सकती हैं यह किसी को अवगत नहीं था। गोविन्द को आज अधिक आत्मीयता लगी।

जब गोविन्द को उज्जैन में रहकर पढ़ना है और वह भी श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय के साथ तो पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट 'साहब' के इस निर्णय पर जब स्वयं पण्डित शिवशंकर आचार्य कुछ न कह पाए तो भला गोविन्द क्या कहता। यदि कामदार साहब की मृत्यु न हुई होती और श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय उज्जैन रहने का निर्णय न करतीं तो गोविन्द के उज्जैन में पढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता था। चूंकि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय स्वतंत्र घर लेकर रहेंगी और किसी को साथ में होना चाहिए, अतः गोविन्द उज्जैन में ही पढ़ेगा। धार में तो वह तब पढ़ता जब यह सब नहीं होता। वैसे पण्डित शिवशंकर आचार्य गोविन्द को उज्जैन में पढ़ाने के पक्ष में इसलिए नहीं थे कि वहाँ सम्बन्धी बहुत थे अन्यथा तो उज्जैन तो हर दृष्टि से सहूलियत वाला स्थान था। और ठीक भी हुआ कि गोविन्द के लिए न तो दुर्गा के परिवारवालों का और न ही फूफा पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी के परिवार का अहसान लेना पड़ा। बस, एक ही साँसत की बात पण्डित शिवशंकर आचार्य के लिए यही हुई कि वह मुँह खोलकर न तो साहब और श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय किसी से भी गोविन्द के खर्च के विषय में कुछ नहीं कह सकते थे। 'साहब' के व्यक्तित्व के सामने इस तरह की चर्चा क्या, संकेत करना भी कितना छोटापन होता इसे पण्डित शिवशंकर आचार्य भली भाँति जानते थे, अतः जिस समय जुलाई में प्रवेश कर पाने के लिए गोविन्द को साथ लेकर आए तो वर्ष भर की फीस, कपड़े-लत्ते, किताबें तथा हाथ-खर्च का सारा खर्च गोविन्द को दे दिया। उसी समय शायद पहली बार श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने पण्डित शिवशंकर आचार्य को देखा था।

— गोविन्द के विषय में मुझे आपसे कुछ नहीं कहना है। इसे स्वयं अपना स्थान आपके निकट बनाना है। यदि यह आपका विश्वास पा सका तो इसका भाग्य होगा।

— गोविन्द के गुण उसके मुख पर इतने घोषित रूप में लिखे हुए हैं कि उसके लिए किसी की सिफ़ारिश नहीं चाहिए।

जिस समय प्रथम बार गोविन्द को वह सौंपने यहाँ आये थे तो 'साहब' भी वहाँ मौजूद थे। गोविन्द एक तरफ विनम्र बना खड़ा था। 'साहब' को भी अपनी बहन के द्वारा एक योग्य पात्र को अंगीकार करके साथ में रखना आश्वस्त कर रहा था।

दुर्गा को ध्यान आया कि घर से निकले काफी देर हो गयी है। बोली,

— मासी माँ! अब चला जाए न?

बात जिस प्रकार दुर्गा ने कही थी उससे स्पष्ट था कि उसने श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय से कही थी। वह बोली,

— मुझे भला क्या जल्दी हो सकती है? तुम्हारा हो गया हो तो चला जाए।

वैसे होने को क्या था ही अतः दुर्गा हठात उठ खड़ी हुई।

सम्बन्ध ही सम्बोधन की सार्थकता, प्रयोजन आदि निर्धारित कर सकता है। पण्डित शिवशंकर आचार्य के सामने श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को लेकर वैसे तो सम्बोधन की समस्या ही थी परन्तु वस्तुतः वह सम्बन्ध की ही थी। सम्बन्ध असल में दो व्यक्तियों के आपसी अक्षांश और देशान्तर का ही परिचायक होता है। श्रीमती गायत्री देवी वस्तुतः उनके ममेरे भाई स्वर्गीय पण्डित रविशंकर दवे की समधिन थी, अतः उस नाते से वह समधिन लगती थी। परन्तु सच तो यह है कि यह कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता था। जिन 'साहब' की वह बहन थी उनसे भी कोई सम्बन्ध नहीं था। लेकिन सम्बन्ध की यह समस्या दुर्गा के सामने नहीं थी क्योंकि वह अपनी ससुराल की ओर से सास-ससुर दोनों ही पक्षों से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित थी। सम्बन्ध की यह समस्या उस समय अधिक मुखर हुई जब दुर्गा के बच्चों के यज्ञोपवीत के समय पण्डित शिवशंकर आचार्य को मामेरा [विवाह-जनेऊ आदि अवसरों पर मामा की ओर से दिये जाने वाले वस्त्रादि] लेकर उज्जैन आना पड़ा। प्रायः तो बुआ जी श्रीमती श्यामादेवी त्रिपाठी के घर ही ठहरना होता था पर इस बार बुआ और फूफा अपने पुत्र यशोदानन्दन के पास गये हुए थे, अतः प्रश्न था कि पण्डित शिवशंकर आचार्य अपनी माँ को लेकर कहाँ ठहरें? ऐसा नहीं था कि किसी और के यहाँ नहीं ठहर सकते थे परन्तु एक तो सीधी रिश्तेदारी किसी से नहीं थी, दूसरे चार-आठ दिन किसी के यहाँ रुकना उचित भी नहीं था, तीसरे अधिकांश सम्बन्धी दुर्गा के ससुराल पक्ष के ही थे। वैसे यह चाहते तो किसी भी धर्मशाला में रुक सकते थे परन्तु तब शुक्ल-परिवार को ही बुरा लगता, अतः यही उचित समझा गया कि चूंकि गोविन्द पहले से ही श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय के साथ रहता ही है और उनके पास रहने की व्यवस्था भी प्रशस्त है; तब संकोच की कोई बात नहीं। और जब देखा कि माँ साथ हैं तो फिर अपना खाना-पीना अलग हो ही जाएगा तो गायत्री जी पर कोई बोझ भी नहीं पड़ेगा।

जब पण्डित शिवशंकर आचार्य ने पत्र द्वारा गोविन्द को सूचित किया कि वह श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय से पूछ देखे कि उन लोगों के चार-आठ दिन आकर ठहरने से उनको कोई असुविधा तो न होगी? लेकिन गोविन्द भला अपनी मांसी माँ से क्या और कैसे पूछता? उसने तो दादा का पत्र ही ले जाकर उनके सामने रख दिया और हमेशा की भाँति एक ओर खड़ा हो गया।

सवेरे का समय था। वह अभी-अभी हरसिद्धि-महाकाल के दर्शन करके लौटी थीं। नहाने के बाद अमोड़ या [अप्रमाणित जूड़ा] अभी खोलकर वह खिड़की की राह दूर के विस्तार में खोयी हुयी ही थी कि गोविन्द आया था। हलकी सी पदचाप सुनी तो वह समझी की कालिन्दी या कोई और होगा, परन्तु स्त्री का अवचेतन इतना अधिक जागरूक होता है कि पुरुष की दूरागत उपस्थिति भी उसके व्यक्तित्व को झंकृत कर जाती है। इसीलिए उन्होंने चौंकते हुए न केवल देखा ही बल्कि अपने फैले बाल भी पल्लू में ढाँकने शुरू कर दिये थे।

— अरे गोविन्द? अभी तुम कालेज नहीं गये?

— आज रविवार है।

और स्वयं श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को लगा कि उन्हें निरन्तर इस बात की प्रतीति रही है कि आज रविवार है। वह यह जानती हैं कि आज दस बजे पण्डित नारायण जी पण्ड्या हिमाद्रि अभिषेक के लिए प्रति रविवार की भाँति आने वाले हैं। तब वह गोविन्द के सन्दर्भ से रविवार को कालेज बन्द होता है, यह कैसे भूल गयीं? हठात स्मिति उनके मुख पर आ गयी,

— हाँ, देखो तो, कैसी हूँ। आओ।

और श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय दीवान पर आकर बैठते हुए बोलीं;

— कोई खास बात लगती है, क्यों?

— जी नहीं, यह दादा का पत्र गाँव से आया है।

— कब आ रहे हैं तुम्हारे दादा? त्रिपाठी जी तो उनके फूफा हैं न?

तब तक गोविन्द ने पत्र निकालकर उनके सामने रख दिया था।

— क्या पत्र में कोई खास बात है क्या?

और श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने पत्र पढ़ना शुरू कर दिया था। पत्र समाप्त कर वह हल्के से गम्भीर हो गयी। थोड़ा रुक कर बोलीं,

— तो गोविन्द! तुम उन्हें जवाब लिख दो कि क्या यह घर उनका नहीं है? इसमें औपचारिकता कैसी? हाँ सुनो, माँ की आवश्यकताओं और रुचियों के बारे में सारी देख-रेख तुम्हें ही करनी होगी। तुम उनकी ओर से नहीं बल्कि इस घर के सदस्य की भाँति व्यवहार करोगे, समझे न?

— जी हाँ।

और गोविन्द चलने को उद्यत हुआ तो वह बोलीं,

— गोविन्द!

— जी।
— तुम यह पराये व्यक्ति की भाँति क्यों व्यवहार करते हो ?
— जी, ऐसी कोई बात नही है।
— तब कैसी बात है ?
— जी वो ऽऽ
— क्या घर पर भी तुम ऐसा ही व्यवहार करते रहे हो ?
— जी, घर ?
— मैं प्रायः सोचती रहती हूँ कि तुम्हें बुलवाऊँ ताकि तुम आओ, बस बैठो, एक सम्बन्ध अनुभव करो परन्तु सकोच होता है कि पता नही तुम पढ ही रहे हो।
— क्या ऐसा संकोच किसी दूसरे को नही हो सकता है मासी माँ !

आज शायद पहली बार गोविन्द ने ऐसा कहा जैसे कि कोई घर कई दिनों से आप लगातार बन्द देख रहे हों और अनायास एक दिन एक खिड़की बलात खुल आये तो उसके माध्यम से बाहरी मकान की घर वाली संज्ञा की वाहिका दीवाल में एक मार्ग दिख जाए। बहुत कुछ श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को भी ऐसा ही लगा कि सच तो कह रहा है कि संकोच गोविन्द को भी हो सकता है। अपने को जिसने इतना नियमों में बाँध रखा हो उसमें कोई अन्य तभी तो आएगा जबकि कोई प्रयोजन होगा। निष्प्रयोजन बैठे हुए मात्र मनुष्य बने बातें कर रहे हैं यह तो तभी सम्भव है जबकि ऐसा होना हो। घरों में प्रायः होता है परन्तु गोविन्द के लिए क्या यह घर है ? यह चाहे कोठी, हवेली आश्रम और सब कुछ हो लेकिन घर तो नहीं ही है। वैसे घर क्या होता है यह पूछने पर वह शायद ठीक-ठीक न बता सके क्योंकि उसने कभी घर नही देखा। घर, आदमी का अपना विश्वास होता है। गोविन्द ऐसे विश्वासी घर को, जैसा कि सामान्य से सामान्य व्यक्ति को भी उपलब्ध होता है, नही बता सकता। घर, माँ के खुले केश होता है, भाई-बहनों की छीना-झपटी होता है, पिता का खाँसते हुए घर में प्रवेश करना होता है। अनुकम्पा कितनी ही आत्मीय क्यों न हो, घर नहीं होती। जब वह पिता के पास जाया करता था तब उस घर को भी घर नहीं अनुभव कर सका तो फिर अन्य जगहों की बात ही क्या। उसके स्वत्व के भीतर से अधिकार की आवाज ही नहीं निकलती। वैसे इसकी उसे कभी चिन्ता भी नहीं रही है। दादा और माँ ने तथा दुर्गा दीदी ने जिस अभाव की पूर्ति की थी उसे वह कभी परिभाषित नहीं कर सकता है। परन्तु माँ की संज्ञा, स्थान कोई अन्य हो भी नही सकता और माँ के बिना घर की परिकल्पना सम्भव हो नही।

— गोविन्द ! व्यक्ति को अपनी आयु से अधिक विचारवान नहीं होना चाहिए।
— क्या मैंने कुछ अप्रिय कह दिया ?
— जब सोचते हो तो फिर चौंको नहीं। हमेशा प्रिय कहने की चिन्ता उचित भी नही होती गोविन्द ! किसी के सामने आदमी अपना सोचा हुआ सारा, सब कुछ वैसी ही भाषा में कह देना चाहता है। मैं जानती हूँ कि इस कहने का कोई अर्थ नही है कि तुम पुत्र न सही तो पुत्रवत तो हो ही....भूल शायद मेरी है कि मैंने ही अपना

कितना आकुल हाथ तुम्हारी ओर बढ़ाया है ?

गोविन्द ने देखा कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय सिर ढँकती उठ गयी और पीठ किये खिड़की की राह देखने लगी। वह निश्चित तो नहीं कह सकता था परन्तु यह कह सकता था कि उनकी आँखें अवश्य ही छलछला आयी थीं, जिन्हें छुपाने के लिए ही वह बलात उठी थीं। यदि कुछ अप्रिय सन्दर्भ होता और वह इस प्रकार पीछे छूट गया होता तो वह आसन्न हो जाता कि अब क्या करे? क्योंकि उस स्थिति में वहाँ से चलना, अपने व्यक्तित्व से बाहर निकलकर अपने को ठेल कर ले जाने जैसा होता है। इस क्षण भी वह किंचित दुःखी था कि पता नहीं मासीमाँ को सब कैसा लगा परन्तु ऐसा अवश्य लगा कि उनका देखना जैसे हाथ था जो कि उसे छू गया था। प्रिय जन का स्पर्श कैसा फूल होता है न ?

और जिस प्रकार से गोविन्द ने दादा और माँ का इस घर में स्वागत किया उससे तो लगा कि वह अनाम सदस्य नहीं बल्कि कोई आधिकारिक प्रवन्धक है। जिस प्रकार से बैलों के दाना-पानी से लेकर बाकी का सारा प्रबन्ध गोविन्द कर रहा था उसमें अनुभव सम्पन्नता लग रही थी। नीचे के दो कमरों में प्रबन्ध किया गया था। जिस क्षण ये लोग पहुँचे थे श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को आने की सूचना मिलते ही नीचे पहुँच गयी थीं। माँ के चरण-स्पर्श करने पर उन्होंने श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को जिस प्रकार अपने से सटाया वह कोई माँ ही कर सकती थी।

वर्षों बाद शुक्ल-परिवार में कोई करियावर हो रहा था। छोटे-मोटे सीमन्त [गर्भाधान] आदि के कार्य, कार्य नही कहे जा सकते थे। गृहस्थी में अधिकांश करियावर तो स्त्रियों के बीच ही सम्पन्न हो जाते हैं। चार जनियाँ आयी, बैठी, गीत गाये और बताशे लेकर चलती बनी। बहुत हुआ तो ढोली आ गया और रंग-बिरंगा भूषा पहनकर देवी-देवता-पूजन का कार्य सम्पन्न हो गया। वे सब करियावर हैं क्या? त्र्यम्बक के विवाह के बाद यदि करियावर की संज्ञा वाला कोई अनुष्ठान सम्पन्न हुआ तो वह श्रीमती पार्वती देवी शुक्ल का उत्तर-कार्य था। लेकिन एक तो वह मांगलिक-कार्य नही था, दूसरे वह उनका कार्य था यह स्वीकार सकना लोगों को आज भी कठिन लगता है। जीवन भर जिस सौतेली माँ को कभी पूछा नही उसका ऐसा उत्तर-कार्य करना—अवश्य ही पण्डित महादेव शुक्ल की इसमे भी कोई नीति होगी। भले ही दस-पाँच बरस अभी लोगो को उसकी हवा न लगे। अतः सभी दृष्टियों से पौत्रो का यज्ञोपवीत ही वर्षों बाद इस घर, परिवार का मांगलिक-कार्य था।

तय यद्यपि यही हुआ था कि कातिक-चौक वाली हवेली में मेहमान आदि ठहरेंगे परन्तु बहुत निकट के लोग तो इसी घर में उतरे। हाँ, अधिकाश मेहमान अवश्य उस हवेली में रुके। यज्ञोपवीत का सारा कार्य लेकिन इसी घर में ही सम्पन्न हो रहा था। इस घर में भीतर चाहे जितनी जगह रही हो, बाहर लेकिन चबूतरा तक नहीं था इसलिए पास के गणपति-मन्दिर से सटी जो खुली जगह थी वहाँ खूब शानदार मण्डप आदि बनाया गया था। तम्बू-कनात से घेर कर बाँसों को रंगीन कपड़ों मे लपेट कर खूब बड़ा सा शामियाना बनाया गया था। शामियाने का सारा सामान राज्य के तोशकखाने से आया था। उज्जैन के सबसे प्रसिद्ध फूल बनाने वाले आलम मियाँ ने शामियाने में कागज के फूलों की वह फुलकारी बनायी थी कि बच्चे तो बच्चे, बड़े-बड़े तक देखते ही रह जाते

थे। हण्डे वाले शमादान और फाड़फानूस खास देवास महाराज के यहाँ से आये थे, साथ ही उनका राजकीय बैंड भी आया था। जाजम, गद्दे और सफेद चाँदनी पर एक से एक कालीन, कि जिनके रंग और कोमलता देखकर आँखें ठगी रह जाएँ। गर्मियों में तो ऐसे आयोजनों में इत्रदानों और गुलाबपाशों की बहार होती है, फिर भी जगह-जगह इत्रदान गुलाबपाश रखे हुए थे। इन दिनों खस की जरूरत ही नहीं होती, हाँ गुलाब और हिना की बहार थी। पानड़ी के भी शौकीन होते ही हैं, सो पानड़ी भी इत्रदान में मिल सकती थी। सब जगह चाँदी के बड़े-बड़े तश्त रखे हुए रहते जिनमें ढेर सारे पान, सुपारी, लौंग इलायची तो होती ही परन्तु बच्चों के मारे भोपाली गुटका रखा नहीं कि मुट्ठियाँ भर-भर कर बच्चे, ये जा, वो जा। अब यह ऐसी चीज भी नहीं कि एक-दो बार टोकने से अधिक कुछ कहा जा सके। बच्चे कभी टोकने से माने हैं? पान का भी अजीब है कि गर्मियों में सूखें तो समझ में भी आता है परन्तु कोई-सा मौसम हो, हवा लगी नहीं कि मुरझाने लगेंगे। पान भी बिल्कुल स्त्रियों की तरह ही होते हैं। एकान्त में आपके ओंठ रचा देंगे परन्तु ज्योंही प्रदर्शन किया नहीं कि ऐसे विनत पलकों में हो जाएँगे कि, बस। गेंदे के फूलों की झालरें और आम के पत्तों की बन्दनवार निरपेक्ष सी अपने वर्ण और सन्दर्भ से मांगलिक लग रही थी। यहाँ-वहाँ बच्चे गद्दों पर कूद-फाँद रहे थे। गोल तकियों को घोड़े बनाये बच्चे, लोगों की उपस्थिति को भूले खेल रहे होते। जब वे डाँट दिये जाते तो वहाँ से चले तो जाते पर आँख बचते ही डाँटने वाले की वो नकल उतारी जाती कि अगर वह व्यक्ति देख ले तो बच्चों की शामत ही आ जाए। गली के सामने वाले घर के चबूतरे पर शहनाई वाले, नफीरी वाले, नगाड़े वाले कुछ न कुछ बजाते ही रहते, इसके साथ बच्चों का मिला शोर तो कुछ भी नहीं सुनने देता। यहाँ-वहाँ आने वालों काम-काजियों की भीड़ ही भीड़ थी। कोई न कोई महिला किसी को खोजती या अपने बच्चे को घसीटते ले जाती दिख जाती। नाई बटुक को तैल-हल्दी से मालिश तथा नहलाकर, धोबी कपड़ों का गट्ठर लिये और कुम्हार मण्डप के लिए कच्चे घट लिये आ-जा रहे थे। पत्तलें-दोने, परातें धरमशाला पहुँचायी जा रही थी। कोई किसी को पुकार रहा था तो बच्चे अपनी चिल्ल-पों मचाये हुए थे। बीच-बीच में पण्डितों का मन्त्र-पाठ भी भीतर से आता सुनायी पड़ रहा था। घर के भीतर खासा शोर तो था ही परन्तु शायद उससे भी ज्यादा धुँआ था, जो घर के बड़े दरवाजे से बाहर निकलता तथा आँगन से ऊपर उठता हुआ दिखलायी दे रहा था।

हवन और यज्ञोपवीत की सारी तैयारी हो चुकी थी। नाई अभी चूड़ा-कर्म समाप्त कर गया ही था। धूर्जटी, पंचानन और चन्द्रशेखर तीनों के तीनों बटुक बने पाट पर बैठे, कोपीन धारण किये थे। पण्डित महादेव शुक्ल ने लाख कहा कि ग्रह-शान्ति आदि का सारा कार्य त्र्यम्बक और 'उसकी बहू' ही करेंगे परन्तु दुर्गा नहीं मानी, तभी तो इस समय नीली बनारसी साड़ी, हीरे की लौंग, पाँव में सोने के कड़े और पक्के मोतियों और पन्ने का जड़ाऊ गलहार पहने सासूमाँ श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल आज वैसी ही प्रसन्न और सुन्दर लग रही थी जैसी कि वह कभी रही होंगी। पति के पास पार्श्व में बैठे हुए

हल्के घूंघट में उनका कंचन वर्ण खिला पड़ रहा था। वह रह-रह कर दुर्गा या किसी को पास में बुलाकर उसके कान में थोड़ी-थोड़ी देर में आदेश देती बैठी थी। दुर्गा की जान को काम ही काम थे। यज्ञोपवीत के पण्डितजी लोगों से लेकर बाहर शहनाई वालों के नाश्ते-पानी तथा धरमशाला में जाते हुए सामान की चिन्ता में वह फिरकनी बनी हुई थी। बाहर शामियाने में बैठे हुए लोगों के पास लौंग नहीं पहुँची है तो घर में आकर दुर्गा की पुकार हो रही है। धरमशाला में पीने के पानी की कोठियों पर पानी छानने के लिए कोरी धोतियाँ पता नहीं कौन लेकर गायब हो गया। किसी को पता नहीं कि वे धोतियाँ किसे दी गयी थीं, और दी भी गयी थीं कि नहीं?—अरे वाह, दी कैसे नहीं गयी थीं? दुर्गा ने खुद दो धोतियाँ निकाल कर 'उसे' दी थी। 'उस' ने बताया कि फलाँ ले गया और फलाँ ने कहा कि उसने पानी भरने वाली एक मालन को दी थी, जो पीला लुगड़ा पहने हुए थी। अब पूछो इस भले आदमी से कि किसी का नाम पूछना चाहिए कि उसका हुलिया याद रखना चाहिए? मालनें पीला या लाल लुगड़ा ही तो पहनती हैं—तो फिर धोतियाँ कहाँ गयी?""अरे, यहीं कहीं होंगी, दूसरी निकाल कर दे दो। ढूंढ़ना-पूछना तो बाद में भी होता रहेगा""अभी का काम तो चले।—अरे वाह, ऐसे तो पूरा घर ही कोई उठा ले जाए।—कोई आता कि बाहर बन्दनवार बाँधने के लिए सुतली चाहिए।—अभी तो सुतली का एक पिंडा यहाँ कोने में रखा था। देखो, बाहर ही कोई ले गया होगा।—वो पिंडा था? कमाल करते हो, मुश्किल से दस-पन्द्रह गज सुतली रही होगी।—क्या दुर्गा! धरमशाला में हलवाइयों को नाश्ता ही नहीं मिला। किसी ने टीप जड़ दी कि हलवाई भी नाश्ता करते हैं?—क्यों भाई वो कटी हुई पिश्ता कहाँ चली गयी? कह तो दिया आपने कि पिश्ते की बरफी बनेंगी पर पिश्ता कहीं है भी? क्यों शोर कर रहे हो जरा सी पिश्ता के लिए?—गरज कि एक अनार और सौ बीमार की हालत थी दुर्गा की। परन्तु उसे अपने अन्तर में न जाने कितना उल्लास, स्फूर्ति अनुभव होती। कहीं कोई झल्लाहट नहीं। सासूमाँ को ग्रह-शान्ति के लिए बिठलाते समय उसे कितनी हार्दिक प्रसन्नता हुई थी। लोग जो चाहे कहें, परन्तु उसने कोई सा भी काम, बड़ा या छोटा, वैयक्तिक या सामाजिक, कभी किसी दूसरे के लिए नहीं बल्कि अपने आत्मतोष के लिए ही किया। मर्यादा का उल्लंघन उसने स्वप्न में भी नहीं किया होगा। अपने वैयक्तिक राग-द्वेष की चिन्ता किये बिना सम्बन्ध, पद का बराबर ध्यान रखा। हालांकि वह सासूमाँ के साथ तो गंगामामी को तेड़ने [न्यौतने] गयी ही थी परन्तु एकबार पति के साथ भी गयी थी कि मामीमाँ अवश्य आएँ। दूसरी बार वह जिस प्रकार विनत और विनयी थी उसके बाद भी यदि वह नहीं आयी तो उसे थोड़ा खेद अवश्य हुआ परन्तु अपनी ओर से वह तुष्ट हो थी कि इससे अधिक कोई और कुछ नहीं कर सकता था। अपनी माँ को तो उसने इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया था कि ससुराल पक्ष के लोगों को लगे कि देखो बहू ने अपनी माँ को अपनी सास से भी अधिक महत्त्व दे रखा है। कुछ हो, माँ के लिए यह समधी का घर है, पराया घर है और पराये घर में व्यक्ति अधिक से अधिक सदाशयी या आत्मिक अतिथि ही तो हो सकता है

और श्रीमती गोदावरी आचार्य ऐसी ही आत्मिक अतिथि थीं। हाँ, पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जरूर पण्डित शिवशंकर आचार्य को लेकर बाजार गये हुए थे। बहुत कुछ मामेरे की तैयारी हो गयी थी परन्तु सुनार ने अभी भी तीनों भानजों के लिए अंगूठियाँ तैयार नही की थी और वे ही लेने दोनों साले-बहनोई गये हुए थे। गोविन्द को दुर्गा ने धरमशाला में देख-रेख के लिए कहा हुआ था। ठीक ही था यदि वह सिर पर खड़ा न रहता तो बर्तन-वालियाँ परातों को यों ही धो-धोकर रख देतीं। उसने ताकादा कर करके उन्हें ठीक से मंजवाया। मिठाई वाले कोठार में यदि वह चौकसी न रखता पता नहीं दो-एक टोकरे लड्डू तो हलवाई के आदमी इधर-उधर कर ही देते। माना कि जाति के, सम्बन्ध के दो-चार वयोवृद्ध वहाँ थे परन्तु कुछ को तो शास्त्रार्थ से या तमाखू मलने से ही फुर्सत नहीं होती। आलू काटा जा रहा है तो किसी को यह देखने की ही फुर्सत नहीं कि कोई आलू खराब तो नहीं है? बस कहा है कि सब्जी कटनी है, तो काट रहे हैं। अब आप जानें और आपका भाग्य। बैंगन के बड़े टुकड़े ठीक रहेंगे या नहीं—किसे चिन्ता है इसकी? और गोविन्द ही क्या, कोई बड़ा ही कब तक हर बार किसी को टोक सकता है? और बार-बार टोकने पर सामने वाले से ज्यादा तो आप ही खिसिया जाएँगे।—न देखो तो आटा माँडकर यों ही परातों में छोड़ देंगे। अरे भले आदमियो! आटे को अगर गीले गलने से नही ढँका जाएगा तो एक तो सूखेगा, दूसरे मक्खियाँ बैठेंगी। अब गोविन्द ही सब करे। करना ही पड़ता है। 'भटजी' और 'गामोठ जी' से कोई क्या कह सकता है भला? जब बड़े लोग कुछ नहीं कह सकते तो कल का छोकरा गोविन्द कुछ कह सकता था?—हर बार इन लोगों को तो पान-तमाखू चाहिए। कड़ाहियों में जलता घी छोड़कर हलवाई लोग बातें करते रहेंगे। जले किसी का घी, कौन अपना है? और कहने जाओ तो ऐसी आँखें तरेरेंगे कि तरेरी भली।—बादाम कड़वी तो नही है? इस नाम पर लोग सुपारी की तरह चबाते मिल जाएँगे पर कोई कुछ कह भी नही सकता।—गरी कसने को ही कोई तैयार नही। किसनी [कद्दूकस] पर हाथ छिल जाता है—तो क्या हो? पर, बस चुप ही रहिए। काम तो होगा ही सब, लेकिन इसी नाज-नखरे से होगा। आप जितनी जल्दी करेंगे उतनी ही देरी होगी। आप खीझते हुए खड़े रहिए।

यज्ञोपवीत वाले मण्डप को चारों ओर से घेर कर स्त्रियाँ बैठी थीं। विविधवर्ण की भूषाओं तथा विभिन्न अलंकारों में और मार्मिक एवं प्रसाधित सज्जा में बैठी हुई स्त्रियाँ अनुष्ठान के लिए उतनी नही बल्कि अपने को सम्भावित प्रदर्शित करने के लिए उपस्थित थीं। मन्त्रो के स्वरों के समानान्तर स्त्रियों का बतियाना किसी स्तोत्र-पाठ से कम नहीं था। यज्ञ-हवन के धुएँ से आँगन ही क्या पूरा घर भरा हुआ था। सामने बैठे बच्चे रह-रह कर अपनी आँखें मल रहे थे। पण्डित महादेव शुक्ल अपने रेशमी दुपट्टे से मुँह और नाक ढँके हुए थे। बनारसी पल्लू से श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ला अपना मुँह पोंछ

लेतीं। इस आयु में बहू बन कर बैठना कितना सुहा रहा था। बहुत लम्बा घूँघट तो नहीं था फिर भी सामाजिकता को निर्वाह करता घूँघट तो था ही। उतने से में भी तो कुछ खास नहीं दिख रहा था। बस जैसे ही वह 'स्वाहा' सुनती कि पति के हाथ के साथ ही अपना हाथ भी बढ़ाते हुए थाली में से हवन-सामग्री की चुटकी भरती और वेदी मे डाल देती। पति प्रायः घृत डालते होते परन्तु जब कभी उनके हाथ के साथ अपना हाथ भी वह देख लेती कैसी मोहकता लगने लगती। पति के हाथों के बाल भी अब काफी सफेद हो चले हैं पर आज से चालीसों बरस पहले जब इसी हाथ ने उनका हाथ गहा था तो कितना चिकना, पुष्ट और मांसल लगा था न? हालांकि पहली ही बार हाथ थामा था परन्तु कैसा आपा जैसा लगा था कि जैसे बोल रहा हूँ। क्या? अरे वाह, यह भी कोई कहने-पूछने की बात है क्या? पुरुष का हाथ स्त्री के हाथ से क्या कहता है? क्या नौसिखिए हो क्या? वैसे आज वह नथ पहनना चाहती रही परन्तु पति के डर के मारे नही पहनी तो दुर्गा को अपनी असली मोतियों वाली नथ पहना दी। दुर्गा कैसी गण-गौर लगने लगी थी न? प्रायः स्त्रियाँ उनके पास आकर कुछ पूछ जाती, कह जातीं। सहमति या असहमति में उनका हिलता सिर देखकर पण्डित महादेव शुक्ल को अच्छा नही लगता। अरे पूजन-हवन के समय तो मनुष्य को घर-गृहस्थी की चिन्ता नही होनी चाहिए। पर ये स्त्रियाँ हैं ही ऐसी। कैसी? कैसी क्या? क्या मजाल जो घर-गृहस्थी की झंझटों के अलावा किसी भले या बड़े कामों में इन लोगों का मन लगे। अभी इन सारी स्त्रियों को दाल बीनने बैठा दो, ऐसी तन्मयता से बीनने लगेंगी कि आत्मस्थ हो जाएँगी परन्तु जहाँ किसी अच्छे काम में बिठाया नही कि तैयार तो सबसे पहले होंगी परन्तु वही खुसुर पुसुर। वही एक दूसरे के कपड़े-लत्ते पर टीका-टिप्पणी। कौन किसने गहने पहने हुए है। किसके बच्चा हुआ कि नही? अरे, पूछो इन भलीमानसों से कि तुमसे मतलब? किसी को बच्चा हो तो तुम्हें क्या? या किसी को उसका आदमी साल भर से नही ले गया, तो तुम क्या कर लोगी?—इन स्त्रियों के मारे कैसा ही अनुष्ठान क्या अर्थ रखता है? वेदमन्त्र हों या कथा-वार्ता हो इनकी बला से। दो-दो चार-चार का झुण्ड बनाये बैठी कनबतिया कर रही है तो कोई किसी को चिकोटी काट रही है। बात नही जैसे घंटियाँ बजा रही है। हालांकि हँसी को भरसक रोकने के लिए मुँह में आँचल ठूंस लेती है कि पता नही इस तरह हँसने पर पुरुष, सम्बन्धी लोग क्या सोचेंगे। परन्तु बताओ यहाँ बातें करने आयी हो या अनुष्ठान में शामिल होने? बड़ी-बूढ़ी तो खैर चुप ही थी परन्तु ये नयी बहुएँ और इनकी विवाहित-अविवाहित ननदें तो ऐसी चुहल करती हैं कि किसी का भी ध्यान बँट सकता है। वैसे इतनी विविध वर्णमयता, आलंकारिकता और नेत्रों की संकेत-स्थली, मोती जैसे दाँतों की खिलखिलाहट और काजल अँजे प्रतिसंकेतों से अनुष्ठान, उद्यान लगे तो क्या बहुत गलत है? सम्भव है फूल भी यदि इतने और ऐसे सटाकर, सामाजिक मर्यादा के साथ बैठा दिये जाएँ तो वे भी स्त्रियों की भाँति चपल, चंचल और मृदुवाचाली हो जाएँ। स्त्रियों में जो युवा होती है, बहुएँ होती है उन्हें ऐसे ही अवसरों पर ही तो थोड़ी बहुत मिलने-जुलने, ठिठोली करने की स्वतन्त्रता मिल

पाती है नहीं तो, हमेशा तो चौबीसों घण्टों सास का डण्डा तो सिर पर है ही तथा झाड़ू-बुहारू, चौका-बासन, रोटी-भाजी, बोनना-चूंटना, उठाना-धरना, तेल-पानी—सबेरे से देर रात यहां तो चक्की चलती रहती है। उस पर से आधी रात तक पति की सेवा!!—सिर अपना!!—तभी तो इस प्रकार के जातीय आयोजनों में पहुँची नहीं कि रोम-रोम जिह्वा हो जाता है। सबके पास अपने-अपने दुःख-दर्द के पुराण हैं। अब बताओ अपना पुराण सुनें-सुनाएँ कि इन पोथीवाले पुराणों की झूठी-सच्ची वही की वही कथाएँ रोज-रोज सुनें? तुम सुनो, तुम पुरुष हो। तुम्हीं ने इसे लिखा है, तुम जानो और ये जानें। हमारा दर्द किस पुराण में है जी? तो फिर हम क्यों सुनें? घर-परिवार में भी किसी से न कह पाएँ तो क्या कुल-कुटुम्ब के इन विस्तृत अवसरों पर भी नहीं कहें? अच्छी रपसट है यह! घर में भी मुँह बन्द और बाहर भी कहते हो कि मुँह बन्द रखो। तो फिर अपनी व्यथा किससे कहें? पेट का दर्द तो सन्तान बन जाता है परन्तु मन का दर्द?—तभी तो एक का अनुभव दूसरे के भी प्रायः काम आ जाता है। अपनी सासों, ननँदों, जेठानियों की सब तरह की चर्चा में कैसा रस आता है यह तुम लोग क्या जानो? जाओ, अपना वेदपाठ करो और कथा-भागवत बाँचो। *बहुत भगत बनते हो, सब पता है!*

जो बातें सामान्यतः नहीं मालूम हो पाती हैं उनकी सूचना इससे-उससे सुनकर, कहकर हो जाती है। स्त्रियों का संसार ही नहीं बल्कि व्यवहार का ढंग ही सर्वथा भिन्न होता है। स्त्री की तरह पेट पकड़ कर जीना पड़े तो सारा ज्ञान-ध्यान धरा रह जाए। नयी-नवेली बहू की अपनी व्यथा होगी तो सद्यः विधवा की अपनी समस्या होगी। कहने को सम्बन्ध होते हैं पर स्त्री के लिए कोई सम्बन्ध नहीं होता है और होता भी है तो स्त्री उसे अच्छी तरह जानती है। अपने को न बचाये, न छुपाये तो उसका उठना-बैठना *मुश्किल हो जाए। घरों में ही नाना प्रकार के सम्बन्धों में नाना प्रकार की सम्भावनाएँ* घटनाएँ और कभी-कभी दुर्घटनाएँ भी घटती रहती हैं। किसी के लिए माँ न बन पाना समस्या होगी तो किसी के लिए हर साल एक बच्चा जान की आफत हो गया होगा। किसने-किसके कान में किसके नाजायज सम्बन्ध या गर्भपात की सूचना पहुँचा दी है यह उन रेशमी साड़ियों वाले घूँघटों, नथवाली मुखाकृतियों, चपल चितवन वाली चन्द्रमुखियों को देखकर कोई नहीं कह सकता। ऐसे ही करियावरों में किसने कौन सा नया गहना बनवाया, कहाँ से नयी साड़ी मँगवायी, ठुस्सी की माला बनवायी, नथ तुड़वाकर बुन्दे *बनवाये, गोखरू के कंगन बनवाने में और कितना सोना लगा आदि बातों का हिसाब* लिया-दिया जाता। यह तो पुरुष ही हैं जो—'कहिए क्या हाल है?' और 'जी, सब ठीक है।' या फिर दो-एक विशेष बात पूछ ली और अपने पान-तमाखू जमाकर तकिये से टिक-टिका कर बैठ गये। अब आपकी बला से कि चारों ओर क्या हो रहा है। बड़ी बातों को सोचने में न हींग लगे, न फिटकरी। आत्मा है, तो क्या, और आत्मा नहीं है, तो क्या! पुनर्जन्म होता है कि नहीं, जब पूर्वज तक नहीं जान पाए तो आप टाँग पर टाँग चढ़ाए सोचिए तब भी कुछ होना नहीं। दिमागी ऐयाशी है, करते जाइए। स्त्रियाँ ऐसा ही करें तो सारे अचार सड़ जाए। बड़ियों पर वो फफूँद चढ़ जाए कि जानवर भी

उन्हें सूंघें नहीं।

परन्तु स्त्रियों के लिए ये आयोजन सांस्कृतिक दृष्टि से नही वैयक्तिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं। लड़कियों को माताएँ, लड़के वालियों को साधती हैं। सबके घर की कैफियत का पता चलता है। किसी पर तरस खाया जाता है तो किसी को 'गुरुमन्त्र' दिया जाता है। जो बातें चिट्ठियों से नही कही जा सकती हैं, वे बातें बहुओं के मायके वालों को ऐसे ही अनुष्ठानों में गयी काकियो, मामियो से पता चलती हैं। मतलब यह कि ये अनुष्ठान स्त्रियों के लिए सर्वाधिक महत्व के होते हैं। अपने-अपने गोल बना कर बरातों के चले जाने पर, काम-काज निपट जाने पर एकान्त में बैठी ये मानवीय झाड़ियाँ सबसे अधिक मुखर होती हैं। पुरुषों का आद्यन्त विवेचन होता है। अगर बैठी हुई सब मनोनुकूल सहेलियाँ हुईं तब तो वो नकलें, चिमगोइयाँ होती हैं कि पेट पकड़-पकड़कर, मुँह में पल्ला ठूँस-ठूँस कर हँसा जाता है। जेठो का रसियापन, देवरों की ललचायी आँखें—बस पूछो नहीं, तश्तरी मे रखा गुलाब जामुन!! और इस खिलखिल का कोई अन्त है? सारे सामाजिक दबाव, पारिवारिक बन्धन उस समय हवा हो जाते हैं। सिर का पल्लू गिर गया है। साड़ी के हट जाने से केवल पोलका ही नही दिख रहा है बल्कि.... पर किसे चिन्ता है? जाड़ो मे चार जनियाँ पैरों पर लिहाफ-गोदड़े डाले ऐसी खिलखिला रही होती हैं कि कभी-कभी तो किसी बड़ी-बूढ़ी को आकर डाटना ही पड़ता है। स्त्री का भी अजीब है कि प्रत्येक स्त्री समझती है कि वही एक मात्र प्रथम और अन्तिम स्त्री है। इसीलिए स्त्री, पुरुष के साथ हो तो भी रहस्य लगती है और अन्य स्त्रियो के साथ हो तब भी रहस्यमय लगती है। पुरुष के साथ स्त्री हो तो वह आप में अप्राप्य होने का भाव जगाएगी और स्त्रियों के बीच होगी तो लालसा का भाव जगाएगी। शायद इसीलिए स्त्री अपरिमेय होती है।

ऐसे ही करियावरों मे ढेरों-ढेर पापड़-बड़ियाँ बनाते हुए, वर को हल्दी लगाते हुए, धरमशाला में पूड़ियाँ बेलते हुए, अपने-अपने गोल में बैठे हुए, काम भी हो रहा है और आँखो से, बातों से चारों ओर के लोगों, घर-दुआर की बातों का रस भी लिया जा रहा है। वर्ना तो रोज वही सासुओं की 'थानेदारी का डण्डा' सिर पर बज रहा है। घर का काम है जो कि हनुमान की पूँछ की तरह लम्बा ही होना जानता है। न किसी से हँसना, न बोलना। पति तक से बोलना तो दूर, दिन में देखा-देखी भी सम्भव नही। और रात के अँधेरे में चाहे भूत देखो, चाहे पति। और जिसने भी भूत की यह तुक पति से मिलायी उसके साहस की दाद देते हुए फिर खिलखिल। कित्ते-कित्ते दिन हो जाते हैं सिर्फ हाँ-हूँ करते हुए। ऐसा लगता है न कि अगर हठात किसी से बोलना पड़ जाए तो जीभ ही लड़खड़ा जाए। तभी तो बात ही बात की जाती है। इसीलिए जैसे ही किसी के घर की शादी-ब्याह, जनेऊ की खबर आयी नही कि जी कैसा-कैसा करने लगता है न कि कब जाने को मिले। या पता नही सास न जाने का कोई बहाना ऐन मौके पर न निकाल लें। कारण कुछ भी हो सकता है, क्योंकि चाहे सास घर में बहू को अबूद्या ही पहनने को दे तो बड़ी बात है परन्तु चार लोगों के बीच वो रीत

श्रौर मर्यादा के अनुसार पहना-श्रोढा कर ही ले जाना पड़ेगा। श्रौर ये बहुएँ ऐसी धमधूसर होती हैं कि जान-बूझकर धमक कर बैठती हैं श्रौर कपड़ा बिना पहने फटता है। करियावरों में गहने भी निकालने ही पड़ते हैं। लाख समझाश्रो, गिनाश्रो कि क्या-क्या पहन कर जा रही हो, पर ये महरानियाँ भी ऐसी मटरू हैं कि कुछ नही तो गोखरू की कील ही गिरा कर श्रा जाएँगी। कितना ही कहो कि चार जनों के बीच जा रही हो। सब तरह के लोग श्राएँगे। खूब सम्हल कर रहना। यह नही कि घोड़े बेचकर सोश्रो श्रौर कोई हाथ साफ कर जाए। नहाने जाश्रो तो श्रपने गहने किसी को सहेज देना। यदि कोई विश्वासी न हो तो अंग पर से गहने निकालने की कोई जरूरत नही है परन्तु ध्यान रहे कि गहनों पर पानी न लगे। माना कि बुश्रा या मामी या काकी के घर ही जा रही हो पर खबरदार, जो किसी को भी श्रपने गहने पहनने को दिये या किसी दूसरे के बदल कर पहन रहे हैं। लड़कियों में यह छिछोरपन बहुत होता है। श्रभी तुम्हे क्या पता इन श्रौरतों के पेट के पानी का, किसी मतलब से ही श्रदला-बदली करती है ये लोग, समझी? किसी के मन में क्या है कुछ पता चलता है? बहुत बहाना पा किसी मतलब से ही होता है, समझीं? श्रौर कल से कुछ हो-हुश्रा जाएगा तो किसी से कहने के भी नहीं। श्रपने सीधे-सीधे जाश्रो श्रौर भले-भले चले श्राश्रो। न किसी के फटे में पाँव देना श्रौर न किसी की सीवन में झाँकना, समझी?

श्रौर बहुएँ बडा-बड़ा सा सिर हिलाते हुए बिनम्र बनीं गहने-कपड़े सहेज लेतीं। गोटे के लहँगे, साड़ियाँ भी श्रपनी श्रोर से दो-दो बार गिन लेतीं ताकि सास को भी विश्वास श्रा जाए श्रौर लौटने पर फिर कोई झंझट न हो कि वो किशमिशी बँगलौरी क्या हुई? श्रौर श्राप सोच रही हैं कि श्राप वह ले कब गयी थी? लेकिन क्या सास से श्राप कह सकती हैं कि श्रापने वह दी ही कहाँ थी? लीजिए, हो गयी न बैठे-बिठाए एक झंझट?

फिर भी, जब उस पिंजरे में से निकलकर गाडी में या मोटर मे या दूसरे मुहल्ले में ही जाने को मिलता तो लगता न कि गाड़ी के बैल कैसे धीरे-धीरे चल रहे हैं। श्रभी तो तालाब की पाल ही श्रायी है। हवा, खूब सी, ढेर सारी धूप श्रौर जंगल में उड़ते पक्षी—सब मन के भीतर, ठण्डे जल की ठंढी लकीर से उतरते ही चले जाते। बस, ऐसा उत्सव मन लिये ही कभी-कभी इन करियावरों मे जाने को मिलता। तब भला खिलखिल न हों, चिमगोइयाँ न हों, तो कब हों?

मण्डप में बैठी हुई महिलाश्रों तथा काम करती स्त्रियों के श्रलावा स्त्रियों का एक दल ऊपर के श्रागे पीछे के कमरों में भी बैठा हुश्रा था। इस दल में श्रपेक्षाकृत बड़ी श्रायु की, श्रनुभव सम्पन्ना ही थी। इनमें शुद्ध बहू शायद ही कोई हो। सास श्रौर जेठानी वर्ग की इन महिलाश्रों को देख कर ही कहा जा सकता था कि ये जिसके पीछे न पड़ जाएँ। जिसकी कहो उसकी बखिया उखाड़ कर दें। किसके कब श्रौर कितने पूरे बच्चे हुए,

मयूरे कितने हुए। किसका यह कौन-सा विवाह है। किस सन और किस आयु में कौन विधवा हुई—मतलब कि इन महिषियों की अंगुलियों के पोरों पर जो हिसाब होगा वह स्वयं यमराज के बहीखाते में भी नहीं होगा। क्या जमाना आ गया है कि बड़ों के सामने ये आजकल के लड़के-बहुएँ अपने बच्चों को गोदी में लेने लगे हैं।—और क्या अब तो साथ सोना ही देखना बाकी रह गया है।—छोटे भाई की विधवा को किस जेठ का गर्भ रह गया था तो कैसे उसे जगन्नाथ जी की यात्रा में पार लगा आए। काशी जी में वह विधवा बहू घाट पर से बैठी-बैठी गायब हो गयी, कितना ढुँढ़वाया, मगर बेचारे जेठ को वह फिर नहीं मिली—है न तरकीब बढ़िया ?—कौन अपनी विधवा बहन या लड़की को विधुर ससुर और बदमाश देवर के कारण नहीं भेज रहा है।—और सबसे गजब तो यह हो रहा है कि ये दो-चार किताबें पढ़ी नयी बहुएँ क्या आ रही हैं कि इनके मन में अब सास का कोई डर ही नहीं रह गया है। अब बताओ, जब तुम्हारा सास बनने का मौका आया तो बहुएँ शेर हैं। आप तो मारी गयी न ? जब बहू थी तब सास ने नाकों चने चबवाए और अब जब सास बनीं भी तो किस काम की ?—आज की बहुओं को सिवाय हँसी-ठट्ठे के धेले भर कोई काम नहीं आता। एक बच्चा क्या जना कि पेट निकल आया। हमने देखो दस-दस, बारह-बारह होना तो मामूली बात थी पर क्या मजाल जो पेट निकल आए। जापे की दवाइयाँ खाने में तो जान निकलती है सो फिर पेट तो निकलेगा ही।—अरे, इन बहुओं से ज्यादा तो इन लड़कों के मारे मुसीबत है—जाने क्या मन्तर ये लड़कियाँ इनके कानों में फूंक देती हैं कि आप लाख कहें ये कभी नहीं मानेंगे।

इस तरह के दलों की एक मर्यादा होती है कि जो सबसे वृद्ध होती है उसकी बातों को एक तो काटा नहीं जाता, दूसरे हाँ में हाँ मिलानी पड़ती है। धोती के अन्दर सभी नंगे होते हैं पर उसमें भी कौन कितना अधिक नंगा है, यही यहाँ तय होता। जेठ-देवर कब डोरे नहीं डालते हैं ? पर इसका मतलब यह तो नहीं कि आप जाकर लेट ही जाएँ। आदमी का क्या ? मारी तो आप गयी न ?—सच्ची, अब तो ऐसा लगे है कि औरतें मरद के मरने का रास्ता ही देखती बैठे हैं। अपना मरद तो रोज जलेबी, रबड़ी खिलाने से रहा। यह तो जेठ-देवर ही कर सके हैं, तब भला कौन विधवा होना नहीं चाहेगा, है न ?....राम ! राम !! भला ऐसे कलयुग में कोई क्या रहे ?—अरे, ऐसा ही है तो कोठे पर बैठ जाओ, किसी ने हाथ पकड़ा है ? पर घर की नाली में तो यह गन्दगी न बहाओ।

नीचे चौखण्डी में यज्ञोपवीत का कार्यक्रम समाप्त जैसा ही था पर स्त्रियाँ ऊपर बैठी हुई निन्दा-पुराण के श्रवण-वाचन में दत्तचित्त थीं। बड़ी देर तक पण्डित बैकुण्ठ नन्दन त्रिपाठी की पुत्री वसुन्धरा को लेकर चर्चा चलती रही कि वसुन्धरा को गर्भ उसके पति से रहा ? और यदि नहीं था तो पहले किसने मना किया था ? जरूर दाल में काला है। इस बारे में जो सुनगुन नहीं मिल पा रही थी उसमें खजांची साहब की तेजी ही कारण थी परन्तु देखना, एक न एक दिन पाप का घड़ा फूट के ही रहेगा। पाप के घड़े पर से कुछ महीषियों को श्रीमती गंगादेवी व्यास की अनुपस्थिति से लेकर शिशु-काण्ड और

जाने क्या-क्या याद हो आया। इसे याद आना नहीं, फेंटा जाना कहा जाता है।

— सच्ची में यदि पुलिस में मामला दे दिया होता तभी ठीक था। सारी बदमाशी छँट जाती।

— *लेकिन बहना! शुकुल जी के घर को बदनामी कित्ती होती?*

— लो इनकी सुनो। इसमें बदनामी की क्या बात है? कोई गुण्डा घर में घुस आये तो कोई क्या कर सकता है?

— ऐसे तो घर में कोई किसी के नहीं घुसता। मगर यह बिशु तो घर ही का था।

— बड़ा घर का आया। देखना एक दिन जेल न जाए तो नाम पलट देना, समझी?

— बिचारे गोवर्धन जी तो नाथद्वारे ही चले गये।

— भगवान के घर जाने से तो नाथद्वारे जाना क्या बुरा रहा?

— कोई कुछ कहे, पर आदमी लोग ठीक ही कहते हैं कि लड़कों-बालों को ये औरतें ही बिगाड़े हैं।

— सच्ची में इस बिशु को धूलधानी और कांकरा पानी इसी गंगा ने ही तो किया है और अब भुगत रही है।

— अभी क्या रो रही है। इस बिटले को जात से क्या निकाला कि नकटे की नाक सवा हाथ रोज बढ़े।

— बहन! परसों की ही बात है मन्दिर से लौटते में जैसे ही राम जी की गली में मुड़ी कि ये ऐंठवाड़या [जूठन खाने वाला] मुर्गा उलटा लटकाये हँसता हुआ सामने से चला आ रहा था। मैंने तो पहले पहचाना ही नहीं, समझी, होगा कोई ताँगे वाला मुसलमान।

— मैं तो ऐसे लड़के को काट कर फेंक देती।

— बड़ी आयी काट कर फेंकने वाली। कहना ही आसान है।

— पर भाई, एक बात है, इत्ते पर भी यह दुर्गा उन्हें वैसा ही मान-आदर देती है।

— देगी नहीं तो क्या करेगी?

— क्यों देती? सास के भाई का परिवार है। अपने अपमान के बाद वह नहीं जाती बुलाने तो सास क्या कर लेती?

— इत्ती सीधी तो कोई औरत आज तक हुई नहीं बहना! मीठे के लिए ही जूठा खाता है आदमी! —हमें तुम्हें क्या पता कि ऐसा क्या मीठा है दुर्गा को।

— लेकिन गंगा पट्ठी नहीं ही आयी आखिर।

— आयी क्यों नहीं है?

— कौन! गंगा आयी है? कहाँ है?

— वो पीछे के कमरे में बैठी परजात की औरतों में खिचड़ी पका रही है।

— नुगरी [कृतघ्न] है नुगरी, यह गंगा की बच्ची जो मुँह में आता है बकती रहती है कि उसकी बड़ी ननँद ने और त्र्यम्बक ने अपने फुन्दी से बिशु को पिटवाया है पर देखना वो एक दिन ऐसी मूठ चलवाएगी कि सारा शुकुल परिवार नष्ट न हो जाए

तो कहना। यह नुगरापन नहीं तो और क्या है?

— और क्या, मारते का हाथ तो पकड़ा जा सकता है भई, पर जीभ का क्या?

— यही घुन्नी [चुप्पी] शुकुलाइन के पैरों में बिछी पड़ती थी और अब परजात की औरतों में बैठकर जात की बदनामी करती फिरती है। जानती है न कि जात में तो उसके सारे लच्छन पता ही है।

— ठीक तो है बहन! मगर ज्यादा किसी को बिस्तर में घुसाओगे तो फिर....

और इस बात पर औरतें मुँह में कपड़ा लेकर जिस तरह से फिस्स से हँसी उसमें वाक्य का अर्थ, ध्वनि में बदल गया।

बातों को और द्वेष को जिलाये रखने की कला जितनी अच्छी औरतों को आती है उतनी पुरुषों को नहीं। पुरुष तो भभक उठेगा और घटित हो जाएगा परन्तु स्त्री न भभकेगी न घटित होगी बल्कि धुँधआती रहेगी। धुँधआती कण्डी खुद आग नहीं बनती बल्कि दूसरे में आग उत्पन्न कर सके ऐसी आँच अपने में बनाए रखती है। बस जरा सी हवा किसी ने दी नहीं कि कण्डी की आँच ऊपर आयी नहीं।

पहले तो गंगा आ ही नहीं रही थी परन्तु पता नहीं क्या सोचकर आयी, लेकिन जात-सम्बन्ध की स्त्रियों में न बैठकर परजात की स्त्रियों में जाकर बैठी। वर्षों से इन स्त्रियों को इन ब्राह्मणों के घर की पचासों बातों की जिज्ञासा थी परन्तु कुछ अता-पता नहीं लगता था और आज जब गंगादेवी व्यास खुद ही उनके बीच आकर बैठ गयीं तो पहले तो उन्हें विश्वास नहीं आया पर जब विश्वास आया तो कुछ पूछने का साहस नहीं आया। लेकिन जब साहस भी आ गया तो लगा कि कहीं छोटे मुँह बड़ी बात न लगे। परन्तु स्त्रियों में ही यह एक विशेषता भी होती है कि पुरुषों की भाँति उनमें वर्गीय चेतना, सामाजिक भेद-भाव उतना तीव्र नहीं होता। इसका कारण शायद यही है कि थोड़ी ही देर में सभी स्त्रियाँ अनुभव करने लगती हैं कि पुरुषों द्वारा प्रताड़ित, दलित तो ये भी है—ब्राह्मण या अब्राह्मण होने से क्या? स्त्री, स्त्री ही है चाहे वह ब्राह्मण हो या और कुछ। साथ ही बहुत अधिक आर्थिक अन्तर न हो तो स्त्रियाँ भाषा की औपचारिकता भी नहीं निभाती हैं।

— लेकिन गंगा बहन! तुम्हारा ही कलेजा था जो ननँद के द्वारा इतना अपमान सह गयी।

— बहन! छोटे को ही सब दबाते हैं।

— और नहीं तो क्या! अपनी बहू के तो लक्खन देखते नहीं और दूसरे के लड़के में पख निकालने चले हैं।

— औरतें यों ही थोड़े ही बदनाम की जाती है? जब कुछ होता है तभी तो लोग कहते हैं। हम-आपको तो कोई नहीं कहता? कुछ होतो ही है। जब तक दो-चार जगह

मुँह न मारें पेट नही भरता।

— और नही तो क्या। औरत शह नही दे तो मरद की मजाल जो आँख उठाकर भी देख सके ? समझा होगा न कि चलो ममेरा देवर है विशू....कुछ नही से क्या बुरा है ?

— लेकिन पूरा किस्सा क्या था, यह कभी पता नही चला।

— अरे हटाओ यह सब। जिसके घर में बैठे है उसी की बुराई करना क्या ठीक है ?

— लो, इसमें बुराई की क्या बात है ? बात की बात हो रही है। जब चार होगे तो मुँह सिल के रहने से तो रहे।

— नही, मेरा मतलब था गड़े मुरदे खोदने में क्या रखा है ?

— अब तुम ही कुछ नया कारनामा कर दिखाओ तो इस नया पुराने मुरदे को छोड़ देंगे।

इस बात पर बाकी सब तो खिलखिला पड़ीं परन्तु जिस पर चोट हुई वह तिलमिला गयी। बोली,

— बहुत बढ़-चढ़ कर बोलना ठीक नही भाभी !

— इसमें बढ़-चढ़कर बोलना क्या हुआ बहना ? बात कोई तुम्हारी तो हो भी नही रही थी। जिसकी हो रही थी मगर वह चिढ़ता तो समझ में भी आता। तुम्हें मिर्चा लगी तो जरूर कोई बात होगी।

— क्या तुम लोग आपस में ही लड़ने लगीं। यही कहा जा रहा था कि ऐसा यदि किसी छोटे-मोटे के घर होता तो लेने के देने पड़े जाते। बड़े लोग थे, तो सबकी बोलती बन्द रही।

— पर किसी दूसरे का क्या गया ? बिचारी गंगा काकी तो कहीं की नही रहीं और बदनामी ऊपर से।

— और क्या !! व्यास जी महाराज तो अपने जा बिराजे नाथद्वारे में और विशू की बला से दुनिया क्या कहती है, अब रह गयी बिचारी गंगा देवी, भोगें और रोयें।

— पर गंगा काकी ! एक बात बताओ शुकुलाइन माँ का दसियों हजार भी तुम डकार गयीं, मगर वह रार कौन-सी थी कि उनकी बहू को बेइज्जत भी किया ?

श्रीमती गंगादेवी शायद अपनी समझ से इन गैर जाति की औरतों में आकर इसलिए बैठी थीं कि जाति-सम्बन्धी वाली स्त्रियों में बैठेंगी तो बात चलेगी और पचास तरह की पख निकलेगी। वह तो नाम करने आयी थीं कि जाना भी हो जाए और बटुकों को जो लेना-देना है चुपके से करके लौट आएँगी। एक तो अपना ही मन सबसे बड़ा पापी होता है कि बार-बार बीते हुए उस अप्रिय के चारों ओर मंडराता रहता है। दूसरे यह संसार बड़ा ही मायावी है ! आप किसी बात को भूलना भी चाहें तो यह नही भूलने देता। विशू-काण्ड कोई आज हुआ ? और फिर कोई पूछे कि—तुमसे मतलब ? न तुम जाति की न सम्बन्धी। न तुमसे शिकायत की, न फरियाद की। न लेने में, न देने में तुम्हें भला इस फटे में पाँव देने को किसने कहा ?....बड़ी आयी है दिलजोई करने !! यह सहानुभूति है ? यह आग बुझाना है या पल्लू से हवा देना ? ऐसी ही उल्लू समझा है गंगा को ?

रण्डो ! वो दुर्गा तो घर की बहू थी सो उतने ही से सब हो गया, तुम्हारे पीछे बिशू को लगा दिया तो सीधे गले में फाँसी लगाती ही दिखोगी । —अपने को क्या समझती हो ? दसियो हजार डकार गयी !! हुँम् !! दसियों हजार कह तो दिया छम्मो ! पर कभी देखा भी है कि कितना होता है ?—और डकार गयी, तो ! क्या तुम्हारा डकार गयी ? था, तो मेरी ननँद का था, तुम कौन होती हो कहने वाली—डकार गयी !!....और जरा सुनो, कि बेइज्जत किया । रम्रो ! अभी जानती नहीं हो बेइज्जत करना क्या होता है । अभी खाँत [इच्छा] पूरी न हुई हो तो कहो बिशू को भेज दूँ ? तुम्हारे दोनों तरफ के पुरखे तर जाएँगे । —हाँ नहीं तो !! मुझे सुनाने आयी हैं ।

अभी वे स्त्रियाँ और कुछ कहें इसके पूर्व ही श्रीमती गंगादेवी व्यास एकदम खिंची, धमकी मुद्रा में खड़ी हो गयीं । उनके नेत्र न केवल सुलगे पड़ रहे थे बल्कि उनमें एक ऐसी तामसिकता, कौंध थी जैसी कि तान्त्रिकों की आँखों में होती है । उनका पल्लू गिर गया था तथा जूड़े के बाल अभी पूरी तरह नहीं खुले थे इसलिए बटे हुए उनकी गर्दन के पीछे लहर लेते हुए पीठ पर झूल रहे थे । उनको इस भाव एवं मुद्रा में देखकर अतीन्द्रियता लग रही थी ।

— बन्द करो यह बकवास !!

वह लगभग चिल्लाने जैसा ही बोली थी । चूँकि यज्ञोपवीत का कार्य एवं हवन आदि सम्पन्न हो चुके थे इसलिए सिवाय लोगों के बोलने, बच्चों के शोर के अलावा कोई दूसरा ऐसा उच्च-स्वर नहीं था जिसमें श्रीमती गंगादेवी व्यास की यह डाट खो जाती ।

— दस हजार !! कहाँ है वह दस हजार देने वाली ?

यह कहते हुए श्रीमती गंगादेवी व्यास ने जिस तरह घूमकर उन औरतों की ओर देखा, जो अभी थोड़ी देर पहले तक मार झाऊँ-झाऊँ मचाये हुए थी । वहाँ उपस्थित किसी भी स्त्री को यह आशा नहीं रही होगी कि स्त्रियों की आपसी बात कोई इस तरह उछाल देगा । यदि इसकी किंचित भी आशंका होती स्त्रियाँ कभी चर्चा ही नहीं करती । बल्कि अब तो वह स्त्री न केवल खिसिया ही रही थी बल्कि मन ही मन अपने को कोस रही थी तथा इस 'चामुण्डा' को गालियाँ दे रही थी, जिसने कि रुपये वाली बात कही थी । बल्कि वह मौका मिलते ही खिसकने की भी सोच रही थी । इस पागल का क्या भरोसा जो उसका हाथ पकड़कर 'शुकलाइन' के सामने ही न खड़ी कर दे । और तब जो बात का बतंगड बनेगा उसमें सिवाय फजीहत के और कुछ हाथ नहीं आने का । इसी को कहते हैं किसकी राँड़ मरे, किसके सपने आए ।

हठात श्रीमती गंगादेवी व्यास को इस मुद्रा, भाव में और चिल्लाते देखा तो चौखण्डी की स्त्रियाँ भी चौंकी कि क्या बात है ? सबका ध्यान श्रीमती गंगादेवी व्यास की ओर गया । श्रीमती गंगादेवी व्यास अपनी बात कहकर एक क्षण रुकने के बाद स्त्रियों की भीड़ के बीच से ऐसे ही चल रही थीं जैसे कि आदमी घुटने-घुटने जल में चलता है । पैरों से पानी लिपटा हुआ है तथा हाथ से भी पानी हटाता चलता है । अधिकाश स्त्रियाँ चौकन्नी थी । उन्हें बात का न तो प्रसंग ही मालूम था और न कुछ सिर-पैर ही ।

— कौन कहता है कि मेरे बेटे ने इनकी बहू की इज्जत ली ?....बोलता क्यों नहीं कोई ?

पण्डित महादेव शुक्ल बस उठने ही जा रहे थे। दोपहर के भोजन के बाद तीसरे प्रहर बटुकों की काशी-यात्रा और पारिवारिक लेन-देन का कार्य सम्पन्न होना था। जिस समय श्रीमती गंगादेवी व्यास की आवाज उन्हें सुनायी दी उस समय वह अपने दुपट्टे और पत्नी के आँचल में बँधी गाँठ खोल रहे थे। अपनी सलहज की आवाज सुनी पर उसकी गम्भीरता को समझने में थोड़ा सा समय लगा। लगभग यही मानसिकता श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल की भी थी। उनके छोटे भाई की पत्नी का चिल्लाना सुनते ही उन्हें लगा कि —चलो, किसी भी तरह यह आयी तो !—हो सकता है किसी पर झल्लायी होगी। पर जब लगातार दो ऐसे वाक्य सुने जिनका इस मांगलिक-कार्य से कुछ भी लेना, देना नहीं था बल्कि उस अमांगलिकता का उद्घोष था जिसे बहुत आत्मीय लोगों तक ही सीमित रखा गया था और समय के साथ वह दुर्घटना भी आयी-गयी हो गयी थी। तब इस बात के पुनः उठने का प्रयोजन ? शायद पति-पत्नी एक ही मुहूर्त में आशंकित हुए तभी तो गाँठ के छूटते ही दोनों ने आपस में प्रश्नात्मक, चिन्तातुर भाव से देखा—कि अब ?
पण्डित महादेव शुक्ल में अद्भुत आत्मसंयम की वृत्ति थी। वह क्षणान्त में सब कुछ समझ ले गये कि यह गंगा जहाँ बैठी होगी वहाँ औरतों में आपस में इसी बात की चर्चा हुई होगी और गंगा अपना सन्तुलन खो बैठी है।
इस बीच श्रीमती गंगादेवी व्यास लगभग लोगों को कुचलती हुई चौखण्डी में पहुँच चुकी थीं जहाँ शुक्ल दम्पत्ति खड़े हुए थे तथा तीनों बटुक और पुरोहित वर्ग मौजूद थे। स्थिति को सम्यक बनाते हुए श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल बोलीं,
— अरे गंगा ! तुम कब आयी ? चलो, ऊपर चलो।
और उन्होंने श्रीमती गंगादेवी व्यास का हाथ पकड़ना चाहा, जिसे छुड़ाते एवं झटकते हुए श्रीमती गंगादेवी व्यास और भी ऊँचे स्वर में चिल्लायीं,
— मेरा घर उजाड़ने वाली अपनी उस बहू को बुलाती क्यों नहीं यहाँ ? ...इसी हवन की आग से मैं उसकी चिता बनाऊँगी—डाक्कन ! चुड़ैल कहीं की !! कहाँ है वह ?
और वह सिर हिला-हिलाकर चिल्लाने लगी। उनके घूमते सिर के साथ उनके बाल भी घूम रहे थे। उनकी आँखों से लग रहा था जैसे वह सबको भस्मीभूत कर देंगी। स्त्रियों-बच्चों में भगदड़ मच गयी। अधिकतर लोग डर गये कि यह क्या हुआ ? किसी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। पण्डित महादेव शुक्ल को लगा कि यदि इस गंगा को यहाँ से नहीं हटाया जाता तो उनका आत्मसंयम तो भंग हो ही जाएगा पर डर यह है कि वहीं वह हाथ न छोड़ बैठें। और किसी परायी स्त्री पर हाथ उठाना कभी भी, किसी को भी रुचिकर न होगा।
— ले जाओ इसे यहाँ से।
उन्होंने अपनी पत्नी से यह बात जिस ढंग से कही उसमें उनका सम्पूर्ण क्रोध व्यक्त हो रहा था। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल स्वयं खिसियायी हो रही थीं। उन्होंने यही उचित

समझा कि इससे कुछ भी कहने से अच्छा है इसे यहाँ से ले जाया जाए। और उन्होंने जिस ढंग से गंगा को बाहुओं से पकड़ा उसमें उनकी अँगुलियाँ गंगा की बाँहों के मांस में धँस उठी। श्रीमती गंगादेवी व्यास निश्चित ही अपने में नही थी।

— नहीं, मैं कहीं नही जाऊँगी, जब मेरे बेटे ने उसकी इज्जत ले ली है तो वह अब''''

और अभी श्रीमती गंगादेवी व्यास वाक्य पूरा करती कि श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने अपने दूसरे हाथ से इतनी जोर का तमाचा उन्हें मारा कि झँझरी से नीचे झाँकती स्त्रियाँ, चौखण्डो के लोग सब सकते में आ गये। श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल का तमाचा जैसे एक पूरा वाक्य था कि—आखीर तो आस्तीन का साँप निकली न तू ?

अभी शायद श्रीमती गंगादेवी व्यास कुछ दैहिक और वाणी से प्रतिवाद करतीं तब तक श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय तथा कुछ और महिलाएँ भी आ गयीं और श्रीमती गंगादेवी व्यास को लगभग घसीटते हुए ले गयीं। वह लगभग चिल्लाती रहीं। उनके चले जाने पर भी वातावरण में तथा उपस्थित मण्डली में ऐसा अवांछित भाव दिखलायी दिया जैसे भोग की खुली थाली में कौआ कहीं से हड्डी का टुकड़ा गिरा जाए।

वातावरण में पहले जो बातचीत का स्वर था वह अब सन्नाटे में बदल गया था। बल्कि लोगों को एक-दूसरे की ओर देखने तक में असुविधा अनुभव हो रही थी, जैसे वे दोषी हैं।

जब भी तत्त्वों की विपरीतताएँ, अपने से या किसी अन्य बाहरी कारणवश टकराती हैं, तभी आवाज होती है। ऐसी आवाज मांगलिक नही हुआ करती। आकाश का खड़े चीरते हुए बिजली जिस समय आवाज करती हुई सिर ऊपर से गुजरती है तो लगता है कि आकाश जैसे बहुत ही बड़ा शीशे का मर्तबान है और कोई उसे खड़ा चीर गया है। कभी थान के चीरे जाने को देखा है—कैसा खड़ा-खड़ा न केवल चीरा ही जाता है बल्कि चीरे जाने का शब्द भी कैसा खड़ा-खड़ा सुनायी भी देता है। श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ला ने जिस प्रकार हठात श्रीमती गंगादेवी व्यास को चाँटा मारा तो गंगादेवी की जो भी प्रतिक्रिया हुई उससे कहीं अधिक वातावरण और उपस्थितों पर प्रतिक्रिया हुई। सारा वातावरण वैसे तो सन्नाटे में आ गया बल्कि कहना चाहिए कि सब थम गया लगने लगा। लोग, कसकर निचोड़े गये कपड़े से निर्वाक थे। सबके अन्तश्चेतन मे गंगादेवी का चीखना और श्रीमती कृष्णादेवी का चाँटा मारना उत्तरोत्तर आवर्तित हो रहा था। क्रियाएँ तो समाप्त हो जाती हैं परन्तु उनकी स्मृतियाँ नही।

पण्डित महादेव शुक्ल के मुख पर जिस प्रकार से क्रोध, विवशता, वितृष्णा लिखी हुई थी उसके कारण इस समय के अनुष्ठान, जो कि समाप्त ही हो गया था, के तत्काल बाद ही स्त्रियाँ और दूसरे लोग भी निःशब्द उठ गये।

चौखण्डी वाले मण्डप में ही नहीं बाहर वाले शामियाने मे भी लोगों की काफी भीड जमा हो गयी थी। यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार का सामाजिक पक्ष इमी कार्यक्रम में होता है। शहनाई, स्त्रियों के गीत, बच्चों के खेलने-कूदने का भीतर-बाहर इतना ज्यादा शोर हो रहा था कुछ सुनायी नहीं दे रहा था। पण्डित शिवशंकर आचार्य मा मेरे की 'पेरावनी' [कपडे-जेवर आदि] लेकर बीच में बैठे थे। तीनो बटुक लकड़ी के पाटों पर हाथ मे दण्ड लिये, कोपीन पहने खड़े थे। अभी थोडी देर पहले ही 'काशी-यात्रा' सम्पन्न हुई थी। लडकों ने तो चाहा था कि घाट की तरफ निकल कर मामा शिवशंकर जी को और छोटे मामा गोविन्द को खूब परेशान किया जाए और जब सायकिलें दिलाने का वादा करें तभी वापस लौटें। बटुकों के सामने चाँदी की थालियां रखी थीं। पास की थाली मे कुंकुम और अक्षत रखे थे। सम्बन्धी लोग आते जा रहे थे और बटुकों को टीका लगाकर रुपये, अँगूठी दे रहे थे। बटुक लोग 'भवति भिक्षां देहि' बोल-बोल कर 'भिक्षा' ले रहे थे। कभी प्राचीन काल में विद्याध्ययन के लिए उपनयन के बाद बटुक लोग जाते रहे होंगे और सम्बन्धी लोग सम्बन्ध की निकटता के अनुरूप अनुदान देते रहे होंगे। उस प्राचीन परम्परा की अब केवल यह रीति रह गयी थी। अब भी सम्बन्ध की निकटता के अनुरूप लोगों को देना पडता है। चाँदी की थालियों के पास ही दो सज्जन बैठे हुए थे। एक के पास बही थी जिसमें वह तो लिखते जा रहे थे और दूसरे महाशय दाता का नाम पूछ-पूछ कर बता रहे थे। चूँकि अधिकतर स्त्रियां ही होती थी, अतः घूँघट में से पहचानना कठिन होता था इसलिए पास ही में बैठी हुई श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय भी नाम बताती जा रही थी। रह-रहकर रुपयों की खनकार चाँदी की थालियों में खनक उठती थी। सारे विवाह, उपनयनों का हिसाब-किताब इसी प्रकार रखने की प्रथा थी। क्योंकि आज जिससे लिया है, कल जब उसके यहाँ कोई करियावर होगा तब लौटाना नही पड़ेगा ? और ऐसे ही समयों पर बहीखाते टटोले जाते है कि किसने कब कितना दिया था।
लिखाने वाले सज्जन बोले,
— गामोठ जी महाराज !
गामोठ जी महाराज खासे परेशान लग रहे थे। एक तो शोर बहुत हो रहा था, दूसरे वे स्त्रियों से बहुत परेशान थे। एक तो मारे घूंघट के समझ में नही आता कि कौन हैं, दूसरे इतने धीरे से नाम बताती हैं कि दो-दो तीन-तीन बार पूछना पडता है। इस सारी प्रक्रिया में आवश्यकता से अधिक समय लगाता है। जो काम आध घंटे में हो सकता है, इन स्त्रियों के मारे उसी में दो घंटे लगते हैं। बहुत ही निश्चिन्त भाव से आएँगी। फिर टीका लगाएँगी, फिर झुककर अक्षत लगाएँगी और तब देने वाली वस्तु को भी धीरे-धीरे देंगी और फिर बड़े आराम से श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय को नाम-गाँव बताएँगी।
— हाँ, गामोठ जी महाराज !
जब सिर झुकाये हुए गामोठ जी महाराज को दुबारा सम्बोधित किया गया तो वह भल्ला पड़े।
— आप नाम क्यों नहीं बोलते, क्या 'गामोठ जी महाराज' 'गामोठ जी महाराज' चिल्ला

रहे हैं। आँखें वहीं की तरफ हैं मेरी मगर कान तो आप ही की तरफ हैं।—अब बोलते क्यों नहीं?

— व्यास जी के घर से।

— व्यास जी के घर से! कौन से व्यास जी? कहाँ के व्यास जी? पूरा बोलिये""कोई एक व्यास जी हैं?—महाभारत वाले भी तो व्यास जी ही थे।

गामोठ जी महाराज के इस चिढ़ने वाले स्वभाव से कुछ लोग भले ही परेशान हो रहे हों परन्तु घूंघट में स्त्रियाँ भी हँस पड़ती। वस्तुतः कोई किसी की सुन ही नहीं रहा था। इधर यह सब हो रहा था उधर कोई चौखण्डी के सिरे पर खड़ा चिल्ला रहा था,

— अरे वो गोविन्द भैया कहाँ हैं? व्यास वालों का [पिट्रोमैक्स] पता ही नहीं है। धरमशाला में दो व्यास से कैसे काम चलेगा? लोग आने लगेंगे थोड़ी ही देर में। कोई नहीं है वहाँ जो पत्रावलियाँ लगाए। राँगोली डालने वाला कोई नहीं है—वो, गोविन्द भैया भी न जाने कहाँ चले गये।

पर स्त्रियों और बच्चों की उस भीड़ और शोर में कौन भला उसकी सुनता।

धरमशाला में सारा प्रबन्ध शास्त्रोक्त तरीके पर हो गया था। पत्रावलियाँ, राँगोली, और लाइन से उस राँगोली पर अगरबत्तियों के लिए मिट्टी के लड्डू रखे हुए थे। जलती अगरबत्तियों से वातावरण पूर्ण सुवासित था। धरमशाला की चारों पड़सालों के बीच में जो खुली जगह थी उस पर खूब बड़ा सा पक्का चबूतरा था जहाँ एक विशाल पीपल का वृक्ष था जो इस समय आरम्भ होती हुई शारदीया रात्री में खूब निखर आया था। इसी चबूतरे पर एक छोटा सा शिवालय था। यहीं पर लोगों के लिए बड़ी गो जाजम बिछी हुई थी जिस पर लोग आ-आ रहे थे। अपने कपड़े बदल कर सोले-मुकुटे पहन रहे थे। स्त्रियाँ घर ही से सोले-मुकुट पहने तथा हाथ में लोटे-घण्टियाँ [एक प्रकार का लोटा जिसकी गर्दन थोड़ी लम्बी होती है] लिये आ रही थीं। धरमशाला में घुसते ही ताँबे की तीन-चार बड़ी-बड़ी कोठियों में पीने का जल भरा था जिन पर चादरें तनी थीं। जिन कोठी कोठियों पर चादरें नहीं थीं उनमें पैर धोने का पानी भरा था। भट्टियों पर कड़ाइयाँ चढ़ी हुई थी और पूड़ियाँ तेजी से निकाली जा रही थी। ताजी बनती नमकीन सेव की गन्ध से पूरी धरमशाला गमक रही थी। पूड़ियाँ बेली जा रही थी। परसने के लिए टोकरों में चीजें भण्डार-गृह से दी जा रही थी। भण्डार-गृह में अंधेरा था क्योंकि सारे गैस पड़सालों में थे। अतः भण्डार-गृह में घी के दीये ही जल रहे थे। सारी मिठाइयाँ और नमकीन यहीं था। बाकी दाल-शाक, पूड़ी आदि सब बाहर ही थे। लड़कों को बाकी की चीजें परसने का काम दिया हुआ था परन्तु मिठाइयाँ पर और गरम-गरम भात परसने का काम बड़ों का था। चोंच वाले कमण्डलों में भट्टियों पर गरमाती दाल, कढ़ी और सब्जियों को भर कर दे दिया जाता और लड़के परसने पहुँच जाते।

पण्डित महादेव शुक्ल और पण्डित शिवशंकर आचार्य बटुकों को लेकर धरमशाला में पहुँच चुके थे। सभी लोग अपना-अपना स्थान चुन कर बैठ गये थे। स्त्रियों वाली पड़साल की ओर से गीत गाने की हिलोरें आ रही थीं। बटुकों के लिए स्थान नियत था। विवाह में यह केन्द्रीयता वधु वर और को प्राप्त होती है। लोगों ने अपने-अपने पत्तल-दोने सम्हाल लिये थे। हिलते-गिरते दोनों को किसी चीज का टेका देकर लोग 'नमः पार्वती' की प्रतीक्षा में थे। कुछ तो ब्रह्मार्पण भी कर चुके थे। पण्डित महादेव शुक्ल चन्दन और दक्षिणा का कार्यक्रम सम्पन्न कर रहे थे ताकि 'नमः पार्वतीपते हर-हर महादेव' 'बोल मोर-मुकुट वंशी वाले की जय !!' का उद्‌घोष हो और लोग जीमना आरम्भ करें। कुछ लोग तो आचमन करके ग्रास भी निकाल चुके थे कि 'नमः पार्वती' हो और वह सबसे पहले आरम्भ कर सकें।

तभी एक आदमी धरमशाला के दरवाजे पर किसी को रोकते हुए चिल्ला रहा था,

—— अरे रोको इसे, ये बिट्ल्या [जाति बहिष्कृत] कहाँ चला आ रहा है।

अभी शायद वहाँ का यह चिल्लाना पड़साल के लोगों तक नहीं आया था। वह आगन्तुक भी उस रोकने वाले की चिन्ता किये बिना भीतर ही आ रहा था। जैसे ही उस आगन्तुक को लोगों ने देखा और पहचाना तो सब एक क्षण को चकित रह गये। धरमशाला में हठात सन्नाटा छा गया। शायद उस आगन्तुक पर पूरी धरमशाला की आँखें लगी हुई थी। सब स्तम्भित थे। शायद सभी यह सोच रहे थे कि यदि यह आगन्तुक इसी प्रकार बढ़ता हुआ पगत तक चला आया''''तो ?''' तो क्या होगा ? सारा खाना तब बिटल न जाएगा ? रोकने वाला साथ ही था। उसने आगन्तुक को बाँहों से पकड़ा और बोला,

—— चल, बाहर निकल।

आगन्तुक निःशब्द बना उस रोकने वाले की कोई चिन्ता किये बिना बढ़ा। बाँह पकड़े जाने पर उसने जिस आग्नेय नेत्रों से देखा था उसमें वह रोकने वाला डर गया था, यह उसकी पकड़ से ही स्पष्ट था।

अब यदि उसे नहीं रोका जाता तो सर्वनाश ही नहीं, सत्यानाश हो जाएगा। लेकिन रोके कौन ? यह कार्य तो केवल पण्डित महादेव शुक्ल ही कर सकते है।''''और पण्डित महादेव शुक्ल ने जैसे ही आगन्तुक के आने की मुद्रा दूर ही से देखी तो वह सचेत हुए। टीका लगाना छोड़ अपना उत्तरीय कंधे पर सम्हाला। वह उत्तरीय सम्हालना नहीं था बल्कि अपने भीतर संकल्प सम्हालना था। वह संकट समझ चुके थे, अतः वह भी उतनी ही तेजी से पड़साल की सीढ़ियों तक पहुँचे ताकि आगन्तुक को मैदान में ही रोक सकें। सीढ़ियाँ चढ़ने पर पता नहीं लोग क्या अर्थ ले लें। सबका ध्यान भोजन पर से हट कर अब पण्डित महादेव शुक्ल और उस आगन्तुक पर लगा था। सब स्तम्भित थे। कुछ भी घटित हो सकता था। सब उस आगन्तुक को पहचान गये थे। वह जिस प्रकार के कपड़े पहने था तथा जिस प्रकार बढ़ा आ रहा था उसमें लग रहा था कि वह अनायास नहीं आया था। पण्डित महादेव शुक्ल मैदान में पहुँच कर उसके सामने खड़े हो गये। इन्हें देखकर वह आगन्तुक रुक गया। दोनों के पास शायद शब्द नहीं थे। केवल दृष्टियाँ थी

और वे दोनों मिलीं। शायद दोनों ही जान रहे थे कि ऐसी दृष्टियाँ प्रति-शक्तियों के रूप में ही होती हैं इसलिए जिसकी दृष्टि झुक जाएगी उसे पराजित समझना चाहिए। पण्डित महादेव शुक्ल जिस ढंग से खड़े थे उससे स्पष्ट था कि यह उसे छूना भी नहीं चाहते थे क्योंकि उसका तात्पर्य होता स्नान और वस्त्र परिवर्तन करना।

पण्डित महादेव शुक्ल को आया देखकर वह रोकने वाला लपक कर आगन्तुक के पास आया और उसे बाँहों से थाम लिया और बोला,

— चल, निकल यहाँ से ?

आगन्तुक शायद झटका देने ही जा रहा था कि पण्डित महादेव शुक्ल बोले,

— तुम्हें यहाँ किसने बुलाया ?

— मेरे फूफा के लड़कों के जनेऊ का भोज है।

— बड़ा फूफा वाला आया है !! निकाल दो इसे यहाँ से।

जिस तरह से चारों ओर से लोग आकर खड़े हो गये थे उसमें उस आगन्तुक विशू ने यही ठीक समझा कि लौट जाया जाए।

उसके चेहरे पर सबके लिए घृणा थी। उसने चारों ओर एक बार देखा और फिर अपने फूफा पण्डित महादेव शुक्ल को ऊपर से नीचे देखकर बड़ी जोरों से थूका और फिर बड़ी जोरों से चीखते हुए बोला,

— कहाँ है वो बुआजी !...मेरी माँ पर हाथ उठाया था न ? जरा मैं भी तो देखूँ।

अभी वह शायद और भी कुछ कहता तभी पण्डित महादेव शुक्ल ने पूरी ताकत से एक चाँटा मारा और क्रोध से बोले,

— निकाल दो इस म्लेच्छ को यहाँ से।

लोगों ने क्रोध से लौटते विशू को देखा। अभी तक लोगों की आसक्ता गयी नहीं थी। पण्डित महादेव शुक्ल अब पड़सान में बिना स्नान किये चढ़ नहीं सकते थे, अतः वहीं से बोले,

— आप आरम्भ करें। मैं आता हूँ।

और वह स्नान के लिए चल दिये।

उज्जैन बहुत तेजी से आधुनिक नगर बनता जा रहा था। नगर में तथा नगर के बाहर नये ढंग के मकान आदि बन रहे थे। आगर-लाइन लगभग तैयार हो चुकी थी। बड़े स्टेशन से थोड़ा हटकर इस छोटी लाइन का स्टेशन बन रहा था। उज्जैन से लगभग चार मील दूर इस ट्रेन का मेन-स्टेशन या जंकशन 'मकोड़ियाग्राम' में बन रहा था। फ्रीगंज का टॉवर बन चुका था अभी उसमें घड़ी आनी बाकी थी। एक सरीखे मकान, एक सरीखे चौराहे और खूब खुली सड़कें, पेड़ों की लम्बी-लम्बी कतारें सब कितना अच्छा लगने लगा था। जिन लोगों ने यहाँ प्लाट ले लिये थे उनके पास शहर के अलावा यहाँ खुले में भी घर हो गये थे। कालेज के बन जाने से फ्रीगंज में किरायेदार लड़के खूब मिलने लगे थे। यहाँ बनर्जी का हाईस्कूल भी खुल गया था। आबादी अभी खास तो नहीं थी परन्तु गुजराती दक्षिणी, सेठ, वकील, मास्टर-प्रोफेसर, लड़के तथा थोड़े से फैशनेबल लोग यहाँ रहने लगे थे।

फ्रीगंज, चूँकि श्रीमंत माधवराव सीधिया की अपनी परिकल्पना थी, इसीलिए आधिकारिक नाम तो इसका माधव-नगर ही था, अतः सरकार के आगमन की बात सुनी गयी तो लोगों को लगा कि सरकार माधव-नगर के उद्घाटन के पूर्व एक बार देखना चाहते है। वैसे भी ग्वालियर राज्य वस्तुतः दो भागों में बँटा हुआ था। मालवे में इस राज्य का, जो कि सर्वाधिक था, जितना हिस्सा था उतना ग्वालियर के आसपास अब नही था। पहले कभी था जबकि झाँसी-ललितपुर इसी राज्य के अन्तर्गत थे। पेशवाई के जमाने में तो सीधियाओं के हाथ में अलीगढ़ तक था। गंगा और जमुना दोनों में ही उनका प्रवेश था। कालान्तर में अँग्रेजों ने सीधियाओं को न केवल गंगा-जमुना के प्रदेशों से खदेड़ा ही बल्कि कई सन्धियाँ करके उन्हें चम्बलों के खादरों तक ही सीमित कर दिया था। तो, सीधिया राज्य की राजधानी उन दिनों की ऐतिहासिकता को देखते

हुए तो ग्वालियर उचित हो थी। मालवा, राजस्थान और दिल्ली के केन्द्र में था ग्वालियर। परन्तु कालान्तर में अंग्रेजों ने जिस प्रकार सीधियों को श्री विहीन किया था उसके कारण वर्तमान राज्य के विस्तार को देखते हुए ग्वालियर का राजधानी बना रहना किसी भी औचित्य से उचित नहीं था। परन्तु राजधानियाँ ऐसे तो नहीं हटायी जा सकती थीं इसीलिए उज्जैन को ग्वालियर राज्य की द्वितीय राजधानी का गौरव प्राप्त था। प्रवाद यह भी था कि श्रीमन्त माधवराव जी की एक योजना के अन्तर्गत ही यह रेलवे-लाइन, फ्रीगंज का बसाया जाना हो रहा था।

चूंकि राज्य में राजनीतिक गतिविधियाँ बढ़ चली थीं। अन्य देशी रियासतों की भाँति ग्वालियर राज्य में इन गतिविधियों पर न तो कोई पाबन्दी लगायी गयी और न ही उन्हें दाबने के लिए कोई दूरागत चेष्टा हो हुई। बल्कि इसके विपरीत 'सार्वजनिक-सभा' के नेता लोग ग्वालियर में महाराज साहब से जाकर मिलते थे। लोग उन्हें अपने राजनीतिक प्रतिवेदन देते थे कि ग्वालियर राज्य को वास्तव में जनता का राज्य बनाने के लिए राजकीय स्वरूप में क्या परिवर्तन करना चाहिए। माधवराव महाराज, एक प्रगतिशील राजा थे। अंग्रेजों की राजनीति तथा दुनियाँ में क्या-क्या, कैसे-कैसे परिवर्तन हो रहा है तथा उसके मूल में जो औद्योगिक प्रगति है उसको वह खूब समझ रहे थे। कांग्रेस के नेताओं और अधिवेशनों के प्रति वह जागरूक थे। वह समझ रहे थे कि परिवर्तन निश्चित होगा और इसमें वह क्या और कैसे करें कि जन-आकांक्षाएँ भी पूरी हो जाएँ और राज्य-सत्ता भी न जाने पाए। इंगलैण्ड ने जिस प्रकार अपने यहाँ राजा और पार्लियामेण्ट दोनों को स्वरूपित किया था—बहुत-कुछ माधवराव महाराज भी अपने राज्य के लिए चाहते थे। इसके लिए वह बहुत ही सतर्क रूप से राज्य की 'सार्वजनिक-सभा' के नेताओं को तो टटोलते ही थे परन्तु वह किसी भी प्रकार अंग्रेजों को अपनी योजना की जरा भी आहट नहीं लगने देना चाहते थे। सारे विदेशी संविधानों को मंगा कर वह पढ़ गये थे। अपने पुत्र जार्ज जीयाजीराव क अपनी योजना के अन्तर्गत ही उन्होंने न तो उसे अंग्रेजों की देखरेख में विदेश पढ़ने भेजा और न ही भारत में अंग्रेजों के सम्पर्क में उसे आने दिया। उनकी अपनी कल्पना थी, यदि अंग्रेज बीच में न होते तो वह जनता से सीधे-सीधे बातें करके नयी व्यवस्था बना लेते परन्तु अंग्रेजों की चालाकी वह खूब जानते थे कि देशी राजा अपनी प्रजा के सम्पर्क में कदापि न आने पाएँ इसके लिए जगह-जगह पी० ए० और ए० जी० जी० निगरानी पर लगे थे। फिर भी कहते हैं कि माधवराव महाराज ने कोई गुपचुप संविधान तैयार करवाया था और जिसके बारे में अत्यन्त सावधानी के साथ सभा के कुछ शीर्षस्थ नेताओं से बातें भी की थीं। अतः कुल मिलाकर उज्जैन को जो महत्व मिल रहा था, उसकी जैसी प्रगति हो रही थी तथा ग्वालियर-राज्य की 'सार्वजनिक-सभा' क अधिकांश बड़े नेता उज्जैन में ही थे—आदि बातें किसी का भी ध्यान दिला सकती थीं। और जब इन परिवर्तनों की ओर सबका ध्यान जा रहा था तो क्या अंग्रेजों का नहीं गया होगा? आसपास की दूसरी रियासतों ने भी अपने यहाँ जनता के इस भावी संकट को नहीं सूँघा होगा क्या? और इसके लिए

अंग्रेजों की दृष्टि में माधवराव महाराज को कारण नहीं ठहराया होगा—कि जब इतनी बड़ी रियासत का महाराज अपने यहाँ यह जन-आन्दोलन को नही दबाएगा तो भला दूसरे कैसे रोक सकेंगे ! स्पष्ट था कि अंग्रेज माधवराव महाराज की गतिविधियों को आशंका की दृष्टि से देखने लगे। चूंकि १८५७ के समय सींधियाओं ने अंग्रेजों की मदद की थी तथा बाद में संयुक्त-प्रान्त को व्यवस्थित बनाये रखने के नाम पर गवालियर-राज्य को चम्बल तक सीमित कर दिया था, अतः अंग्रेज केवल शक के आधार पर तो माधवराव जैसे प्रशासक को गद्दी से नही हटा सकते थे क्योंकि वह आदर्श प्रशासक माने जाते थे, परन्तु अंग्रेजो को यह खटका जरूर हो गया था कि कहीं सींधिया लोग मालवा में महू छावनी का जवाब आगर छावनी के रूप में तो पुनर्गठित नहीं करना चाहते ? रेल बनाने की तुक क्या थी ? आगर न कोई धार्मिक, न व्यावसायिक कुछ भी तो नही था। अंग्रेजों ने १८५७ के जमाने में भोगोलिक कारणों से आगर में छावनी बनायी थी परन्तु बाद में महू को प्रमुखता मिलने पर आगर की छावनी की महत्ता कम हो चली थी। वैसे तो १९१४ की लडाई तक छोटी-मोटी छावनी बनी रही। लेकिन प्रथम विश्व-युद्ध के बाद तो अंग्रेजों ने आगर की महत्ता समाप्त कर दी। तो क्या माधवराव महाराज फिर इस छावनी को विकसित करना चाहते हैं ? चूंकि यह स्थान प्रमुख सड़कों तथा रेलों से दूर पड़ता है, इसलिए बाहर से वहाँ पहुँचना भी आसान नही था। कभी इस स्थान की जो विशेषताएँ अंग्रेजो को अपने पक्ष में लगती थी अब वे ही अपने विरुद्ध लगने लगी थी और वे चौकन्ने हो गये। माधवराव महाराज जानते थे कि अंग्रेजो को जरा भी सुगबुग होगी तो कभी भी उन्हें हटाया जा सकता था परन्तु तब भी वह आश्वस्त थे कि सब कुछ इतना आसान भी नही होगा।

वैसे भी जब महाराज या राजघराने के कोई और उज्जैन आते हैं तो कालियादह पर ही ठहरते हैं। चूंकि धार्मिक कारणों से तथा द्वितीय राजधानी होने के कारण भी सरकार भी विशेषकर गर्मियों में यहाँ चले आते हैं। कलियादह में क्षिप्रा को घेर कर जल-क्रीड़ा के लिए जलाशय बनाये गये हैं वे अद्भुत हैं। मुगल काल में मालवे के सूबेदार इन जलाशयो में दिन-भर पड़े रहते। इन जलाशयों के बीच में जो छतरियाँ बनी हैं उनमें ही रात को मुजरे होते थे। चूंकि मालवा पर अफगान-काल मे बहुत-कुछ प्राचीन भवनों को तोड़-फोड़कर नवीन मुस्लिम-शैलो के भवन बनाये गये थे, जिसके प्रमाण मांडू और धार में भी प्रचुर मिल जाएँगे। इन अफगानों के निर्माणों को देखकर लगता है कि जल के प्रति इनमे अदम्य प्यास थी।

कालियादह जब बाद में सींधियाओं के अधिकार में आया तब से मरहठो का प्रिय पात्र हो गया। नवरात्री पर भो महाराज या और कोई आता ही है परन्तु प्रायः सर्दियों में कम ही आते हैं। शिवरात्री के समय से लेकर तीन-चार माह तक सरकार

और पूरा राजघराना उज्जैन ही चला आता है। पर इस वर्ष दिसम्बर के महीने में महाराज का आना अचानक हो था। पूरे राज्य में कानाफूसी हो रही थी कि माधवराव महाराज विलायत जा रहे हैं—क्यों जा रहे हैं? कोई कहता कि जर्मन की लड़ाई में बादशाह ने बुलाया है। कोई कहता कि नही यह तो अंग्रेजों की चाल है। महाराज 'सार्वजनिक-सभा' से मिलकर स्वतंत्र राज्य बनाना चाहते हैं, उसी से अंग्रेज नाराज हैं। हो सकता है कि महाराज को वही कैद कर लिया जाए। अंग्रेज माधवराव महाराज की चाल न समझ पाएँ इसलिए अपने पुत्र को 'जार्ज' तक कहलवाया है, पर अंग्रेज निहायत पाजी है—मीठी छुरी। किसी न किसी बहाने से सरकार को बुलाकर या तो दबाव डाला जाएगा कि राज्य में जो कुछ औद्योगिक, राजनीतिक प्रगति आप करना चाहते हैं उसे रोकिए वर्ना गद्दी से उतार दिए जाएँगे। जो भी हो, पर सरकार पिछले दिनों यहाँ यों ही नहीं आये हैं। लगातार महाकाल में अभिषेक किया जा रहा है। गोपाल-मन्दिर में हजारों लोगों को रोज भोजन करवाया जा रहा है। सुनते हैं चुपके-चुपके 'सार्वजनिक-सभा' के नेता पुस्तके, हिरवे, अयाचित और रावल जी सब मिल आये है। पता नही क्या खिचड़ी पक रही है। नगर के सभी प्रमुख सेठ, नागरिक आदि भी मिल आये है।

आज जब पण्डित महादेव शुक्ल कालियादह पहुँचे तो उन्होंने देखा कि पैलेस के प्रतीक्षा वाले कमरे में पण्डित दामोदर विनायक शास्त्री जी भी है। शास्त्री जो प्रकाण्ड ज्योतिषी माने जाते थे। इनकी भविष्यवाणियाँ कभी गलत नही सिद्ध हुई। पण्डित महादेव शुक्ल ने जब इन्हें देखा तो इनका माथा ठनका कि महाराज ने इन्हें क्यों बुलवाया? तो जो प्रवाद महाराज को लेकर राज्य में और जनता में है, क्या वह ठीक है? अभी भीतर से बुलावा आए इसके पूर्व ही पण्डित दामोदर विनायक शास्त्री हठात बोले,

— पण्डित जी! क्या आप इसी समय घर लौट सकते है?

पण्डित महादेव शुक्ल की समझ में शास्त्री जी की बात नहीं आयी। बोले,

— यह आप क्यों कह रहे है?

पण्डित महादेव शुक्ल कुछ चिन्तित हुए कि शास्त्री जी ने ऐसा क्यों कहा?

— वैसे चिन्ता की कोई बात नही परन्तु आप सूर्यास्त के पूर्व ही घर पहुँच जाएँ। और तब तक भीतर से जो अधिकारी बुलाने आया था उसे शास्त्री जी ने कुछ कहा। शायद यही कहा होगा कि उनके स्थान पर इन्हे ही पहले मिलवा दें। यद्यपि पण्डित महादेव शुक्ल ताँगा लेकर आये थे तथा साथ में फुन्दी लाल को भी लेकर आये थे परन्तु फिर भी शास्त्री जी की बात से वह घबरा जरूर उठे।

पिछले दिनों से वह अज्ञात में ही चौंक-चौंक पड़ते थे। यद्यपि इसका कोई कारण स्पष्ट नही दिखलायी देता था परन्तु न जाने क्यों उन्हें लगता कि जैसे कुछ अवांछित है जो उन्हें दूर-दूर से घेरे उनके साथ ही चल रहा है। हालांकि अपने मन के इस सन्देह के विषय में न तो उन्होने कभी पत्नी को, न पुत्र को किसी को भी कुछ नहीं बताया।

सामान्यतः वह शान्त दिखने वाले व्यक्तियों में से थे परन्तु जिस प्रकार उन्हें इधर बेचैनी होने लगती तो वह कुछ असुविधा अनुभव करते। अपने बाहर आने-जाने वाले कार्यक्रम में यही व्यवस्थात्मक परिवर्तन किया था कि फुन्दीलाल को वह साथ रखने लगे थे। कभी-कभी उन्हें लगता कि लच्छू चौबे कभी कुछ गड़बड कर सकता है और इसके लिए फुन्दीलाल पर्याप्त थे।

अपने पौत्रों का यज्ञोपवीत जिस उत्साह एवं शान से उन्होने सम्पन्न किया उसमें गंगा और बिशू ने जो काण्ड उपस्थित किया वह उन्हें बराबर सालता। वह कभी निश्चिन्त नही हो पाते। दो-एक बार वह पण्डित संकर्षण जी व्यास के पास अपनी जन्म-कुंडली भी दिखा आये थे। हालांकि व्यास जी ने स्पष्ट तो नही कहा पर वह राहू को महादशा में शनि की अन्तर्दशा और मारकेश का योग को जान गये थे, इसलिए चिन्तित थे, परन्तु फिर भी गुरु और सूर्य दोनों उच्च के थे और अपने घर को पूरी तरह देख रहे थे अतः मारकेश विशेष चिन्ता का कारण नहीं उत्पन्न करेगा। यज्ञोपवीत के पूर्व से ही राहू-शनि की युति का वह चमत्कार देख रहे थे।

आज जैसे ही पण्डित दामोदर विनायक शास्त्री ने चौंक कर उन्हें सूर्यास्त के पूर्व ही घर लौट जाने की सलाह दी तो वह जब तक महाराज के सामने रहे तो खोये हुए ही रहे। माधवराव महाराज की बातों से ध्वनि आयी कि वह शायद बाहर जाएँ और वह राज्य के गणमान्यों के विश्वास पर ही बाहर जा रहे हैं।

जैसे ही अभिवादन करके वह बाहर की ड्योढी में पहुँचे तो शास्त्री जी भीतर जाने को खड़े हो चुके थे। शास्त्री जी धीरे से बोले,

— बस, आप ज द लौट जाएँ।

और पण्डित महादेव शुक्ल जिस मनस्ताप के बीच पूरा रास्ता पारकर अपने ताँगे तक पहुँचे, वही जानते हैं। अनेक बार आपकी देह ही आपके मन का कहना नही मानती है। वह चाह रहे थे कि दौड़कर ताँगे में पहुँच जाएँ और सूर्यास्त के पूर्व ही घर पहुँच जाएँ। हालांकि वह चिन्तित थे परन्तु उन्हें अचानक सूर्यास्त की बात से महाभारत का वह प्रसंग याद आ गया जिसमें अर्जुन की प्रतिज्ञा कि सूर्यास्त के पूर्व यदि जयद्रथ का वध नही किया तो वह अग्निदाह कर लेगा।

ताँगे में पहुँचते ही जिस ढंग से उन्होंने जल्दी से घर चलने के लिए कहा और गम्भीर बने रहे उसे पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल नही समझ पाए। वह समझे शायद सरकार के यहाँ कुछ अप्रिय घटा होगा तभी दादा ऐसे हैं।

और ताँगा घटियाँ बजाता, फुदे उड़ाता घर की ओर उड़ चला।

अभी ताँगा मुश्किल से मेन सड़क पर पहुँचा था। जाड़ों की शाम होती ही कितनी है। चारों ओर सुनसान था। मीलों इधर कोई बस्ती नहीं। पूर्व के कोने में दूर

पर मकोड़ियाग्राम की तरफ रेलवे का काम हो रहा था। यह मेन सडक आगर जाती थी। सड़क की दशा बिलकुल भी अच्छी नहीं कही जा सकती थी। चूंकि प्रायः बैल-गाड़ियां ही आया-जाया करती थी इसलिए सरकार के आने के समय सडक जो थोड़ी-बहुत ठीक हो जाया करती है उसे ये बैलगाड़ियां खराब कर देती हैं। सिवाय 'मेलकार्ट' [Mail-cart] वाली बग्घी के और तो कोई भली सवारी आगर की ओर से रोज आती नही थी। अतः यह सडक निर्जन थी। क्षिप्रा का कांठा लगता था इसलिए धरती में बड़ी-बड़ी दरारें थीं जो कि खादर जैसी थीं। तांगे का घोड़ा बार-बार हिनहिना रहा था। पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल की समझ में नही आ रहा था कि दादा इस प्रकार गम्भीर क्यों है ? क्या सरकार से कुछ कहा-सुनी हो गयी है ? लेकिन क्या ? पूछा जाए ? लेकिन ठीक होगा ? ऐसे चिन्तित तो आज के पूर्व कभी नही देखा दादा को। व्यग्रता उनके मुख पर ही नही सम्पूर्ण व्यक्तित्व में लिखी हुई थी जैसे समय बीत रहा हो और पण्डित महादेव शुक्ल उसे मुट्ठियो में कस लेना चाहते हों। उनके बाएँ कान की ऊपर की बाली के दोनों मोती और बीच का पन्ना तांगे और हवा में कैसे हिले पड़ रहे थे। पेड़ों से सूर्यास्त के पूर्व ही धूप पेड़ों से छनती हुई कभी उनकी पगड़ी पर तो कभी भूपा पर चमक उठती थी। निश्चित ही पण्डित महादेव शुक्ल भले हो कही और हों, वहां तो नही ही थे।

तभी दूर पर चार-पांच लोग एक पुलिया पर बैठे हुए दिखे। ठीक है, सड़कों पर पुलियाओं पर राहगीर लोग सुस्ताने को बैठे ही रहते हैं। शायद सूर्यास्त अन्तिम बिन्दु पर था। पण्डित महादेव शुक्ल जिस प्रकार सूर्यास्त की ओर देख रहे थे और सांसें ले रहे थे उससे पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल को अगत्या लगा कि पूछना नहीं, बल्कि न पूछना अमानवीयता होगी। वह बोले,

— क्या बात है दादा ?

— ऍं ऽऽ....कुछ नही फुन्दी।

पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल को लगा कि यह पूछ कर दादा को अपने में डूबते हुए से बचाया हो।

— आप चिन्तित लग रहे हैं।

— हां....नही.. बस घर पहुँच जाते....अरे यो कौन है ?

और पण्डित महादेव शुक्ल ने चौंक कर जिस प्रकार कहा उससे पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल भी चौंके। पुलिया पास आ गयी थी। पांच लोग बैठे हुए थे। तांगा पास आते देखकर वे लोग खड़े हो गये थे। उनके हाथ में लाठी-बल्लम आदि थे। सबने साफों से मुंह बांध रखे थे। तांगे के पास आते ही वे लोग रास्ता रोक कर खड़े हो गये।

तांगे वाले ने तांगा रोक दिया और वे लोग बिजली की तरह तांगे पर लपके। तांगे वाला खतरा अनुभव कर चुका था। वह भागने को हुआ कि एक ने उसे दबोच लिया।

के चार बल्लम-फरसे लिये पण्डित महादेव शुक्ल और पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल की ओर बढ़े। अभी ये लोग ताँगे से बाहर आएँ इसके पूर्व उन लोगों ने वार किये। हठात दो के ढाठे मुँह पर से खुल गये।

पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल बोले—

— लच्छू ! तुम ?...और बिशू !!

और देखते-देखते उन लोगों ने इन दोनों को मार गिराया।

परिवार, कुटुम्ब, नगर किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि पण्डित महादेव शुक्ल और पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल की हत्या करने वाले कौन हो सकते हैं और क्या कारण हो सकता है ? कारण तो पचास हो सकते हैं पर हत्यारे ? हत्यारों के बारे में भी लोगों को शक तो अवश्य था परन्तु जब तक ताँगे वाला होश में नहीं आ जाता तब तक कुछ भी नहीं कहा जा सकता था। असल में हत्यारों ने ठिकाने तो तीनों को ही लगाया था परन्तु उनका विशेष ध्यान शुक्ल बन्धुओं पर ही था। ताँगे वाले को जिस प्रकार वह अधमरा कर गये थे उसमें वह भी मर गया है समझ कर वे लोग सब चम्पत हो गये थे। उन लोगों को डर था कि चूँकि सरकार आजकल आये हुए हैं अतः कोई कालियादह की तरफ से आ ही न जाए, इसलिए वे शुक्ल बन्धुओं की हत्या करके चंपत हो गये।

सारा नगर स्तम्भित रह गया। सरकार तक इस हत्या की खबर पहुँची। पंडित महादेव शुक्ल उनसे मिल कर लौट रहे थे तभी उनकी हत्या हुई थी—यह जानकर महाराज बहुत दुःखी थे। आदेश हुआ था कि ताँगे वाले को हर हालत में बचाकर हत्यारों की शिनाख्त की जाए और उन्हें तत्काल पकड़ा जाए।

एक सप्ताह तक सम्भावित, असम्भावित बदमाशों को गिरफ्तार कर लिया गया था। सात दिनों तक, जब तक कि ताँगे वाला होश में नहीं आया, पुलिस वालों ने कई जगह छापे मारकर खोज जारी रखी, और जब ताँगे वाले को पूरी सुरक्षा की अश्वस्ति सरकार की ओर से दी गयी तब उसने बताया कि उसने पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल की आवाज में दो नाम सुने थे—'लच्छू चौबे और विशू' !!

साँझ हो रही थी। वैसे भी मालवा सूर्यास्त के होते ही गर्मियों तक में जब ठंढा सुहाना हो जाता है तब भला अग्रहायण में तो समी-साँझ हुई नहीं कि ठण्ढ होने लगती है। भले ही बच्चों को और जवानों को ठण्ढ न अनुभव हो उतनी, परन्तु बुढ़ापे का शरीर तो जरा से में ठण्ढ पकड़ लेता है। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल पूरी बाँह का ऊनी अंगा पहन कर अपने कमरे में भागवत जी पढ़ रही थी। दुर्गा की तीनों लड़कियाँ कुन्ती, कान्ता और मणि तो दादी को घेर कर बैठी हुई थी हां। सबसे छोटा लड़का विधुशेखर भी उनकी जाँघ पर सिर रखे लेटा था। वह अपनी दादी का सबसे दुलारा था। शायद इसका कारण था कि अपनी दादी को वह एकदम प्रतिकृति था। वैसे ही घुँघराले बाल, वैसी ही नाक तथा त्वचा का वर्ण भी वैसा ही दमकता उसे प्राप्त हुआ था। कुन्ती और कान्ता दादी से भागवत जी सुनते हुए रूई की बत्तियाँ भी बनाती जा रही थी। मणि जरूर छोटी थी इसलिए वह विधुशेखर से रह-रह कर गुपचुप झगड़ा करती जा रही थी। दोनों एक-दूसरे को टाँगों से कभी मारने लगते तो मणि कभी उसे चिकोटी काट लेती। विधु अभी तीन वर्ष का होगा पर अँगूठा चूसने की अभी आदत गयी नहीं थी। वह उसी तन्मयता से अँगूठा चूसते हुए अपनी बहन से लड़ भी रहा था।

घर में कोई था नहीं। दुर्गा चूल्हे-चौके में बझी थी। पति पण्डित महादेव शुक्ल महाराज से मिलने कालियादह गये हुए थे। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल आज कल फ्रीगंज वाले प्लाट्स में दूकानें बनवाने में व्यस्त थे। सबेरे से शाम तक वहीं रहते हैं। श्रीमती कृष्णा-देवी शुक्ल कई बार त्र्यम्बक से कह चुकी हैं कि काम इतना ही फैलाओ कि किसी की आँखों में न आए। दोनों पिता-पुत्र जिस प्रकार सम्पत्ति का विस्तार कर रहे थे वह कोई अप्राकृतिक नहीं था परन्तु अनेक बार मन अज्ञात में ही पशुओं की देह चर्म सा थरथराता होता है! लगता है न कि कोई है जिसे यह सब नहीं सुहा रहा है। कोई कौन?—अरे तो कौन का कोई नाम होता है क्या?—जिस गंगा से मिलने को वह प्रत्येक पल आकुल रहती थीं, अब उसी गंगा को देखकर वह अन्तर तक प्रकम्पित हो जाती थी। व्यक्ति के भीतर ही कैसा दूसरा-व्यक्ति भी होता है जिसके बघनख हमें दिखने लगते हैं। उस दिन मण्डप में यह गंगा कैसा अपशकुन कर गयी थी और उसी शाम धर्मशाला में यह बिशु का बच्चा न जाने क्या करने पहुँचा था। पता नहीं यह माँ-बेटे क्या करने पर उतारू है। ये दोनों बाप-बेटे उन्हें ही कैसे घूर कर देख रहे थे। उस दिन जैसे कि उन्हीं की शाह पर उन दोनों माँ-बेटों ने पूरी जाति के सामने इज्जत ले ली थी। उस दिन के बाद से तो वह बराबर चौंकती रहती। कई बार उन्हें दुर्गा पर भी झल्लाहट होती कि इसी देवी के मारे यह सब बवाल हुआ। लाख वह दुर्गा पर बिगड़ें परन्तु यदि कोई उनसे पूछ बैठता कि अच्छा बताइए इस सबमें दुर्गा का क्या हाथ है? तो शायद बता नहीं पाती लेकिन वह आश्वस्त थीं कि यदि वह दोषी हैं तो दुर्गा भी कम दोषी नहीं है—अफसोस ही सही, है तो!!

घर में मसाला भूँजने की गन्ध भर गयी थी। आज सबेरे ही तो पति ने लगभग चिढ़ते हुए श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल से कहा था क्या वही का वही रोज-रोज दाल-शाक-

भात-रोटी। कितने दिन हो गये बड़ियाँ तक नहीं बनायीं। वैसे पत्नी जानती है कि पति को वड़ियाँ बहुत प्रिय हैं परन्तु इन दिनों एक तो वह स्वयं भोजन नहीं बनाती दूसरे उन्हें अवचेतन में बराबर असुविधा बनी रहती। चाहे वह सीना-पिरोना कर रही हों या बच्चों से घिरी बैठी हों—या मन्दिर में दर्शनों के लिए गयी हों—उन्हें लगता कि कहीं कुछ है जो उन्हें असुविधा दे रहा है, क्या ?—इस 'क्या' का भला क्या उत्तर हो सकता है ?—अब इसी समय देखिए कि भागवतजी बाँच रही हैं और मन है कि बारम्बार सोच रहा है कि रात होने आयी और 'यह' लौटे नहीं। माना कि कुन्दी साथ है, '''घर जैसा ही ताँगे वाला भी है परन्तु एक तो जाड़े के दिन ठहरे, फिर कालियादह कोई यहाँ है ? भैरोगढ़ की तरफ से जाओ तो शायद थोड़ा पास भी पड़े। सड़क-सड़क तो दसियों मील पड़ जाता है। इन आदमियों की कुछ आदत भी होती है कि काम में से काम निकालेंगे और घर तो तब आएँगे जब पूरा पटनी-बाजार बन्द हो जाएगा। यहाँ बैठेंगें, वहाँ बैठेंगें—मार दुनियाँ भर की ओढ़े रहेंगे। भला पूछो कि तुमसे मतलब ? किशनचंद-हरखचंद दोनो भाइयों में नहीं बनती, घर अलग हो गये, दूकानें अलग हो गयी—तो तुमसे मतलब ! जब ये एक थे तब तुमसे पूछते थे ? और आज जब दोनों अलग हैं तब तुमसे पूछते हैं ?—पर नहीं, अपनी सलाह जरूर देंगे।—ऐसे एक किशनचंद हरखचंद हैं ? अरे, इनसे पूछो कि जब इत्ती बड़ी दुनिया है तो रगड़े-झगड़े भी लगे ही रहेंगे। किस-किसके फटे में पाँव दोगे और क्यों ? और जब माथा घुसेड़ी करोगे तो एक खुश होगा तो दूसरा नाराज नहीं होगा ? और जो नाराज होगा तो वह क्या कभी तुम्हारी हानि नहीं करेगा ?—ये आदमी लोग बनते तो बड़े तीसमार खाँ हैं पर सच्ची में अकल धेले भर भी नहीं होती। लेकिन कोई जरा यह कह के तो देखे ! ऐसी आँखें तरेरेंगे कि जैसे आपको कच्चा ही चबा जाएँगे।

और क्या मजाल जो आपके कहने के अनुसार काम करें। चाहेंगे कि तवे से उतरती गरम रोटियाँ होनी चाहिए। शाक-भाजी गुनगुनी नहीं, भाप निकलती होनी चाहिए। ठीक है, जब गरम खाने का ऐसा ही शौक है तो समय से खाओ। नहीं, जब ये आएँ तब सब गरम-गरम मिलना चाहिए। अब पूछो कि चार बजे शाम का जला चूल्हा कब तक ताजा रखा जा सकता है ? और जो चूल्हे के पास बैठा है वह तो आधी रात तक के लिए टँग गया न ? और फिर एक दिन का हो तो चलो, कोई बात नहीं। लेकिन यहाँ तो किसी का कोई समय ही नहीं है। बाप अलग खा रहा है तो बेटा आधी रात में। उस पर कोई मेहमान, सगा-सम्बन्धी या यजमान का भी करना-धरना पड़ गया तो, फिर हो गया।

मनुष्य का मन भी क्या है कि ज्योंही वह उदात्त होने के लिए बैठता है कि उसे नमक-हल्दी की बात पहले याद आने लगती है। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल भागवतजी बाँचती जा रही थी परन्तु मन पति और पुत्र के बारे में सोच रहा था। जब भीतर ही भीतर सोचते-सोचते वह घबरा उठी तो बाँचना रोकते हुए कुन्दी से बोली,

— कुन्दी ! कल खुलने की आवाज हुई थी न अभी ?

— नही तो !

कुन्ती ने हालांकि दादीमाँ से कहा जरूर पर वह स्वयं न जाने कहाँ थी। बतियाँ जरूर बँट रही थी परन्तु मन का हीरामन न जाने किस पेड़ की ऊँची फुनगी पर बैठा हिचकोले खा रहा था।

परन्तु इस बार सच ही कल बोली। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने इस बार पूछने में जरा भी देरी नही की।

— कौन ?

प्रायः तो आगन्तुक चाहे वह घर का हो या बाहर का तत्काल बोल देता है कि, कौन। परन्तु उनके पूछने पर भी जब कोई नहीं बोला तो उन्हें उलझन हुई। न जाने क्यों वह पसीने-पसीने हो रही थीं। माना कि नीचे का सारा घर खुला पड़ा था परन्तु खुला तो वह रोज ही रहता है। आज ही क्या नयी बात हो गयी ?

— *कान्ता ! झँझरी से देखा तो बेटा ! कौन है ?*

कान्ता उठी और झँझरी तक गयी। देखा कि दादू नहीं, बाबा आये है और सिर पकड़ कर तुलसी चबूतरे पर ही बैठे है। उसने आवाज दी ;

— बाबा !

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने निश्चय ही कान्ता की आवाज सुनी होगी परन्तु वह उसी तरह बैठे रहे। न जाने क्यों कान्ता को अच्छा नहीं लगा और वह झल्ला कर दादीमाँ के पास पहुँची।

— कौन है कान्ता ?

— बाबा हैं।

— तो तू घबरा क्यों रही है ?

— बाबा वहाँ चौलण्डी में तुलसी-क्यारे पर सिर पकड़ कर बैठे है। मैंने पुकारा तो कुछ नही बोले।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने अभी कान्ता की पूरी बात सुनी भी नहीं और जाँघ पर से विधुशेखर का सिर हटाया और लपक कर खड़ी हो गयीं। उन्हें लगा कि पुत्र ऐसा क्यों चुपचाप आकर बैठा है नीचे ? क्या····?

और उन्होंने बहू को आवाज दी,

— बहू !

और स्वयं तब तक सीढ़ियों पर थी। वैसे तो पैरों के दर्द और जोड़ों की सूजन के मारे वह प्रायः काँखते-कूँखते ही उठती हैं, कमर सीधी करती है और तब सीढ़ियाँ रस्सी के सहारे एक-एक करके उतरती हैं; परन्तु इस समय वह देहातीत हो गयी थीं। वह देश और काल को लाँघ जाना चाहती रही। इतनी सीढ़ियाँ पार, नीचे उनका पुत्र ऐसे क्यों बैठा है ?

तब तक दुर्गा भी सासूमाँ की आवाज सुनकर अधूट्ये से चूड़ियाँ पोंछती हुई खड़ी थी। पूछा,

— क्या है ?
— त्र्यम्बक नीचे है ।
इस प्रकार का असन्दर्भित वाक्य किसी और दिन सासूमाँ ने कहा होता तो सम्भव था कि वह कुछ पूछती कि, 'तो क्या ?' परन्तु इस समय जैसी चिन्ता व्यग्रता और अस्त-व्यस्तता उनके मुख पर लिखी हुई थी उसमें कुछ भी पूछना सम्भव हो नहीं था । और किससे ? सासूमाँ अद्भुत फुर्ती से नीचे थी । दुर्गा को लगा कि व्यक्ति में किस प्रकार बचा-खुचा यौवन शेष रह जाता है । इतनी तेजी से सासूमाँ इस घर में बहू बन कर आयी होंगी तब भले ही सीढ़ियाँ उतरती रही होंगी । जबकि आज तो उनका चलना भी जैसे परिवार पर उपकार करना लगता है ।
अभी दुर्गा नीचे उतरे इसके पूर्व ही विधुशेखर जो हठात गोदी से उतार दिया गया था, रोता हुआ अपनी माँ के पास लपका । परन्तु दुर्गा उसे ले ही नहीं सकती थी क्योंकि वह चौके के अबूद्ये में थी । कुन्ती ने बढ़ कर विधुशेखर को लिया और दुर्गा के नेतृत्व में बाकी का परिवार भी नीचे उतरा ।

पिता का चाहे और गुण पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने ग्रहण किया हो, या न किया हो परन्तु गम्भीरता अवश्य ग्रहण कर रखी थी । चूंकि अब पगड़ी का प्रचलन कम हो चला था....अतः पिता की पगड़ी तो नही ली थी परन्तु बालों का कटाव तथा पीछे से वह पण्डित महादेव शुक्ल का भ्रम देते थे । पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जिस भाव से तुलसी-क्यारे पर बैठे थे—वह किसी भी रूप में मांगलिक नही कहा जा सकता था । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल की समझ में नही आ रहा था कि पुत्र इस भाव से क्यों बैठा है ?
— क्या बात है त्र्यम्बक ?
यदि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल से किसी ने पूछा न होता तो पता नहीं वह इस प्रकार कब तक बैठे रह सकते थे, पर पूछने पर वह वैसे ही बिखर उठे जैसे बरसात में खद गयी दीवार को भूल से भी किसी ने छू दिया हो और वह भरभरा कर गिर पड़े । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को लगा कि पुत्र के साथ फ्रीगंज में कुछ अघटित घटा है ।
— बोलता क्यों नही ? क्या किसी से झगड़ा हुआ ? मारपीट हुई है ?
दुर्गा, जो कि सास की आड लिये सीढियों के पास ही दुबकी खड़ी थी, न जाने क्यों अन्तर्मन में काँप-काँप पड़ रही थी । उसे लग रहा था कि निश्चय ही कुछ अप्रत्याशित घटा है, जिसकी कल्पना भी किसी को नही है ।
और तभी कल खुलने की आवाज आयी । पण्डित अवन्ती लाल शुक्ल के साथ कई लोग थे । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल एकदम घबरा उठी कि इतनी रात में इतने सारे लोग, क्यों ? अपना सिर ठीक से ढँकते हुए बोली,
— क्या बात है अवन्ती ?
— भाभी !
और पण्डित अवन्ती लाल शुक्ल फफक-फफक कर रो उठे ।

आधी रात में जब पण्डित महादेव शुक्ल और पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल के शव पोस्टमार्टम के बाद प्राप्त हुए तो घर में तिल धरने को जगह नहीं थी। आदमी-औरतों के मारे पूरा घर अँटा पड़ा था। लोग दबे-चुपके घटना का वर्णन, परिभाषा, टीका-टिप्पणी करते बैठे थे। नीचे चौखण्डी में दोनों शव रखे हुए थे। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल, अपनी ननँद श्रीमती जमुनादेवी पंड्या तथा अपनी बहन श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय से घिरी बैठी थीं। दुःख की सीमा नहीं होती परन्तु रुदन की तो होती है। उधर दुर्गा को श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय सम्हाले हुई थीं। इस हाय-तोबा में किसी को ध्यान ही नहीं था कि दुर्गा के मायके में भी खबर करवा दी जाए परन्तु गायत्रीदेवी उपाध्याय ने जैसे ही सुना तो उन्होंने रातों रात गोविन्द को गाँव दौड़ा दिया कि वह घोड़ा, बैलगाड़ी जिस पर भी हो जाए और पण्डित शिवशंकर आचार्य और श्रीमती गोदावरी आचार्य को तुरत लिवा लाए। शहर में घोड़े किसके यहाँ फालतू होते हैं। ब्याह-शादी वाले घोड़े धन्धे पर गये हुए थे। किसी तरह एक ताँगेवाले से घोड़ा माँगकर गोविन्द गाँव गया।

पण्डित अवन्ती लाल और त्र्यम्बक शुक्ल को पण्डित नारायण जी पंड्या, पण्डित नागेश्वर उपाध्यय तथा पण्डित वैकुण्ठ नन्दन त्रिपाठी सम्हाले हुए थे। लोग-बाग जिस तरह इतनी रात में भी आ जा रहे थे उससे लग नहीं रहा था कि यह रात है। जिसने भी जहाँ और जैसे सुना भागता हुआ आया। वर्षों से ऐसी अविश्सनीय घटना नहीं घटित हुई थी। लोग अवाक थे। सबको लग रहा था कि हो-न हो उन्हीं लोगों का यह काम हो, पर किनका ? 'ऐसे मामलों में किसी का भी नाम लेना क्या आसान है ?—सबकी अपनी व्याख्याएँ थीं, पर अब उन व्याख्याओं का क्या अर्थ था ?

और लोग प्रातःकाल की तैयारी में लग गये। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और पण्डित अवन्ती लाल शुक्ल से यह अपेक्षा करना कि वह अर्थियों का तथा शवदाह का प्रबन्ध करेंगे, व्यर्थ था। एक मात्र जो किंचित संयत मन-स्थिति में हो सकते थे, वह थे पण्डित नागेश्वर उपाध्याय।

— नागेश्वर जी !....आगे का प्रबन्ध भी तो करना होगा।

— यही मैं भी सोच रहा था।....ठीक है, आप दूकानें खुलवाकर चीजों का प्रबन्ध कीजिए, यह लीजिए रुपये।

और सबेरे के नौ बजते, न बजते शवदाह की सारी तैयारी हो गयी। अर्थियाँ तैयार हो गयी थीं। भीतर रोना-धोना मचा था। बाहर लोग आते जा रहे थे। बच्चों के लिए तमाशा ही था। पूरा शहर उमड़ा पड़ा था। पटनी-बाजार तक लोग बन्द

दूकानों के बाहरी तख्तों पर बातें करते बैठे थे। कुछ को इस घटना से भले ही आश्चर्य रहा हो परन्तु कुछ लोग, जो अधिक अनुभवी तथा जानकार थे उन्हें ऐसा नहीं लग रहा था। जर-जोरू और जमीन को लेकर ही तो आज तक सब हुआ था—जरूर ही इसमें लच्छू चौबे का हाथ होगा। कुछ लोगों का बिशू पर भी सन्देह था परन्तु जानकारों का कहना था कि बिशू ऐसी हिम्मत नहीं कर सकता। यह तो किसी उस्ताद की ही योजना मालूम होती है कि तीन आदमियों पर हमला करने के लिए चार-छह आदमियों का गिरोह होना ही चाहिए और ऐसा गिरोह वह टिकियाचोर बिशू क्या खाकर बना सकता है? हाँ, यह हो सकता है कि बिशू से मालूम कर लिया गया हो कि कल पण्डित महादेव शुक्ल किस समय महाराज के पास मिलने जाने वाले हैं।—और सच तो यह है भैया! कि शुक्ल जी की और किसी से अदावत भी तो नहीं थी।—क्यो, अदावत क्यों नहीं होगी? जमीन-जायदाद को लेकर किस-किससे उनकी शत्रुता होगी हमें—आपको क्या पता है? और तभी घोड़े पर गोविन्द और बैलगाडी में पण्डित शिवशंकर आचार्य तथा श्रीमती गोदावरी आचार्य आते दिखे।

जैसे ही ये लोग पहुँचे, तो कइयों को आश्चर्य हुआ कि ये लोग हठात कैसे आ गये? जो रोना कुछ देर को रुका था वह सहसा जोर पकड़ गया।

और जिस समय दोनों अर्थियाँ 'राम नाम सत्य है' के साथ घर से बाहर निकली, स्त्रियों का रोना फटा पड़ रहा था। गली के चबूतरों पर, छज्जों पर, दरवाजों के सामने लोग ही लोग खड़े थे। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को श्रीमती गोदावरी आचार्य तथा दूसरी स्त्रियाँ थामे हुई थीं। यही हाल दुर्गा का था। अभी पन्द्रह दिन पूर्व जिस घर के सामने शहनाइयाँ, उत्सव, गीत के मारे कुछ सुनायी नहीं पड़ता था आज उसी द्वार पर रोना मचा था। वैसे सुनायी तो आज भी नहीं दे रहा था।

और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अग्नि हाथ में लिये अर्थियों के आगे-आगे हो लिये।

जब शवदाह हुआ तो शेष उत्तरकार्य भी होना ही था। इस बीच पूरी उज्जैन का ध्यान ताँगेवाले के बयान पर लगा था कि देखें वह क्या कहता है? और जब उसने भी लच्छू चौबे और बिशू का ही नाम बताया तो लोगों को लगा कि उनका शक सही था। अब तो हर चौराहे पर, पान की दूकान पर, रात-बेरात, घर में, बाहर-सभी जगह इस मुकदमे की चर्चा होती। श्रीमती गंगादेवी व्यास के भाग्य पर तरस खाया जाता। कुछ लोगों का ख्याल था कि बिशू को शायद जान-बूझकर इसमें फँसाया गया है क्योंकि उसने शुक्ल जी की बहू की इज्जत लेनी चाही थी, दूसरे उसने पूरी जाति के सामने शुक्ल जी का अपमान करना चाहा था। जो हो, परन्तु श्रीमती गंगादेवी व्यास किसी भी दिन शोक-समवेदना प्रकट करने अपनी ननँद के पास नहीं गयी। जिस दिन मुकदमे का फैसला होना था उस दिन जरूर लोगों ने देखा कि वह पागल सी भीड़ में पीछे खड़ी

हैं। और जिस समय लच्छू चौबे और बिशु को फाँसी की सजा सुनायी गयी तो इतनी जोरों पर चीखी थीं कि सारी अदालत सन्नाटे में आ गयी थी,

— अरे ये रौंड़ मेरे बेटे को खा गयी....ठीक है, मैं भी न चबा जाऊँ तो मेरा नाम नहीं !!

श्रीमती गंगादेवी व्यास के हाथ में अरहर की एक सूखी संटी थी जिसे वह बारम्बार हिला रही थीं। और यह कहते-कहते अपने आरक्त नेत्रों से घूरती अदालत से लगभग दौड़ती निकलीं।

श्रीमती गोदावरी प्राचार्य का अधिकांश समय श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल के साथ ही बीतता। ऐसे समय उपस्थिति भी आपा होती है। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल जिस प्रकार हठात वाचाहीन हो गयी थीं उसमे सिवाय श्रीमती गोदावरी प्राचार्य के और कोई कुछ कह भी तो नहीं सकता था। ऐसी मनःस्थिति में व्यक्ति बहुत ही टूटे-टूटे रूप में और वह भी अनेक दिनों में कह पाता है। सूतक के दिनों मे जिस प्रकार की सेवा श्रीमती गोदावरी प्राचार्य ने अपनी समधिन की की उसमें वह एक दिन फूट ही पड़ी।

जाड़े का तीसरा प्रहर था। बड़े आग्रह के साथ श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को श्रीमती गोदावरी प्राचार्य ऊपर छत पर ले गयी थी। सलोनी धूप, विस्तृत आकाश और खुलापन, अनेक दिनों के बाद श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को ऐसा लग रहा था जैसे वह अपनी ही देह छूकर अपने को अनुभव कर रही हैं।

— गोदावरी बहन! यह क्या हो गया?
— जैसी भगवान की इच्छा, बहन!
— मुझे तो दण्ड मिलना ही चाहिए था गोदावरी बहन! परन्तु मेरे कारण इन्हें उन दुष्टों ने किस निर्मम रूप में मारा न?
— भगवान के कामों के बारे में बहुत अधिक नही सोचना चाहिए। हमसे भी कहीं अधिक दुःख पाते लोग हैं। न जाने कितनी यातनाएँ झेलते हुए भी जीना तो पड़ता ही है बहन!
— नहीं गोदावरी बहन! मेरा अब मन उचट गया है। मै दुर्गा को सब कुछ सौंपकर किसी तीर्थ में जाकर रहना चाहती हूँ।
— क्या उज्जैन तीर्थ नहीं है?....और बहन! आप बड़ी है, मैं क्या समझाऊँ आपको परन्तु तीर्थ का भाव यदि मन में है तो कहीं जाने की आवश्यकता नही है, नही तो

बैठा है यहां ? रवि का लड़का अभी है ही कितना बडा। रवि की बहू बिचारी सारी गृहस्थी भी सम्हाले और स्कूल में पढाने भी जाए।

— क्या रवि की बहू मास्टरनी हो गयी ?

— अरे आपको नही मालूम ? दादा ने कहा कि मेरा क्या ठीक है ? और बहू के सामने तो अभी यह पहाड़ सी पूरी जिन्दगी पड़ी है। सो उसको पढ़ाया। वह मिडिल पास हो गयी। बडनगर में इसी साल तो कन्या-पाठशाला खुली और बहू को उसमें काम मिल गया।

— चलो, यह तो बहुत अच्छा हुआ।

तभी कुछ लोगों के आने की आहट हुई। पण्डित शिवशंकर आचार्य और त्र्यम्बक थे। आते ही पण्डित शिवशंकर आचार्य बोले,

— अरे वाह, यहाँ कितना अच्छा लगता है छत पर।

और कोई अवसर होता तो इसी बात पर बात चल निकलती, और पण्डित शिवशंकर आचार्य ने भी अपनी बात चलाने के लिए ही यह कहा था। तब भी श्रीमती गोदावरी आचार्य बोली,

— *शिवा ! मैं बहन जी से कह रही थी कि अब आज्ञा दें।*

— परिस्थिति तो ऐसी है कि न उगलते बनता है न निगलते।

पण्डित शिवशंकर आचार्य की इस बात पर श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल बोली,

— किसी के हाथ में क्या है। कोई क्या कर सकता है।....अभी बहन जी बता रही थी कि बडनगर में मामाजी के पैर की हड्डी टूट गयी।

— अरे ? और दादा आपने बताया भी नही।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले। इस पर पण्डित शिवशकर आचार्य ने कहा।

— बहुत बडी बातों में छोटी बातों का क्या कहना-सुनना त्र्यम्बक ?

तभी श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल बोली,

— शिवशंकर जी ! आप इस त्र्यम्बक से कह दें कि इस हत्या को लेकर जो कुछ मुकदमे-बाजी सरकार अपनी ओर से चला रही है उसमें अधिक उलझने की जरूरत नहीं है।

— यह बात तो आज वकील साहब से हो ही गयी है। हम लोग तो दूर-दूर तक नहीं आते है। दो-एक बार कोर्ट में जाना तो पड़ेगा ही, बस उतना ही।

— नहीं, वो सब तो ठीक है पर यह दुनिया है। कल किसके मन में क्या आ जाए, क्या कहा जा सकता है, क्या मैं गलत कह रही हूँ ?

— नहीं, आप बिल्कुल ठीक कह रही हैं परन्तु त्र्यम्बक को आप क्या नादान समझती है ?

— माफ करें हमारे लिए तो अभी आप दोनों ही नादान हैं।

— न हो तो दुर्गा को भी यहीं बुला लेते।

और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बुलाने गये। उनके जाते ही आवाज धीमी करते हुए श्रीमती

कृष्णा देवी शुक्ल बोली,

— भैया ! यह त्र्यम्बक बहुत भोला है। इसकी मामी इसके और दुर्गा के पीछे हाथ धोकर पड़ जाएगी अगर बिशू को कुछ हो गया !

— तो बिशू तो छूट नही सकता माताजी।

— इसलिए मै मन में डरती रहती हूँ। अवन्ती भी अब बुड्ढे हो गये। दो भाइयों के उठ जाने से वह तो और बुढ़ा गये। अब बताओ त्र्यम्बक के सिर पर हाथ धरने वाला कौन है ?

— क्यों, भगवान है सबका।

— भगवान तो है ही भैया, पर भगवान भी किसी के माध्यम से ही तो हाथ धरते है। दुर्गा आयी और सासूमाँ की आड़ लेकर बैठ गयी। उसके आने और बैठने मे कन्यात्व, पुत्रीत्व या भगिनीत्व से अधिक पूर्ण नारीत्व की प्रतीति हुई। उसके बैठते ही सासूमाँ ने कहा,

— ये लोग जाने की कह रहे हैं।

— जैसा आप ठीक समझें। काम तो सब हो ही गया।

— काम तो अब शुरू समझो बहू !

— कैसे ?

— मैंने गोदावरी बहन और शिवशंकर जी से कहा कि अब तुम और त्र्यम्बक अकेले रह गये हो तो उज्जैन क्यों नही चले आते ?

— सासूमाँ ! इन लोगों के आने से क्या हो जाएगा ?

— क्यों ? त्र्यम्बक के सिर पर तुम्हारे दादा की छत्रछाया रहेगी।

— सासूमाँ ! यह तो ठीक है पर क्या किसी दूसरे को अपने दुःख में भागी बनाना उचित होता है ?

— क्या ये लोग अलग है ? दूसरे है ?

— वैसे तो नहीं है, पर क्या नहीं है ?—एक बात कहूँ तो बुरा न माने····हम ही इनके दुःख में कितने काम आये थे ?—नहीं सासूमाँ ! यह संसार है। यहाँ सबको स्वतः झेलना चाहिए। और कोई कब तक ? और क्यों ?····ये लोग अपने से उज्जैन आकर रहें परन्तु हमारे कारण ये लोग अपनी उस भूमि से हट जाएँ····तो क्या यह स्वार्थ नही है सासूमाँ ?····और अभी तो आप है, अवन्ती काका है····और जिनके कोई नही होता तो क्या वे लोगों को पुकारते फिरते है ?····सासूमाँ ? मै शायद बहुत बोल गयी न ?

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को कहो भ्रम था कि उनकी बहू को उनके प्रस्ताव से बहुत खुशी होगी परन्तु जब दुर्गा का यह अप्रत्याशित स्वरूप देखा तो वह सन्न रह गयी। दुर्गा इतनी आत्मसम्मानी, आत्मविश्वासी होगी यह उन्हें कभी अपेक्षा नहीं थी। वह सोच रही थीं कि सम्पन्न बहुओं की भाँति दुर्गा भी हाँ-हूँ करेगी पर दुर्गा तो सचमुच दुर्गा बन गयी।

बेटी की बात सुनकर श्रीमती गोदावरी आचार्य को लगा कि पुत्री अब बराबर की ही नहीं बल्कि शायद व्यक्तित्व में बड़ी ही हो गयी लगती हैं। बहुत कुछ पण्डित शिवशंकर आचार्य को भी ऐसा ही लगा कि यह कल की 'दुर्गो' तो कैसी प्रखर निखर आयी न ? पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को पत्नी की बात अच्छी अवश्य लगी परन्तु उन्हें लगा कि अगर अब तक पण्डित शिवशंकर आचार्य थोड़ा सा भी मन बनाये होंगे तो अब तो और भी नहीं आएँगे। वह अपनी माँ से बोले,

— यह तो सब ठीक है जिजी ! परन्तु यह भी सोचना चाहिए कि यहाँ कितनी झंझटें हैं। दूसरे गाँव में दादा और जिजी के रहने के बारे में तो बराबर ही कहा जा रहा है कि क्या लाभ ?

दुर्गा समझ गयी कि पति उसकी बात काट रहे हैं पर अपनी माँ के माध्यम से, अतः वह बोली,

— मैं बड़ों की बातों में ज्यादा नहीं बोल सकती। मैंने तो मात्र इतना ही कहा कि हमें अपना बोझ स्वयं ही उठाना है। दादा-जिजी उज्जैन आएँ इससे अच्छी बात क्या हो सकती है, पर यदि हम उन पर अपना बोझ लादने को सोचते है तो यह गलत है।

श्रीमती गोदावरी आचार्य को अपनी पुत्री की बात बहुत यथार्थपूर्ण लगी। फिर भी विषय बदलने के लिए उन्होंने कहा।

— दुर्गा ! बड़नगर में मामाजी बीमार हैं।

— आपको जरूर जाना चाहिए जिजी !

— क्यों, तुम्हें क्यों नही ?

अपनी सासूमाँ की बात पर दुर्गा बोली,

— बहन के साथ भाई का भावनात्मक सम्बन्ध होता है, इसलिए जिजी बड़नगर जाएँ। जहाँ तक मामाजी की सेवा करने का प्रश्न है तो शकुन्तला भाभी हैं ही। मैं साधारण स्थिति में जा सकती थी पर इन दिनों मैं आपको छोड़कर कहीं नही जा सकती।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को अपनी बहू की इन सभी बातों से थोड़ी असुविधा जरूर हुई परन्तु अन्तिम बात सुनकर उनकी आँखें भर आयी।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लेकिन अपनी पत्नी का यह प्रसंग व्यवहार कुछ समझ में नही आया। प्रायः उन्हें लगा है कि इतनी ममतालु प्रकृति की यह स्त्री कर्तव्य के समय अपने प्रति भी निर्मम हो जाती है।

और सब उठ गये।

पण्डित महादेव शुक्ल के निधन के बाद से शुक्ल परिवार का प्रबन्ध अब यह हो गया था कि पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल अब इसी घर में आकर रहने लगे थे। टंकपात

वाले घर वह रोज नहीं, तो दूसरे-तीसरे हो आते थे। पण्डित महादेव शुक्ल की बैठक रात मे पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल के सोने के काम में आने लगी। बाकी लोग अपने-अपने कमरों में ही थे। केवल बैठक में पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल के साथ धूर्जटी, पंचानन, और चन्द्रशेखर भी सोते थे। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल और तीनों लड़कियाँ तथा सबसे छोटा विधुशेखर सब ऊपर झँझरी वाले बड़े कमरे में सोते थे। वर्षों बाद बच्चों की झंझट के बिना पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा को कुछ अच्छा भी लगता और कुछ अजीब भी। दुर्गा जब सारा काम-धाम निपटा कर एकदम सोने की तैयारी करके चिमनी को फूँक से बुझाने जा रही थी कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने उसी प्रकार लेटे हुए कहा,

— चिमनी बुझाने की ऐसी क्या जल्दी पड़ी है। आओ जरा दो मिनिट पास बैठो। दुर्गा खिसियायी तो, कि आधी रात हो गयी और अभी इन्हें बातें करना बाकी है वैसे वह समझ रही थी कि पति के मन में क्या घिरा हुआ है। पास बैठते हुए बोली,

— क्या नींद नहीं आ रही है ?

दुर्गा का हाथ ज्योंही त्र्यम्बक ने गहा तो लगा कि कितना ठण्डा है।

— अरे, तुम तो खासी ठण्डी लग रही हो।....चलो, चलो इस लिहाफ में पैर-हाथ डाल लो।

जब पति ने कहा तो दुर्गा को ध्यान आया कि सच ही वह जड़ा रही थी। देह की ऊष्णता तो होती ही है परन्तु सैकट्य की कल्पना उससे भी अधिक ऊष्णता दे जाती है। आप यदि बीच में न पड़ें तो दो देह और उनके विभिन्न अंग अपनी-अपनी भाषा में एक दूसरे को सम्प्रेषित करते होते हैं। अँगुलियाँ अँगुलियों में पहुँच कर ऐसी-ऐसी एकान्त कथाएँ कहती सुनती हैं कि यदि हम उनकी भाषा जान पाते तो हमें भी प्रेम करना आ जाता। पर यदि आप जरा भी उपस्थित हुए कि वह सारी मार्मिकता लोप हो जाएगी और तब हाथ, बस हाथ होगा और अँगुलियाँ, अँगुलियाँ।

दुर्गा को पति का सामीप्य परम तुष्ट कर रहा था। उसकी पलकें झपकने लगीं। परन्तु तभी उसे लगा कि ऐसे सो जाना तो पति की अवमानना होगी। न जाने क्या बातें करने की कामना होगी तब भला बिना पूछे सो जाना कितनी बुरी बात है।

— शाम वाली मेरी बातों से क्या आप दुःखी हैं ?

— साफ कहूँ तो दुःखी तो हुआ परन्तु सच यह है कि तुम विलक्षण हो।

— क्यों ? मैंने क्या कोई अनुचित बात कही थी ?

— परन्तु यह तुमसे किसने कहा कि अनुचित बात ही विलक्षण होती है ?

— नहीं, वो नहीं।....मैंने तो व्यवहार की बात कही। मुझे निर्भर व्यक्तित्व किसी का प्रिय नहीं होता।....आप पुरुष हैं। कब तक किसी सहारे को खोजते रहेंगे ?—जब तक प्रकृति आवश्यक समझती है वह प्रश्रय का प्रबन्ध किये रहती है। आपको जब तक प्रश्रय की आवश्यकता थी, बाबा थे। प्रकृति ने कुछ सोच-समझकर ही बाबा को हमसे दूर किया। अब आप क्या इस आयु में भी पुरुष नहीं बनना चाहेंगे ?

दादा को देखिए कि किस दारुण विषमता में हठात पुरुष बनना पड़ा। आपके तो काका, माँ, पत्नी, बच्चे जमीन-जायदाद सभी कुछ तो हैं और आप प्रश्रय चाहते हैं ? दादा की स्थिति में होते, तो क्या करते ?—आपको लगा होगा न कि मैं कैसी बेटी और बहन हूँ जो जिजी और दादा से इतने पराये भाव से बातें कर रही हूँ। कभी आप सोचते हैं कि एक दिन के लिए भी इस घर से कभी कोई उनके रोज के सुख-दुःख में हाथ बँटाने गया ? क्या उन दिनों उन्हें किसी का प्रश्रय नहीं अपेक्षित रहा होगा ? उन माँ-बेटे पर क्या-क्या कैसे-कैसे बीता होगा, कभी यह सोचा है आपने ?—दादा को विवाह के प्रति, संसार बसाने के प्रति जो वितृष्णा है उसका आध्यात्मिक पक्ष तो जो है सो है परन्तु उनमें सब कुछ के प्रति हाहाकार बहुत गहरे चला गया है। हालाँकि वह उसे व्यक्त नहीं करते हैं परन्तु क्या ऐसा नहीं है ? भला ऐसे व्यक्ति से मेरा पति आर्त होकर प्रश्रय की कामना करे और मैं उसमें हाँ में हाँ मिलाऊँ, यह नहीं हो सकता था।—आप कह सकते हैं कि यह मैं कुछ बढ़ा कर ही सोच रही हूँ, परन्तु कोई भी ऐसा सोचे तो क्या अमानवीय है ? हमें ही उस घर से, उन लोगों से केवल चाहिए ही चाहिए। वह अचार मुरब्बे से लेकर बड़ी से बड़ी बात हो सकती है और उन्हें प्रतिदान में क्या मिलता है ? मैं यह नहीं कहती कि इस घर से वे अपमानित होते हैं या आदर नहीं पाते परन्तु है यह एक-पक्षीय व्यवहार। वे हमसे जब लेने के अधिकारी नहीं हैं तब हमें माँगने का अधिकार स्वेच्छया छोड़ देना चाहिए। उनकी समस्याएँ होंगी। क्यों हम उन्हें अपनी हर बात के लिए टाँगें ?" मुझे लगा कि पिता की छाया के हटते ही खुले आकाश और सिर पर के सीधे घाम को आप सहन नहीं कर पा रहे हैं इसलिए आपने दादा को चाहा। चूँकि आप उन्हें बहुत चाहते हैं इसलिए आपका यह पुकारना या चाहना स्वाभाविक होते हुए भी मुझे अमानवीय लगा" पता नहीं सासूमाँ ने और आपने क्या सोचा होगा। वैसे जिजी और दादा के सोचने के बारे में मैं आश्वस्त हूँ कि माँ अपना दूध पहचानती है और भाई, जो विवाह के दिन ही जिस बहन का पिता बन गया हो वह स्वप्न में भी मुझे गलत नहीं समझ सकता। एक क्षण की भावनात्मक असुविधा कहीं अच्छी है, रोज-रोज की झंझट की अपेक्षा।''' मैं गलत कह रही हूँ, क्या ?

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल जिस ध्यान से सुन रहे थे उसमें व्यवधान उत्पन्न हुआ। दुर्गा को लगभग सभी प्रसंगों, स्थितियों मुद्राओं में आज तक देखा है। एक दिन कैसे वह निरीह भाव से आयी थी और कैसे क्रमशः अपने को विकसित करती गयी कि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को पता ही नहीं चला। चूल्हे-चौके, राँधने-माँजने, बच्चों के लालन-पालन में ही व्यस्त रहने वाली एक स्त्री किस प्रकार जीवन पर अपनी पकड़ बनाती चलती है—यह पुरुष किसी दिन नहीं समझ पाता है। घर की दीवालों में रहने वाली स्त्री तो उसे अपने पैरों के नीचे दबी धरती लगती है। वह भला जीवन को, जीवन की गहन समस्याओं को क्या जानती है ? रोज तरह-तरह के यजमानों, नागरिकों, सम्बन्धियों से व्यवहार

करते हुए पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को लगा था कि अपनी माँ और भाई के सामने दुर्गा ने जो आदर्श वाली बातें की थीं उनमें कोई अर्थ नहीं है। परन्तु इस समय दुर्गा ने जिस प्रकार सारी स्थिति का विश्लेषण किया उसे देख-सुनकर दुर्गा के लिए आदर ही जाग्रत हुआ। वह बोले,

— ठीक कहती हो दुर्गा। पुरुष को पुरुष भी तो स्त्री ही बनाती है।

— *मुझे आप पर इतना विश्वास न होता तो क्या बड़ों के सामने वो सब अनाप-शनाप बोल सकती थी?*

कैसी भी, कितनी ही बातें पति-पत्नी कर लें आखिर में पति-पत्नी की ही तरह व्यवहार करते हैं,

— अच्छा, अब सोने दो। कुछ तो ज्ञान-ध्यान की बातों का प्रभाव रहने दो।

और दोनों खिलखिला पड़े

जमादारिन शौच की सफाई के लिए राख के लिए चिल्ला रही थी परन्तु पूरा घर बैठक में जमा था, अतः उस बेचारी जमादारिन को राख कौन देता। बैठक में पण्डित महादेव शुक्ल के साथ श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल का चित्र भी लगाया जा रहा था। पूरे घर में उत्साह लग रहा था। यही तय नहीं हो पा रहा था कि दोनों के पास-पास चित्र हों या आमने-सामने की दीवाल में हों।

जब जमादारिन ने देखा कि कोई उसको सुन ही नहीं रहा है तो वह भल्लाती हुई बाहर दरवाजे पर पहुँची और चिल्लायी,

— जब से जिठानी बुढ़ायीं बहू को मन मानी करने का मौका मिल गया—बहू! भी दुर्गा ने जैसे ही जमादारिन की आवाज सुनी, वह खिसियायी, बोली, बहू!

— चलो हम आ रही हैं सासू जी!

— कब से चिल्ला रही हैं—राख दो बहू! राख दो बहू!—पहले तो कभी नहीं होता था ऐसा। जिठानी की बखत....

— नहीं सासू जी! किसी ने सुना नहीं।

— अब यही तो होना है। बहुओं के हाथों में गिरस्ती पहुँची नहीं कि चौपट हुई नहीं। तभी पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बोले,

— जमादारिन काकी! क्या बात है! आज बहुत बिगड़ रही हो? काका से झगड़ा हुआ रात क्या?

— अरे नहीं बेटा! कब से गुहारते खड़ी थी। हम समझे जिठानी हैं नहीं तो बहू सोय रही हैं।

— तुम्हारे राज में कोई सो सकता है काकी?

और वह हँस दिये। और तभी डाकिये ने आवाज लगायी,

— चिट्ठी ले जाओ।
और बच्चे चिट्ठी लेने के लिए दौड़े। पोस्टकार्ड था। बच्चों में झगड़ा हो रहा था कि कौन उसे ले। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल समझ गये कि बच्चों के झगड़े में कार्ड फट जाएगा इसलिए लपक कर उन्होंने ले लिया। कार्ड बड़नगर से आया था। कृष्णशंकर का पत्र था। अपने पितामह पण्डित आनन्दशंकर दवे के देहान्त की तथा उनके उत्तरकार्य की सूचना थी। उन्होंने तत्काल दुर्गा को आवाज दी,
— लो, मामाजी नही रहे।
— क्या?
— हाँ, चिट्ठी आयी है कृष्णशंकर की।
— कब हुआ यह?
— पढ लो तुम्ही।
— नहीं, बता दो। अशौच हुआ न। स्नान करना होगा।
— पता नही गोविन्द को सूचना हुई कि नहीं। उसे तो जाना ही होगा।
— जाना तो हम लोगों को भी चाहिए।
— मेरा तो निकलना मुश्किल है। न हो तो तुम्ही चली जाओ। धूर्जटी या दंचानन किसी को साथ लेती जाओ।
— बिचारी शकुन्तला भाभी पर भारी विपत्ति आ गयी।
— अब सारा भार इस कृष्णशंकर पर आ गया।
— पढ़ने में भी अच्छा था लड़का पर अब मेट्रिक भी क्या कर पाएगा।
— कुछ नही तो तहसील मे तो लग ही जाएगा। खेती-बाड़ी है ही।
— अरे पैसा ही सब कुछ थोड़े ही होता है। पिता तो थे ही नही, दादू थे तो वह भी नही रहे।
— क्या करोगी तुम। यह संसार है ही ऐसा। इसके बारे में जितना सोचो उतना ही दुःख होता है।
— तो फिर आप यह इतना फैलाव क्यों कर रहे है?
— तुमने यह फौज खड़ी कर दी उसके लिए।
— मैंने खड़ी कर दी!
— अच्छा भाई, बिगडो नहीं।
— जाइए और जाकर गोविन्द का पता तो करिए कि उसे मालूम है या नहीं। और अगर वह नहीं गया है तो उसके साथ ही मैं भी चली ही जाती हूँ।
— ठीक है, लेकिन तुम इतने दिनों के लिए बड़नगर चली जाओगी तो यहाँ का कौन सम्हालेगा?
— घर-गृहस्थी तो चलती ही रहती है। सासू माँ न सम्हाल पाएँगी तो मासीमाँ, बुआमाँ दो दिन को आ जाएँगी।
— तुम जानो। मुझे एक तो कॉलेज से ही फुर्सत नहीं। उस पर यजमानों के लिए

कार्तिक चौक भागो और फिर यह कोर्ट-कचहरी अलग ।
— अब आपकी समझ में आया श्रीमान कि बाबा थे तो किचकिच तो जरूर थी परन्तु कैसी छतनारी छाया थी । सारा पानी घाम वह सहते थे ।
— मुझे क्या कहती हो । मेरे तो वह बाबा थे लेकिन ससुर तो तुम्हारे थे । तुम्हें तो अब सुखद लगता होगा ।
— आपको शरम तो किसी बात की है नही ।
— क्यो शरम की क्या बात है इसमें ? क्या यह झूठ है ?
— बाबा के सामने किसकी घिग्घी बँधी रहती थी आपकी या मेरी ?
— माना कि बाबा अपनी बहू की प्रशंसा करते थे परन्तु माँ ?
— क्या किसी दिन सासूमाँ ने आपसे मेरे बारे में कुछ कहा ?
— तुम क्या समझती हो कि नही कहा होगा ?
— जरा मैं भी तो सुनूँ, क्या कहा ऐसा ?
— कई बार कहती है कि बहू बड़ी कर्कशा है ।
— अच्छा जी !!....मैं कहती हूँ अब बुढ़ौती आ रही है, कुछ समझदारी से काम किया करें ।
— झूठ बोलने में समझदारी कैसी ?
— सच तो आप क्या बोल पाएँगे पर झूठ बोलना भी नही आया ।
— अरे, हाँ, जाना तो गायत्री मासीमाँ को भी चाहिए ।
— चाहिए तो ।
— ठीक है, मैं भी तैयार हो लेती हूँ और मैं भी आपके साथ चलती हूँ ।

जिस समय पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल और दुर्गा, श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के यहाँ पहुँचे तो देखा कि बाहर कोई कार खड़ी हुई है । वे समझे कि रतलाम से कोई आया होगा । ऊपर पहुँच कर देखा कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय मसनद पर बैठी हुई हैं और गोविन्द उनके सामने खड़ा है ।
— लो, मैं गोविन्द को तुम्हारे यहाँ हो भेज रही थी ।
— हमें तो चिट्ठी अभी-अभी मिली ।
— कैसा योगायोग है दुर्गा ! कि एक-एक करके लोग जा रहे हैं ।....तुम लोग नही चल रहे हो ?
— आप कब जा रही हैं मासीमाँ !
— गाड़ी तो बुलवा ली है । सोचा यही है कि सब लोग साथ ही चले चलें । ट्रेन से तो फतेहाबाद में बड़ा कष्ट होता है रात में और मोटर वालों का तो कुछ हिसाब ही नहीं समझ में आता ।

— अच्छा तभी गाड़ी खड़ी है। हम समझे कोई रतलाम से आया है।
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल की बात पर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय बोलीं,
— तो तुम लोग कब तक तैयार हो जाओगे ?
— मासीमाँ ! मेरा तो चलना हो नहीं सकेगा पर दुर्गा चली जाएगी।....गोविन्द भी तो जा रहा होगा।
— जा तो रहा है पर बेमन से।
— क्यों ?
— बात ठीक है इसकी कि इतने दिन पहले जाकर क्या करेगा। परीक्षाएँ आ रही हैं।
— अरे ऐसी भी की क्या परीक्षा ?
— कहता तो यह यही है। पूछो न इसी से ?
— क्यों गोविन्द ! क्या बात है ?
— जीजा जी ! बात सिर्फ पढ़ाई की ही है।
— तो दो-तीन दिन में क्या फर्क पड़ जाएगा ? वहाँ दादा होंगे। काम-काज में मदद हो जाएगी उनकी भी।
— यही सोच कर ही जा रहा हूँ।....आप क्या बाद में आएँगे ?
— मैं शायद न आ पाऊँ। कोशिश अवश्य करूँगा।
— तो फिर धूर्जटी को ही भेज दीजिए।
पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल हँसते हुए बोले,
— देखा मासीमाँ ! गोविन्द की धूर्जटी से पटती है न, इसलिए उसे भी साथ ले जाना चाहता है।....ठीक है, तो।
श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय बोली,
— दुर्गा ! तो तुम लोग चलो। दो-एक घंटे में तैयार हो जाओ।

जब बच्चों ने माँ को बडनगर जाते देखा कि वह साथ में केवल धूर्जटी और विधुशेखर को ही ले जा रही है तो पूरा घर सिर पर ले लिया, खासकर जब उन्हें मालूम हुआ कि पूरी मोटर ही जा रही है। और तब हार कर सारे बच्चो को लेकर दुर्गा तैयार हुई। जब श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने सारे बच्चों के साथ दुर्गा को देखा तो वह हँस पड़ी,
— बच्चे मिठाई छोड़ सकते हैं पर माँ नहीं।
और बच्चों के शोर के बीच गाड़ी चल पड़ी।

फाल्गुन लग चुका था। प्रकृति ही में परिवर्तन आये दिन नहीं होते बल्कि मनुष्य में भी प्रक्षण होता रहता है। हम समझते हैं कि हमारे मुहल्ले के पीपल के ही पत्र झरे हैं या नये आ रहे हैं। क्या ऐसा है? हमारे भीतर निरन्तर पत्र पीत पड़ते हैं और नये आरक्त पत्र जन्म लेते हैं। यह सम्भव है कि हमें उसकी प्रतीति पचीसों बरस बाद जब हमारे जड़-मूल पर ही आ बनती है तभी होती हो। कोई सोच सकता था कि शहर का सबसे नामी पहलवान लच्छू चौबे, जिसके पटनी-बजार में निकलते ही बड़े-बड़े सेठ-साहूकार तक खड़े हो जाते थे, मालिनें अपने कीमती से कीमती गजरे का दाम जिससे माँगने जाती थी, नर्मदा से लेकर चम्बल तक एक भी दंगल ऐसा नही था जिसे मार कर वह नहीं आया हो, वह, पण्डित महादेव शुक्ल की हत्या कर देने पर सजा भी पा सकता है। सूबा साहब [कलेक्टर] से लेकर कोतवाल साहब तक जिसकी रकम बँधी हुई थी और आज तक बीसियों कतल के बाद भी कभी एक दिन को गिरफ्तार नहीं हुआ उसे पूरे दल के साथ दण्ड मिलेगा इसकी आशा साधारणजन को तो नहीं ही थी। उस दिन भी नहीं थी जिस दिन पण्डित महादेव शुक्ल और पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल की शव-यात्रा निकली थी। ऐसी शव-यात्रा तो बरसों से उज्जैन में किसी ने देखी तक नहीं थी। पूरी उज्जैन की दूकानें बन्द थीं। शिप्रा के दोनों ओर जैसे लोग उमड़े पड़े थे। दबी जबान ही सही, लोग इतना ही कहते कि बिशू और दूसरे सब फँस जाएँगे पर लच्छू चौबे पर हाथ डालने वाला अभी तो पैदा हुआ नही है—अरे सरकार के चाहने से क्या होता है? क्या महाराज यहाँ बैठे रहेंगे? सुना है वह तो विलायत जाने वाले हैं—देखना, अगर लच्छू पकड़ भी लिया गया तो दूसरे दिन ही नही छूट जाए तो जो शर्त चाहो बद लो। डंके की चोट चार बरस पहले दौलतगंज पर खून हुआ था, तब? देखा तो था सबने, पर कोई चश्मदीद गवाह मिला पुलिस को?—लेकिन अबकी बार कोतवाल नरसिंह राव

जाघव नही है—रेंगे हैं, रेंगे ! ! लच्छू चौबे को आटे-दाल का भाव न मालूम हो इस बार तो नाम पलट देना।

और फिर अपराधियों की गिरफ्तारी। तब पेशियाँ, दर पेशियाँ। बहस, गवाहियाँ और पूरी उज्जैन आठ महीने तक साँस रोके मुकदमे के निर्णय की प्रतीक्षा करती रही और जिस दिन लच्छू चौबे और बिशू को फाँसी का दण्ड मिला तथा बाकी के साथियों को विभिन्न सजाएँ मिलीं, उस दिन भी पूरी उज्जैन में सन्नाटा छाया रहा। दूकानों के सामने निकले पटरों पर, नुक्कड़ों पर, चौराहों पर, पेड़ियों में, मन्दिर जी में, घरों में, चारों ओर यही चर्चा।—ठीक ही तो हुआ बहन! जैसी करनी, वैसी भरनी। —ठीक तो है, पर जरा उस बिचारी बिशू की माँ की सोचो कि अब क्या होगा? तुम्हारा तो पति इस बुढौती में गया जब सब हो-हुआ गया पर बिचारी गंगादेवी का जवान लडका हाथ से निकल जाएगा।....हाथ से तो वह निकल ही गया था तभी तो यह हुआ और इसमें शुक्लाइन क्या करें? मुकदमा तो सरकार चला रही थी।—कैसा जमाना आ गया सच्ची में कि अपने भाई के लड़के की जान लेने में भी लोग संकोच नही करे है।—पर किसी को क्या पता था कि वह बिटल जाएगा, गुण्डा निकल जाएगा। —पर बहन, ये शुकुल जी लोग हैं बड़े घुटे हुए, ऐसी कुलच्छनी बहू को ये लोग कैसे सहन कर गये? मैं होती तो उस राँड़ का ऐसा मुँह झौंसती कि या तो वह सीधे कोठे पर बैठती या कही डूब मरती।—मैं कहती हूँ कि मरद औरत पर हाथ डालता ही तब है जब औरत खुद चाहती है। बिशू को शुकुल जी की बहू ने जरूर बढ़ावा दिया होगा। और अब अपने तो मौज करती बैठी है और बिचारा बिशू बेबात में मारा गया।—पूछो, तुम्हारा क्या गया?—अब बिचारी गंगादेवी का क्या होगा? पति नाथद्वारा जाकर बैठ गया, एक ही एक लड़का सो ऐसे चला गया—अब जिन्दगी भर रोओ।—सुना है गंगादेवी पागल हो गयी हैं—हमने भी सुना है कि उनको देख के डर लगता है।—कोई कहता है डाक्कन हो गयी है।—जो हो जाओ, अब लड़का तो लौटने से रहा।

दण्ड के बाद अपील की भी मियाद पूरी हो गयी और जब लोगों को मालूम हुआ कि आज भैरोगढ़ में अपराधियों को फाँसी लगने वाली है उस दिन जिसे देखो—वही पैदल, घोड़े पर, ताँगे पर भैरोगढ़ चला जा रहा है। सूर्योदय होते-होते तो पूरे रास्ते लोग ही लोग एक-दूसरे से पूछते आ-जा रहे थे। पुलिस का खासा प्रबन्ध था। जब लाशों को जेल से बाहर सुपुर्द करने के लिए लाया गया तो यहाँ से वहाँ तक सन्नाटा खिच गया।

जन-मानस वस्तुतः कौतूहलप्रिय होता है। उसे उत्तेजना चाहिए। धर्म के प्रणेताओं को भी मानवीय-मन की समझ थी इसीलिए तो आये दिन पर्व, त्योहार आयोजित किये। दो-चार दिन साधारण तरीके पर बीते नही कि मन घबराने लगता है। कर्म-काण्डों, अनुष्ठानों के पीछे यही दृष्टि रही है कि मनुष्य की इस वृत्ति को दिशा देते रहो, सभ्यता का भी प्रयोजन यही है। राजा और राजनेता भी मनुष्य की इस उत्तेजन-प्रियता को जानते रहे हैं। सारे युद्ध, जनान्दोलन, क्रान्तियाँ भी सामूहिक उत्तेजनाओं

के ही नाम हैं। वैयक्तिक स्तर पर सारे विलास, विकृतियाँ इसी कौतूहलता के स्वरूप हैं। तभी तो कुछ भी आयोजन हो मनुष्य प्रसन्न, दुःखी या खिन्न मन से उपस्थित हो जाएगा। वह वर-यात्रा हो, या शव-यात्रा—अपने वैयक्तिक चलने से घबराया हुआ व्यक्ति सामूहिकता में चलते हुए यात्रा-भाव अनुभव करने लगता है। अपनी दूकानें, सारा काम-धन्धा छोड़कर जिस प्रकार उज्जैन के सारे लोग लच्छू चौबे और बिशू के शवों के साथ चले उसमें पूजा-भाव नहीं ही था, केवल उत्सुकता थी। फाँसी जैसी घटना कोई रोज-रोज थोड़े ही घटित होती है। लोगों को आशा थी कि फाँसी की पूरी प्रक्रिया देखने को मिलेगी। इस प्रक्रिया के बारे में किसी के द्वारा भी न देखने पर भी ऐसा दृश्य-वाचन होगा जैसे वह सब कुछ देखे हुए हैं कि अपराधी को किस तरह कोठरी से जेलर, मजिस्ट्रेट की उपस्थिति में बाहर लाया जाता है। उसकी अन्तिम इच्छा पूछी जाती है। उसके बाद जेल के तंग रास्तों से उसे पहरे के बीच तख्ते तक ले जाया जाता है। जहाँ जल्लाद उस कैदी के हाथ-पैर बाँध देता है। गले और सिर में काली टोपी गले तक पहना दी जाती है ताकि झूलते समय आँखें और जीभ का निकलना देखकर आस-पास के खड़े लोग दहशत न खा जाएँ। लोगों के बीच यह सारा वर्णन सही या गलत रूप में इतना सुना हुआ है कि उस पर अविश्वास किया ही नहीं जा सकता था, और क्यों ?

उस रात बड़ी देर तक पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अपनी माँ से बहस करते रहे कि सवेरे जब बिशू का शव पुलिस किसको सौंपे, इस पशोपेश में क्या किया जाना चाहिए ?

— मैं पूछती हूँ क्या उसकी माँ नहीं है ?

— पर जिजी ! मामी कैसे शवदाह करेंगी ?

— वह जाने और उसका काम जाने।

— बिशू का शवदाह किसी निकट के व्यक्ति को ही करना होगा।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल झल्ला पड़ी,

— एक तुम ही सारी बातों के लिए रह गये हो ? अपने बाप के हत्यारे का शवदाह भी अब तुम ही करोगे ?....नर्मदा क्यों नहीं बुलाती अपने वासुदेव को ? जैसे तुम वैसे ही वह भी है।

— पर वह यहाँ तो नहीं है।

— तो तुम यह क्यों नहीं कहते कि उस हत्यारे का शवदाह ही नहीं श्राद्ध भी करोगे, हैं न ?....पता नहीं तू किस मिट्टी का बना है....इस बिशू के कारण हमारे परिवार की कितनी बदनामी, हानि हुई और यह अभागा मर कर भी हमारा पीछा नहीं छोड़ रहा है। जब तक जिया, जान की साँसत किये रहा और अब फिर हमारी छाती पर मूँग दलने को तैयार है।....सुन रही हो बहू ! अपने पतिदेव की बातें ?

— सासूमाँ ! कर्तव्य से विमुख कैसे हुआ जा सकता है ?

— क्या तू भी यही कहती है जो यह कहता है ?
— यथार्थ यही है सासूमाँ ! इसके अतिरिक्त और क्या किया जा सकता है ?....न चाहते हुए भी यह हमारा सम्बन्धी तो है ही । कल सबेरे जब वह व्यक्ति से शव बन जाएगा, मिट्टी हो जाएगा तो उसका वैरी-व्यक्तित्व कहाँ होगा ? केवल उसकी राख को शिप्रा में हमें—प्रवाहित कर देना होगा और शिप्रा के गंगाजल में हाथ धो डालना होगा। उसके बाद क्या ! जैसा भी हो, वह कहलाएगा तो हमारा ही.... क्या आप चाहती हैं कि कल जब उसकी लाश पुलिस किसी को सौंपे, तब वहाँ कोई न हो ?
— क्यों ? उसकी माँ है। वह जाए।
— क्या मामीमाँ वहाँ जाएँ यह शोभा देगा ?
— नागेश्वर जी जाएँ, नर्मदा जाए।
— हो सकता है ये लोग जाएँ हो पर सासू माँ ! क्या विशू का वैसा ही सम्बन्ध इस घर से नहीं है ?
— पता नहीं तुम लोग जब देखो, जहाँ देखो झुक जाते हो।
— इसमें झुकने की क्या बात है सासुमाँ ! व्यवहार है। यह संसार न यज्ञ की अग्नि देखता है सासूमाँ ! न श्मशान की आग....प्रसंग भाव से सब सम्पन्न होता चलता है।

जब विशू का शवदाह हो रहा था उस समय पण्डित नागेश्वर उपाध्याय, नारायण जी पंड्या, पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के अलावा नाम मात्र को दो-चार लोग श्मशान में मौजूद थे। हाँ पुलिस से शव लेने का कार्य और सारी कागजी-कार्यवाही पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ने की थी। भैरोगढ़ से लेकर श्मशान तक श्रीमती गंगादेवी पागलों की भाँति दूर-दूर हाथ में अरहर की एक संटी लिये दूर-दूर बनी रहीं। उनकी आँखों की विकरालता की तरफ देखना भी सम्भव नहीं था। किसी ने उनसे बात नहीं की और न ही उन्होंने किसी से बात की। एक ऐसा ठण्डापन बना रहा जो कहीं न कहीं अनस्पर्शित ही था। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने अपने मासा जी पण्डित नागेश्वर उपाध्याय से पूछ-पूछ कर सारा कार्य सम्पन्न किया और राख ठण्डी करके वह लौट भी आए।

लौटते में पीछे फिर कर यह देखने का भी साहस नहीं था कि मामी उस श्मशान में अकेली बैठी क्या कर रही हैं। यद्यपि श्मशान में स्त्रियाँ वर्जित होती हैं परन्तु तभी रास्ते में श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय तथा दो-तीन अन्य स्त्रियों के साथ दुर्गा आती दिखलायी दी।
— क्या बात है ? तुम लोग यहाँ कैसे ?
पण्डित नागेश्वर उपाध्याय की जिज्ञासा पर उनकी पत्नी श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय बोलीं,

— क्या भाभी को मसान में अकेले छोड़ देंगे ?....आप लोग चले, हम उन्हें लेकर आते हैं ।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को विधि के विधान की क्रूरता पर पहली बार आश्चर्य हुआ कि अपने पिता के हत्यारे का दाह-श्राद्ध और तर्पण भी उन्हें ही करना पड़ रहा है और दुर्गा को जिस व्यक्ति ने लांछित करना चाहा उसके लिए ही मानवीय सदाशयता के लिए दुर्गा बाध्य है ।

आश्चर्य करना बेकार ही था । जिस घोर वितृष्णा के बाद पण्डित गोवर्धन व्यास नाथद्वारा चले गये थे उसके बाद यह अपेक्षा करना व्यर्थ ही था कि वह तार मिलते ही आएँगे । पण्डित नागेश्वर उपाध्याय ने तार अवश्य कर दिया था ताकि कल से कोई यह न कहे कि इतने लोग थे और किसी ने भी बिशु का समाचार व्यास जी को नहीं भेजा ।

श्रीमती गंगादेवी व्यास अर्धविक्षिप्त सी किसी की भी बात का कोई जवाब ही नही देती थी । उनसे बात करने में सभी कतराते थे । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने जिस प्रकार अपने मन पर से उन्हें उतार दिया था उसके बाद दोनों में कोई व्यवहार नही रह गया था । श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय पहले ही कौन निकट थी और अब तो और भी दूर हो गयी थी । कुछ मानवीयता, कुछ आत्मीयता और कुछ लौकिकता की दृष्टि से पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को छोड़कर दुर्गा ही ऐसी थी जो अपने से ही विवश थी । वैसे तो विवशता कुछ नही थी । वह यदि कुछ भी नही करती तब भी कोई कुछ नही कह सकता था परन्तु ऐसा लगता कि दुर्गा संसार, जी नही रही थी वरन पढ़ रही थी । यदि वह जी रही होती तो एक बार घटित होकर जीवन बीतता जाता जब कि वह रुक-रुक कर प्रत्येक वाक्य का मनन करने लगती । उसकी इस आदत से श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल को अब विशेष उलझन होने लगी थी । श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल में बीतता ही है न लौटने के लिए जब कि दुर्गा में लौटने के लिए ही बीतता होता है ।

जब श्रीमती गंगादेवी व्यास से लाख कहा गया कि कम से कम सूतक के दिनों में इस घर में क्यों रह रही हैं, चूंकि त्र्यम्बक ने दाह-कर्म किया है इसलिए यहीं आ जाएँ, और श्रीमती गंगादेवी व्यास जिस तरीके से विस्फारित नेत्रों और मौन बनी रहकर प्रत्येक प्रश्न के प्रति उदासीन बनी रहीं उससे कोई भी वितृष्ण हो सकता था । परन्तु दुर्गा के व्यक्तित्व का जल बारम्बार, भले ही सामने वाले का व्यक्तित्व चट्टान ही क्यों न हो, टकराने में ही विश्वास करता है । चट्टान से जल टकराता है और केवल छपाक की आवाज भी नही होती है बल्कि जल छितरा उठता है तब भी जल बारम्बार टकराए तो कोई क्या कर सकता है ?

प्रतिदिन शाम को दुर्गा किसी न किसी को साथ लेकर मामीमाँ के यहाँ हो आती है। वैसे तो प्रायः श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय या कोई बड़ा व्यक्ति साथ रहता है परन्तु जिस दिन कोई बड़ा व्यक्ति साथ न हुआ और अपने ही किसी बच्चे को लेकर जाना हुआ है तो सदा असुविधा हुई है। क्योंकि बच्चों की यह एक सामान्य आदत होती है कि कभी कोई काम पूरा नहीं करेंगे। यदि साथ आए हैं तो आपको भीतर करके बाहर चबूतरे पर या दरवाजे के दोनों ओर की बनी बैठकी पर पैर हिलाते बैठे रहेंगे पर क्या मजाल जो भीतर आएँ। तब तो और भी जब उनके साथ कोई न हो तो। प्रायः साथ के लिए दुर्गा को मन्या ही प्राप्त हुआ है और वह बाहर ही खड़ा रहता।

— चलो, भीतर चलो।

— नहीं, तुम हो आओ, मैं यहीं खड़ा हूँ।

और ऐसे में पतंग उड़ाते लड़कों को वह देखने लगता। अब दुर्गा इस मन्या से रास्ते में झगड़ने से तो रही। किंचित झुँझलाती, किंचित संकोचती पर बहुत कुछ आशंकित हो वह मामीमाँ के घर को कल खोलती रही है।

आज भी जब वह सेरी में खड़े मन्या को छोड़कर घर में घुसी तो उसे अज्ञात में और दिनों की अपेक्षा अधिक असुविधा हो रही थी। घुसते ही लगा कि जैसे घर में धुंआ ही धुंआ है। वह चौंकी। चौंकना स्वाभाविक ही था। परन्तु उसे ऐसी प्रतीति हुई कि जैसे शान्त खूब गहरे जल में आप ठेल दिये जाएँ तो व्यक्ति पैर कहाँ टिकाए? केवल धँसने के लिए व्यक्ति बाध्य हो जाए। साथ में जो वह खाना लायी थी, यदि दुर्गा सतर्क न होती तो डिब्बा झनझना कर छूट गिरता। पूरा घर जल डूबे किसी तिलिस्मी तहखाने सा लग रहा था। आज शायद रोज की अपेक्षा उसे किंचित देरी हो गयी थी। भरघरी बखत हो चली थी। चूँकि वह बाहर के प्रकाश से आयी थी, अतः घर में घिरे अन्धकार में वह हठात नहीं देख पा रही थी। परन्तु आँखों ने उस अंधकार में भी आखिरकार प्रकाश खोज ही निकाला। वैसे विशेष कहीं कुछ ऐसा नहीं था, जिसे चौंकाने वाला कहा जाता। हाँ, धुआँ था पर वह भी साधारण ही था। वैसे साधारण धुंए की गन्ध भिन्न होती है। इस धुंए में गुग्गल की गन्ध भी थी। कहा जा सकता था कि धुंए से अधिक गुग्गल की गन्ध ही अधिक थी जिसे दुर्गा के अवचेतन ने धुंआ समझ लिया था।

चौखण्डी के चारों ओर सहन में अँधेरा था। जहाँ झूला था केवल उसी सहन में कुछ प्रकाश लग रहा था। झूले की रस्सी बँधी थी। वहाँ एक दरी जमीन पर बिछी थी। चौखण्डी पार करके दुर्गा दरी तक पहुँची। न जाने क्यों वह असुविधा अनुभव कर रही थी। गुग्गल वाला धुंआ इसी सहन से सटे कमरे से आ रहा था। इसी कमरे से दीये का हल्का प्रकाश भी आ रहा था। दुर्गा नहीं कह सकती कि उसके आने का शब्द हुआ था या नहीं। परन्तु सामान्यतः किसी के भी सहज आने पर जितना शब्द होना चाहिए वह हुआ ही होगा परन्तु श्रीमती गंगादेवी व्यास जिस प्रकार निष्काम बैठी हुई थीं उससे यही लगा कि दुर्गा का आना निःशब्द ही हुआ होगा।

श्रीमती गंगादेवी व्यास की पीठ दिख रही थी। उनके खुले बाल पीठ पर फैले हुए थे। जिस दीये का प्रकाश आ रहा था वह चिमनी नहीं था बल्कि एक दीया था जो कि श्रीमती गंगादेवी व्यास के सामने ऐसा ही जागरूक लग रहा था जैसे वह प्रति-व्यक्तित्व हो। दोनों के बीच में धरती पर बेसन का बना एक पुतला पड़ा था जिसे काले तागे और काले तिलों से घेरा गया था। गुड़हल के लाल फूलों की एक माला श्रीमती गंगादेवी व्यास के गले में थी तथा उस पुतले पर भी गुड़हल के कुछ फूल रखे हुए थे। श्रीमती गंगादेवी व्यास के दाहिने हाथ पर एक खपरे पर आग थी जिस पर वह रह-रह कर बुदबुदाते हुए गुग्गल आदि डाल रही थीं। कमरे में अप्रियता इतनी स्पष्ट थी कि दुर्गा एक क्षण में काँप उठी। अभी वह कुछ समझे और किसी प्रकार का निर्णय ले कि श्रीमती गंगादेवी ने बिना मुड़े ही कहा,

— आ गयी तुम ?

आवाज क्या थी, जैसे कोई रस्सा उसकी ओर फेंका गया था।

— मैं जानती थी कि तुम आओगी।

और हठात श्रीमती गंगादेवी व्यास न केवल मुड़ी ही बल्कि लपक कर खड़ी हो गयी। सब कुछ क्षणान्त में ही घटा परन्तु दुर्गा को लग गया कि अच्छा नहीं हुआ। उसकी आँखें मुँदने लगीं। उसने अनुभव किया कि मामीमाँ की अंगारे जैसी दो आँखें उसकी ओर लपकते भाव से देख रही हैं। मामीमाँ की मुद्रा और आकृति दोनों में ही अपशकुन इतना स्पष्ट था कि दुर्गा उसका सामना कर ही नहीं सकती थी। वह बोलने जा ही रही थी कि उसने अपने कंधे पर दो हथेलियों का दबाव ही नहीं बल्कि कसाव तक अनुभव किया। उसने सुना ही सुना था कि जब जीवित व्यक्ति में से भी मृत की दुर्गन्ध आती है तब हड्डी वाली हथेलियाँ कैसी लोहे की सलाखों जैसी होती हैं। आज सब कुछ उसे मूर्त लगा।

— बोल, तू डायन है न ? मेरे बेटे को खा गयी न ?""पर अब मेरी बारी है !!""
देख रही है ? यह तेरा पुतला है।""देख रही है पास में रखा यह सूया""आज
रात""बस आज की रात""!!

और श्रीमती गंगादेवी व्यास ने पुतले के पास में रखा वह बड़ा सा सूया उठा लिया और जैसे उस पुतले को गोदने को हुई।

— नहीं, इस समय नहीं""आज की रात !!

और वह खिलखिला उठीं। हड्डियों का हँसना कोई होता हो, तो वैसा ही वह हँसना था और जिसे सुनकर दुर्गा चेतना खोकर गिर पड़ी।

जन्म या किसी भी मांगलिकता से कहीं अधिक दुर्वह, प्रभावकारी तथा स्वत्व को जड़-मूल तक हिला देने वाली होती है भयावहता। ऐसी भयावहता मृत्यु ही तो होती ही है पर उसकी आसन्नता की भी होती है। जिस अखण्ड भाव से मृत्यु, संहार, विनाश प्रतिक्षण सम्पन्न हो रहे हैं, इसका बोध हम प्रायः भूले रहते हैं परन्तु जब भी हमें इसकी प्रतीति होती है उस क्षण जीवन का सारा आस्वाद ही बदल जाता है। लगता है न कि एक सुगन्ध जो अभी-अभी हमारे मन पर थी वह कैसे देखते-देखते उड़ गयी जैसे पानी की बूंद सूख कर विलीन हो गयी हो। बड़े-बड़े प्रासादों की नींवों को चबाता संहार कैसा अघोरी लगने लगता है जैसे वह हड्डियाँ चबा रहा है। जिसकी कड़-कड की आवाज तक आप उस प्रासाद के बूढ़े, उपेक्षित दालानों में ध्वनित, प्रतिध्वनित मर्मर स्वर में सुन रहे होते हैं। हमारी सब की आयु की हवि को स्वीकारती मृत्यु कैसी कृत्या सी जीभ लपलपाती अनासक्त भाव से हम ही में विचरित है। सब जन्म लेते हैं क्योंकि सब मर रहे होते हैं। प्रासाद, अट्टालिकाएँ खड़ी होती हैं क्योंकि आकाश की पृष्ठभूमि में इनके ढहे गुम्बद, टूटी महरावें संहार के खण्डित वाक्य से लगते हैं। अनन्तमुखी एक कल्पनातीत नाग है जो अपने ही को निरन्तर खा रहा है और उत्तरोत्तर उगल रहा है। समय, सृष्टियाँ, सभ्यताएँ देश सब उसके लहराते, ऐंठते क्रूर वलय में चरमरा कर ढहते हैं और फिर उसी में से नवांकुर बनकर फूटते हैं। क्या इस महाकाल से कोई निष्कृति नहीं ?

पूरा राज्य उस दिन सन्नाटे में आ गया जब यह सुनायी दिया कि इतने बड़ी रियासत के माधवराव महाराज की मृत्यु पेरिस में हुई और उनके शवदाह के लिए न तो स्थान ही प्राप्त हो सका और न आज्ञा ही। क्या पुरुषार्थ का कोई अर्थ है भी ? इस प्रकार अनाथ भाव से तो इस देश में कोई कंगाल भी नहीं मरा करता। हर चौराहों पर, दबे-छुपे रूप में हर जगह लोग इस पर चर्चा करते। सामान्यतः प्रत्येक मृत्यु के समय

हमारा ज्ञानी प्रमुख हो जाता है। इसे ही स्मशान-वैराग्य कहा गया है। यदि मनुष्य का मन क्षण-क्षण भूलने वाला न होता तो यह संसार एक क्षण भी नहीं चल पाता। परन्तु यहां कौन किसको पुकारे ? पुकारने वाले से पुकारा जाने वाला क्या अधिक सुरक्षित है ? कब, किस क्षण किसके पैरों से यह धरती चादर सी खींच ली जाएगी इसे निश्चित रूप से कौन बता ही सकता है ? ज्ञानी ही क्या, स्वयं ज्ञान भी क्या नाशवान नहीं है ? दो महा विनाशों के बीच के अन्तराल का नाम सृष्टि है ? सृष्टि उतना सत्य नहीं है जितना कि संहार। जन्म नहीं, मृत्यु सर्वत्र उपस्थित है। कहां नही है मृत्यु ? एकान्त से एकान्त जंगल हो या कैसी ही औत्सविकता हो—सब कुछ बीतने के क्रम में होते हैं। प्रत्येक क्षण 'है', 'नहीं है' में परिणत हो रहा है। सृष्टि में घोर आकुलता है। जो, जो है, वह वह नहीं रह पा रहा है। क्योंकि 'नही है' ही 'है' बनने की त्वरा में भाग रहा है। हम केवल अपने कर्ताभाव को छोड़कर दृष्टाभाव को अपना सकें तो एक प्रकार की तटस्थ दृष्टि सम्पन्नता ही प्राप्त कर सकते हैं, इस चक्र का भेदन नहीं किया जा सकता। अपनी पदार्थिक सत्ता के प्रति तटस्थ हो जाओ क्योंकि नाशवान वही है। और जो नाशवान है उसे कब तक बचाया जा सकता है ? और क्यों ? अपने चेतन में जिस दिन अपनी समग्रता जान जाओगे उस दिन सभी औत्सविकताओं और भयावहताओं से मुक्त हो जाओगे।

पण्डित शिवशंकर आचार्य दुर्गा के सिरहाने बैठे ऐसी ही बातें कर रहे थे। उस दिन श्रीमती गंगादेवी व्यास के घर जो कुछ हुआ वह घटित होने से अधिक प्रभाव के रूप में था। जब मन्या को लगा कि माँ को आज बहुत देर हो गयी और वह भीतर गया तो उसने देखा कि माँ गिरी पड़ी है और नानीमां अप्रिय ढंग से खड़ी हैं तो वह घबराकर घर की ओर भागा। सूतक के दिन थे, अतः पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल बाहर ही बैठे थे।

— बाबा ! बाबा !

पुत्र को घबराया हुआ देखा तो पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल भी कुछ घबरा उठे, बोले,

— क्या बात है ?

— वो....वो....

— वो क्या ?....बोलता क्यों नहीं ?

तब तक श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल भी भीतर से निकल आयी थी। बहू बड़ी देर से इसी मन्या के साथ तो गयी थी और मन्या घबराया हुआ लौटा है। जरूर कुछ हुआ है,

— क्यों रे ? मां कहां है ?

— दादीमां ! मां वहां बेहोश पड़ी है।

— क्या ?

और श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल जोरों पर चीखीं,

— हे भगवान !....जाओ उस डाक्कन के घर से उसे लाओ। मैं रोज कहती थी कि

उस चुड़ैल के यहाँ जाने की क्या जरूरत है ? जरूर उसने मेरी बहू को कुछ कर-करा दिया है ?

— अब तुम तो चुप करो जिजी !

— यहाँ खड़ा खड़ा पचायत कर रहा है, जाता क्यों नहीं जल्दी से ?

अभी ये लोग चर्चा ही कर रहे थे कि पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल के साथ पण्डित शिवशंकर आचार्य और श्रीमती गोदावरी आचार्य भी आ गये । इन्हें देखते ही श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल घबरायी हुई बोलीं,

— गोदावरी बहन ! आप खूब मौके से आयीं । आप लोग जाइए । गंगा के यहाँ बहू गयी और वहाँ बेहोश हो गयी मैं भी कैसी हूँ इस त्र्यम्बक से सूतक में ही जाने को कह रही थी । किसका सूतक, किसके सिर ।

जिस समय पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल, पण्डित शिवशंकर आचार्य और श्रीमती गोदावरी आचार्य, श्रीमती गंगादेवी व्यास के यहाँ पहुँचे वह दरी पर पैर फैलाए प्रलाप के ढंग पर हल्के-हल्के गा रही थी और दुर्गा पास ही धरती पर पड़ी हुई थी । पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल को गुस्सा तो बहुत आया परन्तु उन्होंने कुछ भी बोलना ठीक नहीं समझा । श्रीमती गोदावरी आचार्य ने सारा वातावरण देखकर समझ लिया कि न बोलने में ही भलाई है । श्रीमती गंगादेवी ने इन तीनों की उपस्थिति को देखते हुए भी स्वीकृति नहीं दी । वह यथावत टाँगे फैलाये सिर हिला-हिलाकर गुनगुनाती रहीं । श्रीमती गोदावरी आचार्य ने लपक कर बेटी को सम्हाला, जो कि अब चेतना में लौट रही थी । दुर्गा ने फटी-फटी आँखों से पहले स्पर्श को अनुभव किया उपरान्त स्पर्शकर्ता को । स्पर्शकर्ता को पहचानते ही सब कुछ अनपेक्षित लगा । सारे सन्दर्भ को समझने और जोड़ने में समय लगा । परन्तु जैसी ही स्थिति समझ में आयी तो फिर एक प्रकार का भय अनुभव हुआ और वह माँ से सटकर फफक-फफक रो पड़ी । श्रीमती गोदावरी आचार्य को बेटी की विवशता पर क्रोध हो आया, बोलीं,

— ऐसी तुझे क्या पड़ी थी जो यहाँ आयी ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य को क्रोध तो नहीं पर एक प्रकार का ठण्डापन अनुभव हुआ कि मनुष्य भी क्या है । पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल अवश्य ही इतना कह गये ।

— भाभी ने भी मना किया कि बहू तुम्हें जाने की कोई जरूरत नहीं पर यह मानती ही नहीं । बहुत सगेपन का फल मिल गया न ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य समझ गये कि यहाँ अधिक ठहरना किसी के लिए भी शोभनीय नहीं, बोले,

— अच्छा, अब चलो ।

॥ आत्म-प्रकरण ॥

सूचना ही देर से मिली। नाथद्वारा आने के बाद से पण्डित गोवर्धन व्यास ने अपने को न केवल पारिवारिक ही बल्कि समस्त सांसारिकता से अलग कर लिया था। अलग क्या कर लिया था बल्कि कहना चाहिए कि पूरी वितृष्णा के साथ तटस्थ हो गये थे। मन्दिर में 'भीतरिया' जी के रूप में भगवान की सेवा में प्रातः चार बजे से रात्रि के दस बजे तक लगे रहते। प्रतिदिन की सेवा के अतिरिक्त नित्य कोई न कोई अनुष्ठान होता ही रहता। पण्डित गोवर्धन व्यास निश्चिन्त यदि न भी सही तो सशंक भाव से ही सेवा में लीन थे। मनुष्य सोचता है कि उसका निर्णय एक ऐसा वृत्त है जिसका उल्लंघन अब कोई नहीं करेगा शायद वह स्वयं भी, और निश्चिन्त हो जाता है; परन्तु वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत होती है। व्यक्ति, सृष्टि के नियमों या निर्णयों का उल्लंघन नहीं कर सकता है जबकि सृष्टि के लिए व्यक्ति के निर्णय का कोई महत्त्व नहीं है। वैसे भी आये दिन उज्जैन-इन्दौर से एक-न-एक आता ही रहता और भले ही व्यास जी ने जानने की उत्कण्ठा न भी दिखायी हो तब भी वह व्यक्ति उनके प्रशान्त जल में कुछ तो हलचल उत्पन्न कर ही जाता। व्यक्ति का मन भी अजीब है कि वह अस्वीकृति या निषेध की ओर ही भागता है। मुखिया जी को दर्पण बताते हुए या भगवान की झारी धरते हुए मन उस समय न जाने कहाँ होता, कि पता नहीं घर कैसा-क्या चल रहा होगा। बिशू कुछ सुधरा कि नहीं ? उनके वहाँ से चले आने पर गंगा में कुछ परिवर्तन हुआ होगा कि नहीं ? क्या इस प्रकार की ओढ़ी हुई असंगता को लेकर पूरा जीवन यापन किया जा सकता है ? ....और उन्हें लगता कि उनका पापी मन भगवान के निकट पहुँच कर भी उसी संसार के गूलर के फल की ओर ही लालायित है, और वह छिः छिः कर उठते। यह भक्ति क्या उनके व्यक्तित्व के पीतल पर केवल मुलम्मा ही बनी रहेगी या कभी उनकी प्रकृति या स्वत्व भी बनेगी ? 'जयश्रीकृष्ण' या 'ॐ नमो

भगवते वासुदेवाय' कहते हुए उन्हें अनुभव होता कि कण्ठ की यह शाब्दिक आर्तता कभी गले के नीचे उतर कर उनके हृदय की पुकार बनेगी कि नहीं ! जीवन भर जिस सांसारिक दलदल में गले-गले फँसे रहे और जिससे त्राण पाने के लिए प्रभु की सेवा में आये, लेकिन मन है कि उसी ओर आकृष्ट होता रहता है। मन्दिर की जिस कोठरी में उनका वास था वहाँ रात को सेवा से लौटाने पर शीतलपाटी पर या बिस्तरे पर लेटे-लेटे शहतीरें गिनते हुए, या 'विष्णुसहस्रनाम' का पाठ करते हुए न जाने क्या-क्या सोचते रहते। मन की आँखों के आगे एक-एक लोग—उनका चलना, उठना-बैठना, बोलना सब कैसा मूर्त हो आता था। मनुष्य की अपनी स्मृतियाँ कितनी अविभाज्य अंग होती हैं इसकी प्रतीति पण्डित गोवर्धन व्यास को नाथद्वारा आने पर ही हुई। संसार के प्रति आकुलता उसकी अनुपस्थिति में जितनी तीव्र होती है। उतनी संसार की उपस्थिति में नहीं।

जब उन्हें अपने जीजा पण्डित महादेव शुक्ल वाली घटना का पता चला और उनके उत्तर-कार्य से सम्बन्धित सूचना मिली तो उन्होंने लौकिकता से अधिक आत्मीयता की दृष्टि से उज्जैन जाना चाहा था परन्तु साहस ही नहीं हुआ। जिस दुर्घटना का कारण अपना पुत्र हो, भला उस दुरावस्था का सामना वह कैसे कर सकते थे ? अपनी कृष्णा दीदी को वह क्या कह कर सान्त्वना देते ? मुण्डित सिर के अपने भानजे त्र्यम्बक से क्या वह आँख मिला सकते थे ? माना कि सब जानते हैं कि बिशू की इस दुर्दान्त करनी में उनका कोई हाथ नहीं है परन्तु वह सर्वथा अदोषी भी नहीं हो सकते थे। और भले ही कोई दूसरा कुछ न कहता, निश्चय ही कोई उन्हें कुछ नहीं कहता, परन्तु विधवा दीदी और पितृहीन भानजे से भी अधिक, उस विषमता में वह स्वयं को ही सहन नहीं कर सकते थे।

परन्तु जब बिशू की मृत्यु की सूचना आयी तो विवश हो उठना स्वाभाविक था। जिस प्रकार दण्डित होकर उसका अन्त हुआ था वह कैसे ही अनासक्त पिता को भी व्यथित कर सकता था। जिस प्रकार से खबरें मिलती रहीं कि पण्डित महादेव शुक्ल और कुन्दीलाल की हत्या में बिशू का भी हाथ था तो एक प्रकार से यह निश्चित ही था कि बिशू बच ही नहीं सकता था, खासकर एक चश्मदीद गवाह भी था—ताँगेवाला। फिर भी मनुष्य का मन अपने पक्ष में सदा ही अनहोनी घटने के प्रति आशावान बना रहता है। वैसे पण्डित गोवर्धन व्यास स्वयं से ही तर्क करते कि वह एक ऐसे हत्यारे के छूट जाने के लिए क्यों आकुल हैं जिसने उनके बहनोई की हत्या की है ? क्या मनुष्य सम्बन्धों के ऊपर जाकर सत्य का पक्ष नहीं ग्रहण कर सकता ? शायद सामान्यतः तो नहीं ही कर पाता और विरल, सामान्य होता नहीं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का पारायण करते हुए वह प्रायः गड़बड़ा जाते। बिशू सामने आकर खड़ा हो जाता। वह बिशू जिसे गोदी में उठाकर वह होली पर होली तापने गये होंगे। कँधे पर बैठाल कर मेला घुमाया होगा। अँगुली पकड़े-पकड़े धर्मशाला में जीमने गये होंगे। न जाने कितनी कल्पनाएँ की होंगी कि एक दिन यह पढ़-लिख कर उनकी सहायता करेगा तब उनकी आर्थिक तथा मानसिक स्थिति सुधर सकेगी। खूब रचकर इसका विवाह करेंगे और एक दिन नाती-पोतों से घिरे

वह सन्तुष्ट, सम्पन्न और सुखी गृहस्थ, पिता, पितामह आदि हो सकेंगे, तभी इस कल्पना जगत को दीये के भभकने से ठेस लगती और वह फिर कठोर वास्तविकता में बैठे हुए होते।

सूचना ही देर से मिली थी पर अगत्या उज्जैन जाने का निश्चय करना ही पड़ा। यद्यपि ऐसा निर्णय करते समय उन्हें सन्ताप ही अधिक हुआ। आत्मिक सन्तोष या आकुलता का प्रश्न ही नहीं उठता था। जो कुछ उड़ते-उड़ते, टुकड़ों-टुकड़ों में वह अपने परिवार के बारे में सुनते आये थे उन सबको जोड़ने पर जो चित्र बनता था वह भयावह ही था। वह पूरे रास्ते नहीं सोच पा रहे थे कि वह इस सबका सामना कैसे करेंगे। वह कितना चाहने लगे कि उनका और उनकी देह का सर्वथा भिन्न नाम व भिन्न अस्तित्व होता। तब, अपने को अपनी देह को सौंप कर सर्वथा भिन्न दिशा में ऐसे कहीं चले जाते जहाँ पूर्ण अज्ञात बनकर सदा-सदा के लिए तिरोहित हो जाते।

जिस समय वह घर पहुँचे उस समय बाहर के दरवाजे से धुँआ निकल कर बाहर हवा में छितरा रहा था। स्टेशन से घर आते समय ताँगे में बैठे हुए बराबर सोचते रहे कि रास्ते में परिचित मिलेंगे तो क्या-कुछ न कहा-सुना जाएगा। परन्तु बड़ी निराशा हुई। अभी सवेरा ही था। दूकानें तक बन्द थीं। सिवाय सती-दरवाजे और कण्ठाल के हलवाइयों की दूकानों के अलावा सड़कों पर बहुत कम लोग आ जा रहे थे। मन्दिर से 'मंगला' के दर्शन करके लौटे कुछ परिचित, अर्धपरिचित लोग पगड़ी-दुपट्टों में दिखलायी दे रहे थे। उन्हें आशा थी कि कोई तो अवश्य मिलेगा ही जो उन्हें रोकेगा और कुछ पूछेगा कि —व्यास जी महाराज! बहुत दिनों पर आये—पर नहीं, कहीं कुछ नहीं हुआ। इतने दिनों में ही क्या इतना कुछ बदल जाता है? कितना? कितना—क्या, क्या! किसी के मुँह से एक बोल तो फूटा नहीं। अरे वाह, बोल क्यों नहीं फूटता! अगर पटनी-बाजार की ओर जाते तो बोल क्या पूरी राम-कथा ही होती। उज्जैन जैसे शहर में सिवाय उन्हें उनके मुहल्ले के और भला कौन जान पाता? जो व्यक्ति एक साधारण दूकानदार रहा हो, भला उसे पूरा शहर कैसे जान सकता था? और ज्योंही 'युवराज लाइब्रेरी' के पास से ताँगा बाँये मुड़ा तो उन्हें 'सार्वजनिक-सभा' के कार्यालय से सटे पीपल के दर्शन हुए। सबेरे की हवा में पीपल कैसा खिलखिला रहा था,-उसके पत्तों पर से धूप फिसली पड़ रही थी।

ज्यों-ज्यों घर पास आ रहा था उन्हें असुविधा हो रही थी। एक अव्यक्त खलबली सी मन में उत्तरोत्तर बढ़ती सी लगी। पुरुषों का अपनी मूँछों पर और स्त्रियों का अपने जूड़े पर बारम्बार जो हाथ जाता है वह इसी असुविधा के कारण ही होता है। मन की असुविधा हाथ बन कर व्यक्त होती है। मुहल्ले की किसी भी चीज में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। अहातों के लकड़ी के बड़े से फाटक, दरवाजे, बूढ़ी होती हुई

दीवालें, नालियों का कूड़ा, मोड़ पर ढेर सा कूड़ा—लगा कि नाथद्वारा जाने के पूर्व जैसा छोड़ गये थे, सब आज तक यथावत है। नियमतः सेरी [गली] सुनसान थी। सच तो यह था कि पण्डित गोवर्धन व्यास चाहते भी यही थे कि उनकी भेंट किसी से न हो और वह चुपचाप घर पहुँच जाएँ।

सोचा तो यही था कि उन्हें हठात आया देखकर पत्नी को प्रसन्नता तो नहीं ही होगी परन्तु चाहते वह यही थे कि पत्नी उनके स्वागत में यदि द्वार पर न भी खड़ी मिले तो उनसे साक्षात हो जाने पर प्रफुल्ल तो दिखलायी ही दे। घर में घुसते ही जिस प्रकार के धुँए से उनका साक्षात हुआ वह गृहस्थो के प्रातःकालीन धुँए की भाँति नहीं था। वैसे तो धुँआ मात्र कड़वा होता है परन्तु घर का वातावरण धुएँ के उस कड़वेपन को एक विशेष गन्ध, सन्दर्भ दे देता है। किसी भी घर के धुँए की गन्ध से उस घर की गृहस्थता को सूँघा जा सकता है।

सवेरे-सवेरे सेरी में ताँगे का आगमन, घोड़े के घुंघरुओं की आवाज क्या बिना ध्यान आकर्षित किये रह सकती थी? ज्योंही ताँगा रुका तो आस-पास के घरों की बन्द खिड़कियाँ फटाक से खुल आयीं। उत्सुक चेहरे, जिज्ञासु आँखें झाँकने लगीं। परन्तु जैसे ही पण्डित गोवर्धन व्यास को देखा और पहचाना तो जिस तेजी से खिड़कियाँ खुली थीं उससे भी अधिक सतर्कता, तेजी से वे आँखें, चेहरे खिड़कियों में समा गये, जैसे कुछ अवांछित घटा। बाहर ओटले [चबूतरे] पर जो दो-एक बच्चे बिना कुल्ला-दतौन किये बैठे अलसा रहे थे, इस ताँगे के आगमन के प्रति उत्सुक अवश्य हुए परन्तु वे शायद आगन्तुक को नहीं जानते थे। उनके लिए वह बीत जाने मात्र एक सन्दर्भ भर था।

ताँगे को विदा कर पण्डित गोवर्धन व्यास दरी में लिपटे अपने कपड़े-लत्ते लिये सशंक मन से घर में घुसे। सामने ही झूले पर बिखरे केशों में श्रीमती गंगा देवी व्यास कुछ गाती झूल रही थीं। पास की कोठरी से धुँआ आ रहा था। घर के भीतर की चौखण्डी तथा औसारों में पतला ही सही, परन्तु धुँआ भरा हुआ था। उस धुँआड़ेपन में झूला झूलती श्रीमती गंगा देवी व्यास बहुत अजीब लग रही थीं। चूँकि अभी प्रातःकाल आरम्भ ही हुआ था इसलिए भी बहुत अधिक प्रकाश जब घर के बाहर सेरी तक में नहीं था तब घर के भीतर कैसे सम्भव हो सकता था।

जिस समय पण्डित गोवर्धन व्यास घर में प्रविष्ट हुए तो एक क्षण को श्रीमती गंगादेवी व्यास चौंकी' अवश्य। भाव केवल इतना ही था कि—कौ ऽ ऽ न? देखने और पहचानने में समय का अन्तराल होना स्वाभाविक ही था। विशेषकर तब तो और भी जब आगन्तुक सर्वथा अप्रत्याशित हो, भले ही वह कितना ही निकट का क्यों न हो। मनुष्य में एकदम ही प्रतिक्रिया नहीं आरम्भ होने लगती है। देखने का आरम्भ सर्वथा

निर्भाव ही होता है। देखने के उपरान्त कुछ क्षण बाद उस व्यक्ति से संबंधित हमारी स्मृतियाँ, सन्दर्भ हमारी चेतना में सक्रिय होने लगते हैं।

भूला भूलती श्रीमती गंगादेवी व्यास ने जैसे ही दरवाजे की चौखट के खालीपन में एक आकृति देखी तो वह चौंकी—कौ ऽ ऽ न ? इतनी सवेरे-सवेरे किसको उनसे अब काम हो सकता है ? अब तो वह एक प्रकार से समाज से बहिष्कृत व्यक्ति थीं। लोग उनके घर वैसे ही आने में डरते थे तब भला बेला-कुबेला की बात ही क्या। सेरी का या कुल-कुटुम्ब का कोई झाँकने तक तो आता नहीं था, जैसे वह चेचक हों। बगल में बिस्तरा दबाये जब आकृति देखी तो वह समझी कि कोई भूल से आ गया है, चला जाएगा। प्रत्येक व्यक्ति का एक लटका होता है। कैसा ही अँधेरा हो, कितने ही वर्ष बीत जाएँ, कितनी ही भीड़ हो हमें उस व्यक्ति को पहचानने में एक क्षण नहीं लगता। जो व्यक्ति देह और मन के माध्यम से अन्तर में रसा-बसा हो भला उसे पहचानने में भूल हो सकती थी ? और कितनी देर ? और जब अविश्वसनीय हठात घटित हो जाए तो मन खौलता जल हो जाता है। जिस पैर से भूला ले रही थी वह पैर सहसा घिसटते हुए रुकने-रुकने को हुआ। वह न जाने किस मनोलोक में थी। अपने अन्तर में जरा-मरण से परे जो बिशू था उसमें वह डूबी हुई थी। अपने अन्तर में जो प्रति-संसार होता है उसका अक्षुण्ण साक्षात जब आसक्ति के भाव से किया जाता है तो वह व्यक्ति को परम दुःखी पागल, सन्तापित आदि न जाने क्या-क्या करता है परन्तु अगर व्यक्ति इस प्रति-संसार का भेदन कर जाए तो वह मुक्त हो जाता है। समझदार सांसारिक बना रहना, चेतना का निम्नतम स्तर है। श्रीमती गंगादेवी व्यास अपने अन्तर के प्रति-संसार में पूरी तरह प्रस्थापित थी। बिशू की मृत्यु ने उनके लिए पुत्र को चिर-मूर्त कर दिया था।

जो बिसू पहले बिखर गया था, बड़ा होकर घर को देहरी लांघ कर सेरी और सेरी से निकल कर पूरे शहर में खो गया था अब वह फिर बालक, बच्चा बनकर उनकी आँखों के आगे आ गया था। पहले पति और पुत्र के होते हुए भी वह कभी-कभी अकेलापन अनुभव करती थीं परन्तु अब तो उन्हें बिशू से फुर्सत ही नहीं मिलती थी।—वह भूले में सो रहा है। साँझ होने आ गयी और जागने का नाम ही नहीं लेता। कम से कम घरधरी बखत तो बच्चे को जगा कर घर के अन्दर कर लेना चाहिए। पता नहीं भूले में पड़े-पड़े ही कपड़े गीले न कर लिये हों। यह गीलापन ही बच्चों की रीढ में जाकर जम जाता है और न जाने क्या-क्या बीमारियाँ हो जाती हैं।....आधी रात होने आयी और बिशू सोने को ही नहीं आता। अरे भाई, कितनी कहानियाँ सुनोगे ? लालची हरिण की हो गयी। बन्दर और मगर वाली कहानी भी हो गयी। लाल-परी की कथा तो जितनी बार भी सुनाओ तुम्हारा तो पेट ही नहीं भरता। अच्छा अब लोरी सुनो और सो जाओ।—अच्छा तो दूध पियोगे ?....और श्रीमती गंगादेवी व्यास अपनी चोली

में से दो अंगुलियों में स्तन पकड़कर दूध पिलाने लगतीं। पास में लेटा हुआ विशू जैसे दूध पी रहा हैं। दूध पीने की चबर-चबर आवाज तक जैसे आ रही है और अपनी देह में पत्तियों जैसे दो पतले ओठों की चलती छुअन उन्हें जाने कहाँ ले गयी होती। उन्हें लगता कि बिशू मुँह में स्तन दबाये हुए ही सो गया और वह सम्पूर्ण सतर्कता, समग्रता एवं तन्मयता के साथ अपना स्तन छुड़ाने लगती....परन्तु यह स्वप्न जिस क्षण भी, जिस किसी कारण भी टूटता और वह भयावह वास्तविकता में लौटती तो हाहाकार कई गुना हो जाता। मन कितना विकल हो जाता कि जो प्रति-संसार अन्तर में होता है क्या उसे ही सदा नहीं जिया जा सकता है?

कौन कहता है कि बिशू नही रहा! शवदाह, त्रयोदशा जिसकी भी हुई हो। हुई हो; बिशू से क्या लेना-देना!—बिशू; बिशू तो यह रहा।—क्यों रे बिशू?

और दोनों हाथों से खम्भे को पकड कर 'फुन्दी' के ढंग पर गोल-गोल नाच रहा है। गिर पड़ेगा रे!....दिन भर धूल-मिट्टी में, सेरी में खेलता है पर क्या मजाल जो कभी नहाये भी। अरे साल भर का दिन है, आज रूपचौदस है। उबटन लगा कर क्यों नहीं नहाता है दलिद्री कहीं का!...मैं कहती हूँ किसी दिन पटाखे से आग लगा लेगा। —छोड़ उस कुत्ते को। उसकी पूँछ में लड [पटाखे वाली चटाई] बाँधेगा और जब वे पटाखे छूटेंगे तो उसे तकलीफ नहीं होगी?...पर लड़का है कि आफत!!....जा तो बेटा! बुआ जी के यहाँ पूछ आ कि वह मन्दिरजी कब जाएँगी?....और पहिया चलाते हुए बिशू यह जा, वह जा। पता नही, बात पूरी सुनी थी कि नही।—स्त्री के लिए सन्तान, देह की ही नही आत्मा की भी सम्बन्ध होती है।—धूप से आया है, पसीना अभी सूखा भी नही है कि उलीचने [पानी भरने वाला बर्तन] से ही पानी गटक रहा है—अरे दुष्ट! जरा पसीना तो मरने देता तब पानी पीता।—और जिस सतृष्ण, सन्तुष्ट भाव से कोई माँ, श्रीमती गंगादेवी व्यास भी तो माँ ही थीं, अपनी सन्तान को देखती है वैसे केवल गाय ही अपने बछड़े को देख सकती है। पति को तो स्त्री, इन्द्रिय से ही धारण करती है परन्तु सन्तान को तो रोम-रोम से बारम्बार जन्म देती है, फिर धारण करती है। भला श्रीमती गंगादेवी व्यास के लिए बिशू कैसे मर सकता है?....वह जीम रहा है और वह उसे पंखा झल रही है।—उसे गरम-गरम कुरकुरी खूब घी लगी रोटियाँ पसन्द हैं और रोटियो पर बेलन चलाते समय वह कैसे बूझ रही होती है कि जरा सा बेलन रोटी पर दबा नहीं कि रोटी फूलेगी नही और तब पुत्र खाएगा नही।—दाल में घी प्रिय नही है तो चावल में इतना घी बसा देंगी कि बसाया भला।—जाँघ पर सिर रखकर सोना बिशू को कैसा सुहाता है न?....और वह खाली जाँघ ही थपथपा रही होतीं। बिशू, बिशू और बिशू!! वह बिशु के लिए संसार का जघन्य-से-जघन्य पाप भी कर सकती है, परन्तु कोई उनके पुत्र को, भले ही वह पति ही क्यों न हो, टेढ़ी आँख से नहीं देख सकता है।—वह उसके लिए रोती है, कलपती है कि यहाँ-वहाँ होटलों में न खाए, जिस-उसके साथ न रहे। बिटल जाएगा, और अगर बिटल जाएगा तो वह क्या करेंगी? परन्तु कोई दूसरा बिशू की शिकायत करके तो देखे! वो चण्डी रूप धारण

करेंगी कि बस ! ! कौन कहता है वह बीड़ी पीता है ? मुसलमान हो गया ! ! ऐसी सफेद झूठ ! ! तुम्हारा लड़का नहीं हो गया म्लेच्छ ? अपनी करनी कभी देखी है, चले हैं दूसरों के फटे में झाँकने ! !—पर, मत कर बेटा ! ऐसा काम । आज तूने मशीनरी का काम सीखा, कल ड्राइवरी सीख लेगा, परसों तुझे गाड़ी चाहिएगी तो बता कहाँ से आएगी मोटर ?... तेरे लिए मैं किस-किससे कितनी भीख माँगूँ ?....नहीं, नहीं, दुर्गा को डराना-धमकाना एक बात है पर मान लो कुछ हो ही गया तो बिचारी वह तो डूबेगी ही, हम सब ही कितनी बदनामी होगी और किसलिए ? बेटे को मोटर चाहिए इसलिए ?—तेरी बुआ जी तभी सहायता कर सकती हैं जब....! ! नहीं, कभी नहीं ।

लो, हो गया न । क्या मिला तुझे ? और क्या मिला मुझे ? जनम भर की दुश्मनी तो मिली ही और राक्षसी कहलाएगी सो अलग ।....देखा न अपने बाबा को ।.... कैसा पल्ला झाड़कर चले गये नाथद्वारा ।—बड़े धार्मिक बनते हैं । भगवान की माला भरने से कर्मों से छुटकारा मिल जाएगा !....नहीं, मैं अपने बेटे को नहीं मरने दूँगी । उसका बुरा चाहने वालों का घर भस्म कर दूँगी । यदि मेरा बेटा नहीं रहेगा तो तू भी निपूती हो जाएगी । ऐसी मूठ चलवा दूँगी कि सात पीढ़ियों तक कोई नाम लेवा न बचेगा ।—जिस दुर्गा के कारण मेरा बेटा बदनाम हो गया है उसे कोठे पर न बैठाल दिया तो मेरा नाम गंगा नहीं । तू मेरे बेटे को खाएगी तो मैं तुझे और तेरे बेटे को खा जाऊँगी—नहीं, ऐसा कभी नहीं होने दूँगी ।

और इसी मनःस्थिति में चौखट में आकृति दिखलायी दी थी । पूछा,

—कौन ?

और कुछ पहचानते हुए हाथ सिर पर गया । पल्लू सिर पर था ही नहीं, क्या लेती ? आकृति ने कोई जवाब नहीं दिया परन्तु जिस अधिकार भाव से घर में वह प्रविष्ट हो रही थी तो उन्हें पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हुई लेकिन, अनायास यह कैसे ? क्या यह सम्भव है ? परन्तु और सम्भव क्या होता है ?

भोजन करने तक पण्डित गोवर्धन व्यास सब समझ ले गये कि न तो पत्नी और न घर दोनों की ही मानसिक स्थिति सामान्य नहीं है । जो कुछ था, वह सब भाषा से परे का था । पत्नी से पहले ही कौन चर्चा होती थी जो आज करते । यहाँ आने के बाद ही पुत्र के न होने की तीव्रता जिस प्रकार उन्हें हुई उसमें वह अधिक से अधिक विलख ही सकते थे । किसी अन्य को इस सबके लिए दोषी ठहराने का न तो औचित्य ही था और न लाभ ही । जबकि श्रीमती गंगा देवी व्यास बिलखने के स्थान पर सुलग रही थी । भला, ऐसी पत्नी का सामना कम से कम वह तो नहीं ही कर सकते थे । सामना का अर्थ होता बहस, विवेचन आदि । पर किससे ? क्या वह इस बीच पूरे घर में घूम कर, सूँघ कर, अनुमान के द्वारा नहीं भाँप गये कि यह घर अब केवल प्रतिशोध जी रहा है ?

और प्रतिशोध भी उससे, जिसकी तुमने बदनामी की, जिसने तुम्हारे पुत्र का सारा क्रिया-कर्म किया उसका ही अशुभ चेता जा रहा है। पर क्या वह इस बारे में पत्नी से बातें कर सकते थे?....क्या उन्होंने शुरू से ही चेतावनी नहीं दी थी कि माँ—बेटे जिस रास्ते पर चल रहे हैं वह विनाश का रास्ता है? और अब भी यदि नहीं चेता गया तो सर्वनाश तो निश्चित ही है।

वह चटाई पर लेटे हुए थे। अन्तिम भाद्रपद चल रहा था। चार-आठ दिन में ही पितृ-पक्ष लगने वाला था। मेघ घिरे हुए थे। वर्षा की पूरी सम्भावना थी। राजस्थान में तो मेघों की झड़ी के लिए वह तरसते रहे हैं अतः मालवी भाद्रपदी मेघ-वर्षण की सम्भावना देखी थी तो मन खिल उठा। धूप का एक टुकड़ा ओसारे में एक तरफ चिड़ियों की भाँति चौकन्ना सा था। लगता था कि छूते ही वह टुकड़ा उड़ जाएगा। परन्तु किसी अन्य को उसे पकड़ने या उड़ाने की आवश्यकता नहीं थी। काले मेघों ने और सघन घिर कर उस टुकड़े को समेट लिया। जिस प्रकार जल-भरापन वायु-मण्डल में घिर उठा उससे लगा कि बस मिनिट-दो-मिनिट में बरसेगा और अभी शायद सोचना पूरा ही हुआ होगा कि पल भर को हल्की वर्षा के तत्काल बाद वृष्टि तेज हो गयी। चौखण्डी में पानी छिटका पड़ रहा था। अभी तो नहीं, परन्तु कुछ ही पलों में जब सारी नेवतियाँ चूने लगेंगी तो पानी छिटक कर चारों ओर के ओसारों को गीला कर देगा और तब यहाँ बैठना-लेटना असम्भव हो जाएगा।

पेवशी [पान-सुपारी का बड़ा बटुवा] निकाल कर वह पान बना रहे थे। पत्नी अपनी समझ से चौका-बासन कर रही थी। अभी तक दोनों का आपस में बोलना नहीं जैसा ही हुआ था। नहाने के लिए गंगाजल में शायद बरसाती पानी ही था तब भी वह बिना कुछ कहे-सुने नहा लिये थे। अपने से ही अपनी धोती-गलना धो-फींच कर ओसारे की रस्सी पर फैला दिये थे। अपना ग्वाला [पूजा का झोला] निकालकर 'सन्ध्या' कर ली थी। एक मन तो हुआ था कि मन्दिर चलकर 'राजभोग' के दर्शन कर आएँ परन्तु मन इतना बुझा हुआ था कि शाम तक के लिए मन्दिर जाना टाल दिया। पत्नी ने अबोले ही भोजन परस दिया और चुपचाप भोजन करके वह उठ गये। हाथ धोते समय देखा कि तुलसी-क्यारा अवश्य था परन्तु तुलसी सूख गयी थी। भगवान के चित्र पर जो पवित्रा थी वह भी बरसों पुरानी उनके ही हाथ की थी। नयी पवित्रा किसी ने लाकर नहीं चढ़ायी थी। दबे स्वर में हर बार 'हरि इच्छा' कह कर सिवाय निश्वास छोड़ने के के किसी भी प्रकार का पूछना न हो सका। और किससे?

पत्नी जिस समय चौका-बासन समाप्त करके आयीं, वर्षा खासी तेज हो गयी थी। भोजन के बाद वह दीदी के घर जाना चाहते थे, पर इस समय तो पानी ही बरसने लगा था। वह निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि वह दीदी, त्र्यम्बक आदि से कैसे मिलेंगे, क्या होगा। अनेक बार यह कैसी विवशता होती है कि जिस स्थिति से हम सबसे अधिक बचना चाहते हैं, वही सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती है। इसी समय, जैसे पत्नी से बोलना।

— *गंगा।*

यह शायद सीधे-सीधे पहली बार उन्होंने पत्नी को सम्बोधित किया था। श्रीमती गंगादेवी व्यास भी बड़ी देर से यहाँ-वहाँ कतराती घूम रही थीं। यह भी शायद पति का सामना बचाती रही हों, वर्ना जिस घर को महीनों से उन्होंने कभी नहीं देखा आज उनके भीतर उपेक्षित स्त्री, स्वामिनी न जाने कैसे जाग्रत हो गयी थी और वह व्यस्त हो उठी। जिस चीज को छुयो, वही गड़बड़। दालों में ईलड़ें पड़ गयी। अब पूरी दाल झटको-फटको। पति के लिए पापड़ सेंकना चाहा, तो एक पापड़ निकला लेकिन उस पर भी ऐसी फफूंद, कि बस। कहीं उन्हें अपने से ही उलझन हुई। वह तो एक लड़का मिल गया और गिल्की [निनुआ] के लिए दौड़ा दिया था, नहीं तो इस घर में भूँजी भाँग नहीं थी। वह जिस मनःस्थिति में थी वहाँ से जब वह इस मनःस्थिति में आयी, बल्कि कहना चाहिए गिरी, तो उन्हें कहीं अपने से ही वितृष्णा हुई। जैसे ही पति ने सम्बोधित किया तो उनका मन हुआ कि जाकर पति से लिपट कर खूब ही रोयें। कितने वर्ष हो गये रोये को। वह इस बीच रोयीं कहाँ? केवल धुँधुआती रही हैं। किसी भी प्रकार के दर्द, कष्ट के लिए रोना जरूरी होता है, धुँधुआना नहीं। परन्तु मनुष्य किसी के सामने होने पर ही रोता है। हाँ, अपने से वह प्रलाप अवश्य कर सकता है। रोने से मनुष्य को शान्ति मिलती है परन्तु प्रलाप से व्यक्ति में प्रतिशोध हो जागता है।

पति ने जब उनका नाम लेकर पुकारा तो वह एक क्षण को ठिठकी अवश्य परन्तु आँचल से चूड़ियाँ पोंछते हुए सिर नीचा कर बारणे [दरवाजे] की देहरी पर एक घुटना टिका आड़ लेते हुए बैठ गयी। शायद वर्षों बाद श्रीमती गंगादेवी व्यास एक मनुष्य की भाँति, एक सम्बन्ध के रूप में व्यवहार कर रही थीं। जैसे वह गत वर्षों बराबर तेज-तेज दौड़ती रही हों और आज हठात उनके व्यक्तित्व का पगहा उनके पति के पैरों के नीचे आ गया और उनकी गति सहसा रुक गयी हो। ऐसे हठात रुक जाने पर ही अनुभव हो कि वह इतना थक चुकी है कि अब केवल टूट सकती है। सहसा रोक दिये जाने का झटका केवल देह को ही नहीं लगता है बल्कि पूरा स्वत्व जैसे काँसे के बर्तन सा झनझनाता ही चला जाता है।

करने को क्या था जो श्रीमती गंगा देवी व्यास करतीं। आज वर्षों बाद किसी के सामने विनम्र सिर से, सिर ढँके वह बैठी होंगी। स्वयं उन्हें असुविधा तो हो रही थी परन्तु कहीं अच्छा भी लग रहा था कि उनका भी कोई मानवीय नाम है, सम्बोधन है। पैर के अँगूठे से वह फर्श के गोबर के तिनके को कुरेदती बैठी थीं। किसी के सामने सिर नीचा करके बैठना भी कितना सुखद होता है, इसकी प्रतीती वर्षों बाद हो रही थी। और ऐसा कोई जब अपना ही पति हो, जो वर्षों बाद घर आया हो तो मन कैसा कुम्हड़े की बेल में खिला अकेला फूल हो जाता है न? बाहर ओसारे में छोटे आ रहे थे। चौखण्डी में नेवतियाँ धाराधर बरस रही थी। वर्षा के इस शोर के अतिरिक्त कहीं कोई शब्द नहीं था। वैसे इसे सन्नाटे में खिचापन भी नहीं कहा जा सकता था क्योंकि अन्तर में ऐसा स्वर, रौद्रस्वर था जैसा कि किसी विशद प्रपात का ही हो सकता था।

— गंगा ! सूचना ही देर से मिली।

पति ने तो मात्र अपनी स्थिति स्पष्ट की थी तो इस पर मुंह को आंचल में समेट रो उठने की क्या आवश्यकता थी ? लेकिन किसे रोया जा रहा था ? जो नहीं था वह अब कभी नहीं होगा यह क्या श्रीमती गंगादेवी व्यास नहीं जानती ? परन्तु जानना, मानना भी हो यह कोई आवश्यक नही। इस प्रकार के कारुणिक रुदन उपस्थितों को भी अनुपस्थित कर देते हैं। पत्नी को सहसा प्रलाप करते देख पण्डित गोवर्धन व्यास सन्नाटे में आ गये। वह रुदन क्या था जैसे कोई अपने बघनखों से आपके स्वत्व की दीवालों को फाड़ खा रहा हो। वस्तुतः चीर डालना इसे ही कहेंगे। ऐसा प्रलाप, रुदन घर की दीवालों से टकरा-टकरा आपकी ओर बारम्बार वैसा ही आता है जैसे कि कोई पक्षी दीवालों के बीच घिर गया हो और मारे भय के हर बार आपकी ओर ही लपक कर आए। श्रीमती गंगादेवी व्यास का रुदन दो प्राणियों वाले उस एकान्त घर को चीथे डाल रहा था। पण्डित गोवर्धन व्यास की समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करें। बल्कि उन्हें लगने लगा था कि यहां आकर उन्होंने बहुत बड़ी भूल की। उनके आने से न पुत्र, न जीजा कोई भी तो वापस नहीं लौट सकते थे। साथ ही पत्नी का जैसा व्यवहार है उसमें किंचित भी परिवर्तन नहीं कराया जा सकता था, तब लाभ ? अपनी ऐकान्तिक शान्ति छोड़कर इस दारुण हाहाकार के बीच आकर क्या मिला ?

— गंगा ! होनी को कोई नही टाल सकता।

वह समझ रहे थे कि उनका यह वाक्य पत्नी के रुदन में खो जाएगा परन्तु श्रीमती गंगादेवी व्यास ने हठात अपना रोना रोका और बोलीं,

— हो गयी तुम्हारी भी छाती ठण्डी ?....तुम लोगों ने कोस-कोस कर मेरे बेटे को मार डाला न ? जाओ, अब गया जी में श्राद्ध करके निश्चिन्त हो जाओ। तुम्हें और दुनिया को क्या ? दूध तो मेरा जला। चिरांयध तो मुझे आ रही है। कोख तो मेरी उजड़ी। किसी का क्या गया। अब जिनगी भर रोना तो मुझे है।....मुझे भी तुम सब मार क्यों नहीं डालते ? शिप्रा में धक्का दे दो। तेल भार कर मार डालो। ऐसी अफत में रोज-रोज हर घडी भुनसने से तो अच्छा है फाँसी लगाकर आदमी मर जाए। मार डालो मुझे भी। आए हो तो यह पुण्य-कार्य भी अपने हाथ से कर जाओ न ? न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।

इस बीच पण्डित गोवर्धन व्यास ने देखा कि अभी थोडी देर पूर्व तक जो शिष्ट बहू बनी बैठी थी अब वह विकराल चण्डी बनी केश बिखेरे, लाल-लाल आँखों से फूत्कार रही थी।

वृष्टि यथावत थी। पूरा वातावरण सिर पर आ रहा था। बहुत सारी बातों ने पहले ही मन को घेर रखा था पर और सारी बातों ने मिलकर तो उन्हें सब तरह से घेर लिया लगता था। यदि वह पत्नी के इस आचरण के प्रति वितृष्ण भी होना चाहें तो इस वर्षा में कहाँ जाएँ ? कृष्णा दीदी के घर भी पता नहीं किस प्रकार की विषमता का सामना करना पड़े और तब पता नही अन्तर का हाहाकार और कितना बढ़ जाए। वह पत्नी के इस आक्रोश, प्रलाप को उसके मर्म के, सन्दर्भ के साथ समझ रहे थे ; परंतु

समझने का अर्थ होता, सामना करना। लेकिन सामना किस चीज का ? किससे सामना ? और सामना करके क्या होगा ? जब जीवन भर पण्डित गोवर्धन व्यास ने किसी से, किसी भी बात का सामना नहीं किया तो अब इस उत्तरकाल में किसी भी प्रकार का सामना कोई अर्थ रखता है ? फिर भी वह कहीं जाना चाहने लगे। शहतीर में कपड़े में लिपटा छाता खुंसा था। उसे निकाला, झाड़ा-पोंछा और बरसते पानी में ही निकल पड़े। जाहिर था कि जाने के नाम पर वह पण्डित महादेव शुक्ल के घर ही जा सकते थे या फिर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय के यहाँ। परन्तु वस्तुतः वह अपनी कृष्णा दीदी से मिलने के लिए ही आकुल थे।
पति को जैसे ही जाते देखा तो श्रीमती गंगादेवी व्यास को क्रोध तो बहुत आया परन्तु हाथों की अँगुलियों को हड्डियों को बजा कर रह गयीं।

कृष्णा दीदी से मिलकर पण्डित गोवर्धन व्यास मन्दिरजी चले गये। चूँकि अनेक दिनों बाद आये थे और इस बीच अनेक प्रिय-अप्रिय घटनाएँ घटित हो चुकी थीं और जब लोगों ने व्यास जी महाराज को अनायास आया देखा तो जिज्ञासा तो बहुत हुई कि कुछ पूछें-ताछें परन्तु पण्डित गोवर्धन व्यास कन्नी ही काटते रहे। मन्दिर से वह अपनी छोटी बहन नर्मदा देवी उपाध्याय के घर होते आये। लौटते में पंडित नागेश्वर उपाध्याय साथ हो लिये।

घर पहुँचे तब तक काफी रात हो चुकी थी। घर एकदम फटक खुला था। बाहर का दरवाजा बन्द करने की भी कोई कोशिश नहीं की गयी थी। पूरे घर में एकदम अँधेरा था। दिन भर चूँकि तेज वर्षा हुई थी इसलिए सीलन की गन्ध आ रही थी। दीवालों तक में भीगापन था। घर, घर नहीं उजाड़ लग रहा था। यदि पंडित गोवर्धन व्यास अकेले आते तो डर तो जाते ही लेकिन सम्भव होता तो उलटे पैरों लौट जाते, लेकिन घर पहुँच कर कौन उल्टे पैरों लौटा है ?
— क्या बात है, दीया-बीया नहीं जल रहा है।
पण्डित गोवर्धन व्यास ने निश्चय ही विषम स्थिति को सामान्य बनाने के लिए ही यह कहा था। शायद ऐसा करना एक बाहरी व्यक्ति के सामने आवश्यक था भी। अभी कोई कुछ कहे इसके पूर्व ही पीठ की ओर आहट हुई। दरवाजे के खुलेपन में एक नयी आकृति आकर खड़ी हो गयी थी।
— कौन ? त्र्यम्बक ?
— हाँ मामा जी !
— मामो।
— क्या बात है ? क्या मामी घर में नहीं है ?
— नहीं, घर ही में होंगी। हम लोग भी तो चले ही आ रहे हैं।

— मामी !

पंडित त्र्यम्बक शुक्ल ने अपनी मामी को आवाज दी। अंधेरे में काफी देर खड़े रहने के कारण अब कुछ-कुछ दिखने लगा था। घर में एकदम अंधेरा नहीं था। एक कमरे के बन्द दरवाजों से छनकर हल्का सा प्रकाश आ रहा था। चूंकि चौखण्डी गीली थी इसलिए ओसारों में से घूम कर जाना था। पंडित गोवर्धन व्यास को बहुत अधिक उलझन अनुभव हो रही थी। स्पष्ट था कि पत्नी श्रीमती गंगादेवी व्यास इसी कमरे में हैं परन्तु दरवाजा बन्द कर तथा पूरा घर खुला छोड़कर क्या कर रही हैं ? सो गयी क्या ? लेकिन यह तो अभी सोने का समय नहीं हुआ है। जरा भी किसी बात की चिन्ता नहीं। बाहर तक के दरवाजे खुले पड़े हैं। कुत्ता आ सकता है या कोई भी घर में घुस सकता है। पर घर में धरा क्या है जो कोई ले जाएगा। इससे क्या ! ठीक है जब घर में कुछ नहीं है तो चौराहे पर जा बैठो न। अरे, घर की एक मर्यादा होती है। एक खुलेपन को दीवालों से घेर कर उसमें दरवाजे-खिड़कियां लगायी ही इसलिए जाती हैं कि वह घर लगे। पानी-छांटे के दिन हैं। इन दिनों जीव-जनावर निकलते रहते हैं। बाहर से सांप-बिच्छू ही घर में आकर छिपकर बैठ जाएँ, तो ! !

— अरे तुम कमरे में दरवाजा बन्द करके क्या कर रही हो ?

पण्डित गोवर्धन व्यास अनुभव कर रहे थे कि पंडित नागेश्वर उपाध्याय और त्र्यम्बक भी इस सुनसान अंधेरे में असुविधा अनुभव कर रहे होंगे।

— मामा जी ! आप लोग झूले पर बैठिए। मैं मामी को देखता हूँ।

पण्डित गोवर्धन व्यास झूले पर क्या बैठते। उन्होंने आगे बढ़कर भिड़े दरवाजे को धक्का दिया। दरवाजा तत्काल ऐसे सहज और ऐसी तत्परता से खुला जैसे वह अपने खोले जाने की प्रतीक्षा न जाने कब से कर रहा था। छूते ही दरवाजे का खुल जाना और क्या बतलाता है ? जिस सहज किंतु सशंक मन से पण्डित गोवर्धन व्यास ने दरवाजे को धक्का दिया था तो उन्हें याद है कि दरवाजा हठात खुलते हुए भी थोड़ा चरमराया था और वह चरमराना बाद के सन्दर्भ में उन्हें सदा कील की भाँति गड़ता रहा।

दरवाजा जिस समय धक्का देकर पण्डित गोवर्धन व्यास ने खोला त्र्यम्बक उनके पीछे ही थे। शायद दोनों की समझ में हठात कुछ नहीं आया। मनुष्य का मन अत्यन्त संवेगी है, पर जिस बात के लिए उसे इन्द्रियों पर निर्भर रहना पड़ता है उस क्षण उसकी गति थोड़ी बहुत पृथुल हो ही जाती है। आँखों का देखा, पहले आँखों से देखा गया बनता है। तब वह आँखों से देखा गया हमारे चेतन को संवेगित करता है। तब वह चेतन हमारे मन को तत्सम्बन्ध में सूचित करता है। इस सारी प्रक्रिया में क्षणान्त भी नहीं लगता परन्तु काल का माप अत्यन्त ही सूक्ष्म होता है और उस दृष्टि से मन की गति पृथुल हो जाती है।

पण्डित गोवर्धन व्यास आत्मीय भर्त्सना करने के ख्याल से दरवाजे के खुलने के साथ ही लगभग पुकारने के ढंग पर भीतर जाने वाले थे कि—क्या तुम भी !! मनुष्य का मन उससे भी आगे-आगे चलता है। अभी हम किसी के घर की सीढ़ियाँ ही चढ़ रहे होते हैं

कि मन धडधड़ाता जाकर उस व्यक्ति के पास हँसते हुए बैठ जाता है जिसके लिए हम उत्सुक चले जा रहे होते हैं। इसी प्रकार दरवाजा ठेलते ही वह गंगा को अपने शब्दों के हाथों से झकझोर देंगे कि क्या तुम भी इतनी जल्दी, ऐसी बेखबर सोती हो, देवी! बाहर के दरवाजे तो बन्द किये होते।

पंडित त्र्यम्बक शुक्ल अपने मामा की सारी विषमता को आकण्ठ बूझ रहे थे। इसीलिए घर से चलते समय माँ और पत्नी ने कहा था कि जितनी देर सम्भव हो मामा के साथ रह आना क्योंकि मामी का कुछ भी ठीक नहीं। चूँकि वह मामा के पीठ पीछे थे, अतः उन्हें कमरा मामा के कन्धे के ऊपर से ही दिखलायी दे रहा था।

अत्यन्त मन्द भाव से एक चिमनी जल रही थी। कमरे में अजीब-अजीब चीजें फैली हुई थी जिससे लगता था कि यहाँ तन्त्र-साधना की जाती होगी। भले ही इसकी जानकारी पण्डित गोवर्धन व्यास को न हो कि श्रीमती गंगादेवी व्यास पिछले वर्षों में ऐसी अनेक तान्त्रिक-मान्त्रिक, मारक आदि की साधनाएँ, पूजाएँ करती-करवाती रही हैं जो विशेष कर शुक्ल-परिवार के अशुभ के लिए रही हैं, परन्तु पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को इसका पूरा पता है और उन्हे प्रत्येक बार मामी से सहानुभूति ही हुई है।

दरवाजा ठेल दिया और जब पण्डित गोवर्धन व्यास भी उढके पल्लों के खुलते जाने के बाद लगभग ठेले गये के ढंग पर देहरी के भीतर पहुँचे तो उन्हे लगा कि किसी भी दरवाजे के भीतर आने के मतलब होता है कि जैसे दोनों ओर से दीवालें आपके पीछे आकर खड़ी हो गयी है और आपको घर ने अन्दर कर लिया है। चिमनी के मन्द प्रकाश में पण्डित गोवर्धन व्यास को अपेक्षा थी कि पत्नी श्रीमती गंगादेवी व्यास या तो बिस्तरे पर सो रही होंगी या सम्भव है कुछ पढ़ते हुए औंघा गयी होंगी। शायद है रील पर कोई पुस्तक खुली होगी और पत्नी झपक गयी होंगी। उन्हें आया देख वह चौकेंगी। जब उनके बोलने और कमरे मे उपस्थित हो जाने पर भी कही कुछ हलचल नही दिखी तो वह चौके। अभी उनका चौंकना आरम्भ जैसा ही हुआ था कि बाएँ हाथ कमरे में, जिधर अपेक्षाकृत अँधेरा था, जो दृश्य दिखा उसमें वह चौंकना भूलकर मात्र अवाक रह गये।

व्यक्ति, दृष्टि से ठगा रहता है, वाणी से अवाक हुआ रहता है, पैरों से बँध जाता है और विचारों से शून्य हो जाता है परन्तु ऐसे समय पर मन, उस क्षण तो पूर्ण रूप से अनुपस्थित हो जाता है। कुछ भी प्रतीति नही होती। कर्त्ता, श्रोता और भोक्ता के बीच कोई सेतु नहीं होता। एक ऐसा शून्य होता है, जिसे प्राप्त करने के लिए हीं योग, तप आदि किये जाते है। उस क्षण निर्भाव की स्थिति होती है। न सुख, न दुःख, न शोक, न आनन्द कुछ नही होता। एक निःशब्द यात्रा। जल जैसे घनत्वहीन होकर अत्यन्त विरल, पतला होकर फैल गया है। उसमें आप निष्प्रयास संतरित है परंतु किसी भी प्रकार की प्रतीति नहीं रह गयी है।

पण्डित गोवर्धन व्यास ने जो देखा, और जब वह उनकी समझ बना उसके बाद उन्हें लगा कि हठात पैरो के नीचे अतल गहराई निकल आयी है और वह उसमें धँसते

ही जा रहे हैं—यह क्या ! क्या हो गया यह ? क्या सच ही ऐसा हो गया ? लेकिन क्या हो गया ?—वह किससे प्रश्न करते ? उनका प्रश्नकर्त्ता भले ही यहाँ हो परन्तु उत्तरदाता तो पैरों की राह धरती के भी गुरुत्वाकर्षण का भेदन कर नीचे, न जाने कहाँ अतल, तलातल के भी पार पहुँच गया था—श्रीमती गंगादेवी व्यास शहतीर में फांसी लगा कर लटकी हुई थीं। उनकी जीभ निकल आयी थी। आँखें पथरा कर थिर थी।—यह दृश्य केवल पंडित गोवर्धन व्यास को ही नहीं परन्तु जैसे ही पंडित त्र्यम्बक शुक्ल ने भी देखा तो वह भी जड़, स्तम्भित रह गये। उन्हें चक्कर आने लगा। केवल उनके मुँह से निकला,

— मामा जी !

ओसारे में खड़े पण्डित नागेश्वर उपाध्याय इस बीच बराबर यह सोच रहे थे कि ये दोनों मामा-भानजे उस कमरे में क्या कर रहे हैं ? गंगा भाभी के बारे में उनकी राय भी कभी अच्छी नहीं रही है बल्कि शायद ही कभी उन्होंने उनसे बात भी की होगी। चूंकि पत्नी श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय ने ठेल-ठाल कर साथ कर दिया था तो पण्डित गोवर्धन व्यास के साथ चले आये थे कि उन्हें घर पहुँचा कर दस-पाँच मिनिट बातें कर लौट जाएँगे। मेघ अभी भी सघन थे। वर्षा फिर शुरू हो सकती थी। वह उनके पूर्व ही घर लौट जाना चाहते थे। सबेरे उन्हें 'सार्वजनिक-सभा' की कार्यकारिणी की बैठक में भी जाना था। वह ओसारे में खड़े-खड़े उलझन अनुभव कर रहे थे कि व्यर्थ में देरी तो हो ही रही थी तथा परेशानी अलग हो रही थी।

जैसे ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल ने उन्हें पुकारा, वह चौंके। वह पुकार साधारण नहीं थी। उस पुकार में भय, आर्तता न जाने क्या-क्या उन्हें लगी और वह अत्यन्त असुविधा के साथ कमरे की ओर लपके। और जिस दृश्य ने पण्डित गोवर्धन व्यास, पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को मन्त्रपाशित जैसा कर रखा था, जब उस पर उनकी भी दृष्टि गयी तो वह काँप उठे कि यह क्या हो गया।

तभी पण्डित गोवर्धन व्यास की चीख सुनायी दी, जो कि फफक-फफक कर रोने जैसी ही थी,

— अरी दुष्ट ! यह तूने क्या किया ?""तूने जिन्दगी भर सन्ताप ही दिया।

धोती का खूँट आँखों से लगाये पता नहीं व्यास जी महाराज जाने क्या-क्या बोल रहे थे। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल अपने मामा को कंधे से पकड़ कर बाहर ओसारे में घसीट लाये।

— त्र्यम्बक ! तुम मामा जी को सम्हालो। मैं अभी आया। पुलिस में भी तो खबर देनी होगी।

पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल मात्र इतना ही कह सके।

— वाह रे मामी ! जाते-जाते भी मामा जी को दुःख ही दे गयीं।

और पण्डित नागेश्वर उपाध्याय बाहर के दरवाजे से तीर की भाँति जा रहे थे।

॥ राग-प्रकरण ॥

जीवन, मिल के बिने कपड़े की तरह समान-सपाट चिकना नहीं होता, बल्कि उसकी प्रकृति एवं पद्धति खुरदुरी खादी से अधिक मिलती है। महीन से महीन खादी भी असमतल होगी ही। वैसे ऊपर से देखने पर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय का सब कुछ असंग था। उज्जैन में भी वह अत्यन्त आवश्यक लौकिकता का ही निर्वाह करती थीं। रतलाम से पुत्र यदा-कदा आ जाता तो पारिवारिक कागज-पत्र आदि के सम्बन्ध में व्यवहार हो जाता। धार से दादा पण्डित मृत्युञ्जय भट्ट 'साहब' दूसरे-तीसरे महीने में आ जाते और कुशल-क्षेम हो जाती। यह असंगता निर्ममता नहीं बल्कि निस्पृहता थी। अपने देवर पण्डित नागेश्वर उपाध्याय के यहाँ भी वह कम ही जातीं तो उसमें देवर के प्रति उपेक्षा नहीं बल्कि अपनी सीमाओं के प्रति सचेतता ही अधिक थी। पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल के परिवार से सम्बन्ध तो न-कुछ जैसा ही था परन्तु फिर भी एक प्रकार की आत्मीयता थी जिसके प्रति इच्छा रहना अवांछित भी नहीं था। दुर्गा के प्रति उनके मन में जो निकटता थी उसके अनेक आयाम थे। शायद गोविन्द वह खिड़की था जिसे खोलते ही दुर्गा, शिवशंकर आचार्य आदि एक मनोरम लैंडस्कोप से लगने लगते। यही वह दृश्य होता जो उन्हें न जाने कहाँ ले जाता। भूमि के विस्तार की भाँति भावना का भी विस्तार होता है, तदनुरूप आप में भी वैसी ही गहराई आती है।

जब दूसरे-तीसरे महीने किसी न किसी कार्य से पण्डित शिवशंकर आचार्य उज्जैन आते तो गोविन्द के कारण भी श्रीमती गायत्री देवी से भेंट हो जाती। इन औपचारिक भेंटों के अलावा दो-एक बार जब कोई शास्त्रीय प्रकरण चल गया होगा तो श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने देखा कि पण्डित शिवशंकर आचार्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही बदल जाता है। व्यवहार के प्रति लाख जागरूक हों परन्तु लौकिक वह कतई नहीं थे, फिर भी धर्मशास्त्र या अध्यात्म पर चर्चा होती तो उनकी आँखों में नव पल्लव की सी

चमक मार्दवता आ जाती। उनकी आँखें ही नहीं सम्पूर्ण स्वत्व एक ग्रन्थ, एक भाषा लगने लगता। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को क्रमशः इस व्यक्ति की उपस्थिति के प्रति आकुलता लगने लगी थी। प्रत्येक व्यक्ति के प्रथम आगमन से लेकर बाद के आगमनों पर यदि ध्यान से विचार किया जाए तो पता चल सकता है कि नैकट्य कैसे एक-एक सीढ़ी चढ़ा है या नीचे उतरा है।

शायद प्रारम्भ में गोविन्द को छोड़ने जब पण्डित शिवशंकर आचार्य इस घर में आये थे तब मात्र दो-एक औपचारिक बातों के बाद वह चले गये थे। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को उस दिन इस व्यक्ति ने विशेष प्रभावित तो नहीं किया था बल्कि जिस चीज ने उनका ध्यान आकर्षित किया था वह था उनका चमरौधा जूता, जिसका मिट्टी सना वृत्ताकार निशान, उनके पैरों में लिपटा पड़ा था। शायद इसीलिए ऊपर मिलने जब वह आये थे तो वह उनके मन के संकोच को भाँप गयी थीं। शीलवान न तो *अपने को ही और न अपने कारण सामने वाले को ही ऐसी दुरावस्था में नहीं डालता है* जिसके कारण सामने वाला दुबारा आपसे अधिक अपनी वस्तुओं की रक्षा को महत्व देने लगे।

सामान्यतः तो गौरैया का बोलना, फुदकना, चहकना शायद ही कभी हमारा ध्यान आकर्षित करता है पर कभी ऐसा होता है कि माधवी-लता पर से जब गौरैया हठात उड़ जाती है और लता थोड़ी देर तक उस उड़ जाने को हिलते हुए व्यक्त करती होती है तब हमारा ध्यान रह-रह कर गौरैया के उस उड़ जाने को लेकर ऐसा उलझ जाता है कि वह छोटा सा उड़ जाना हमेशा-हमेशा के लिए हममें लिख उठता है। वह गौरैया का उड़ना जैसे बीतता ही नहीं है जबकि वह माधवी-लता कभी का वह उड़ना भूल चुकी होती है पर आपका मन है कि हर बार वह उड़ना आपमें होता ही रहता है। तभी तो मनुष्य के मन से अधिक स्थिर और अस्थिर, शिलालेख भी कोई नहीं होता। मनुष्य का मन जल भी है और पाषाण भी। भुलाना चाहे तो जल है और न भुलाना चाहे तो पत्थर है। इस मानवीय रहस्य को बता सकना जब पुरुष के लिए सम्भव नहीं होता तब स्त्री और वह भी श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय जैसी सांगोपांग महिला भला क्या और क्यों बता सकती थी? बताना भी एक प्रकार की स्वीकृति है और स्त्री के लिए *सबसे कठिन है, स्वीकृति।*

बात शायद पिछली गर्मियों की थी। श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल बीमार थी। श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय उन्हें देखने जाने को सोचती ही रहीं। एक तो अपने ही पूजा-पाठ की व्यस्तता से अवसर नहीं मिल पा रहा था, दूसरे किसी का साथ नहीं था। वैसे वह चाहती तो रही कि अपने ही शिविका में बैठ कर चली जाएँ, परन्तु चाहना और करना एक नहीं हुआ करता, विशेषकर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय जैसी नारियों के

लिए, जिनका नारी-व्यक्तित्व पुरुषों पर निर्भर करके ही आभा पाता है। ऐसी स्त्रियां किसी के सन्दर्भ से ही अपनी विशिष्टता की गन्ध व्यक्त करती हैं हालांकि इसमें सायास कुछ नहीं होता। यह उनके स्वत्व या उनके होने की प्रतिश्रुति जैसा ही होता है।

अभी वह महाकालेश्वर के रुद्र-पाठ के अनुष्ठान से लौटी ही थी। गर्मी काफी तेज थी। कमरे की सारी खिड़कियों पर, दरवाजों पर या तो नीले पर्दे पड़े हुए थे या खस की टट्टियां लगी हुई थी। पानी छोटें जाने से खस न केवल ठण्डक ही दे रही थी बल्कि सुगन्ध भी। कमरे का बड़ा सा पंखा किंचित आवाज करते हुए किसी अन्य की उपस्थिति का बोध करवा रहा था जैसे कि वह उपस्थित कुछ कह रहा है और गाव पर आँखें बन्द किये टिकी श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय उसे सुन रही हैं। तभी उनकी देवरानी श्रीमती नर्मदादेवी उपाध्याय आयी।

— सुना नर्मदा! कृष्णा बहन बीमार है।
— हाँ, दीदी की तबियत खराब चल रही है।
— और क्या, एक पर एक मानसिक सन्ताप किसी को भी कष्ट दे सकता है।
— असल में दीदी में संग्रह-वृत्ति इतनी प्रबल है कि जब तक जीजाजी रहे वह दुःखी रहे।
— क्या करेंगी वह इतना जोड़कर?
— भगवान जानें। अब देखिए न कि त्र्यम्बक अकेला। अब वह यजमानों वाला पैतृक धन्धा सम्हाले कि देवास-गेट वाली दूकानें देखे-भाले या फ्रीगंज के मकान व किरायेदारों को देखे।
— तो क्या पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल कुछ नही देखते?
— अवन्तीलाल जी ही तो यजमानवृत्ति सम्हाले हैं। त्र्यम्बक का इसमें मन नहीं लगता पर दीदी हैं कि किसी भी मूल्य पर यह यजमानवृत्ति छोड़ना नहीं चाहती। अब त्र्यम्बक दिन भर रेलों पर, बसों पर यजमान पकड़े। फिर उनका सब क्रिया-कर्म करवाए। इसके लिए भैरोगढ़ मंगलनाथ कहाँ-कहाँ नही दौड़ना पड़ता। तब पूछो बाकी का काम कब देखे? लच्छू चौबे के कारण अब कुछ और लोग भी दुश्मन हो चले हैं। एक लड़का क्या-क्या करे?
— तो तुम अपनी दीदी को समझाती क्यों नही?
— दीदी को भगवान भी नही समझा सकता। और किसकी शामत आयी है जो समझाने जाए? अपने मन से कहो लाख लुटा दें पर कहने से वह एक छदाम किसी को नहीं दे सकती हैं। हाँ, अगर वह थोड़ी बहुत किसी के बस में है तो वह दुर्गा के है।
— दुर्गा बहुत गुणी है न?
— दुर्गा !! शुक्ल परिवार की लक्ष्मी है वर्ना जो-जो हुआ उसमें दूसरी कोई बहू होती तो न जाने क्या-क्या हो गया होता।

नौकरानी श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय के लिए शरबत ले आयी थी।
— तुम्हारे पास समय हो तो जरा इन लोगों के यहाँ हो आना चाहती हूँ।
अपनी जेठानी की बात सुनकर नर्मदा देवी किंचित चौंकी,

— इस समय ?
— क्यों ?
— इस समय तो धूप बढ़ गयी है। शाम को चलिए।
— असल में आज रात को बड़े गणेश में हरिकथा है। पूना से सखाराम कथाकरी-बुआ आये हैं। बहुत अच्छी कथा कहते हैं। शाम को वही घर पर आने वाले हैं।

शुक्ल जी के घर पहुँचते ही अभी श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय शिविका में से उतरें-उतरें तब तक दरवाजे को कल खोलकर श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय घर के भीतर पहुँच गयी ताकि वह पहले पहुँच कर अपनी दीदी और दुर्गा को अपनी जेठानी के आगमन की सूचना दे सकें। मगरमुँहे को इस गली में धूप से अधिक घरों की छाया गली में फैली थी। उन्हें उतार कर पालकी वाले पालकी को गणपति-मन्दिर वाले खुले मैदान में लेकर चले गये। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय चौखण्डी में पहुँची। चौखण्डी में लोहे की झंझरियों से छनकर आती धूप बिछी थी। तुलसी-क्यारा और तुलसी धूप में मुखर थे। जिधर बैठक थी उधर नीले परदे पड़े हुए थे। दाहिने हाथ की दालान में अगड़म-बगड़म सामान फैला पड़ा था। बांयी ओर वह जीना था जो कि ऊपर जाता था। अभी वह सोच ही रही थी कि कहाँ खड़ा हुआ जाए कि बैठक के हिलते परदों में से उन्हें दिखा कि बैठक खाली है और वह उधर ही बढ़ीं। शायद वह पर्दा उठाकर भीतर जाती कि हवा में हिलते पर्दे से उन्हें दिखा कि बैठक में गद्दे पर कोई सोया है। दुबारा पर्दा जब फिर हिला और उसमें फाँक बनी तो उन्होंने देखा कि वह कोई और नही पण्डित शिवशंकर आचार्य है। वह चौंकी अवश्य, इसलिए कि यदि पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल या पण्डित अवन्ती लाल शुक्ल होते तो सहज था, लेकिन यह पण्डित शिवशंकर आचार्य यहाँ कैसे ? कब आये ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य के सोने के ढंग से लग रहा था कि वह गहरी नींद में नहीं है बल्कि उन्हें झपकी लगी है। यद्यपि उनकी पीठ थी परन्तु फिर भी श्रीमती गायत्री देवी को पण्डित शिवशंकर आचार्य का आँखें बन्द किया मुख स्पष्ट दिखने लगा। हाथ का खस का गोल पंखा, जिसमें लाल कपड़े की गोट लगी थी, हल्का गीला होगा तभी तो बैठक से खस की मन्द-मन्द गन्ध आ रही थी। हाथ का पंखा, जिस तरह गद्दे पर गिरे हाथ के कारण छूटा तो नहीं था परन्तु छिटका लग रहा था उसमें सोये हुए पण्डित शिवशंकर आचार्य को देखकर उनको नारी-सुलभ चिन्ता जाग उठी कि बिना पंखे के गर्मी लगेगी और यह झपकी टूट जाएगी। स्त्री, प्रत्येक समय स्त्री ही रहती है, बल्कि कहना चाहिए कि जिस समय चाहे स्त्री हो सकती है।

तभी पण्डित शिवशंकर आचार्य ने करवट ली। वह हड़बड़ायीं कि यदि उन्हें इस तरह खड़े पण्डित शिवशंकर आचार्य ने देख लिया तो पता नहीं क्या समझें।—

क्या ?....और जब कभी ऐसी झिझक स्त्री के मन में आती है तो वह किसी अन्य अध्याय का आरम्भ ही होता है। यदि मन कोई सम्बन्ध अनुभव नहीं करने लगा है तो कैसे धुले पैर की एड़ियो की ललाई और चिकनाई पर ध्यान जाएगा ? मानव शरीर में शायद ठोड़ी और एड़ी ही सबसे अधिक चिकनी होती हैं।

करवट बदलने के साथ दो-एक बार पंखा फिर हौले से चला और झपकी के कारण हाथ फिर झटके से गिर पड़ा। साथ ही पंखा भी। सोते हुए व्यक्ति कैसा सम्बन्ध-हीन हो जाता है। परन्तु इस समय श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को पण्डित शिवशंकर आचार्य का ऐसा सम्बन्धहीन सोना असुविधा दे रहा था। उन्हें लगा कि गर्मी के कारण ही झपकी हल्की हुई थी और दुबारा गर्मी लगने पर झपकी टूट सकती है। तो क्या कोई पास में बैठकर पंखा भी नहीं झल सकता है ? लेकिन कौन ?""और पंखे के स्मरण मात्र से बैठक ही नहीं बल्कि उनका सम्पूर्ण भाववाची व्यक्तित्व तक सुवासित हो उठा। श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को जैसे ही लगा कि वह मात्र सोच ही नहीं रही है, वह मात्र चिन्ता ही नहीं कर रही है बल्कि यह एक प्रकार की अनुरक्ति है तो उन्हें उलझन ही नहीं हुई बल्कि अपने से चिढ़ हुई कि वह विधवा होकर किसी पर-पुरुष के बारे में यह सब क्या सोचने लगी। पण्डित शिवशंकर आचार्य के विषय में वह सोचने वाली कौन होती है ? और उनका सतर्क व्यक्तित्व और अधिक सतर्क हो गया।

परन्तु मनुष्य का मन भी कैसा विचित्र तथा अविश्वसनीय होता है। यदि मन में कोई राग या भाव नहीं है तो बड़ी से बड़ी बात, घटना या स्थिति का भी प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु एक बार यदि राग या भाव का आभास भर हो गया तो व्यक्ति क्रमशः आमूल बदल जाता है। अब आँखें किसी की प्रतीक्षा कर रही होती हैं। कान किसी आहट के लिए कैसे सतर्क हो जाते हैं और मन, वह तो किसी की उपस्थिति के लिए सुदूर क्षितिज तक आकुल-व्याकुल रहता है। इस मानसिकता में निषेध का बड़ा हाथ होता है। निषेध, आस्वाद को तीव्र ही बनाता है।

पण्डित शिवशंकर आचार्य वैसे तो महीने-दो महीने पर गोविन्द की खोज-खबर लेने के लिए चले आते थे। प्रायः तो उन्हें इसकी गोविन्द से ही सूचना हो जाती थी। इसमें असामान्य कुछ भी नहीं था। पर क्रमशः स्वतः उन्होंने अनुभव किया कि वह अब उनके आने के प्रति सतर्क रहती हैं और इसकी प्रतीति वह गोविन्द को भी नहीं होने देना चाहती। स्त्री जिस प्रकार अपनी भूषा के प्रति नींद में भी सतर्क रहती है कि करवट लेते में साड़ी पिंडली पर से प्रायः उठ जाती है तो दूसरा पैर प्रकृत्या साड़ी को नीचा करेगा ही। नींद जिस प्रकार प्रकृति है उसी प्रकार स्त्री में सतर्कता भी प्रकृति है। ऐसी सतर्कता स्वत्व के प्रति भी स्त्री में होती है। वह चाहे प्रकारान्तर से सब कुछ स्वीकार कर ले परन्तु सीधे-सीधे स्वीकृति वह नहीं स्वीकार सकती है। जब कई माह गुजर गये

ग्रौर गोविन्द ने भी बताया नहीं कि दादा आये थे, तो दो-एक बार मन में ग्राया कि पूछ ही लिया जाए कि क्या शिवशंकर जी इधर नहीं ग्राये ? पर सिर के पल्लू को कितना किसके सामने रहना है इसके प्रति जागरूक स्त्री, भला इतनी बड़ी बात पूछ सकती थी ? पता नहीं गोविन्द क्या सोचे।

वह लैम्प के प्रकाश में रील पर 'श्रीमद्भागवत' को रखे दशम स्कन्ध के इकतीसवें ग्रध्याय का पाठ करती बैठी थी। गोपिकाएँ श्रीकृष्ण से मानसिक संलाप कर रही थीं,

शरदुदाशये साधुजात सत्
सरसिजोदर श्रीमुषा दृशा
सुरत नाथ तेऽशुल्क दासिका
वरद विघ्नतो नेह किं वधः

हे प्रेमासक्त हृदय के स्वामी ! हम सब तो तुम्हारी बिना मोल की दासी हैं। शरदकालीन जलाशय में सुन्दर से सुन्दर कमल की कर्णिका के सौन्दर्य को चुराने वाले नेत्रों से तुम हमें घायल कर चुके हो। हमारे सब के मनोरथों को पूर्ण करने वाले हे प्राणेश्वर ! क्या नेत्रों से मारना वध नही होता ? ग्रस्त्रों से हत्या करना ही वध है ?

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय इन पंक्तियों को पिछले दस मिनिटों से बारम्बार पढ़ रही थीं ग्रौर पता नहीं वह किस ध्यान में खोयी हुई थी कि गोविन्द किसी काम से ग्राया। कमरे के सारे दरवाजे-खिड़कियाँ खुली हुई थीं। फाल्गुन की निरभ्र रात्रि ग्रपने निष्कलंक रूप में, नील ग्राकाश के साथ चारों ग्रोर के विस्तार में फैली हुई थी। फाल्गुनी हवा में हॉल के परदे मन्द-मन्द हिल रहे थे। कमरा, नर्मदा का ठहरा जल लग रहा था। वातावरण की उस प्रशान्तता में लैम्प में भागवत बाँचती श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय एक पात्र लग रहीं थीं। गोविन्द को ग्राया देख पहले तो वह चौंकी क्योकि इतने बड़े हॉल में लैम्प के उतने से प्रकाश में ग्रागन्तुक को सहसा चीह्न पाना कठिन था परन्तु जैसे ही पहचाना, तो वह ग्राश्वस्त हुई। पाठ रोकते हुए पूछा,

— क्या बात है गोविन्द !

— विशेष कुछ नही। ग्राप स्वाध्याय कर रही है।

श्रीमद्भागवत बन्द करते हुए बोलीं,

— गोविन्द ! व्यक्ति को कभी मनुष्य की भांति भी ग्राचरण करना चाहिए।

— मैं समझा नही मासीमाँ !

— तुम गुरुकुल में होते तो ग्रादर्श ब्रह्मचारी, विद्यार्थी सभी कुछ होते।

ग्रौर वह हँस दी। उन्हें सहसा ऐसे हँसते देखकर गोविन्द की समझ में नहीं ग्राया कि इसका प्रयोजन क्या है ? वह तो मासीमाँ को जिस रूप में ग्राज तक जानता ग्राया है वह इतना सम्यक रूप है कि वह इतने सहज हँस सकती है, इसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकता था। मासीमाँ को उसने सभी रूपों में, चाहे वह पूजा-पाठ करते हुए हो, या गलने से गीले बाल झाड़ते हुए हो या स्वाध्याय करते हुए हो, सदा ही निष्णात पाया है। ग्रलंकार वह धारण करती ही नहीं थी। शायद इसकी ग्रावश्यकता भी नही थी।

श्वेत कमल कौन सा अलंकार धारण करता है ? जो कमल न हो वह अलंकार धारण करे परन्तु जो अलंकार के लिए अलंकार हो वह कौन-सा अलंकार धारण करे ? परन्तु गोविन्द हठात चौंका कि आज वह अपनी मासीमाँ के बारे में, उनके व्यक्तित्व के बारे में वह सब क्या फिजूल का सोचने लगा।

गोविन्द, चूँकि उनकी बात से हठात ही आया था इसलिए वही बोली,

— तुम्हारी पढाई तो ठीक-ठाक चल रही है न ?

— हाँ, होली के बाद से परीक्षाएँ हैं।

— आगे क्या विचार है ?

— अभी तो इस वर्ष एफ० ए० हो जाऊँ तभी तो कुछ होगा।

— यहाँ तो सुना बी० ए० भी खुल रहा है।

— सुना तो है।

— बस, तो फिर।

— इसका निर्णय दादा को करना है।

— बहुत दिनों से तुम्हारे दादा नहीं आये न ?

— नहीं तो, परसों ही आए थे। आपको प्रणाम कह रहे थे।

— अच्छा, लेकिन तुमने तो कुछ बताया नहीं।

— वैसे विशेष बात भी नहीं थी....और फिर भूल भी गया था।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को गोविन्द की यह बात बहुत अच्छी लगती थी कि वह हमेशा आत्मस्थता का बोध देता है तथा उसका बोलना, लिखने जैसा होता है। आज उन्हें लगा कि हो, न हो गोविन्द पर पण्डित शिवशंकर आचार्य का ही यह प्रभाव हो। श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय का जब से ध्यान उन पर गया है तो उन्हें लगा कि पण्डित शिवशंकर आचार्य आत्मस्थ से अधिक अनुपस्थित लगते हैं। वह कभी अपनी उपस्थिति को या तो लाएँगे ही नहीं और यदि है भी तो आप उसे अवान्तर करते चले जाएँ, तो उसकी भी चिन्ता नहीं। सामान्यतः लोग कहाँ इतना ध्यान रखते हैं कि सामने वाला अपने को नहीं आपको महत्व देकर निश्चिन्त हो गया है। लोग तो अपने को तब खूब फैला लेते हैं जबकि पण्डित शिवशंकर आचार्य अपने स्वत्व के अनुपस्थित कोटर में मौन हैं।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय बड़नगर वाली वह घटना कभी भूल सकती हैं ? शायद उस दिन चाँदनी रात में पण्डित आनन्दशंकर दवे को छत पर पण्डित शिवशंकर आचार्य को जिस ध्यानस्थ भाव में देखा था उसने उन्हें बहुत-कुछ सोच जाने को विवश कर दिया था। घटना वैसे कुछ विशेष नहीं थी। पण्डित आनन्दशंकर दवे की गम्भीर हालत सुनकर वह भी गयी थीं। दूसरे ही दिन दवे जी का देहान्त भी हो गया था फलतः

उनकी त्रयोदशा तक रुकना ही पड़ा। रतलाम से पुत्र बसन्ती और बहू कल्याणी भी आ गये थे। यह पहला अवसर था जब पण्डित शिवशंकर आचार्य को कुछ दिनों तक दिन की समस्त वेलाओं में तथा विभिन्न कार्य-व्यापारों में संलग्न देखा। उन्हीं कार्यों के सिलसिले में उनसे अनेक बार सामना भी हुआ। चूँकि श्रीमती गोदावरी आचार्य अपने भाई की मृत्यु से बहुत आसन्न थी तथा पिछले दिनों वह क्रमशः बीमार भी रहने लगी थीं अतः यहाँ का सारा भार श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय पर ही आना था। कल्याणी एक तो छोटी थी दूसरे उसकी सास जब मौजूद हो तो वह क्या कर सकती थी? रविशंकर की विधवा पत्नी शकुन्तला विचारी पहले ही दुःखी थी। एक मात्र ससुर का सहारा था। माना कि वृद्ध हो गये थे लेकिन कुछ नहीं तो दरवाजे पर तो बैठे ही थे। आते-जाते लोगों को घर के बारणे [दरवाजे] पर कोई पुरुष तो बैठा दिखता था! पर अब कौन? एक करुणा शंकर ही ले-देकर लड़का है। भला ऐसी शकुन्तला अपने को ही सहेज ले तो बहुत। सो श्रीमती गायत्रीदेवी, चाहे इस घर की समधिन के नाते या किसी भी मानवीय सम्बन्ध से इन दिनों के कार्य भार को सम्हालने के लिए बाधित थी।

उस दिन शायद श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय, घर के लोगों की उस बैठक में यह कहना चाहती रही कि उत्तर कार्य जितना आवश्यक हो उतना ही किया जाए। यों तो जितना फैलाओ उतना ही कम है, पर इसकी आवश्यकता क्या है? श्रीमती गोदावरी आचार्य का तर्क था कि कौन उनके दस-पांच भाई थे। जितना उनके एकमात्र दादा ने दूसरों के लिए किया उसके अनुरूप ही उनका यह अन्तिम कार्य भी होना चाहिए। आज यदि उनका भतीजा रविशंकर होता तो वह अपने पिता का श्राद्ध कर्म क्या संकोच के साथ करता? ठीक है रविशंकर नहीं है तो क्या, शिवशंकर तो है। भला भावना के आगे तर्क क्या कर सकता था? यद्यपि दुर्गा ने श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय का ही पक्ष लिया,

— जिजी! यह तो ठीक है कि आवश्यक सारा कार्य हो पर गाँव भर के ब्राह्मणों को, साधु-सन्तों को, ब्रह्मचारियों को जिमाना और सारी जाति के लोगों को तथा आमे-गये मेहमानों को लायण [श्राद्ध के समय दिये जाने वाले बर्तन] बाँटने में क्या तुक है? मासीमाँ यही तो कह रही है।

— दुर्गा! चूँकि आज रवि नहीं है क्या इसलिए मामा जी का उत्तर-कार्य ऐसा सूना होगा? क्यों शिवा! बोलता क्यों नहीं?

पण्डित शिवशंकर आचार्य जो पूरे बहस के समय मौन थे। पुकारे जाने पर मात्र इतना ही बोले,

— इन सारे कार्यों का उस मृतात्मा से उतना सम्बन्ध नहीं है। जिजी के एकमात्र भाई थे मामा जो इसलिए जिजी की यह इच्छा बहुत गलत भी नहीं है। जिजी जो चाहती है वैसा ही होना चाहिए। निश्चय ही गायत्री जी की बात यथार्थ-परक है।

— नहीं, केवल यथार्थपरक ही नहीं शिवशंकर जी ! मेरी भावना मात्र यही है कि इस परिवार के सामने पहले ही कौन समस्याएँ कम है ?

— गायत्री जी ! मामाजी जब तक थे तब इन लोगों के विषय में उतनी चिन्ता की आवश्यकता भी नहीं थी पर अब ये लोग हमसे अलग थोड़े ही हैं । करुणाशंकर ने मामा जी के सामने ही गाँव का अधिकाश काम सम्हाल लिया है ।....व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा हो जाए, यह सबसे बड़ी शिक्षा है ।

बात तो लगभग समाप्त हो गयी परन्तु श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को लगा कि यह व्यक्ति जो अपने बारे में सोचना भी नहीं जानता वह सारे परिवार-कुटुम्ब आदि के बारे में अत्यन्त मानवीय स्तर पर सोचता ही नहीं है बल्कि उनमें सक्रिय सहयोग भी देता है ।

हाँ, तो सारा कार्य सम्पन्न हो चुका था । श्रीमती गोदावरी आचार्य को पूर्ण तुष्टि थी कि उनके भाई का श्राद्ध-कर्म बड़ी ही धूमधाम से हुआ । अधिकांश मेहमान जा चुके थे । कल सबेरे कम से कम श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय तो निश्चित ही चली जाएँगी । सम्भव है दुर्गा भी साथ ही लौटे । वह बहुत देर से ऊपर छत पर जाकर कुछ निश्चित होना चाह रही थी ।

फाल्गुन अभी नहीं लगा था । आकाश, हवा और चाँदनी सब में खासी ठण्डक थी पर फिर भी बड़ी सुखदता थी । एक मलयान की गुनगुनाहट देह को मीठी लग रही थी । बड़नगर कस्बा था, अतः किसी भी प्रकार का शब्द कहीं नहीं था । जो था वह सरसराती हवा का था या कभी-कभी मोर के चौंक कर चीखने का हो जाता था । देहातों, कस्बों पर आकाश झुक कर कितना पास आ जाता है जैसे अभी मुँडेर पर आपके पास आकर बैठ जाएगा और आत्मीय आँखों से देखने भी लगेगा । रात्रि के प्रथम प्रहर के तारों में पहली धुली चमक थी । आकाश क्रमशः नीले से आबनूस होता है तो उसमें भिन्न प्रकार की रहस्यात्मकता भी आ जाती है । ऐसे दिव्य, प्रशान्त मौन में मन कैसा उड़ जाने को आकुल हो जाता है कि वहाँ चलो, जहाँ इतने सारे ग्रह-नक्षत्र हैं; यहाँ भला क्या रखा है ?

जिस समय श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय छत पर पहुँची चाँदनी आधी छत पर छितरी हुई थी । छत मोड़ लेकर बाँये हाथ चली गयी थी । उस मोड़ पर खपरैल की दुछत्ती जैसी बनी हुई थी । उन्हें लगा कि प्रायः तो घर का कूड़ा-कबाड़ यहाँ रखा जाता होगा और गर्मियों में अवश्य यहाँ आम की पाल रखी जाती होगी । एक तो काम की वजह से, दूसरे पराया घर था इसलिए पिछले कई दिनों से मन को निश्चिन्तता नहीं मिली थी । छत तथा मुँडेर पक्की अवश्य थी परन्तु आवश्यक सफाई नहीं थी । ठीक भी तो है, कौन करे ? बिचारी शकुन्तला कन्या-पाठशाला में पढ़ाने भी जाए, घर भी देखे यह कैसे सम्भव था ? घर का एक पक्ष निश्चित ही स्त्री देखती है पर घर का ऐसा भी पक्ष होता है जिसे केवल पुरुष ही देख सकता है । कृष्णशंकर को अभी समझ ही कितनी थी ? पिता के न रहने के कारण तथा अब पितामह की भी मृत्यु हो जाने के कारण

गृहस्थी का जो और जैसा भार उस पर आ गया है उसे उठाने का मतलब यह तो नहीं होता कि वह अपनी आयु को ही लाँघ गया है।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय बहुत कुछ अनातम सोच रही थीं। मुंडेर पर से नीचे का दृश्य, गली को बीचोबीच काटती चली गयी नाली, कच्चे-पक्के आस-पास के घर जहाँ से विभिन्न प्रकार की गन्ध, तथा कभी-कभार किसी का पुकारना भी सुनायी पड़ जाता। हवा में दूरी पर हिलते पीपल और नीम के पेड़ों की सरसराहट कैसी वायु-मण्डल में तैरती आती और देह और मन को छूती हुई निकल जाती। तभी उन्होंने देखा कि दुछत्ती के मोड़ की तरफ से पण्डित शिवशंकर आचार्य चले आ रहे हैं। वह महिम्न-पाठ करते आ रहे थे। वह चौंके। उन्हें शायद पता नहीं था कि कोई दूसरा भी छत पर है। जिस प्रकार वह पाठ कर रहे थे उसमें व्यवधान पड़ा यह श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को भी लगा। कहीं उन्हें यह भी लगा कि इनके पूजा-पाठ के नियम में उनके कारण व्याघात उत्पन्न हुआ। वह चलने को हुई तो लगभग पास आ चुके पण्डित शिव-शंकर आचार्य ने कहा,

— अरे आप ? यहाँ कैसे ?

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय अपनी ओर से तो चल ही चुकी थीं उन्हें टोकते हुए पण्डित शिवशंकर आचार्य पुनः बोले,

— कहीं आप मेरे कारण तो नहीं जा रही हैं ?

— मैं देख रही हूँ आप किसी भी बात के न तो निमित्त, न कारण कुछ नहीं बनना चाहते हैं।

अपनी इस बात को कह चुकने पर श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने स्वयं अनुभव किया कि बात शायद सम्बन्धों की सीमा का उल्लंघन कर गयी। बोलीं,

— नहीं, मैं तो जा ही रही थी। कुछ ठण्डक भी तो बढ़ गयी न ?

— वैसे खास तो नहीं है ठण्ड।....हाँ, आपने निमित्त वाली बात पकड़ी खूब।....असल में गायत्री जी ! जो योग्य न हो उसे न निमित्त, न कारण कुछ नहीं बनना चाहिए।

— समझदार व्यक्ति सारी बात का निर्णय अपने ही हाथ में रखता है।

— यह कोई अच्छी बात तो नहीं है।

— तब आप क्या हैं, कैसे हैं इसका निर्णय स्वयं ही क्यों करते हैं ?

— ओह, आपने तो मुझ पर ही घटित कर दिया अपना आप्त-वाक्य।....गोविन्द ठीक कहता है कि आपको देखकर मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

— वृद्ध को देखकर और क्या होगा ?

— लेकिन आपसे अधिक वृद्ध तो मैं ही हूँगा।

— क्या गोविन्द ने कभी आपसे आपके बारे में नहीं कहा कि आपको देखकर क्या होता है ?....हाँ, गोविन्द बता रहा था कि आप अपनी माता जी को लेकर उज्जैन रहने की सोच रहे हैं।

— मैं तो क्या रहूँगा पर जिजी को अवश्य रखना चाहता हूँ। वह अब बहुत वृद्ध हो

गयी हैं। देहात में अब उनके लिए रहना ठीक नहीं है। उज्जैन में सभी लोग हैं। धर्म और संसार दोनों ही में उनको प्रचुर आसक्ति है।

— तो फिर कठिनाई क्या है ?

— कठिनाई तो कुछ नहीं। मुझे चूंकि गाँव भी आते-जाते रहना पड़ेगा इसलिए....

— शिवशंकर जी ! यदि आपको और गोदावरी बहन को आपत्ति न हो तो....

— नहीं, नहीं, मकान की कोई दिक्कत नहीं है।

— चूंकि इतना बड़ा घर खाली पड़ा है। गोविन्द भी है। आप आये दिन गाँव जाते रहेंगे तो गोदावरी बहन को बाहर कई प्रकार की असुविधा होगी।

पण्डित शिवशंकर आचार्य हठात गम्भीर हो गये। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को लगा कि जैसे वह कुछ देर को अनुपस्थित हो गये। उपरान्त बोले,

— *कहती तो आप ठीक हैं परन्तु यह लोक धर्म और मर्यादा दोनों के विरुद्ध है।*

— कैसे ? गोविन्द....

— गोविन्द की बात अलग है। भावना का अर्थ बहुत होता है पर लोक को सर्वथा अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। इस संसार में सम्बन्ध के द्वारा ही एक-दूसरे का अक्षांश, निकटता, दूरी आदि जानी जाती हैं।....लेकिन फिर भी जिजी के लिए प्रबन्ध तो करना ही है। अब एक अच्छाई यह और हो गयी कि आप से भी परामर्श कर लूँगा।

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने चाँदनी में खड़े इस व्यक्ति को आकण्ठ सम्यक ही पाया। ठीक भी है कि यदि इतना चौकन्ना व्यक्तित्व न होता तो क्या अकेले इतनी निश्चिन्त मनःस्थिति और शुभ संकल्प के साथ खड़े रहना हो सकता था ?

दूसरे दिन मोटर पर जिस समय श्रीमती गायत्री देवी और दुर्गा को छोड़ने दूसरों के साथ पण्डित शिवशंकर आचार्य स्टैण्ड तक आये थे तो घर से स्टैण्ड तक श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय के अवचेतन को बराबर यह लग रहा था कि पण्डित शिवशंकर आचार्य जो बराबर सबके पीछे-पीछे चल रहे हैं उसमें प्रयोजन है। गली जहाँ सड़क पर मिलती है वहाँ और लोगों से थोड़ी दूरी हो गयी तो श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने पूछ ही लिया,

— क्या सोच रहे हैं ?

— सोच ? हाँ, बराबर सोच रहा हूँ। बल्कि कहना चाहिए कि कल रात जब छत पर आपसे चर्चा हुई तभी से सोच रहा हूँ।

— मुझे भी ऐसा ही लगा।

— *पर यह भी सोच रहा हूँ कि क्या प्रत्येक सोचना कहा जा सकता है ?*

— ऐसा क्या आप सोच रहे हैं जिसके कहने, न-कहने की समस्या आपके सामने है।

— विशेष कुछ तो नहीं है। मनुष्य का स्वभाव है बात का बतंगड़ बनाना।

— जैसे ?

— यही कि कल की आपकी सहायता के प्रति जितना आभारी होना चाहिए था, क्या उतना हुआ ?

और तब तक बस-स्टैण्ड आ चुका था।

श्रीमती गोदावरी आचार्य ने विरोध तो करना चाहा कि अब इस आयु में क्या गाँव, घर छोड़कर उज्जैन में रहना पड़ेगा ? परन्तु विरोध करतीं भी तो किस बूते पर ? उनका अपना ही मन अब यहाँ से ही नहीं बल्कि सभी बातों से हट गया था। उज्जैन में कुछ नही तो दुर्गा है, बच्चे हैं। धरम-करम की सुविधा है। और अब हो-हुआ गया सब सांसारिक प्रपंच। जिन्दगी भर किया और फिर भी क्या हाथ लगा ? जो है उसे ही सहेजने-समेटने वाला कोई नहीं। किसके लिए यह दौता-किटकिट !

अतः वह विरक्त मन से नही बल्कि हताश आसक्ति से गाँव से पृथक हुई जैसे दूध पीता बछड़ा गाय से अलग किया जाता है। जिस समय घर पर ताला लगाया, वह फफक कर रो पड़ी। उन्हें लगा कि वह अपने ही हाथों अपना श्राद्ध कर रही है। वर्षों पूर्व वह एक दिन बारह-तेरह वर्ष की आयु वाली बहू के रूप में आयी थीं, तब उस दिन कैसा लगा था यह घर, यह सामने का मैदान, मैदान के ये पेड़, नीम....सब जैसे गुड़िया का खेल है। गाँव की हवा, धूप, चाँदनी सब ने उनकी इस देह पर कैसे अंगराग ही लगाया था। इन घरों की दीवालों पर कंडे थाप कर मनों सुखाये होंगे। कुम्हड़े के पीले फूल चोटी में गूँथ कर सिर के पल्लू में इस प्रसाधन को छुपाकर चलना कैसा मादक लगता था। रात में कब सप्तर्षि डूब कर सामने के डूंगरों के पीछे चले जाते हैं वह बता सकती थी। पहले पति, फिर बच्चे कैसे उनकी देह की धरती को फोड़कर उगे और यौवन, सन्तान बनकर उनके चारों ओर बिछल गया। जुआर के आटे की लोई का उल्टी हथेली की गुद्दियों में कैसा सजीव स्पर्श सा लगता था। अफीम और मैथी की सीझती सूँ-सूँ करती भाजी कड़ाही में होने पर भी कैसा स्वाद देने लगती थी। ताल में कभी-कभी एकान्त में नहाना कैसे ठंढी लकीर सा भीतर तक उतरता ही चला जाता था— सब-सब बीत गया जैसे लोटे का जल था जिससे केवल हाथ ही धुले। श्रीमती गोदावरी

किसके आसरे अब यहाँ रहती ? कृष्णा गाय तो कभी की गयी उसकी बछेड़ी भी अब बुढा रही थी। तोता जरूर साथ में लिये जा रही हैं। न होगा तो दुर्गा के घर ही पहुँचा देंगी। एक बार ध्यान तो आया कि पिंजरा खोल दें। तोता उड़ जाएगा। सामने के पीपल पर जा भी बैठेगा परंतु अब तक तो बिचारा अपनी आरण्यक कुल-गोत्रता ही भूल बैठा होगा। दूसरे तोते या पक्षी मार ही डालेंगे।....और मृत्यु का स्मरण आते ही उन्हें लगा कि भीतर का सब कुछ बाहर आ जाना चाहता है। मृत्यु!!....पति, पुत्रों की मृत्यु जिस रूप में देखी थी उसके बाद से जी हैं, जीना पड़ा है। जब तक किसी की मृत्यु नहीं आती आदमी को जीना ही पड़ता है परन्तु वह वैसा ही सतर्क जीना था जैसा कि कौर में हठात कंकड़ आ जाए तो बाकी का कौर जिस सतर्कता से आप खाते हैं—तो क्या वह आस्वाद लेकर भोजन करना है?

माना कि अनुत्सवी ढंग से गाँव से नहीं चली। और आये दिन वह नहीं तो शिवशंकर तो आएगा ही परन्तु गाँव वाले स्त्री-पुरुष, बच्चे जिस प्रकार सेरी में, चबूतरों पर खड़े थे उसमें न जाने क्यों ऐसा भाव था कि यह जाना ही अन्तिम है। यद्यपि लोगों के मन में भी ऐसा नहीं रहा होगा परन्तु प्रायः ऐसा हुआ है कि अवचेतन, चेतन से सर्वथा भिन्न ही नहीं बल्कि विपरीत संकेत दे रहा होता है। यदि इस प्रकार लोग खड़े हुए न होते तो श्रीमती गोदावरी आचार्य सब कुछ के बाद भी ऐसी विह्वल न हुई होतीं। कौन किसे देख कर रो रहा था, नहीं कह सकते। और जब तक गाँव के पेड़ दिखते रहे वह कितनी बार कहने को हुईं,

— शिवा! यह मेरा गाँव, घर नहीं छूटा रे। देह पर से खाल उतारनी पड़ी है। लेकिन बैलों के घुंघरु, रास्ते की धूल तथा यात्रा का सन्नाटा सब का सब उन्हें रास्ते भर चुप किये रहा।

दुर्गा के कुछ भी कहने का प्रश्न ही नहीं था। माँ और दादा अब उज्जैन ही आ गये, उसमें प्रसन्नता की बात तो है परन्तु ललक की बात नहीं। वर्षों पूर्व, उसे याद है कि ब्याह हुआ ही था। आरम्भिक दिन थे। तब उसने माँ से कैसी ललक से कहा था कि क्यों नहीं गाँव छोड़कर आप लोग भी यहाँ आ जाते? ऐसा नहीं कि माँ-दादा के आने के प्रति उसमें कोई भाव नहीं है। भाव भी है। प्रसन्नता भी है। आत्मीय अनुराग भी है पर वह तो सोचती है कि विगत वर्षों में कितना सारा ठंडा-गरम जल इस देह पर से गुजर कर न जाने किस नाली में से बहता हुआ जाने कहाँ चला गया होगा। गृहस्थी की डाल पर बैठा हुआ यह मन का होरामन भी कैसा है कि अपने तो उड़ता नहीं है पर आप में उड़ने की कैसी आकुलता भर देता है। जैसे धरती से उड़कर आकाश में पहुँच जाने पर आकाश आपको बस अपना ही तो लेगा। बैठना कभी तो होगा न? और वह बैठना आकाश में तो नहीं होगा। चलो, पेड़ की फुनगी पर ही सही।

तो वह फुनगी क्या है ? क्या फुनगी धरती नहीं है ? ...हीरामन ! आकाश थोड़ी देर के लिए तो अच्छा है परन्तु जब भी पैर टिकाकर बैठना चाहोगे तब धरती ही चाहिए। कुल तो धरती का होता है, आकाश तो निरवंसिया है।

परन्तु श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल ने अवश्य कहा,

— वाह गोदावरी बहन ! यह क्या बात हुई कि घर का मकान हो और आप लोग किराये के मकान में रहें ?

— कोई खास बात तो नहीं है यह।

— माना कि यह आपकी लड़की का घर है तो आप कार्तिक-चौक वाले घर में रहें। जरूर रहें, पर ऐसी कोई आफत आयी हुई है क्या ?

यद्यपि श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य जानती थी कि यह बात के लिए बात है परन्तु फिर भी इस बात में भी वास्तविकता थी। स्वयं श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल जान रही थीं कि कोई भी माँ अपनी बेटी के घर कभी नहीं रहेगी परन्तु इस लौकिक व्यवहार से अलग वह मन से चाह रही थीं कि ये लोग साथ ही रहते।

— नमक-मंडी में क्यों लिया मकान ?

प्रश्न निश्चय ही पण्डित शिवशंकर आचार्य से किया गया था। वह हँसते हुए बोले,

— यहाँ के हमारे पण्डे तो यह त्र्यम्बक महाराज हैं। जहाँ इन्होंने बन्दोबस्त किया हम लोग ठहर गये। भला हम परदेसी लोग क्या जानें।

और जिस प्रकार पण्डित शिवशंकर आचार्य ने बात कही उस आत्मीयता में सभी नहा उठे।

असल में नमक-मण्डी की स्थिति बड़ी केन्द्रीय थी। श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य अब अधिक चल-फिर नहीं सकती थीं। उनकी इच्छा थी कि जीवन भर हाय-तोबा करते ही बीता। कभी मन लगाकर भगवान के मंगला, शृङ्गार, ग्वाल या राज-भोग या शयनारती किसी के भी दर्शन आठ दिन तक लगातार किये नहीं। कम से कम अब तो कुछ ऐसा हो कि कभी मन्दिर में पान-फूल की सेवा ही कर ली। उत्सव-पर्व पर मन्दिर में अपरस में ही नहा लिये। मन की मन में ही रह गयी कि ठाकुर जी की झारी ही नहीं भरी, ठाकुर जी को दर्पण दिखाना तो दूर रहा। कैसा मन करता रहा जीवन भर कि घर में मूर्ति-सेवा न सही तो चित्र-सेवा ही हो पाती परन्तु उस गाँव-देहात में सम्भव ही नहीं हो पाया। कम से कम अब चला-चली के समय ही ठाकुर जी का कुछ सान्निध्य मिल जाता। इसीलिए उनके आग्रह के कारण ही नमक-मंडी वाला यह घर लिया गया नहीं तो मालीपुरे की ब्राह्मण-गली वाला मकान अधिक खुला, हवादार तथा तीन कमरों वाला भी था और नीचे का हिस्सा था। यहाँ तो दूसरी मंजिल पर था। सामने सिवाय एक गच्ची के या बहुत हुआ तो रात में छत के अलावा खुली जगह ही नहीं थी। पीछे बोहरा-बाखल थी, जहाँ बोहरों के मकान थे। सामने गली से निकलते ही सेठ-साहूकारों के पक्के, ऊँचे-ऊँचे मकान थे। दो कमरों और एक रसोईघर के इस घर में सुविधा तो कुछ विशेष नहीं थी। पर इतना जरूर था कि पण्डित वैकुण्ठ नन्दन त्रिपाठी के घर को छोड़कर सबके घर पास पड़ते थे। गोपाल-मन्दिर, कण्ठालवाली गली में ही था। भागसीपुरे के तो घरों की छतें भी दिखलायी देती थीं जहाँ कि नागेश्वर जी रहते थे। उसके आगे ही तो पटनी-बाजार और भगरमुँहे में दुर्गा!!—इधर कंठाल से आगे बढ़े कि सती-दरवाजा आ गया जहाँ कि नारायण जी पंड्या रहते हैं।—बस थोड़ा सा दूर महाकाल था और श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय का घर, पर इतनी दूरी उज्जैन जैसे

शहर में दूरी तो नहीं हुई। फिर सौ बात की एक बात कि आये दिन श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य को एक न एक रोग लगा ही रहता सो वैद्यराज सावरकर जी का मकान तो तुम समझो कि कुल्ले का पानी जहाँ गिरे, बस उतनी दूरी पर। कभी पंडित शिवशंकर आचार्य दवा लाने के लिए न हुए तो श्रीमती गोदावरीदेवी आचार्य ही जा सकती हैं। न हो तो किसी भी लड़के को दौड़ा दिया। यहाँ से गोपाल-मन्दिर पास। धरमशाला, बाजार, दूकानें सभी तो लगे हैं। वैसे तो श्रीमती गोदावरीदेवी आचार्य को क्या काम पड़ता परन्तु स्टेशन जाना हो तो गली में निकले और दाहिने हाथ बढ़ गये तो 'कल्पवृक्ष'-कार्यालय के सामने पहुँच गये जहाँ कि गुजराती-समाज वाली ऊँची टेकरी आ गयी। आगे बढ़ो और आर्य-समाज मन्दिर वाली गली से चलो तो सीधे अस्पताल पहुँच जाओ, नहीं तो सड़क-सड़क देवास-गेट आ गया और सामने ही तो स्टेशन। 'कल्पवृक्ष' कार्यालय के सामने दो मिनिट खड़े रहो तो ढेरों तांगे स्टेशन के लिए मिल जाएँगे, फ्रीगंज के लिए मिल जाएँगे। और दौलतगंज भी पास ही है। जितना चाहे अनाज वहाँ की अनाज-मंडी से खरीद लाओ। गुजराती-समाज वाली टेकरी से लगा हुआ ही तो है क्षीरसागर।—हालाँकि पंडित शिवशंकर आचार्य ने यह मकान उज्जैन का नक्शा सामने रखकर नहीं लिया था पर एक बार मकान ले-लेने पर लगा कि मकान चाहे बहुत अधिक सुविधाजनक न हो परन्तु उसकी स्थिति अत्यन्त सुकर थी।

यद्यपि श्रीमती गोदावरी आचार्य ने बहुत विरोध किया परन्तु पंडित शिवशंकर आचार्य ने नहीं माना और जाति की ही एक महाराजिन खाना बनाने के लिए रख दी तथा बर्तन-चौके के लिए भी एक मराठी नौकरानी मिल गयी जो घर के दूसरे काम भी कर दिया करती।

— तो, अब तू चाहता है कि मैं पलँग पर बैठी हुकुम चलाऊँ?

माँ की बात सुनकर पंडित शिवशंकर आचार्य हँसते हुए बोले,

— वैसे ख्याल बुरा तो नहीं है।

— तेरा सिर। अरे यह गाँव-देहात का काम-काजी शरीर है इसे काम-काज करने को नहीं मिलेगा तो माँदा (बीमार) पड़ जाएगा।

— तो सावरकर जी किस दिन के लिए हैं?

— लाख वैद्य हों। आदमी बीमार ही क्यों पड़े—जो डाक्टर-वैद का मुँह देखना पड़े!

— अरे तो तुम जैसे बड़े लोग बीमार नहीं पड़ेंगे तो डाक्टर-वैद्य बिचारे भूखों नहीं मर जाएँगे?

— मैं कहाँ लोग कब से और कहाँ से हो गयी भाई?

— श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल जिसकी समधिन हों, त्र्यम्बक शुक्ल जिसका दामाद हो भला यह बड़ा नहीं होगा तो क्या मैं हूँगा?

और श्रीमती गोदावरीदेवी आचार्य ने मन ही मन अपने इष्टदेव का स्मरण किया। कि, वाह रे प्रभु! तूने भी कैसा पुत्र दिया कि उनके आगे-पीछे के सभी जन्म सार्थक

पुत्र क्या था जैसे उनकी पलकें था। आँखें जरा थकी नहीं कि पलकों ने चट से ढँक दिया। अत्यधिक प्रसन्नता भी आँसू से ही व्यक्त होती है।
— क्या हुआ जिजी ! रो क्यों रही हो ?
— तेरा सिर !!....पहले तो रुलाता है फिर पूछता भी है।
और पण्डित शिवशंकर आचार्य को लग गया कि ये आँसू दुःख के स्मरण से भले ही हों परन्तु सुख की छलनी से छन कर आये हैं। उनका मन हुआ कि माँ जब भी और जहाँ भी पैर रखें वह कालीन बनकर उनके नीचे बिछ जाएँ।....कितना झेला है माँ ने न ?

आने के चौथे ही दिन से श्रीमती गोदावरी देवी आचार्य ने कहना शुरू किया कि उन्हें लगता है कि चलते समय अनाज की दोनो बखारियों [मिट्टी की कोठियाँ] के मुँह वह शायद गोबर से बन्द करना भूल गयी हैं और चूँकि वे दालान में ही हैं इसलिए *चिड़ियाँ और चूहे बखारियों के मुँह में ठुँसे कपड़ों के डाटों को आसानी से खोल देंगे।* पण्डित शिवशंकर आचार्य को लग गया कि माँ को लाख शहर में लाकर बिठा दिया हो परन्तु मन से वह गाँव में ही है। गनीमत थी कि तोता साथ लेती आयी थीं। हाली को बीसियों बार सहेज आयी थी कि गाय की नाँद में पानी बराबर रहे। घास के पूले खूब खोलकर डाले जाएँ, यह नहीं कि यों ही पटक दिये और गाय बिचारी मुँह में लेकर पूलों से जूझती ही रहे। वह मन ही मन हँस पड़े कि माँ ने जरूर ही गिनकर कंडे भी रखे हों तो कोई आश्चर्य नही। चलते समय कितने कद्दू थे। गाँव में किसके घर कद्दू और किसके घर *लौकी-गिल्कीं देनी है, सबका हिसाब उनके मन में था। उज्जैन में बैठे-बैठे* कुम्हड़े की बेल को पानी अब कौन-देगा, इसकी चिन्ता सताती रहती। बेलें ही धरती से जुड़ी नहीं होतीं बल्कि मनुष्य का मन भी वैसा ही अपनी माटी से गहरे जुड़ा होता है यह माँ को देखकर ही समझा जा सकता था।

और माँ की आश्वस्ति के लिए पहले ही सप्ताह में गाँव जाना पड़ा। वैसे भी वह जाते ही क्योंकि दमनी वापस गाँव ले ही जानी थी। *अपने लिए उन्होंने यही व्यवस्था सोची थी कि आठ-पन्द्रह दिनों में जब आना-जाना है तो आठ कोस का पैदल* आना-जाना कोई बहुत नहीं है। गाँव जाने के पहले वह दुर्गा और त्र्यम्बक को सहेज गये कि वह दो-एक दिन के लिए जा रहे हैं। जाने के पूर्व श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को भी सहेज जाना पता नही क्यों आवश्यक लगा।

जिस समय वह श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय के यहाँ पहुँचे, वह कहीं जाने के लिए नीचे तैयार पालकी के पास खड़ी थीं। ज्योंही उन्होंने पण्डित शिवशंकर आचार्य को देखा तो ठिठकी और प्रतीक्षा करने लगी।
पास आते ही पण्डित शिवशंकर आचार्य बोले,
— आप शायद कहीं जा रही हैं।

— विशेष तो कहीं नहीं।
— नहीं, नहीं आप जाएँ।
पण्डित शिवशंकर आचार्य के संकोच की चिन्ता किये बगैर श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय आगे-आगे हो गयीं। दोनों व्यवस्थित हो चुके तो श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने पूछा,
— जिजी व्यवस्थित हो गयीं?
— जी हाँ....वैसे मैं कल सवेरे गाँव जा रहा हूँ। दो एक दिन में लौट आऊँगा।
— आपके लिए दुहरी झंझट हो गयी यह तो—आये दिन गाँव जाओ।
— बिना झंझट के भी कभी संसार सुना है आपने?

पश्चिम ओर की खिड़कियों से बड़ा सा सूर्यास्त दिखलायी दे रहा था। किसी ऊँचे स्थान से सूर्यास्त देखने पर अपने भीतर एक पक्षी-भाव आ जाता है कि आप उड़ रहे हैं। फाल्गुन-चैत्र का मालवी आकाश जितना निरभ्र और बेला-चमेली की सुगन्ध सा होता है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं होता। इन दिनों का आकाश पूरा तपता भी नहीं है और सूर्यास्त होते ही अरब-सागर की ओर से आती हवाएँ इस मालवी-पठार को, इसके माधव-आकाश को खूब ठण्डा करने लगती हैं। ऐसे अकलंक वातावरण में बीतते हुए पलाश के फूल और निकलने-निकलने को आकुल गुलमोहर तथा अमलतास के फूल—लम्बी फलियों से तथा पीत झूमर से फूट उठने को होते हैं। आस-पास के खेतों में जाती हुई धनिया सुगन्ध जरूर दे रही होती है पर पुदीना कैसे मुखर हो उठने की कोशिश में होता है। कच्ची केरियों की खटास उनके रंग और लटके होने पर जैसे लिखी होती है, और नीबू तो कुमारी लड़कियों की हँसी-सा टूट-टूट पड़ता है। ।

पीछे की खिड़कियों से हरसिद्धि का कलश दिखलायी दे रहा था। हवा में उसकी पताका कैसी अकुला रही थी। उसके सामने के मैदान में सूखी बिवाइयों सी मिट्टी की परतें फैली हुई थीं। अन्य पक्षी पहले से ही लौट आये थे। सबसे पहले गौरैया लौटी थीं। उस समय धूप थी। वे अपनी लताओं में पहुँच कर पूरी सम्भावना के साथ शोर करती रही थीं। इसके बाद फाख्ता, तोते, कोयल, मैना, कौए जैसे बड़े पक्षी लौटे थे और तब सारे पेड़ों पर ऐसा लग रहा था कि ये पक्षी नहीं हैं बल्कि इन पेड़ों के वे पत्ते हैं जो दिन में चले गये थे और शाम होने पर वापस अपने पेड़ों पर लौटे हैं और अपनी शाखाएँ खोज रहे हैं। और सबके बाद सारस-बगुलों के झुण्ड विभिन्न आकार-प्रकार बनाते हुए उड़ रहे थे, जो कि लौटना था। जिस दल का प्रदेश आ जाता वह क्रमशः नीचे आ जाता। कभी-कभी कोई मिथुन भी इसी प्रकार उतर पड़ता। अभी-अभी एक सारस-मिथुन हरसिद्धि के मैदान में अन्तिम लम्बी उड़ान भर कर मिट्टी की उन बिवाइयों पर उतरा था। वस्तुतः सारस-मिथुन का उतरना पण्डित शिवशंकर आचार्य और श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय दोनों ने साथ ही साथ देखा। प्रतिक्रियाएँ और प्रभाव उनके भिन्न थे या नहीं, नहीं कहा जा सकता था परन्तु दोनों ने जब एक दूसरे को देखा तो श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को जो भी हुआ हो परन्तु पण्डित शिवशंकर आचार्य को आज प्रथम बार ऐसी अनुभूति हुई जैसी कि पहले कभी नहीं हुई। प्रकृति मिथुन-सर्गी

वह दार्शनिक स्तर पर, अध्यात्म के स्तर पर स्वीकारते हैं पर उसके इस मिथुन रूप से हमारे व्यक्तित्व की सत्ता भी नियोजित है यह वह नहीं जानते थे।
इस प्रतीति के साथ ही जब उन्होंने फिर श्रीमती गायत्रीदेवी को अपने से भी बचाते हुए ढंग पर देखा तो उन्हें लगा कि स्त्री की ओर एकान्त में देखना ही स्त्री की देह को देखना है। सामान्यतः देखने पर स्त्री में भी कोई क्रिया, प्रतिक्रिया कुछ नहीं होगी पर न जाने कैसे पुरुष का अतिरिक्त विचार पुरुष की आँखों में आते ही तत्काल स्त्री वसन से अंग ढँकने की भाँति ही पलकों से दृष्टि ढँकने लगती है। ऐसी हड़बड़ाहट में कभी-कभी एक से अधिक बार प्रयास करना पड़ता है पलकों को, परन्तु आँखें हैं कि रह-रह कर फिसल पड़ती हैं। बहुत कुछ ऐसी ही प्रतीति पण्डित शिवशंकर आचार्य को श्रीमती गायत्रीदेवी को देखकर हुई। ऐसा नहीं कि स्त्री की आँखों के इस प्रकार के वैयक्तिक आचरण के बारे में वह कुछ नहीं जानते थे परन्तु किसी दिन ऐसी ही आँखें, स्त्री की आँखें बनकर उनके सामने भी उपस्थित हो जाएँगी इसकी कल्पना उन्हें नहीं थी। सच तो यह है कि किसी दिन अपने को लेकर उन्होंने सोचा ही नहीं। पिता की मृत्यु के बाद से उन्होंने कभी सोचा ही नहीं कि वह स्वयं भी हैं। जब भी वर्षों पूर्व तक माँ उनसे विवाह करने की जिद करती थी तो शायद एकाध बार कह भी दिया होगा कि अरे, करने को खेती-बाड़ी है, पूजा-पाठ है, दान-दक्षिणा है, भला शादी-ब्याह भी कोई करने की चीज है?.... और ठीक है दुर्गा के लिए विवाह आवश्यक था, सो हो गया।....और सच तो यही है कि जैसा उन्होंने सोचा था वैसा ही करते आये और अब जब पचास के होने आये तो अब बाकी रह ही कितना गया? जीवन भर उन्होंने अपनी आयु से बीस वर्ष अधिक का ही व्यवहार किया होगा। उनकी वेश-भूषा के कारण भी देखने वाले को उनकी वास्तविक आयु से अधिक का ही भ्रम होता था।

यह सब तो ठीक है परन्तु आज यह सर्वथा भिन्न प्रतीति उन्हें क्यों हुई? वह जिस मानसिकता के व्यक्ति थे उसमें उन्हें लगा कि शास्त्रों में इसीलिए एकान्त में स्त्री के संग-साथ को वर्जित किया है। जब वह चौके उस समय श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय अपनी दृष्टि को देह बनाती उसे वस्त्रित कर रही थी। वह भी जिस मानसिकता की थीं उसमें उन्हें लगा कि जो कुछ हुआ वह अनायास, अप्रत्याशित, अनपेक्षित एवं हठात ही हुआ। परन्तु ऐसा क्या हुआ?....कुछ भी तो नहीं।....ऐसा वह किसी के सामने समाधान करने के लिए भले ही कहें कि सिर ढँकना और झुकी आँखों पर बारम्बार पलकें गिराना क्या कोई विशेष मुद्रा है?....इनमें से कुछ भी वैयक्तिक मुद्रा या गोपनीय हाव-भाव जैसा कुछ नहीं है। स्त्रियाँ सिर ढँकती ही हैं। स्त्रियाँ देखती भी हैं। सामान्यतः लजा भी जाती हैं परन्तु इसी सब में वह विशेष भी घटित हो जाता है जब सिर ढँकती अँगुलियाँ, यक्षिणी की उत्कोणित अँगुलियाँ जैसी सदा-सदा के लिए मन में खुभ उठती हैं। दृष्टि वही होती है जो कि रोज तो बस देखती जैसी ही लगती है पर एक दिन वही दृष्टि बड़ी ही हड़बड़ाहट के साथ लौटने का उपक्रम करते हुए अपने को सौंपती ही चली जाती है। उसका वह लौटना, लौटना नहीं सौंपना होता है।

केवल पण्डित शिवशंकर आचार्य ही नहीं चौंके थे बल्कि श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय भी चौंकी थी। हरसिद्धि वाले मैदान की फटी बिवाइयों जैसी विस्तीर्णता में सारस-मिथुन का तैरते हुआ उतरना कैसा लगा रहा था जैसे वे दोनों इसी एकान्त में जाने कब, कहाँ से तथा किन-किन दूसरों के साथ उड़ते आये थे। इस सूर्यास्त की अन्तिम लालिमा में वह मिथुन, अपनी समझ से तो एकान्त में ही उतरा परन्तु उन्हें क्या पता कि वे किन्हीं दूसरे दो को मिथुनत्व अनुभव करा रहे थे।

प्रायः इस स्थिति में बोलना नहीं हो पाता। शायद भाषा के लिए दूरी आवश्यक होती है। भोक्ता की कोई भाषा नहीं होती। सामने बैठी श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय आज पहली बार उन्हें मात्र नारी लगी, जो विनत सिर और नेत्रों में अपने दीवान पर बैठी हुई ऐसी लग रही थी जैसे किसी के कहने भर की देरी है और वह अभी यहाँ से भाग सकती है। खिड़की के माध्यम से श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय सूर्यास्त वाले आकाश में पहुँच कर लिखी लग रही थी। कमरे और वातावरण की ऐसी निस्तब्धता थी जैसे कमरा सुस्ता रहा हो। एक होता है, न बोलना, जिसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता परन्तु एक ऐसा न बोलना भी होता है जो बहुत शब्द करता सा लगता है, पर सुनाई कुछ नहीं देता। जब दो, व्यक्ति से पृथक स्त्री पुरुष ही नहीं बल्कि मिथुनत्व अनुभव कर रहे हों तो बड़ा मौन हाहाकार होने लगता है। पहली बार पण्डित शिवशंकर आचार्य को इस मिथुन-भाषा का अनुभव एवं साक्षात हुआ। इस बार वह दुबारा चौंके कि यह कैसा असुविधा देता मौन है?

— आप कुछ कह रही थीं शायद, न?

— नहीं तो।....आप गाँव जाने के बारे में ही कुछ कह रहे थे।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय स्पष्टतः पुनः स्त्री से व्यक्ति बनने की चेष्टा करती लग रही थी और इस चेष्टा में वह और अधिक स्त्री लग रही थीं।

मानवीय मन का कौतुक देखने, भोगने और अनुभव करने का यह प्रथम अवसर था। सम्पूर्ण देह जैसे कसी हुई सितार हो गयी थी और वादक ने अभी उस वाद्य को मात्र देखा भर, कि मन का निषाद, पंचम, षड्ज सब अपने-अपने स्थान से बज उठने को आकुल लगे। यह कैसा भिन्न प्रकार का सान्निध्य था कि यहाँ इस समय बैठना गुलाब जल के ठण्ढे जल में आकण्ठ डूबे गन्ध, स्पर्श, स्वाद सब प्रथम बार अनुभव हो रहे थे। गुलाब सुगन्ध देता है, लेकिन एक दिन ऐसा क्यों हो जाता है कि किन्हीं अँगुलियों द्वारा प्रदत्त गुलाब अन्तिम ही नहीं बल्कि निर्णयकारी गुलाब लगने लगे। वह अनेक बार आज के पूर्व भी यहाँ आये हैं। श्रीमती गायत्रीदेवी के स्नानित व्यक्तित्व से वह सदा प्रभावित हुए हैं। पवित्रता भी अनुभव की है पर आज सर्वथा भिन्न अनुभव हो रहा है, क्या?—आत्मीयता!! ऐसी आत्मीयता आज के पूर्व किसी सम्बन्ध से अनुभव नहीं हुई।....पता नहीं 'गायत्री जी' क्या सोच रही होंगी कि यह कैसा अभद्र व्यक्ति है!!.... पता नहीं कहाँ जाने को तैयार हुई थीं; और वह 'गायत्री जी' को आद्यन्त देख गये। श्वेत भूषा में कोई कितना अप्रतिम लग सकता है इसका उदाहरण लग रही थीं। [

के बालों की सघनता और लम्बापन जूड़े के आकार से स्पष्ट था। चिकने वह अवश्य होंगे क्योंकि जब भी वह सिर घुमाती चमक की लकीर बनती थी।
— गाँव ? हाँ, गाँव तो जाना ही होगा।
— कब तक लौटेंगे ?
— दो-एक दिन से अधिक तो लगना नहीं चाहिए। फसल कट रही है। खलिहान में सब धान पड़ा होगा। वैसे तो सारा काम दस-पाँच दिनों का है पर यहाँ भी तो जिजी है।
— गोविन्द के पर्चे तो अब समाप्त हो रहे हैं। वह देख लेगा।
— हाँ ऽऽ वो तो है ही।
— दुर्गा है, और भी तो....
— अरे यहाँ आत्मीयजनों की कमी है क्या ?....आप लोग तो है ही यहाँ, मगर....
— किसी को कष्ट देने से लाभ ?....हैं न ?
और आज पहली बार श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय स्त्रीवत हँसी। इस प्रकार की हँसी का जवाब नहीं होता और कम से कम उस पुरुष के पास तो नहीं ही जिसके सामने स्त्री, स्त्रीवत होती है।
— आपने यह वाक्य मेरी ओर से कहा न ?
जिस सरलता से पण्डित शिवशंकर आचार्य ने यह पूछा उसे देख-सुनकर कोई भी स्त्री सर्वस्व न्योछावर कर सकती थी तब भला श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय !!
— अरे कालिन्दी ने अभी तक लैम्प नहीं जलायी लगता है।
— कई बार प्रकाश की अनुपस्थिति अधिक सुखद होती है।
स्त्री की यह विशेषता होती है कि पुरुष को बोलने की स्थिति में डालकर स्वयं बस सुनना चाहती है, क्योंकि बोलना एक प्रकार की स्वीकृति होती है और स्त्री सब कुछ कर सकती है, पर स्वीकार तो नहीं ही।
— मैं समझता हूँ कि आपको भी जाना था....
— अब कहीं नहीं जाना है। अब कहाँ जाना ?
— आप किसी से मिलने....
— आप परेशान न हों।
श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय हठात उठ गयीं और बीचवाली बड़ी सी खिड़की के निकट पहुँच कर सुदूर में ताकती खड़ी हो गयीं। वहीं से वह बोली,
— यहां खड़े होकर कभी देखिए, कैसा अकेलापन लगता है।

आकाश और वातावरण में प्रकाश जा चुकने के अन्तिम बिन्दु पर था। हवा ही नहीं पेड़ तक मौन, निस्तब्ध थे। इस बीच नौकरानी बड़ा सा लैम्प कमरे में रख गयी। कमरे में पीले जल सा, बड़े ही पतले भाव से प्रकाश भर उठा।
— गायत्री जी !
— जी लगाना क्या बहुत आवश्यक है ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य ने घूमकर पास में खड़ी गायत्री देवी को देखा, जो कि खिड़की की राह सुदूर में देख रही थीं।

— मैं समझा नहीं।

— सभी दृष्टि से छोटी हूँ तब यह नाम के साथ जी क्यों लगाते हैं ?

— सभी दृष्टि से आप छोटी हैं, यह आप कैसे कह सकती हैं ?

— क्यों ? किस दृष्टि से छोटी नहीं हूँ ? ....क्या मैं साठ वर्ष की लगती हूँ ?

और वह खिलखिलाते हुए ऐसे लग रही थीं जैसे झरने में नहाते हुए प्रसन्न हो रही हैं।

— नहीं, मेरा मतलब....

— तब किस बात में बड़ी हूँ ? आर्थिक सम्पन्नता ?

— नहीं, आर्थिक सम्पन्नता नहीं....

— तब फिर ?

— नहीं, मैं कह रहा था कि कुछ के व्यक्तित्व बड़े लगते ही हैं।

— मतलब यह कि आपने तय कर ही रखा है कि गायत्री को बड़ा मानेंगे ही।

— तो क्या बड़ा मानना अच्छा नहीं ?

— अच्छा, तो मैं आपको क्या मानूं ?

— वही, जो मैं हूँ।

— आप क्या हैं ?

— मैं, ...मैं तो मात्र शिवशंकर हूँ।

— तो क्या मैं मात्र गायत्री नहीं हूँ ?

— नहीं, सो तो आप हैं।

— कहाँ ? आप तो बिचारी गायत्री को 'जी' और 'आप' जाने क्या-क्या लगा कर अमानुषी बना देना चाहते हैं।....दुर्गा आप के बारे में सच ही कहती हैं।

और यह कहते हुए श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय पूरा कमरा पार करते हुए सामने के छज्जे के पास वाले कमरे में घुस गयीं। उस हॉल के बड़े से एकान्त में पण्डित शिवशंकर आचार्य हतप्रभ से पीछे छूट गये। वह वस्तुतः नहीं समझ पा रहे थे कि श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय के इस सम्पूर्ण कथन के पीछे मर्म क्या है। मात्र वह इतना समझ सके कि श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय शायद दुःखी हुईं।

वह मसनद पर आकर बैठ गये। कुछ देर प्रतीक्षा एवं असमंजसता में बैठे रहे, उपरान्त वह भी उठ गये।

गाँव से लौटने में पण्डित शिवशंकर आचार्य को अपेक्षा से अधिक देर लगी। इसका कारण यही था कि अब लम्बे-लम्बे अन्तराल के लिए प्रबन्ध करना था। वैसे उनकी अपनी योजना में तो यही था कि गाँव प्रायः लौटते रहें और खेती-बाड़ी सम्हालने के साथ साथ अपनी आध्यात्मिक साधना भी यथावत चलती रहे। उज्जैन में रहने पर कुछ तो क्रम टूटता ही है। गाँव में अधिक निश्चिन्तता संभव थी। परन्तु पण्डित शिवशंकर आचार्य अब जिस स्थिति में थे उसमें उनकी मानसिक शान्ति नष्ट होती जा रही थी। माँ और खेती-बाड़ी की देख-रेख के बीच वैसे तो वह सन्तुलन बनाये हुए थे फिर भी आये दिन की दौड़-भाग में निश्चिन्तता सम्भव नहीं रह गयी थी। एक न एक खटराग लगा ही रहता। अपना संसार नहीं था तो दुर्गा का तो था। उधर बड़नगर में मामा की मृत्यु के बाद से कुछ तो उस परिवार की भी चिन्ता करनी ही पड़ती थी। गोविन्द उनकी आशा के अनुरूप ही पढ़ रहा था परन्तु आगे के विषय में वह नहीं सोच पा रहे थे। साथ ही कुछ दिनों से श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को लेकर वह सोचने लगे थे। क्या?—यह वह स्वयं स्पष्ट नहीं थे। क्यों गायत्री के पास बैठना, घण्टों बातें करना अच्छा लगता, यह वह स्वयं नहीं समझ पाते थे। वैसे किसी से कभी अपने बारे में कहना उन्हें प्रिय नहीं रहा है। न जाने क्यों व्यक्तिगत चर्चा आने पर वह मौन हो जाते हैं। इसमें सामने वाले की अवमानना करने की उनकी इच्छा नहीं होती, परन्तु बस, बोलना ही नहीं हो पाता। प्रायः तो वह वर्षों अपने होने की प्रतीति के बिना ही रहे हैं, रहते आये हैं। अज्ञात में एक दिन हठात बड़े हो गये तो बस, तब से निरन्तर बड़े हैं। उनसे सबको अपेक्षाएँ हो सकती हैं, हैं भी, परन्तु उन्हें भी किसी से या उनकी भी कोई अपेक्षा हो सकती है इसकी ओर स्वयं उनका ही ध्यान नहीं गया। माँ या बहन ने बहुत पहले उनके संसार बसाने वाले प्रश्न पर हार कर चुप्पी साध ली। स्त्री शारीरिक आवश्यकता ही

नहीं, बल्कि मानसिक आवश्यकता भी है इसकी जितनी और जैसी गहरी प्रतीति पहली बार श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय के सन्दर्भ से स्पष्ट एवं उजागर हुई वह उन्हें सर्वथा नया अनुभव लगा। गायत्री के पार्श्व में खड़े होकर सदा उन्हें अपनी आयु एवं बोध का बड़प्पन अतिरिक्त लगता और मन, उस समय खिड़की को राह मुक्त आकाश में पक्षी बन कर यह जा, वह जा। इस परिवर्तन को जब से उन्होंने अनुभव किया है, वह चौंके हैं। गायत्री केवल स्त्री ही नहीं है! विधवा भी है, तथा सम्बन्धी भी होती है। उनकी ही नहीं, गायत्री की भी सीमाएँ हैं। वैसे तो सब कुछ निरपेक्ष ही था परन्तु एक सान्निध्य-भाव लगता। गायत्री के सामने पहुँच कर पास में बैठ कर बातें करना और बातें सुनना तो अच्छा लगता ही परन्तु अनेक बार केवल मौन, शान्त भाव से बैठे रहना भी अप्रतिम लगता। परन्तु वह इस बात से सचेत हो चले थे कि इतना या इस प्रकार का सान्निध्य-भाव भी आकर्षण ही है और यह गलत है।

गाँव से जिस समय वह नमक-मण्डी वाले घर पहुँचे तो देखा कि माँ घर में नहीं है और ताला लगा है। चूँकि एक ताली उनके पास भी रहती थी इसलिए घर खोला और गाँव से लाया सामान रखा। सोचा कि माँ दुर्गा के यहाँ गयी होंगी, अतः वह दुर्गा के घर पहुँचे। अनेक दिनों बाद दादा को देखा तो दुर्गा बहुत प्रसन्न हुई। बच्चों ने भी मामा को घेर लिया। दुर्गा के लिए भी गाँव से थोड़ा सामान वह लाये थे। जब उन्होंने देखा कि दुर्गा ने माँ के यहाँ होने के बारे में कोई चर्चा नहीं की तो वह चौंके!

— क्या जिजी यहाँ नहीं आयी?
— नहीं तो। क्यों? क्या घर नहीं हैं?
— नहीं! मैं आया तो घर पर ताला लगा था।
— तब वह गायत्री मासी के यहाँ गयी होंगी।
— क्यों?
— वह बीमार हैं न आज एक हफ्ते से।
— क्यों, क्या हुआ?
— विशेष तो कुछ नहीं। बुखार था पिछले दिनों। जिजी जरूर वहीं गयी होंगी।

पण्डित शिवशंकर आचार्य हठात उठना चाहने लगे परन्तु दुर्गा कुछ खाने के लिए ले आयी थी। दुर्गा के सत्कार को छोड़कर वह जा भी नहीं सकते थे।

— त्र्यम्बक कहाँ है?
— अभी थोड़ी देर पहले शायद वकील साहब के यहाँ गये हैं।
— अच्छा तो इस समय चलूँ।

और वह उठ खड़े हुए।

— कहाँ मासीमाँ के यहाँ जा रहे हैं?

— जिजी वहीं तो हूँ।
— सोचती तो मैं यही हूँ। ....आपको देर हो जाएगी, नहीं तो दो दिन से मैं भी नहीं जा पायी हूँ....।
— अब तुम त्र्यम्बक को लेकर चली जाना।
और वह चल दिये।

अनेक दिनों उपरान्त, एक दिन।

दीवान पर लेटी हुई श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय अब रुग्ण तो नहीं पर कमजोर लग रही थीं। तीसरे प्रहर की धूप खिड़कियों के माध्यम से हाल के फर्श पर बिछी पड़ी थी। तकिये से सटी कृशकाय 'गायत्री जी' सामने बैठे पण्डित शिवशंकर आचार्य के सम्मुख असुविधा अनुभव कर रही थीं।
— शायद मेरे बैठने से आप विश्राम नहीं कर पा रही हैं।
— आप इस बात का क्या उत्तर सुनना चाहते हैं ?
पण्डित शिवशंकर आचार्य की हठात समझ में नहीं आया कि इस बात का क्या उत्तर दें। वह मात्र बोले,
— आप मेरी बात का उत्तर देना चाहती हैं या वास्तविकता कहना चाहेंगी ?
— स्त्री के लिए किसी बात से अन्तर नहीं पड़ता।
— यह स्त्री-पुरुष क्या होता है ? बात, बात होती है।
— क्या आप सच ही कुछ नहीं जानते ?
और जिस सम्पूर्ण भाव से श्रीमती गायत्रीदेवी आचार्य ने देखा तो उसमें लगा कि श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय व्यक्तित्व और देह से एक आँख हो गयी हैं और वह आँख, पूर्ण रूप से आँख बनकर सप्रश्न उन्हें देखने लगी है। उन्हें वह दिन याद आया जिस दिन प्रथम बार गायत्री जी इसी खिड़की पर खड़ी दिखी थीं और वह ठिठक कर दरवाजे के पास ही खड़े हो गये थे। शायद वह स्वतः बनी खड़ी थी। किसी के आने या होने का प्रसंग या आशंका नहीं थी। खुले केशों में आकाश, वह भी श्रावणी नीले आकाश की पृष्ठभूमि में वह अप्रतिम लग रही थी। यह शायद प्रथम बार उन्हें अनुभव हुआ था कि स्त्री पुरुष से भिन्न होती है। वर्षा उपरान्त के श्रावणी बादलों में एक प्रकार की श्लथता थी। सूर्यास्त के कुछ पूर्व की बेला थी इसलिए रीते बादलों में जल के स्थान पर प्रकाश भर आया था और बादलों में विविध वर्णता आ गयी थी। बीच-बीच में जहाँ दो बादल छिटक कर पृथक हो गये थे वहाँ धुला आकाश अपनी स्फटिक, स्वच्छ नीलिमा में ऐसा खिल आया था जैसे ऋतुमती स्त्री तीन दिन के उपरान्त स्नानकर अलभ्य बनी खड़ी हो। न जाने उन्हें क्यों लगा था कि सन्दर्भ से ही फूल सुगन्ध देते हैं अन्यथा अपने तो वह मात्र खिले होते हैं। जैसे ही कोई उपस्थित हुआ नहीं कि सुगन्ध देने लगते हैं। स्त्री भी तो

प्रकृतिवत होती है। केश, नेत्र, देह परिधान सब होते हैं, पर अपने लिए उनका कोई प्रयोजन नहीं होगा लेकिन जैसे ही कोई प्रिय व्यक्ति उपस्थित हुआ न कि नेत्र, केश, परिधान स्वतः सब आकण्ठ नारी-गरिमा, सुगन्ध से भर उठेंगे। किसी के अधरों पर धरते ही वशी न जाने क्या-क्या राग आलापने लगती है। यह भी होता है कि पुरुष की उपस्थिति की प्रतीति स्त्री देगी ही अपने सिर के आँचल के खिसकाने से है, और पूरे व्यक्तित्व में 'अरे !!' का भाव लिख उठता है।

— क्या सोचने लग गये ?

— कुछ नहीं तो।

पण्डित शिवशंकर आचार्य ने जिस प्रकार अस्वीकार किया उसे देख कर कोई भी हँस सकता था। श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय हँसते हुए बोलीं,

— चलिए आप कहते हैं तो माने लेते हैं।

— क्या सच ही आपने मान लिया ?

— क्या नहीं मानना चाहिए था ?

— आप सच ही थाह नहीं देतीं।

— क्या आप थहाना चाहते हैं ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य गायत्री के प्रति-प्रश्नों को किस रूप में लें, यह नहीं समझ पा रहे थे। जब पण्डित शिवशंकर आचार्य को चुप देखा तो वह बोली,

— आप चुप क्यों हो गये ?

— चुप नहीं हूँ परन्तु सोच रहा हूँ।

— क्या ?

— यही कि स्त्री व्यवहार में नदी होती है परन्तु व्यक्तित्व में समुद्र।

— चलिए, आपके दोनों नतीजे कुछ बुरे तो नहीं हैं।....हाँ, मैं एक बात कहना चाह रही थी।

— लेकिन कही तो नहीं।

— दो-एक दिन बाद रतलाम जाना चाहती हूँ।

— रतलाम ?

— हाँ, बहुत दिन से जाना नहीं हो पाया है।

— तो ?

— क्या आपको बहुत असुविधा होगी ?

— किस बारे में ?

— क्या आप सच ही कुछ नहीं समझते ?

— अब तो आप मानेंगी न कि जितना बुद्धिमान आप समझती हैं उतना नहीं हूँ।

— मुझे आपको क्या मानना है इसके लिए आपसे परामर्श नहीं करूँगी।....मैं तो कह रही थी कि फतेहाबाद में रात में गाड़ी बदलनी पड़ती है इसलिए....

— क्या आप साथ चल सकेंगे, है न ?
कहते हुए पण्डित शिवशंकर आचार्य खिलखिला पड़े।

जिस समय इन्दौर-गाड़ी इन लोगों को फतेहाबाद के स्टेशन पर छोड़कर चली गयी उस समय पूरे प्लेटफार्म पर मात्र वे ही तीन सवारियाँ थीं। उज्जैन से चलने पर क्षिप्रा के पुल पर ही अँधेरा आरम्भ हो चुका था। चूँकि क्षितिज पर अभी भी प्रकाश अवशिष्ट था इसलिए क्षिप्रा के जल में आकाश किंचित प्रतिभासित था। क्षिप्रा के पुल के तत्काल बाद दाहिने हाथ रेल की बड़ी लाइन नागदा की ओर चली जाती है। बाँयीं ओर की यह मीटर-गेज की रेल वस्तुतः खण्डवा-अजमेर रेलवे लाइन से उज्जैन को जोड़ती है इसलिए यह रेल-लाइन उपशाखा है। शारदीया ऋतु में काँस और जंगली घास प्रशस्त रूप में रेलवे लाइन के दोनों ओर बिछी थीं जो कि ट्रेन की गति के कारण झुकी पड़ रही थीं। दोनों ओर के तालाबों में सिंघाड़े बोये हुए थे। कहार लोग अपनी छोटी-छोटी नावों को हाथ से ठेलते हुए सिंघाड़े तोड़ रहे थे। जब कभी किसी स्टेशन पर इक्की-दुक्की सवारी उतरती तो बड़ी निरीहता लगती। खासकर तब और भी, जब कोई अकेला दम्पति, नीचे से प्लेटफार्म पर उतरता और उस वीरान सुनसान में खोने की प्रक्रिया में चलने लगता। छोटे-छोटे स्टेशनों की इमारतों, आसपास के पेड़ों में इंजिन और ट्रेन की आवाज से प्रकम्पन होने लगता। लगता कि अभी यहाँ की प्रकृति इन आधुनिक उपकरणों की आदी नहीं हुई है। पगडण्डियाँ रेलवे लाइन से हठात नीचे उतर कर जंगल की ओर छिपने के लिए भागती लगतीं। ट्रेन का भागना आसपास के पेड़ों में बुहरते जाते प्रकाश से स्पष्ट था।

रात के बढ़ने के साथ-साथ फतेहाबाद का वह छोटा सा स्टेशन तेज सपाटे मारती हवा में ठण्ड से काँप भले ही न रहा हो परन्तु सिंयरा अवश्य रहा था। फतेहाबाद छोटा सा जंकशन है। खण्डवा इन्दौर से आने वाली ट्रेनें जो अजमेर जाती हैं उसके लिए यह जंक्शन है। उज्जैन से रतलाम जाने के लिए यहीं पर ट्रेन बदलनी होती है। इस गाड़ी को पकड़ने के लिए यात्रियों को चार-छह घंटे पड़ा रहना पड़ता है। आधी रात में ही ट्रेन मिलती है। बस्ती के नाम पर कुछ भी विशेष नहीं है! बहुत छोटा सा कस्बा है फतेहाबाद और वह भी स्टेशन से थोड़ा दूर ही है। चारों ओर खाँकरे-पलाश का जंगल सुदूर तक फैला चला गया है। स्टेशन भी बस, एक छोटा-सा स्टेशन-मास्टर का केबिन, एक शेड, जिसके नीचे दो-एक बेंचें। चाय-नाश्ते के लिए एक छोटी-सी दूकान जो दिन में आने वाली ट्रेनों के समय तो खुली भी रहती है पर रात की ट्रेनों पर शायद ही कभी खुली रहती है। दिन में तो बाहर की दूकानों वाले लड़के भी नमकीन-मीठा लेकर आ जाते हैं। यहाँ का गुलाब-जामुन दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। कोई भी ट्रेन दो-तीन मिनिट से अधिक नहीं रुकती। रेलवे स्टाफ के नाम पर एक स्टेशन-मास्टर, दो लाइन-मेन,

एक केबिन-मेन के शायद ही और कोई था। पोर्टर या कुली का प्रश्न ही नहीं था। शब्द के नाम पर जंगली हवा का उन्मुक्त भनभनाता स्वर होता या स्टेशन मास्टर के केबिन से रह-रहकर लाइन-क्लीयर की घण्टी आदि। जब गाड़ी दो-एक स्टेशन दूर होती तदनुरूप दालान में टँगी पीतल की बड़ी सी घण्टी टनटना उठती। गाड़ी के आने पर घण्टी बजाकर लाइन-मेन प्लेटफार्म के सिर के पास कंधे पर लाइन-क्लीयर टाँगे खड़ा हो जाता और ट्रेन आने पर बड़े सधे ढंग से ड्राइवर को लाइन-क्लीयर पकड़ा देता। जो एक-दो सवारियाँ होतीं चढ़-उतर जातीं और ट्रेन फिर चल पड़ती। गाड़ी आने के पूर्व स्टेशन का बड़ा-सा गैस जिस प्रकार सूँ-सूँ कर रहा होता वह ट्रेन जाने के बाद थोड़ी देर तक और सूँ-सूँ करके जलता। ड्राइवर द्वारा फेंके गये लाइन-क्लीयर को जब-लाइन-मेन-स्टेशन-मास्टर को दे आता तब वह गैस की रस्सी को सावधानी से ढीली करता और गैस नीचे उतरते हुए ऐसे लगता जैसे अपने ही प्रकाश पर बैठ रहा हो। लाइन-मेन गैस बुझाकर फिर उसे चढ़ा देता और तब स्टेशन पर फिर निरभ्र शान्ति छा जाती क्योंकि उसके बाद सवेरे तक कोई ट्रेन नहीं होती।

जिस समय 'श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय, पण्डित शिवशंकर आचार्य फतेहाबाद पर उतरे केवल वे ही थे। नौकरानी अवन्ती एक-एक करके सारा सामान स्टेशन की दूसरी ओर के प्लेटफार्म पर रखने लगी। ये दोनों जाकर एक बेंच पर बैठ गये। प्रत्येक अँधेरे में प्रकाश होता है। वही प्रकाश स्टेशन पर सामने के जंगल पर फैला हुआ था। ऐसे प्रकाश में चीजों, वस्तुओं का थोड़ी दूर तक मात्र आभास मिलता है उसके बाद सारी वस्तुएँ वातावरण में घुल उठती हैं। प्रायः ऐसी स्थिति में आपका देखना भी आपका विचार बन जाता है। ऐसे सक्षम आकाश की ओर देखना सबसे बड़ी मुक्ति लगती है।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ऊनी [अलवान से सिर ढके बैठी थीं। ऐसे निपट में सहसा बैठाल दिये जाने पर तत्काल बोलना भी तो नहीं हो पाता। कुछ देर तक दोनों मौन बने बैठे रहे। शायद पण्डित शिवशंकर आचार्य को ऐसे नितान्त बैठना असुविधा दे रहा था, अतः वह उठकर टहलने लगे। उनकी अकेली आकृति उस पूरे प्लेटफार्म पर बारम्बार आती और लौट जाती। आकृति का उत्तरोत्तर उभरना और फिर उभरकर क्रमशः डूबते जाना श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को किंचित कौतूहलपूर्ण लग रहा था। आकाश की कृष्णता की गहराई भी इस आने-जाने में आयाम लेती लगती। वैसे यदि यह मात्र एक घटना होती तो वह ऊब सकती थी। परन्तु वह इसके देखने के साथ पंडित शिवशंकर आचार्य को लेकर अपने मन से खेल भी रही थी। कुछ स्थितियों में मनुष्य किसी अन्य से नहीं बल्कि अपने से हो दुराव करता है। यही लें कि श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय क्या पण्डित शिवशंकर आचार्य को मात्र साथ के लिये लायी थी कि फतेहाबाद में चार-छह घंटे रात में पड़ा रहना पड़ता है, अतः साथ में चलें? यह तो कोई बात नहीं हुई। शायद यह कोई पहली बार भी नहीं हुआ होगा। वह चाहती तो मोटर लेकर बड़नगर-बदनावर के रास्ते भी रतलाम जा सकती थीं। ये दिन भी कोई चौमासे के तो थे नहीं कि बड़नगर के रास्ते में चम्बल में पूर [बाढ़] होगी। असल में मनुष्य का मन पहले तो

सामान्य तर्क करता है और तब अपने अन्तर की आकांक्षा को छुपाने के लिए उस सामान्य तर्क को दुराव के हेतु काम में लाता है।

चारों ओर परम निस्तब्धता थी। शारदीय आकाश की कृष्णता में तारे खूब ही निखर आये थे। इस ऋतु की यह विशेषता होती है कि रातें भी घोषित करती लगती हैं कि पितृपक्ष की समाप्ति के बाद नवरात्री आएगी। पूजा-अरचा होगा। दीपावली आएगी। दशहरे दीपावली के बीच शारदीया पूर्णिमा भी आएगी। तात्पर्य यह कि आश्विन और कार्तिक केवल उत्सव ही उत्सव; उत्साह ही उत्साह; सुगन्ध ही सुगन्ध के नाम हैं। घर की दीवालें गुलमेंहदी के फूलों की 'संझा' से सजेंगी। कुमारियाँ नाक में माँ या भाभी की नथ पहनकर गणगौर बनी घूमेंगी। बहुएँ आँखों में काजल आँज कर आनत सिर में भी तिर्यक देखते हुए घर को मण्डप बनाएँगी। भला ऐसी उत्सव-ऋतु में ऐसे निर्जन जंगल में भी मन को औत्सविकता लगे तो इसमें श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय का क्या दोष ?

टहलते हुए पंडित शिवशंकर आचार्य उन्हें अच्छे ही नहीं लग रहे थे बल्कि जैसे कि स्वयं उनके व्यक्तित्व के जल में वह बारम्बार डूब-उतरा रहे हों। जब कभी लाइन-मेन घण्टी बजाता तो वहाँ की निरभ्र शान्ति ऐसे ही टूट उठती जैसे कि कोई गिट्टियाँ तोड़ रहा है। जब पंडित शिवशंकर आचार्य टहलते हुए दूर निकल गये लगते तब श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को लगता कि चारों ओर की प्रशान्त नीरवता जैसे समुद्र है और इस काली, अन्धकारमयी प्रशान्तता में वह सबसे छोटा द्वीप है जो मूल धरती से बहुत सुदूर पड़ गया है। यदि वह इस प्रकार निरन्तर अकेली बनी रहीं तो यह प्रशान्तता उन्हें एक दिन अवश्य ही लील जाएगी।

चाय वाले की बन्द दूकान के पास, नीचे एक कुत्ता लेटा हुआ था। आरम्भ में तो वह पंडित शिवशंकर आचार्य के इस टहलने को तोलता रहा पर थोड़ी ही देर में उसकी उनमें कोई रुचि नहीं रह गयी। बराबर एक ही व्यक्ति को एक ही प्रकार से आते-जाते देखने से तो कहीं अच्छा था झपकी लेना, और वह अगले पैरों पर मुँह टिका कर ऊँघ गया। कभी सन्नाटे को नितान्त देखा है ? दृश्य, शब्द सब उसमें से बह रहे होते हैं परन्तु प्रतीति किसी बात की नहीं होती।

जब पंडित शिवशंकर आचार्य इस बार बड़ी देर बाद दिखलायी दिये तो श्रीमती गायत्री-देवी उपाध्याय बोली,

— इस तरह कब तक टहलते रहेंगे ? लगता है साथ लाकर मैंने आपको दण्ड दिया।

— थोड़ी देर पहले जो घंटी बोली थी वह इस बात की सूचना थी कि गाड़ी पिछला स्टेशन छोड़ चुकी है और अब आने ही वाली है।

— गाड़ियों का तो काम ही है आना और जाना। आप परेशान क्यों होते हैं।

— मैं परेशान कहाँ हूँ ?

— तो फिर बैठिए न ? आप टहल क्या रहे हैं जैसे दंड भुगत रहे हैं।

दोनों ही हँस दिये। उस विशाल, एकान्त परिदृश्य में उस बैंच पर बैठे हुए वे दोनों

आत्मीय से अधिक निरीह लग रहे थे। ऊनी अलवान से सिर ढँका होने के कारण मुख, प्रमुख हो आया था। और चूँकि मुख, प्रमुख हो उठा था इसलिए गायत्री जी के बड़े नेत्र विशाल लग रहे थे। इन्द्रियों में नेत्र ही ऐसे होते हैं जिनमें सारे समय कोई न कोई भाषा होती ही है। मनुष्य की भाषा उसकी आँखें हैं। जब भी आप किसी को घेरते हैं तो सबसे पहले उसकी आँखें झुकती हैं। कभी अत्यन्त मन्द बाँसी बजते देखी है ? कई बार, बल्कि चोरी से किसी के बारे में सोचना आँखों में इसी प्रकार बजता है। श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय यद्यपि देख सामने के अन्धकार में रही थीं परन्तु उस देखने में जो सोचा जा रहा था वह पार्श्व में बैठे व्यक्ति के बारे में था, जिसे वह पूछे जाने पर कभी स्वीकार नहीं सकती थीं। वह बोली,

— आपने तो शाल तक नहीं ले रखी है, क्या ठण्ड नहीं लग रही है ?

उन्होंने श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय की ओर गर्दन लगभग वैसी ही घुमायी जैसे कोई चंचल बालिका आपकी जेब में चुपके से हाथ डाल दे और सब जानते-बूझते भी क्रोध का नाटक करते हुए तिर्यक देखें।

— खेत के राडों [डण्ठलों] और किसानों को ठंड नहीं लगा करती।
— मैं समझी कि आपको ठंड लग रही होगी।
— यह आपने कैसे सोचा ?
— क्योंकि आप कुछ नहीं बोल रहे हैं।
— यह मैं बोल नहीं रहा हूँ तो क्या कर रहा हूँ !
— यह तो जवाब दे रहे हैं। बोलना तो स्वतः होता है।
— पता नहीं आप किसे बोलना मानें। अच्छा बताइए, क्या बोलूँ ?
— शायद मैं कहूँ तो आप बोलने के नाम पर बाराखड़ी बोल सकते हैं, पहाड़े बोल सकते हैं।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय किंचित हँस दीं।

— नहीं गायत्री जी ! श्लोक-मन्त्र भी बोल सकता हूँ।
— ताकि अपना बोलना न बोलना पड़े, है न ?....

पंडित शिवशंकर आचार्य की समझ में सहसा कुछ नहीं आया कि 'अपना बोलना' से गायत्री जी का तात्पर्य क्या है। उन्हें लगा कि गायत्री जी का मुख उस सारे दृश्य में ऐसे ही टँका हुआ था जैसे किसी ने दृश्य की कृष्णता में कसीदे से एक मुख काढ़ा हो।

ऐसा नहीं कि गायत्री जी की बात सर्वथा वह नहीं समझ रहे थे परन्तु अपने और गायत्री जी के सन्दर्भ में उस बात का अर्थ और प्रयोजन वह स्पष्ट नहीं कर पा रहे थे। गायत्री जी की बात पर वह हँस कर शायद सायास एक तह लगा देना चाहते थे, अतः वह हँसे ही नहीं बल्कि खिलखिला पड़े। खिलखिलाना निश्चित ही अनपेक्षित था। कुछ लोग प्रकृत्या खिलखिलाते नहीं। पंडित शिवशंकर आचार्य ऐसे ही महाशयों में थे। वह ऐसे खिलखिला कर हँस सकते हैं इसे वह स्वयं नहीं जानते रहे होंगे। श्रीमती गायत्रीदेवी ने हँसते हुए पंडित शिवशंकर आचार्य को ऐसे ही देखा जैसे फूल, अपने तोड़ने वाले की ओर

देखता है। वह शायद कुछ कहतीं तभी लाइन-मैन ने अन्तिम घंटी बजायी। न जाने क्यों श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने गहरी निश्वास ली।

— गायत्री जी! गाड़ी आ गयी।

— क्या किया जा सकता है।

— ऐसा आप क्यों कह रही हैं?

— क्योंकि और कुछ कहा भी तो नहीं जा सकता।

— क्या नहीं कहा जा सकता?

— जैसे यही कि आप विवाह क्यों नही कर लेते!—पर यह न पूछिएगा कि किससे.... लीजिए गाड़ी की लाइट दिख रही है।

और वह सपाटे से उठी। सिर का पल्लू ठीक किया और सलवान फिर से व्यवस्थित की। अवन्ती भी दूकान के पास खड़ी हो गयी थी।

सैकण्ड-क्लास का कम्पार्टमेंट खाली था। दोनों के बिस्तरे लगा कर साथ वाले नौकरों के डिब्बे में अवन्ती मय सामान के साथ व्यवस्थित हो गयी। रात का तीसरा प्रहर चल रहा था। गाड़ी कब और कितनी देर रुकी यह तो पता नहीं चला पर अब जब गाड़ी चल रही थी तो उसके चलने का शब्द पूरी ट्रेन में आ रहा था। ट्रेन के चलते ही मेन बत्ती बुझा दी गयी। नाइट-बल्ब का मन्द सा प्रकाश भी डिब्बे को काफी उजला रहा था। खिड़कियों से तारे और आकाश स्थिर दिख रहे थे जबकि उनके नीचे की ओर बराबर पेड़ दौड़ते-भागते आते और गुजर जाते। अन्धकार में भी प्रकाश होता है। बिना प्रकाश के अन्धकार भी सम्भव नहीं। बाहर का दृश्य दिख रहा था—यही प्रमाण था कि अन्धकार में भी प्रकाश होता है। समुद्र के गहरे जल में दृश्य जिस प्रकार दिखता होगा वैसा ही दिख रहा था। हाँ; देखने की स्थिरता को दौड़ते वृक्ष और तार के खम्भे बारम्बार काट जाते थे। वैसे दोनों को अपेक्षा थी कि दूसरा सो गया होगा या सो जाना चाहिए, अतः अपने सो जाने का भ्रम उत्पन्न करना भी आवश्यक था। जब दोनों को ही कुछ देर में लगा कि ऐसे जाग्रत मन को लेकर भला कोई कैसे सो सकता है तो उठते हुए पंडित शिवशंकर आचार्य बोले,

— मेरी उपस्थिति में शायद आप सो नही पा रही हैं।

— आप चाहें तो अपने को कोसें पर यदि नींद को आना होता है तो वह किसी की भी उपस्थिति में आ सकती है।

— सुना तो यही है कि नींद भी बड़ी संकोचशीला होती है।

— आपने अपने वाक्य में जो 'भी' लगाया तो वह अन्य कौन है?

और श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय किंचित मुस्करा उठी। उनके मुस्कराने को पंडित शिवशंकर आचार्य भी केवल देख ही नही ले गये बल्कि बूझ भी ले गये। श्रीमती गायत्री-देवी उपाध्याय फिर बोली,

— बात का उत्तर देने की चेष्टा मत करिएगा। पर यह बताइए कि स्त्रियों को ऐसा संकोच होता है यह तो देखा-सुना है परन्तु आप क्यों नही सो पा रहे हैं?

— क्या अच्छे गुण केवल स्त्रियों में ही होने चाहिए ?
बात बदलते हुए वह बोलीं,
— सुनती हूँ आपकी अध्यात्म में, योग में गति है।
— और ?
— और यह भी कि आप बहुत अनासक्त मनस के हैं।
— गायत्री जी !
— आपको यह 'जी' वाली औपचारिकता बहुत प्रिय है न ?
— ऐसी तो कोई बात नहीं है, पर इन छोटी-छोटी बातों में क्या रखा है।
— लेकिन यदि किसी के लिए हो तो ?
— अच्छा तो गायत्री ही सही, तो मैं आपसे कह रहा था कि....
— लेकिन गायत्री के साथ यह 'आप' तो नहीं चलेगा।
— गायत्री ! अपने मन के बारे में सदा सतर्क रहना पड़ता है। जिस क्षण उसे मानकर चले उस दिन आपका सारा करा-धरा रखा रह जाता है। अनासक्त मनस का हूँ नहीं, चेष्टारत हूँ। जीवन का नाम गति है और गति ही अनासक्ति का दूसरा नाम है। आसक्ति बाँधती है, जबकि जीवन को बँधना नहीं है। आसक्ति क्या देती है, यह कहना भले ही कठिन हो पर आपकी गति अवश्य ले लेती है। जीने की शर्त, प्रतिश्रुति ही है अपेक्षाकृत अनासक्त होते जाना। आसक्ति का वाहक है, मन। इसीलिए कहा गया है कि—मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो।—स्वेच्छा से तटस्थ होना अनासक्ति है, वैराग्य है परन्तु जब बाध्यता से आपको आसक्तिहीन होना पड़ता है तब आप रोते हैं, कलपते हैं। छोड़ना तो पड़ता ही है। आत्मा की प्रकृति एवं प्रवृत्ति संचय की नहीं। वह संग्रह से परे है। जब संग्रह किया ही नहीं तब त्याग किस बात का करे ? आत्मा कर्ता भी नहीं है, अकर्ता भी नहीं है। यह तो मात्र दृष्टा है। ऐसे दृष्टा रूप को अनासक्त तो होना ही है। बल्कि कहना चाहिए कि यह तो है ही। वह दृष्टा है तभी तो न वह ग्रहण करता है न त्याग करता है। प्रत्येक क्षण के बीतने, छूटने का जो दुःख, दर्द हमें होता है वह आत्मा का नहीं, मन की माया है। मन का पूर्ण विश्वास कभी नहीं किया जा सकता।.... तुम इस समय हो। हम ट्रेन के डिब्बे में साथ हैं। ट्रेन चलते हुए बीत रही है तो क्या इसके साथ हम, हमारी आयु, हमारी देह, हमारा यह साथ होना भी नहीं बीत रहा है ? एक बिन्दु पर पहुँच कर कुछ भी तो नहीं रहेगा। 'है' से 'था' हो जाना है। वही रहेगा, यह नहीं। तब इसे लेकर रोमांचित होना क्या निरर्थक नहीं है ?....सच तो यह है गायत्री ! कि जब जीवन ही सम्पूर्ण धू-धू और हाहाकार से आरम्भ हुआ हो तब ये राग, ये आकर्षण, ये सुख क्या अर्थ रखते हैं ?....ऐसा नहीं गायत्री ! कि मैं नहीं समझता या जानता। बहुत न भी सही परन्तु पूर्ण जड़भरत भी नहीं हूँ। तुम्हें देखकर आसक्ति न हो यह सम्भव ही नहीं है परन्तु व्यक्ति को अपनी पात्रता भी समझनी चाहिए।

और सहसा पंडित शिवशंकर आचार्य चुप हो गये। कुछ क्षण तो श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय चुप रहीं उपरान्त बोलीं,

— आप सहसा चुप क्यों हो गये ?

किंचिद् हँसते हुए बोले,

— कुछ नहीं अपने ही मन की माया का खेल देख रहा था। इस समय जो बीत रहा है न उसे कसकर पकड़े रखा जा सकता है और न उसे भ्रम ही माना जा सकता है।....हाँ, फतेहाबाद में पूछा था न कि मैं विवाह क्यों नहीं करता ?....खैर, अब तो आयु भी नहीं रह गयी परन्तु अपने कर्म और भोग में किसी दूसरे को बलात घसीटना, विवश करना भी एक प्रकार की हिंसा ही है।....लेकिन, क्या तुमको विवाह....?

और पंडित शिवशंकर आचार्य अपना वाक्य अधूरा छोड़कर फिर सोचने लग गये।

— आप कहते-कहते क्यों रुक गये ?

— इस तरह की जिज्ञासा का मुझे क्या अधिकार है ?

— आप कौन सा अधिकार चाहते हैं ?

— मैं और अधिकार ?

— और क्या !! आपको यदि साँस लेने का भी अधिकार न दिया जाता तो आप वह भी नहीं लेते।

— क्या कोई ऐसा कर सकता है ?

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को अपने तर्क की मूर्खता की प्रतीति हुई तो वह भी हँस पड़ीं। बोलीं,

— स्त्री शायद तर्क नहीं कर सकती। भला साँस का अधिकार न हो तो कोई साँस कैसे ले सकता है ?....कहीं ऐसा तो नहीं है कि आप में मान बहुत गहरे चला गया हो जिसे आप अनासक्ति समझ रहे हों ?

— सम्भव है, परन्तु मान किससे ?

— कई परिस्थितियों में व्यक्ति स्वयं से ही मान करने लगता है।

— मैंने आज के पूर्व इस प्रकार नहीं सोचा। सम्भव है तुम ठीक कह रही हो।

— जी नहीं, मैं बिल्कुल ठीक नहीं हूँ। मान व्यक्ति को संकुचित, ईर्ष्यालु, अमानवीय, असहिष्णु न जाने क्या-क्या बनाता है जबकि अनासक्ति व्यक्ति को उदार, उन्मुक्त, करुणावान आदि बनाती है....पर एक बात पूछूँ ?

— साधारण व्यक्तियों के बारे में बहुत अधिक जिज्ञासा नहीं रखनी चाहिए।

— अच्छा ?? तो, असाधारणता क्या होती है ?

— होती ही होगी तभी तो यह शब्द है, संज्ञा है। शायद 'साहब' जैसे लोग असाधारण होते होंगे।

— अच्छा यह बताइए कि क्या अपनी माँ के प्रति आपका कोई कर्तव्य नहीं है ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य इस बार खूब खुलकर हँसे। शायद श्रीमती गायत्रीदेवी किंचित खिसिया गयीं,

— क्या मैंने कुछ गलत कहा ?

— क्या जिजी ने कुछ कहा ?

— यह भला क्यों और क्या कहेंगी ?

— तब, गायत्री ! माता-पिता की सेवा करना कर्तव्य है यह तो समझ में आता है परन्तु विवाह भी उनके प्रति कर्तव्य है यह समझ में नही पाता,

— पितृ-ऋण ?

— पितृ-ऋण विवाह से नही सेवा से उतारा जाना चाहिए।....पर यह बताइए कि आप यह क्या पचड़ा ले बैठीं ? क्या लोगों के शादी-ब्याह लगवाने, करवाने का गामोठ वाला काम भी करती हैं ?

इस पर हँसते हुए बोलीं,

— क्यों ? जीविका के लिए कुछ बुरा तो नहीं है यह।

— अगर जीविका की बात है, तब बात अलग है।

और इस बार दोनों साथ हँसे तथा खुलकर हँसे।

— अच्छा मेरे विवाह कर लेने से क्या होगा ?

— जिजी को प्रसन्नता होगी, और क्या ?

— लेकिन कहते हैं कि बड़ी आयु में अत्यधिक दुःख की भाँति अत्यधिक सुख भी हानिकर हो सकता है।

— आप तो कोई तर्क चलने ही नही देते।

— अन्तिम क्षण तक अपना बचाव करते जाना जीवमात्र का धर्म है....लेकिन यह बताओ कि क्या यही सब जानने के लिए मुझे साथ लायीथी ?

— नही तो।

— तो फिर ?

— जिज्ञासा भी मोह है और आप जैसे अनासक्त को इतना मोह भी क्यों होना चाहिए ? है न ?

— पर वस्तुतः मैं अनासक्त कहाँ हूँ ? मुझ जैसा आसक्त तो ढूँढ़ने पर भी नही मिलेगा। लोगों का अपना संसार होता है तब उससे मोह करते हैं पर मुझे देखिए....एक ही जड़भरत !!

— क्या यह प्रतीति आपको है ?

— कठिनाई तो यही है गायत्री ! कि जानना, प्रतीति नहीं होता।

— माँ और दुर्गा के अतिरिक्त भी कोई आपके निकट है ?

— यह तुम क्यों पूछना चाहती हो ?

— इसलिए कि मेरे मन में भी यह इच्छा होती है कि ऐसा ही या इससे मिलता-जुलता प्रश्न आप मुझसे पूछें।

तत्काल कुछ भी कहना और पूछना कठिन हो गया था। बातें एक खतरनाक बिन्दु तक पहुँच गयी थीं। पण्डित शिवशंकर आचार्य कुछ क्षण को आत्मस्थ हो उठे। फिर बोले,

— गायत्री ! मनुष्य को सब कुछ नहीं प्राप्त हुआ करता। जो मिलता है उसमें सन्तुष्ट रहना चाहिए।....और गायत्री ! क्यों कामना करनी चाहिए ? प्राप्त करके ही क्या होगा ? क्या बड़ी से बड़ी प्राप्ति के बाद भी अप्राप्ति का बोध नहीं रहता ? तब क्या यह उचित नहीं कि व्यक्ति कामना-शेष हो जाए ?

— क्या किसी को देखकर आपको कामना....

— गायत्री ! मान लो कोई अप्रतिम फूल है तो क्या उसे मात्र देखकर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए ? हम उसे प्राप्त क्यों करना चाहते हैं ? कल जब वह फूल नहीं रहेगा तो क्या दुःख नहीं होगा ? इच्छा को कभी सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। इच्छा दुःख की जननी है। और मान लो इच्छा करनी है तो विराट की प्राप्ति की करे।

और श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने देखा कि पण्डित शिवशंकर आचार्य खिड़की की राह आकाश देख रहे हैं।

— गायत्री ! हमारे पूर्वजों ने हमारे कर्म-मात्र के लिए यज्ञ की संज्ञा दी थी। ब्रह्माण्ड में अनन्त ग्रहों-नक्षत्रों का, कोटि-कोटि आकाश-गंगाओं का अहोरात्र यज्ञ सम्पन्न हो रहा है। हम नहीं जानते कि हम बिलकुल भी एकाकी नहीं हैं। हमें न पता हो फिर भी एक पारस्परिकता है। कभी इस भाव-यात्रा को अपने में अनुभव करो गायत्री ! तुम्हारी तो संज्ञा ही शीर्ष-मंत्र की संज्ञा है। क्या एक छोटा सा घर बसाने से कम आकर्षित है इस महत् को अपने में अनुभव करना ? दिन में हमारे सूर्य और रात्रि में अनाम सूर्यों का प्रकाश हमारा अभिषेक कर रहा है। ऐसे दिव्य प्रकाश से अभिषिक्त व्यक्तित्व को गायत्री ! क्या छोटी बातों के प्रयोजन में नष्ट कर देना चाहिए ?

पण्डित शिवशंकर आचार्य वस्तुतः गायत्री से नहीं बोल रहे थे। यह एक प्रकार का स्वगत ही था तभी तो वह खिड़की की राह देखते हुए ही बोल रहे थे। जब उन्होंने गायत्री की ओर देखा तो बोले,

— मैं जानता हूँ गायत्री ! कि तुम मुझसे क्या चाहती हो।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय शायद इस बात की आशा नहीं करती थीं, बोलीं,

— क्या चाहती हूँ ?

— सब कुछ कहा नहीं जाता गायत्री !....कितनी सुखद परन्तु कैसी सुगन्धमयी आत्मीय आज की रात्रि अब पूर्णतया बीतने के बिन्दु पर है....हो गया। आत्मीय संसार की इतनी स्मृति ही बहुत है। अनेकों को तो पूरे जीवन भर भी आत्मीयता का एक भी क्षण नहीं मिल पाता। कल तो इसे निश्चय ही नहीं रहना है क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे। सब नाशवान हैं।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय अपनी सीट पर से उठ आयी थीं। पण्डित शिवशंकर

आचार्य के पास बैठते हुए पहले तो उन्हें देखा और फिर उनकी पीठ पर अपने गाल सटाते हुए बोली,

— क्या गायत्री पर आप विश्वास नहीं कर सकते ?

— किस बात का विश्वास करने को कहती हो गायत्री ?....विश्वास करो, तुम में आज जितनी परम आत्मीयता अनुभव हुई वह अयाचित ही थी। याचना से कोई ऐसा सान्निध्य नहीं प्राप्त कर सकता है। माँ, दुर्गा या गोविन्द के सम्बन्धों को तो भाषा दी जा सकती है परन्तु जिस अनात्म आत्मीयता को तुममें पाया उसे भाषा से अभिव्यक्त किया ही नही जा सकता। तुम्हें प्राप्त नही किया जा सकता परन्तु तुम्हारे द्वारा आज प्राप्ति का जो परम सुख, आस्वाद मिला गायत्री !—विश्वास करो संसार में आना सफल हो गया।

बाहर प्रत्यूष फैल रहा था और रतलाम आने की सूचना क्षितिज में उजागर हो रही थी।

— गायत्री ! सच, यह एक रात्रि नहीं थी वरन सम्पूर्ण जीवन था। आरम्भ का अन्त भी होता ही है। लो, रतलाम भी आ गया।

श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय पीठ ओर से पण्डित शिवशंकर आचार्य से केवल सटी ही नहीं थीं बल्कि हाथों से दोनों कन्धे थामे हुए थीं। पुरुष के सान्निध्य में इस प्रकार तन्मय कोई स्त्री ही हो सकती है। गहरी निश्वास छोड़ते हुए वह बोलीं,

— आ गया ?

और पण्डित शिवशंकर आचार्य ने अनुभव किया कि गायत्री शायद रो रही है। वह हठात् मुड़े और अपने दोनों हाथों से उसके कंधे थामते हुए बोले,

— गायत्री ! यह क्या ?

वह अपने को छुड़ाते हुए बोलीं,

— कुछ नहीं !!

और प्रकम्पित रक्त-पल्लववत सूर्योदय हो रहा था।

॥ इत्यलम-प्रकरण ॥

लौटने को तो तीसरे ही दिन पण्डित शिवशंकर आचार्य और श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय रतलाम से लौटकर आ गये थे परन्तु लौटने पर जब माँ को बीमार पाया तो बड़ी आत्मभर्त्सना हुई। मन में वह दुःखी भी हुए कि वह व्यर्थ ही रतलाम गये। जब उन्हें माँ की बीमारी का कारण ज्ञात हुआ तो उन्हें लगा कि माँ जिस प्रकार अपने शरीर के साथ ज्यादती करती है उसमें यह स्वाभाविक ही था।

वैसे यह कोई नयी बात नहीं थी। श्रीमती गोदावरी आचार्य भगवान की सेवा, भजन-पूजन के लिए गाँव से यहाँ आयी थीं। प्रतिदिन शाम को मन्दिर में अपरस में स्नान करना और ठाकुर जी की सेवा करना उनका नियम जैसा ही था। माँ के इस नियम के प्रति पण्डित शिवशंकर आचार्य को भी भला क्या आपत्ति हो सकती थी ? फिर भी उन्होंने माँ से इतना ही आग्रह किया होगा कि इस आयु तथा स्वास्थ्य को देखते हुए यदि वह जाड़ों में पान-फूल की सेवा ही करें और अपरस-स्नान आदि न करें तो क्या हर्ज है ? परन्तु जब उन्होंने देखा कि मात्र इतना सुनकर ही माँ रोने लगी हैं, तो वह चुप कर गये। माँ की सुविधा के लिए ही उन्होंने महाराजिन और नौकरानी रख दी है परन्तु सब कुछ के बाद भी माँ अपने हाथ से जब तक एकाध शाक-भाजी न बनाएँ तब तक उन्हें सन्तोष ही नहीं होता है। उन्होंने प्रतिदिन कहा होगा कि वह उनके लिए गरम रोटियाँ बाद में क्यों सेकती हैं ? परन्तु लगता है कि जब तक वह अपने हाथ से पुत्र को नहीं खिलाएँगी तब तक उन्हें चैन नहीं मिलेगा। तब भला कोई क्या कह सकता है ? मन्दिर से थकी माँदी आती हैं और फिर अपनी गृहस्थी फैला लेती हैं। पौष-माघ की कठघाव ठण्ड में भी गरम अंगा नहीं पहनेंगी। कुछ कहने जाओ तो कहेंगी कि अब इस देह का क्या होना है ? जब बिना सेके हाथ-पैर गरम नहीं होते तो सिगड़ी पर गरम क्यों नहीं कर लेती ? कोई बच्ची तो है नहीं कि पकड़ कर गरम किये जाएँ। चाहे

कितनी ही रात में पुत्र लौटे वह न केवल खाना ही गरम देंगी बल्कि दूध भी गरमाएँगी। उसमें मुनक्का, मखाना डालेंगी और न पीने पर रोने बैठ जाएँगी। लेकिन कोई पूछे कि तुमने गरम-गुनगुने पानी में शहद डालकर लिया ? तुलसी के रस में वैद्य जी की दवाई खायी ? तो झट से यह कह देंगी—अरे मेरा क्या रे ? आज मरे कल दूसरा दिन।— है इस बात का जवाब किसी के पास ? जबकि पण्डित शिवशंकर आचार्य यह भी जानते हैं कि वह जितनी वीतरागी, निस्पृह बनती है, उतनी हैं नहीं। वह जीना ही नही चाहतीं बल्कि काफी दिन जीना चाहती हैं। परन्तु अपने लिए नही बल्कि पुत्र के लिए। उनके बाद पुत्र की देख-रेख कौन करेगा ? उन्हें तो लगता है कि माँ ठाकुर जी की सेवा करते समय भी अपने शिवा के बारे में ही सोचती होंगी।

इसीलिए पण्डित शिवशंकर आचार्य को उलझन होती रहती है। इसीलिए वह समय के पूर्व ही खाना-पीना करना चाहते हैं परन्तु माँ अपने लिए कोई न कोई खटराग खड़ा किये रहती हैं। जैसे ही वह घर पहुँचे और गोविन्द ने बताया कि माँ बीमार है तो वह दुःखी हो गये। जैसे ही श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय को बीमारी की सूचना मिली तो वह अपना जूड़ा खोलकर यात्रा की थकान मिटा रही थीं कि उल्टे पैरों चल पड़ी। पण्डित शिवशंकर आचार्य को देखते ही लग गया कि माँ साधारण बीमार नहीं हैं।

जिस दिन वह रतलाम गये थे उस दिन सबेरे से ही श्रीमती गोदावरी आचार्य कुछ अस्वस्थता अनुभव कर रही थी परन्तु पुत्र कहीं अपना जाना न रोक दे इसलिए उन्होने किसी को नहीं बताया। रोज की ही भाँति वह मन्दिर भी गयी। कुएँ की जगत के पत्थर उन्हें और दिनों की अपेक्षा अधिक ठण्डे लगे। तलवों की तह में जैसे ठण्डापन खुभा पड़ रहा था। एक बार तो मन हुआ कि आज अपरस में स्नान न करें परन्तु उन्होंने स्वयं को ही धिक्कारा कि भगवान की सेवा से अधिक है यह देह ? और जिस समय गगरे के जल से वह नहायीं तो लगा कि ठण्ड उनकी हड्डियों में कस उठी। परन्तु अपनी चिन्ता किये बगैर वह मुखिया जी की सहायता करती रही। बल्कि कहना चाहिए कि वह देह से तो काँपती रही परन्तु हाथों और आँखों से वह भगवान की मूर्ति के चारों ओर ही मँडराती रही। 'शयनारती' के बाद झारी में जल रखा। भगवान की मुरली सहेजी। बागा-वस्तर और मोर-मुकुट सहेजे। उनके तकिये ठीक किये। वह भूल गयी कि वह देह हैं। वह तो मात्र हाथ बन गयी। उनकी देह जैसे-जैसे ठण्ड अनुभव करती गयी वैसे-वैसे वह उतनी ही तीव्रता से 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' जपती गयीं। परन्तु देह कोई भावना तो है नही। जब अपनी देह के साथ वह पूरी ज्यादती कर चुकी और जब मन्दिर के किंवाड़ वह सावधानी से बन्द कर चुकी तो वह कपाटों की झँझरी पकड़े-पकड़े ही लगभग ढह गयी।

उन्हें इस प्रकार गिरते देखा तो मुखिया और जलघड़िया दोनों लपके। देखा कि उन्हें साँस लेने में घोर कष्ट हो रहा है तथा देह तपी पड़ रही है।

— माँ जी ! जब आपकी तबीयत ठीक नही थी तो अपरस में नहाने की क्या आवश्यकता थी ?

मुखिया जी की बात सुनकर श्रीमती गोदावरी आचार्य जिस प्रकार मुस्कुरायी, वह अपराजित लगी। उन्हें तत्काल घर पहुँचाया गया। गोविन्द ने जैसे ही माँ को इस स्थिति में देखा तो वह घबरा गया। चूँकि इस बीच मन्दिर से ही पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल को खबर दी जा चुकी थी, सो त्र्यम्बक और दुर्गा भी आ गये। तुरन्त सावेरकर जी को बुलवाया गया। सीने में खासी जकड़न आ गयी थी। पूरी देह को गरमी पहुँचाने और बुखार को कम करने के लिए दवाइयाँ दी जाने लगी। जब त्र्यम्बक ने कहा कि किसी को भेज कर दादा को तुरन्त रतलाम से बुला लिया जाए तो श्रीमती गोदावरी आचार्य ने मना कर दिया।

— अरे मुझे क्या हुआ है? शिवा दो दिनों के लिए ही तो गया है। आ जाएगा। तुम लोग तो हो ही।

और सच ही तीसरे दिन पण्डित शिवशंकर आचार्य लौट भी आये।

जिस मकान में आचार्य-परिवार रह रहा था, वह दूसरी मंजिल पर था। एक तो दूसरी मंजिल का हर बार का चढ़ना-उतरना उस पर ईन-मीन दो कमरे। अपने रहने के लिए तो चलो ठीक है परन्तु बीमार को देखने आने वालों के कारण पूरा घर सिर पर आ गया लगता। किसे बैठने को कहा जाए, कौन खड़ा रहे और कौन चुपचाप लौट जाए? अतः श्रीमती गायत्रीदेवी उपाध्याय ने दुर्गा से आग्रह किया कि वह माँ को अपने यहाँ ले जाएँगी। वहाँ खुला भी है और सब सुविधाजनक भी है। स्थान की इस तंगी को सभी अनुभव कर रहे थे तब भला दुर्गा क्या कहती! वह लाख चाहती रही हो कि इस अन्तिम समय तो माँ को वह काश अपने साथ ले जाती परन्तु यह व्यवहार जगत है जहाँ भावनाओं का न प्रश्न है और न महत्व। वैसे तो सगे-सम्बन्धी आपको घेर कर खड़े हो जाएँगे परन्तु जाते समय अवश्य ही दुर्गन्ध छोड़ जाएँगे ताकि आपको जीवन भर याद रहे कि वे, जो कि सम्बन्धी है, कभी आये थे। जो निरन्तर आपको दुःख दे वह आपका निकटतम भाई-बन्द है। तब भला अपनी सास के होते हुए दुर्गा अपनी माँ को कैसे ले जा सकती थी? और ले जाती तो दूसरे सगे-सम्बन्धी कल ही चर्चा नहीं करते कि आखिर तो लड़की-जमाई के घर ही जाना पड़ा। माना कि सास, श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल में अब परिवर्तन आ गया था परन्तु दुर्गा, भले ही न कहे परन्तु जानती है कि उनके भीतर किसी भी समय समधी का सम्बन्ध जाग्रत होकर मुखर हो सकता है, अतः इसे बचाते रहना ही उचित है। जब श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय ने साथ ले जाने का प्रस्ताव रखा तो पण्डित शिवशंकर उपाध्याय मन में 'गायत्री' के प्रति कृतज्ञ ही हुए। माँ को सुविधा और उपचार की आवश्यकता थी। उपचार वैद्यराज सावेरकर जी कर ही रहे थे और अब गायत्री सुविधा दे रही है तो इसमें अस्वीकार की बात भी कहाँ रह जाती है! माँ भी तो इस घर से निकलकर खुले में साँस लेना चाहती है।

दूसरे दिन डाक्टर जोशी ने भी निदान कर दिया कि डबल-निमोनिया है। स्थिति गम्भीर है। बहुत सावधानी की आवश्यकता है। नमक-मण्डी वाले घर में तीमारदारी की समस्या हो सकती थी कि पण्डित शिवशंकर आचार्य ही तैनात रहते। दुर्गा या

गायत्री देवी को अपने-अपने घर तो जाना ही पड़ता, जबकि गायत्री देवी के घर अब पण्डित शिवशंकर आचार्य पर भी उतना बोझ नहीं रह गया। उन्होंने सारी तीमारदारी का भार अपने ऊपर ले लिया। ऊपर के कामों के लिए गोविन्द था ही। दुर्गा बराबर बीच-बीच में आकर हाथ बँटा जाती।

डाक्टर जोशी ने मालिश के लिए ब्राण्डी और खाने के लिए अण्डे बताए तो श्रीमती गोदावरी आचार्य ने जिद पकड़ ली कि अब चलते-चलाते वह अपना धर्म भ्रष्ट नहीं होने देंगी। *जिस देह को जाना ही है और अब उसमें रह ही क्या गया है, भला* उसके लिए अपने जीवन भर के नियम-व्रतों, छूत-पात को नष्ट कर दे?—शिव !! शिव !! गंगा-जल से बड़ी न कोई औषध है और न तुलसी-दल से बड़ा कोई पथ्य। वैद्यराज जी की दवाइयाँ तो जड़ी-बूटी और शहद हैं, सो समझ में आती हैं पर ये फिरंगी दवाइयाँ तो दारू हैं और वह जीने के लिए कभी दारू नहीं लेंगी। अन्तिम समय तो वह ऐसा पातक कभी अपने सिर नहीं लेंगी। तब भला क्या हो सकता था?

जब हेमगर्भ की मात्रा से भी श्रीमती गोदावरी आचार्य का कष्ट दूर न हुआ और चौथे दिन सबको लग गया कि अब उनका अन्तिम समय आ गया तो उन्हें भूमि पर लिटा दिया गया। रात्रि के चौथे प्रहर उनकी तबीयत गिरने लगी थी। नीचे के कमरे में श्रीमती गोदावरी आचार्य के चारों ओर लोग-बाग घेर कर बैठे-खड़े थे। एक अखण्ड दीपक जल रहा था। अगरबत्तियों की सुगन्ध से कमरा सुवासित था। पण्डित शिवशंकर आचार्य माँ के पैताने बैठे हुए अपनी पूजा-ध्यान में व्यस्त थे। उनके सिरहाने पण्डित नारायण जी पण्ड्या गीता-पाठ कर रहे थे। पण्डित नागेश्वर उपाध्याय और पण्डित वैकुण्ठ नन्दन त्रिपाठी आगे के आवश्यक कार्य के लिए दौड़-धूप में लगे हुए थे। दुर्गा रह-रह कर माँ के मुँह में गंगाजल टपका रही थी। श्रीमती कृष्णा देवी शुक्ल श्रीमती गोदावरी आचार्य के सिर के पास बैठी हुई रह-रहकर उनके सिर पर हाथ फेर रही थी और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का जाप सुना रही थी। श्रीमती गोदावरी आचार्य की ननँद श्रीमती श्यामा देवी त्रिपाठी पल्लू मुँह में ठूँसे अपना रोना रोके हुए किसी तरह बैठी हुई थी। श्रीमती नर्मदा देवी उपाध्याय इस अन्तिम समय के लिए गरम पानी आदि की व्यवस्था में व्यस्त थीं। ऐसा लगता था कि यह स्थिति जैसे एक शरीर रचना है और श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय इसकी मेरुदण्ड हैं। यदि वह सबके भावावेगों को नहीं सम्हालती है तो किसी भी क्षण, बल्कि समय के पूर्व ही बिखर उठेंगे। दुर्गा बारम्बार ऊपर जाकर रो आती। गायत्री देवी यदि दुर्गा को रोने के लिए अपना सहारा न देतीं तो पता नहीं उसका क्या हाल होता?

— यह क्या हो रहा है मामीमाँ!

— कुछ नहीं रे।....दुर्गा! माँ का यह अवसान उत्सव नहीं है क्या?....देख तो कैसे प्रशान्त भाव से समापन हो रहा है।....मृत्यु तो अवश्यम्भावी है। पर ऐसी मृत्यु, उत्सव-प्रधान मृत्यु कितनों को प्राप्त होती है पगली!....रो नहीं दुर्गा!

श्रीमती गोदावरी आचार्य वारम्वार पण्डित शिवशंकर आचार्य और दुर्गा की ओर देख रही थीं। श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय समझ गयी कि इनके प्राण अपने पुत्र और पुत्री में अटके हुए हैं। वह उठी और उनके कान के पास मुँह लगा कर धीमे से पूछा।

— आपको कुछ चाहिए क्या ?

श्रीमती गोदावरी आचार्य शायद अन्तिम रूप से डूबने की तैयारी कर चुकी थीं परन्तु जैसे ही एक आवाज सुनी तो उनकी आत्मा जैसे कहीं से लौट आयी। उन्होंने पलकें खोलकर चारों ओर देखा, पहचानने की चेष्टा की। सब को आँखों से ही प्रणाम जैसा किया। श्रीमती गायत्री देवी को कुछ क्षण देखा और टूटे-टूटे बोलीं,

— नहीं गायत्री ! अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। भगवान बड़ा दयालु है बहन !.... शिवा !....इसने जैसी सेवा की वैसा कोई पुत्र नहीं कर सकता है गायत्री !....इस पागल ने संसार बसाना ही नहीं चाहा....जैसी भगवान की इच्छा। यह सुखी रहे !.... दुर्गा !....अपने घर सुखी है। सबकी सेवा करे, अखण्ड सौभाग्यवती हो !....गोविन्द कहाँ है ?

— अभी तो यहीं था वह।

— मैं इस गोविन्द को लायी थी !....शिवा से कहना वह उसका भाई भी है, पुत्र भी है !....गायत्री ! तुम बहुत देर से मिली न ?

— अब आप ज्यादा न बोलिए।

श्रीमती कृष्णादेवी शुक्ल ने उन्हें टोंका।

— कृष्णा बहन ! अब न टोकें। अब तो जा ही रही हूँ। दुर्गा आपकी बहू नहीं, बेटी है। माँ को क्षमा करना आना ही चाहिए बहन !....और अब तो मैं शिवा को भी सौंपे जा रही हूँ....श्यामा !

— हाँ भाभी !

और श्रीमती श्यामा देवी त्रिपाठी अपना रोना न रोक सकी।

— रोओ नहीं श्यामा !....तुम्हें अन्तिम समय देखकर मुझे 'उनका' मुख याद आ रहा है। तुम अपने भाई से कितनी मिलती हो श्यामा !....तो अब जाऊँ न ?....श्रीकृष्ण शरणं मम् !! श्रीकृष्ण....

और उनके ओठ खुले के खुले रह गये। दुर्गा अपने को नहीं रोक सकी। कुहराम स्वाभाविक ही था। श्रीमती गोदावरी आचार्य ने पूरे कुल-कुटुम्ब के बीच, पूर्ण तुष्टि के साथ, शास्त्रोक्त रीति से देह त्यागी। मनुष्य देह क्या त्यागता है, अपनी आत्मा पर से पदार्थत्व उतार देता है—बस !!

उधर प्रातःकाल हो रहा था और इधर श्रीमती गोदावरी आचार्य ने चोला छोड़ा। जिस स्त्री ने सारे सुख-दुःख, शुभ-अशुभ सांसारिक कार्य, दायित्व अत्यन्त निर्ममता, असंगता बल्कि अपने हृदय पर पत्थर रख कर सम्पन्न किये थे आज वह भी चली गयी।

माँ, श्रीमती गोदावरी आचार्य की इच्छा के अनुसार ही पण्डित शिवशंकर आचार्य ने उनके सारे उत्तर-कार्य के बाद घर और सम्पत्ति की व्यवस्था कर दी। गोविन्द को कानूनी तौर पर अपना दत्तक बना लिया ताकि कल से कोई झंझट न खड़ी हो। उसके वयस्क होने तक तथा बाद में भी सब ठीक-ठीक चलता रहे इसके लिए भी उन्होंने संरक्षक के रूप में पण्डित त्र्यम्बक शुक्ल, दुर्गा और गायत्री को कानूनी ढंग से नियुक्त करवा दिया। दुर्गा ने अपने ढंग से इसका विरोध किया तो गायत्री ने मौन रहकर।

— लेकिन यह सब आप क्यों कर रहे हैं दादा ?

— दुर्गा ! यह कर्म है।

— मैं ये सब बड़ी-बड़ी बातें नही जानती। हमें कुछ नहीं चाहिए।

— दुर्गा ! तुम बड़ी बातों के बारे में नही जानतीं यह अच्छा ही है क्योंकि प्रायः लोग इन बातों को जान जाने के बाद करते कुछ नही हैं। कथावाचकों के बैंगनों की तरह कि पोथी के अलग और खाने के अलग।

— सबको दिये दे रहे हैं तो अपने पास....

— दुर्गा ! कर्म करते समय न कटुता होनी चाहिए न आसक्ति। मैं किसी को दे नहीं रहा हूँ। वह तो तुम लोगों का था ही ?

— पर क्यों दिये दे रहे हैं ?

— इसलिए कि मैं चारों धाम की यात्रा पर जा रहा हूँ।

दुर्गा, दादा की बात पर वाणी से अधिक आँखों से चौंकी,

— क्या ?

— हाँ। माँ ही अन्तिम बन्धन थी। यह संसार उनका ही था। जब वही छोड़ गयीं तो मैं इस कम्बल को कब तक ओढ़ूँ?

— ठीक है आप तीर्थयात्रा कर आइए पर लौटेंगे भी तो।

— लो इनकी सुनो। लौटूँगा नहीं तो क्या वहीं रह जाऊँगा?....परन्तु दुर्गा! कल के बारे में कुछ भी तो यहाँ निश्चित नहीं।

— गायत्री मासी! आप सब सुन रही हैं?

श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय इस सम्बोधन के बाद भी चुप ही रहीं। वह खिड़की के पास खड़ी हुई थी। दीवान पर भाई-बहन दोनों बैठे हुए थे।

जब एकान्त मिला तो पण्डित शिवशंकर आचार्य को लगा कि श्रीमती गायत्री देवी ने तो उन्होंने कुछ नहीं कहा,

— गायत्री! दुर्गा में लगता है बहुत मोह है।

— स्त्री संसार से अधिक ही जुड़ी होती है इसलिए मोह भी उसे अधिक होता है।

— मोह के लिए स्त्री-पुरुष होना कोई जरूरी नहीं। तुम स्त्री हो परन्तु मैं नहीं समझता कि तुममें किसी प्रकार का मोह होगा।

— आपको भ्रम है।....और मैं यह भी जानती हूँ कि आप इस भ्रम के बारे में जानना भी नहीं चाहेंगे।....क्योंकि जानने पर सम्बन्ध अनुभव होने लगता है....है न? वैसे आप कब जा रहे हैं?

— कल। एकादशी है न कल। व्रत के दिन ही शुभ कार्य करना चाहिए।

— और लौटेंगे कब?

— तुम तो ऐसे पूछ रही हो जैसे चारों धाम की यात्रा पर जाना इन्दौर जाना हुआ कि सबेरे गये और शाम को लौट आए।

— हाँ, यह तो है।

और वह उठ गयी। पण्डित शिवशंकर आचार्य ने देखा कि उठने से अधिक प्रमुख था गायत्री का निश्वास लेना।

— कहाँ जा रही हो?

— कहीं नहीं।

और पण्डित शिवशंकर आचार्य ने श्रीमती गायत्री देवी उपाध्याय को नहीं बल्कि एक परिधानित व्यक्तित्व को उसकी पीठ ओर से कमरे से जाते हुए देखा।

३० अगस्त १९७९



- 'उत्तरकथा' मे आये पात्रों और परिवारों का वृत्तान्त

  [उपन्यास मे प्रयुक्त पात्र और परिवार सब काल्पनिक है।]
- इस प्रथम-खण्ड में कथा की घटना-भूमि मालवा; मुख्यतः उज्जैन है।
- इस प्रथम-खण्ड का काल १६०० से १६३० ईसवी

□ प्रमुख-पात्र

- पण्डित श्रीरमण आचार्य / श्रीमती गोदावरी देवी * दुर्गा के माता-पिता / त्र्यम्बक के सास-ससुर।
- पण्डित शिवशंकर आचार्य * दुर्गा के एक मात्र जीवित भाई।
- पण्डित महादेव शुक्ल / श्रीमती कृष्णा देवी * त्र्यम्बक के माता-पिता / दुर्गा के सास-ससुर।
- पण्डित वैकुण्ठनन्दन त्रिपाठी / श्रीमती श्यामा देवी * दुर्गा के फूफा-बुआ।
- पण्डित आनन्दशंकर दवे / श्रीमती दमयन्ती देवी * दुर्गा के मामा-मामी।
- पण्डित नारायणजी पंड्या / श्रीमती यमुना देवी * त्र्यम्बक के फूफा-बुआ।
- पण्डित गोवर्धन व्यास / श्रीमती गंगा देवी * त्र्यम्बक के मामा-मामी।
- पण्डित नागेश्वर उपाध्याय / श्रीमती नर्मदा देवी * त्र्यम्बक के मासा-मासी
- पण्डित मृत्यंजय भट्ट [साहब] श्रीमती विद्या देवी * त्र्यम्बक की बुआ के ननँदोई।
- पण्डित अवन्तीलाल शुक्ल } पण्डित महादेव शुक्ल के सौतेले भाई।
- पण्डित फुन्दीलाल शुक्ल }
- श्रीमती पार्वती देवी शुक्ल * पण्डित महादेव शुक्ल की सौतेली माँ।
- विश्वनाथ [विशू] * त्र्यम्बक का ममेरा भाई।
- पण्डित उत्सवलाल जोशी * दुर्गा के मामा के साले।
- गोविन्द * पण्डित उत्सवलाल जोशी का पुत्र।
- पण्डित मनोहरलाल उपाध्याय / श्रीमती गायत्री देवी * पण्डित नागेश्वर उपाध्याय के बड़े भाई-भाभी।

□ प्रमुख-परिवार

[दुर्गा और त्र्यम्बक के सम्बन्ध से]

- शुक्ल-परिवार * दुर्गा की ससुराल / त्र्यम्बक का परिवार ।
- आचार्य-परिवार * त्र्यम्बक की ससुराल / दुर्गा का मायका
- त्रिपाठी-परिवार * दुर्गा की बुआ का परिवार ।
- दवे-परिवार * दुर्गा के मामा का परिवार ।
- जोशी-परिवार * दुर्गा के मामा की ससुराल
- पंड्या-परिवार * त्र्यम्बक की बुआ का परिवार
- व्यास-परिवार * त्र्यम्बक के मामा का परिवार
- उपाध्याय-परिवार * त्र्यम्बक की मासी का परिवार

